Contents

Abbreviations

In the progress of a work extending over many years, it is impossible to preserve absolute uniformity in the use of abbreviations and symbols. Therefore it is hoped that most of the inconsistencies noticed in the following tables would be ignored. Most of the abbreviations and symbols used in this Dictionary are on the lines of Sir R. L. TURNER's Dictionary—'A COMPARATIVE DICTIONARY OF THE INDO-ARYAN LANGUAGES'. The readers are requested to consult CDIAL if a particular symbol or abbreviation is not found in the following tables presented here, which are appropriate to the needs of the PADAKOSHA and SHABDAKOSHA.

List of Devanāgarī Abbreviations

अमर०	अमरकोश
अ० वे०	अथर्ववेद
अष्टा०	अष्टाध्यायी
उ०	उत्तरमेघ
ऋक्०	ऋग्वेद
ऋ०	ऋतुसंहार
एक०	एकवचन
कुमार०	कुमारसम्भव
चरित्र०	चरित्रवर्द्धिनी
तत्पु०	तत्पुरुष
नपुं०	नपुंसकलिङ्ग
ना० ल० र०	नाटकलक्षणरत्नकोश
पा० भे०	पाठभेद
पार्श्व०	पार्श्वाभ्युदय
पू०	पूर्वमेघ
बहु०	बहुवचन
भरत०	भरतमल्लिक
मनु०	मनुस्मृति
म० पु०	मध्यमपुरुष
मल्लि०	मल्लिनाथ
मा०	माघ
मालवि०	मालविकाग्निमित्र
मेघ०	मेघदूत
रघु०	रघुवंश
वल्लभ०	वल्लभदेव
विक्रम०	विक्रमोर्वशीय
शाकु०	शाकुन्तल
शिशु०	शिशुपालवध
सञ्जी०	सञ्जीवनी
सप्त०	सप्तमी
सरस्वती०	पूर्णसरस्वती
सारो०	सारोद्धारिणी
सुं० का०	सुन्दरकाण्ड
सुधीर०	सुधीरकुमार गुप्त
सु० वि०	सुमतिविजय
स्त्री०	स्त्रीलिङ्ग
हैम०	हैमकोश

List of Roman Abbreviations

a.	adjective
adv.	adverb
agt.	a noun of agency or verbal adjective
cl.	Class or conjugation
CDK	Comprehensive Dictionary of Kalidasa
comp.	Composition
compar.	Comparative
du.	dual
f.	feminine
fut.	future
fut p. p.	future passive participle
imp.	imperative
ind.	indeclinable
indef.	indefinite
m.	masculine
m. f.	masculine and feminine
m.n.	masculine and neutre
n.	neuter
p.	particle
p. p.	past or passive participle
par.	Parasmaipada
pass.	passive voice
pl.	plural
pot.	potential
pres.	present

pres. p.	present participle
pret.	preterite
prep.	preposition
pron.	pronoun
pronom.	pronominal
rel.	relative
s.	substantive
sin.	singular
1 c.	1st case, or nominative
2 c.	2nd case, or accusative
3 c.	3rd case, or instrumental
4 c.	4th case, or dative
5 c.	5th case, or ablative
6 c.	6th case, or genitive
7 c.	7th case, or locative
8 c.	8th case, or vocative
1 cl.	1st class, or conjugation
2 cl.	2nd class or conjugation

व

1315 वंशे (पू० 6.1.2.2) वंश+ङि, संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; अन्वये (चरित्र०); कुले (संजी०); कुले (सुबोधा); वंश इति कश्चिद्वंशः स्तुतिविषयः (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (1.4) तथा शाकु० (1.12) में एक-एक बार हुआ है।

1316 वः (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 66.3.15.26; उ० 18.4.19.73)** युष्मत् आम्; सर्वनाम, षष्ठी, बहुवचन; त्वादृशानां मेघानाम् (प्रदीप 66); युष्माकं मेघानाम् (चरित्र 66); युष्माकम् (चरित्र 18); युष्माकम् (संजी० 66); युष्माकम् (संजी०); युष्माकम् (पंचिका 18); युष्माकम्। पुनर्दृष्टत्वमेव द्रढयितुं व इत्युक्तम्। व इत्यनेन मेघान्तरगमनं सूचितमित्याहुः (सुबोधा); युष्माकं मेघजातीयानां (सुबोधा 18); "व शब्द उपमायां स्याद् वरुणे स्यादनव्यय" इति विश्वः (सुबोधा); 'वः' बादल के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सैंतीस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्राकर है—कुमार० (12), शाकु० (9), रघु० (6), ऋतु० (4), विक्रम० (2), मालवि० (2)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1317 वक्रः (पू० 28.1.1.1) वक्र+सु; विशेषण, प्रथमा एकवचन; उत्तराशां प्रस्थितस्य तव पन्था वक्रश्च भवतु, तथापि कार्यगौरवात् तत् सोढव्यमित्यभिप्रायः। अत्र इदं अनुसन्धेयम्—विन्ध्याद्रिप्रभवा विन्ध्यं निर्भिद्य उतरवाहिनी कापि नदी अस्ति निर्विन्ध्या इति। तस्याः प्राक्तीरे कियन्तं चाध्वानं प्रागतिक्रम्य वर्त्तते खलु उज्जयिनी, तस्मात् निर्विन्ध्यायाः पश्चिमतीरदेशेन उत्तरां गच्छतो मेघस्य उज्जयिनिगमने पन्थाः वक्रः स्यादिति (प्रदीपः); तिरश्चीनः (चरित्र०); दूरः विन्ध्यादुत्तरवाहिन्याः निर्विन्ध्यायाः प्राग्भागे कियत्यपि दूरे स्थिता उज्जयिनी, उत्तरापथस्तु निर्विन्ध्यायाः पश्चिम इति वक्रत्त्वम् (संजी०); कुटिलः (सुबोधा); वक्र इति, अयमर्थः यद्यपि यूथिकाप्रदेशाद् गङ्गाद्वारवर्त्मना गन्तव्ये पश्चिमावस्थितोज्जयिनीगमने कुरूक्षेत्रमाक्रम्य ईशदैशानदिगभिमुखत्वे वक्रता स्यात्तथापि गमिष्यसीति। अत्र मेघो नायकः उज्जयिनीनायिका, तस्या उत्सङ्गः सौध एव। पौराङ्गनानां चक्षुरेव तस्याश्चक्षुरिति ध्वनिः।

टेढ़ा। उज्जयिनी के प्रति कवि का यह आग्रह उसके वहाँ चिर निवास और चिर परिचय को प्रकाशित करता है। वैसे भी कवि ने मालवा-प्रदेश की छोटी-छोटी नदियों तक का वर्णन किया है। अतः कवि का मालवा से विशेष सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। विन्ध्याचल से उत्तर की ओर बहती हुई निर्विन्ध्या नदी के पूर्व भाग में कुछ दूरी पर उज्जयिनी स्थित है और उत्तर का रास्ता निर्विन्ध्या के पश्चिम में है। इसलिए उत्तर की ओर जाते हुए मेघ का रास्ता टेढ़ा कहा गया है—मल्लि०।

1318 वक्तुम् (उ० 37.4.14.44) कथयितुं, (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग छह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में तीन बार (6.70; 6.81; 13.24) तथा कुमार० में दो बार (3.2; 5.32) हुआ है।

1319 वक्त्रच्छायाम् (उ० 43.2.5.18) वक्त्र+ङस्+छाया+अम्; तत्पुरुष, संज्ञा, द्वितीया एकवचन; वक्त्रस्य मुखस्य छायां दीप्तिं, कान्तिमत्वानन्ददायित्वाभ्यां चन्द्रसादृश्यम् (चरित्र०); मुखकान्तिम् (संजी०); कपोलकान्तिम् (पंचिका); गण्डच्छायाम् इति पठनीयम्, कपोलस्थलशोभाम् उत्पश्यामि, गण्डस्थलकान्तिश्चन्द्रवद्वर्ण्यते एव; तथाहि—ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुने" ति (सुबोधा)।

1320 वक्ष्यति (पू० 17.2.5.32) वह्+लृट्, प्रथम पुरुष, एकवचन; वहते: इदं रूपम् (प्रदीप); धारयिष्यति (चरित्र०); वोढा, वहेर्लृट् (संजी०); धारयिष्यति (सुबोधा) √वह्+लृट् प्रथम पु० एक व०।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० (3.13) तथा कुमार० (7.68) में एक-एक बार हुआ है।

1321 वक्ष्यसि (पू० 55.3.12.22) वह्+लृट्; मध्यम पुरुष, एकवचन; वहतेरिदं रूपम्। वोढाभविष्यसि (प्रदीप); धास्यसि (चरित्र०); वक्ष्यसीति वह् प्रापणे लृट् (चरित्र०), वोढासि; वहतेर्लृट् (संजी०); धारयिष्यसि (विद्युल्लता); धारयिष्यसि (सुबोधा)।

1322 वचनात् (उ० 40.1.5.5) वचन+ङसि; संज्ञा, पंचमी, एकवचन; वाक्यात् (चरित्र०) वचनं प्रार्थनावचनं तस्मात् (संजी०); वाक्यात् (सुबोधा०) मेरे शब्दों के कारण, मेरी प्रार्थना पर। मैंने आपसे सन्देश ले जाने की प्रार्थना की है, इस कारण।

1323 वञ्चित: (पू० 28.4.21.73) वञ्चित:+सु, विशेषण, प्रथमा एकवचन; यदि तव तां रतिं न वेदयामि, तत: त्वं मया वञ्चित: स्यात्। यद् वा वञ्चित: स्या: व्यर्थजन्मा भविष्यसि इति (प्रदीप:); प्रताडितोऽसि, जन्मवैफल्यं भवेदित्यर्थ: (संजी०); प्रतारित:, प्रमादभ्रंशितजन्मप्रयोजन इत्यर्थ:। अतो मत्कार्यस्य किञ्चिद्विलम्बेऽपि भवज्जन्मवैफल्यपरिहारायोज्जयिनीप्रवेश: कर्त्तव्य एवेति भाव:। अत्र अरमणे वञ्चनोक्तेस्तत्रत्ययोषितां विशिष्टगुणप्रतिपत्त्या व्यतिरेकोऽलंकार: (विद्युल्लता); प्रकृत्वाल्लोचनैर्जन्मना वा विप्रलब्धोऽसि निष्फलोऽसीत्यर्थ:।। (सुबोधा)।

1. यदि तुम वहाँ के सौन्दर्य कौन देखोगे, तो तुम जीवन के लाभ से वंचित रहोगे अर्थात् जीवन का उचित लाभ न उठा सकोगे। 2. यदि तुम वहाँ की गौरवर्ण, विशाल उर: स्थल का, सुन्दरी नायिकाओं के तुल्य सुधालिप्त, विशाल अट्टालिकाओं वाले सुन्दर भव्य भवनों का उपभोग नहीं करते, तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ है; क्योंकि 'काम' चतुर्वर्ग का प्रधान और द्वितीय अङ्ग है। अपि च—

सुभाषितेन गीतेन युवतीनां च लीलया
यस्य न द्रवते चित्तं स वै मुक्तोऽथवा पशु:।।

3. यदि वहाँ तुम्हें मेरे कथन के अनुसार सौन्दर्य न मिले, तो मैं तुम्हें धोखा देने वाला कहलाऊँ। सत्य कह रहा हूँ। वहाँ महान् सौन्दर्य है। 4. यदि मैं तुम्हें वहाँ के सौन्दर्य को न बताऊँ, तो तुम्हें धोखा ही दूँगा। इन सब में प्रथम दो अर्थ ही मूल के समीप पड़ते हैं। इसका शब्दार्थ है कि तू (जीवन-सफलता से) वञ्चित है; ठगा गया है। सरस्वती ने इसका अर्थ 'व्यर्थजन्मा भविष्यसि' दिया है और कहा है—अथवा 'यदि तवैवं नोपदिशामि तर्हि त्वं मया वञ्चितोऽसि'। इसका अर्थ है कि यदि मै तुम्हें ऐसा करने का उपदेश न दूँ, तो सचमुच मैं तुमको धोखा दूँगा। देखिये—अभि० शा० II 'अनवाप्तचक्षु:फलोऽसि।।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० (4.10.) में एक बार हुआ है।

1324 वत्सराज: (उ० 33.3.1.7) वत्सराज+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; नृपविशेष: (चरित्र०); वत्सदेशाधीश्वर: उदयन: (संजी०)।

इस श्लोक का आधार साहित्य में वर्णित उदयन-सम्बन्धी कथा है। वृहत्कथा के अनुसार प्रद्योत की घोर तपस्या से सन्तुष्ट होकर भवानी ने उसे अपराजित नामक तलवार, अंगारवती नाम की पत्नी और महाचण्डसेन की उपाधि प्रदान की। नड़गिरि नामक हाथी को राजा की सेवा के लिए नियुक्त किया गया। यह बड़ा मस्त था। प्रद्योत के पुत्र के जन्मोत्सव पर इन्द्र ने राजा को एक पुत्रीरत्न की प्राप्ति का वर दिया।

यह पुत्री परमसुन्दरी थी। इसका नाम वासवदत्ता था। एक बार इसने स्वप्न में वत्सराज उदयन को देखा और उसके प्रेमपाश में बँध गई। उसकी सूचना पाकर उदयन ने वासवदत्ता का अपहरण कर लिया।

भास ने अपने स्वप्ननाटक और प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटकों में इसी कथा को उपबन्धित किया है। लेखकों ने इस मूल कथा में अपनी सुविधा के अनुसार परिर्वतन किये हैं। इस कारण आज उदयन-कथा के अनेक रूप मिलते हैं।

1325 वदनमदिराम् (उ० 17.4.18.42) वदन+ङस्+मदिरा+अम्; तत्पुरुष, द्वितीया; एकवचन; मुखमद्यम् (चरित्र०); गण्डूषमद्यम् (संजी०); तरुणिमुखासवसेकेन तस्य विकासात् (पंचिका)। मुखासवं। ननु बकुलस्य वक्त्रासव एव दोहदम्? यदुक्तं–

"मुखचन्द्रजलक्रीडा सदा शीकरवर्षिणी।
योषा मुखासवोपेतं प्रतिगर्जति केशर"मिति।।"
अशोक: पद्मिनीपादाघातैरेव च पुष्पति।
बकुलस्तु तदीयास्यमद्यस्पर्शेन पुष्पति।। इति च। (सुबोधा)

केसर युवतियों की जूठी शराब की कुल्ली से खिलती है। तुलना करो० रत्नावली० 1.18 देखिये रत्ना० 1.8 'मूले गण्डूषसेकासव इव बकुलैर्वास्यते पुष्टवृष्ट्या।' और देखिये–काद० पृष्ठ 222 (काले द्वारा सम्पादित संस्करण) 'मदकलितकामिनीगण्डूषसीधुसेकपुलकितबकुलेषु'।

1326 वधूनाम् (उ० 2.4.20.53) वधू+आम्; संज्ञा, षष्ठी, बहुवचन; स्त्रीणाम्। वधूर्जायास्नुषा इत्यमर: (प्रदीप); सीमन्तिनीनाम्। 'वधूर्जाया स्नुषास्त्री च' इत्यमर: (चरित्र०); स्त्रीणाम् (संजी०); अङ्गनानाम् (पंचिका)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग ऋतु० में तीन बार (2.24; 8.23; 6.21) हुआ है।

1327 वनगजमदै: (पू० 20.1.3.7) वनगज+आम्+मद+भिस्, तत्पुरुष, संज्ञा, तृतीया बहुवचन; विन्ध्याटवीगजमदै: (प्रदीप:); अरण्यद्विपदानै: (चरित्र०); वनगजानां अरण्यहस्तिनां मदैर्दानैर्जलै: (सुबोधा)।

1328 वनचरवधूभुक्तकुञ्जे (पू० 19.3.1.11) वनचरवधूभुक्त+जस्+कुञ्ज+ङि, कर्मधारय, संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; कुञ्जं लतादिपिहितोदरं पर्वतगृहम्। अनेन वनचरवधूसंभोगं च द्रक्ष्यसीति उक्तम् (प्रदीप); वनचरवधूभि: किरातवनिताभि: भुक्तो निकुञ्जो लतादिपिहितोदरं स्थानं यस्य स: तस्मिन् (चरित्र०); वने चरन्ति ते वनचरा:, 'तत्पुरुषे कृतिबहुलमिति' बहुलग्रहणात् लुग्भवति; तेषां वधूभि: भुक्ता: कुञ्जा: लतागृहा: यत्र तस्मिन्; निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीवे लतादिपिहितोदरे इत्यमर:,तत्र ते नयनविनोदोऽस्तु इत्यर्थ: (संजी०); पुलिन्दसुन्दरीभि: स्वविहारेण सफलीकृतलतावितानकुहरे। निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमर:। अनेन गहनवनबहुलतया विशिष्टविलासिनां अनुपभोग्यत्वं ध्वन्यते (विद्युल्लता); वनचराणां किरातादीनां वधूभिर्वनिताभिर्भुक्ता उपभुक्ता क्रीडार्थ सेविता: कुञ्जा लतामण्डपा यस्य तादृशे तस्मिनाम्रकूटे (सुबोधा); वनचरेत्यादिना त्वद्दर्शनोत्का बध्व: कुञ्जे विहरिष्यन्तीति परप्रीतिहेतुत्वं ध्वनितम्। केचित्तु मुहुर्त्तमिति पदेन त्वया चिरं तत्र न स्थातव्यं यतस्त्दर्शनेन लज्जातो वनचरवधूनां रतिविघ्नो भविष्यतीति व्यज्यते, अतएव भुक्तेत्युक्तं नतु भुज्यमानेतीत्याहु:। (सुबोधा)।

वने चरन्ति इति वनचरा:। इसका दूसरा रूप 'वनेचर' होता है। वनचराणां वधूभि: भुक्ता: कुंजा: यस्मिन्, तस्मिन्। इस विशेषण का अभिप्राय है कि उन कुंजों में ठहरने से बादल को मन-बहलाव की पर्याप्त सामग्री मिल जायेगी।

1329 वननदीतीरजातानि (पू० 27.1.4.12) वननदीतीर+सुप्+जात+जस्, तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया बहुवचन; अकृत्रिमत्वात् नदीतीरमुक्तम् (प्रदीप); वननद्याः कुल्यायाः तीरे कूले जातानि समुत्पन्नानि अथवा नवानि नूतनानि नदीतीरजातानि च तानि (चरित्र०); वने अरण्ये या नद्यः तासां तीरेषु जातानि स्वयंरूढानि, अकृत्रिमाणि इत्यर्थः (संजी०); वननदीतीरजानाम्' इति पाठः। धर्मनिर्मूलितस्रोतसा क्षुद्रनदीनां तीरजातत्वात् शोषोन्मेषशोच्यानामित्यर्थः (विद्युल्लता); नवनदीतीरजातानिनवनद्या नवनदीनाम्—नदीविशेषस्य तीरे कूले जातानि उत्पन्नानि (सुबोधा); तीरजातत्वं चिह्नभेदः (सुबोधा); **केचित्तु** नवानि नूतनानि च तानि नदीतीरजानानि चेतिविग्रह्णन्ति नवत्वेन रम्यत्वं सूचितमित्याहुः। **केचित्तु** नगनदीति पठित्वा नगनदी नीचैर्गिरिप्रभवा नदीति। वननदीति **केचित्तु** पठन्ति (सुबोधा)।

मल्लिनाथ इसे जंगली नदी मानते हैं। परन्तु यह किसी विशिष्ट नदी का ही नाम प्रतीत होता है; क्योंकि कालिदास ने इस यात्रा में प्रायः निश्चित स्थानों का ही वर्णन किया है। वल्लभ और सारो० भी इसे एक नदी का नाम मानते हैं। देखो—'अथवा मालवदेशे....... वननदीनाम्ना सरिदस्ति, सारो०। तथा—कानन सरिन्नदी विशेषो वा; वल्लभ। श्री विल्सन पाठान्तर 'नगनदी' को स्वीकार करके इसे बेतवा के पश्चिम में पार्वती नदी मानते हैं, जो उत्तर-पश्चिम बहती हुई छिप्रा नदी में मिल जाती है। मल्लि० 'वननदीतीरजानाम्' के स्थान में 'वननदीतीरजानि' पाठ देता है और इसका 'जंगल की नदियों के किनारों पर स्वयं उगे हुए बागों के' यह अर्थ करता है। कहीं-कहीं 'वन नदी' के स्थान में 'नद-नदी' पाठ मिलता है; पर मल्लि० ने उसका खण्डन कर दिया है; क्योंकि 'नद-नदी' इस पाठ में 'पुमान् स्त्रिया' इस व्याकरण के सूत्र के एकशेष हो जाने से 'नद' ही शेष रह जाना चाहिए था। के०पी० पाठक 'वन-नदी' से किसी विशेष नदी को लेते हैं और इसके समर्थन में सारोद्धा० का निम्नलिखित उद्धरण देते हैं—"अथवा मालवदेशे यूथिका-खण्ड-मण्डितोद्यान मालित-तीरदेशा वननदी नाम्ना सरिदस्तीति"। साथ ही वल्लभ की यह पंक्ति भी देते हैं—'कानन-सरिन्नदी विशेषो वा'।

सारोद्धा० में 'नवनदी' पाठ आया है, परन्तु इसमें 'वननदी' पाठ भी माना गया है; जैसा कि ऊपर उद्धरण दिया गया है। सुमति, वल्लभ तथा विल्सन (Wilson) 'नग-नदी' पाठ देते हैं, जिसका अर्थ 'पहाड़ी नदी' है।

1330 वन्द्यैः (पू० 12.2.7.13) वन्द्य+भिस्; विशेषण, तृतीया, वहुवचन; न केवलं भवतः सख्यादेवास्य पर्वतस्य सभाजनं कार्य, विशिष्टपुरुषपरिग्रहाच्च इत्याह 'वन्द्यैः पुंसामिति (प्रदीप); नमस्कर्त्तुं योग्यैः (चरित्र०); आराधनीयैः (संजी०); दर्शनमात्रेण तेषां पुरुषार्थसाधकैः (विद्युल्लता); नमस्कार्यैः (सुबोधा); पुंसां वन्द्यैरित्यनेन निखिलकलुषापहारित्वान्महानुभावता (सुबोधा); वन्दितुं योग्यानि, तैः।

1331 वपुः (पू०15.3.12.34) वपुष्+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; शरीरम् (चरित्र०); शरीरम् (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पैंतीस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—कुमार० (14), रघु० (11), शाकु० (6), विक्रम० (2), मालवि० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1332 वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम् (पू० 2.4.14.69) वप्रक्रीडा+सुप्+परिणत+सु+गज+अम्+प्रेक्षणीय+अम्; तत्पुरुष समास; विशेषण, द्वितीया एकवचन; वप्रक्रीडा तटाघातक्रीडा तदर्थं परिणतः तिर्यक् दन्तप्रहारवान् गजः। अनेन विशेषणे मत्तगजदर्शनात् कार्यसिद्धिर्भवति इति सूचितम्। अत्र महायात्रायां वराहमिहिरः—

ज्वलितशिखिफलाक्षतेषुभक्षद्विरदमृदङ्गकचामरायुधानि।
मरकतकुरुविन्दपद्मरागस्फटिकमणिप्रमुखाश्च रत्नभेदाः।।

स्वयमपि रचितान्ययत्नतो वा यदि कथितानि भवन्ति मङ्गलानि इति (प्रदीप); तथा वप्रस्य तटस्य क्रीडा विदारणं तत्र परिणतस्तिर्यग्दन्तप्रहारश्चासौ गजश्च तद्वत् प्रेक्षितुं योग्यो रमणीयो यस्तम्। उपामालङ्कार: (चरित्र०); वप्रक्रीडा उत्खातकेलय: तासु परिणतास्तिर्यग्दन्तप्रहार: स चासौ गजश्च तमिव प्रेक्षणीयं दर्शनीयम्। गजप्रेक्षणीयमित्यत्र इवलोपात् लुप्तोपमा (संजीवनी); गिरितटविहारे दन्ताभ्यां तिर्यक् प्रहरन्तं द्विपेन्द्रमिव लोचनहरम्। 'वप्र: पितरि ना न स्त्री क्षेत्रे रोधसि सानुनि' इति वैजयन्ती। 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गज: परिणतो मत:' इत्यमर:। श्यामलरूचो गजेन्द्रस्योपमानत्वात् सलिलगर्भो नीलमेघ इत्यवसीयते। अत्र उपमालंकार:। अथवा तादृशानां गजानां तत्र विद्यमानत्वात् तेषां मध्ये किमन्यतमोऽयमिति दृश्यमानमित्यर्थ:। तदा सन्देहालंकार:, भ्रान्तिमान् वा (विद्युल्लता); वप्रो रोध: पर्वत तटमित्यर्थ: समुन्नतभूभाग इत्यर्थो वा, तत्र क्रीडया परिणत: कृतदन्ताघातो यो गजो हस्ती तद्वत् प्रेक्षणीयं दृश्यम्। एतेन विरहे कामोद्दीपकमेघदर्शनमयुक्तमिति मेघबुद्ध्या न दृष्टवान्। किन्तु ईदृशगजबुद्ध्या दृष्टवानिति सूचितमिति केचित्। वास्तवन्तु मेघदर्शनं यादृच्छिकम् (सुबोधा); वप्रेति मत्तगजवत् प्रेक्षणीयत्वेन सामर्थ्यञ्च सूचितं, सौहार्दसामर्थ्यवतानेन कार्यं साध्यते इति।

गजप्रेक्षणीयमिति समासोपमेयं, समासेनैवोपमेयभावस्य प्रतीयमानत्वात्। तथा च—

यथा कथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्या: प्रपञ्चोऽयं नियम्यते।। इति।

280040

परिणतपदेन तटनिमग्नदन्तत्वाद् बहुलत्वाद् दन्तादर्शनाच्च द्विरद-जलदयो: सम्यक् साम्यं युक्तम्। परिणतपदेन कुम्भस्थलदर्शनात् स्वनायिकास्तनवैक्लव्यं सूचितमिति **साहित्य रत्नाकर:**। "वप्र: पितरि केदारे वप्र: प्राकाररोधसो" रिति **धरिणी**। 'दन्ताघाते द्विरद: परिणत इति कीर्त्यते सद्भि" रिति **संसारावर्त्त:**। "तिर्यग्गतप्रहारस्तु गज: परिणतो मत" इत्यत्र। (सुबोधा); प्राचीर (दीवार के समान नदी के किनारे आदि) से टक्कर मारने के खेल में तिरछे झुके हुए हाथी के समान देखने योग्य (अर्थात् सुन्दर) वप्रक्रीडायाम् परिणत: गज: तद्वत् प्रेक्षणीय:, तम्। वप्रक्रीडा को उत्खातकेलि भी कहते हैं। वप्र का अर्थ है कोट की दीवार, प्राचीर। अत: प्राचीर जैसी वस्तु-नदी का किनारा, पर्वत का भाग आदि वप्रक्रीडा में बैल, भैंसा, हाथी आदि नदी किनारे आदि से अपने दाँतों, सींगों आदि से टक्कर मारते है। परिणत (दाँतों से टक्कर मारने के लिए टेढ़ा) झुका हुआ है। यह एक पारिभाषिक शब्द है, जो हाथियों के दीवार आदि से खेल में दाँतों की टक्कर मारने के लिए प्रयुक्त होता है। प्रेक्षणीय—प्र+√ईक्ष्+अनीय। देखने योग्य, सुन्दर। इस उपमा का आधार बादलों का हाथी, भैंसा, पर्वत आदि के रूप में दिखाई पड़ना है। यात्रा आदि में मस्त हाथी का दर्शन शुभ शकुन है। टीले से मिटटी उखाड़ कर खेल में तिरछे दाँतों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दिखाई देने वाले। सम्भवत: यह उपमा इसलिए दी गई है; क्योंकि बादल कई प्रकार की विचित्र आकृतियों को धारण करता है; जैसे—हाथी, भैंसा, सुअर, बैल आदि। देखिये पार्श्वा 'महिषाश्च वराहाश्च मत्तमातङ्गरूपिण:'। वप्र का अर्थ किले के आस-पास की दीवार या कच्ची दीवार से है; सो 'वप्रक्रीडा' से सींगों या दाँतों द्वारा इस प्रकार की दीवार के साथ टक्कर मारने का अर्थ विवक्षित है। देखिए—रघु० सर्ग-V श्लोक 44—नि:शेषविक्षालित- धातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु। नीलोर्ध्व........ कुण्ठितेन'।। शिशु० IV, 29. परिणतदिक्करिकास्तटी बिभर्ति।' परिणत०—शब्द का एक पार्श्व से तिरछे होकर दाँतों द्वारा प्रहार करने वाला हाथी' अर्थ है। देखिये—तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गज: परिणतो मत:। हलायुध II. 65. गज शब्द पृथक् आने से प्रकृत पद्य में 'परिणत' शब्द विशेष्यता को छोड़कर केवल विशेषणता का ही प्रतिपादक है।

1333 वय: (उ० 4.4.21.67) संज्ञा; वयस् (नपुं०) प्रथमा० एकवचन, अवस्था। "खगबाल्यादिनोर्वय:" इत्यमर:।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग आठ बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग

कुमार० में चार बार (1.31; 5.16; 5.41; 6.44) तथा रघु० में तीन बार (2.47.; 9.47; 11.1) हुआ है।

1334 वरम् (पू० 6.4.19.40) अव्यय; ईषत्प्रियम्, 'वरिष्ठाश्रयणे तु वर' इति वक्तव्यम् अत्रामर सिंह:। देवादृतेवरश्रेष्ठे त्रिषुक्लीवे मनाक्प्रिये (प्रदीप); अलाभात् अप्रिया च भवतीत्यभिप्रायेण मनाग् प्रियं इत्युक्तम्। (प्रदीप); वरं प्रियम्। देवादृतेरवश्रेष्ठे त्रिषु क्लीवमनाक्प्रियम् इति यादव:। (चरित्र०); ननु याचकस्य याञ्चायां याञ्चागुणोत्कर्ष: कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह। दैवात् याञ्चाभङ्गेऽपि लाघवदोषाभावा एवोपयोग इत्याह। वरं ईषत्प्रियम्। दातुर्गुणाढ्यत्वात् प्रियत्वं याञ्चा वैफल्यात् ईषत्प्रियत्वमिति भाव:। देवादृतेवरश्रेष्ठे त्रिषु क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमर: (संजी०); ननु त्वत्प्रार्थितं मया दुष्करं चेत् सुकरमपि नवा क्रियते, तदानीं प्रणयभङ्गेन-मानक्षतिर्भवतो भाविनीत्याशङ्क्य तन्नेत्याह। 'वरं क्लीवे मनाक् प्रिये' इत्यमर:। उभयत्र अपि शब्दो अध्याहर्त्तव्य:। मोघत्वेऽपि श्लाध्यत्वं अमोघत्वेऽपिऽश्लाध्यत्वं च याञ्चाया: पूर्वत्र याचितु: सतामगर्हणीयत्वात् उत्तरत्र अन्यथाभावञ्चेति ग्राह्यम् (विद्युल्लता); ननु संनिहित: कश्चित् पर्वतादि: याञ्चतां इति मेघवाक्यमाशङ्क्य गुणवतीयाञ्चा न दोषयति भवान् याच्यते इत्यवगमयन् आह वरं मनागिष्टा दैवाधीनफलत्वेन जनापवादाभावात् न तु सर्वथैव इष्टा यदुक्तं मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचने इति (सुबोधा); श्रेष्ठा (सुबोधा); यदि तु वरं प्रशस्तमित्युच्यते तदा सामान्योपक्रमेण विशेषाभिधानं यथा द्विगुरेकवचनमिति, एतच्च द्विगुसूत्रेऽनुन्यासे उक्तमिति **टीकाकार:** (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में दो बार (5.50; 7.70), मालवि० मे दो बार (3.3; 3.15), रघु० (2.63) तथा शाकु० (4.15) में एक-एक बार हुआ है।

1335 वर्णचौरे (पू० 49.1.6.12) वर्ण+ङस्+चौर+ङि; विशेषण; तत्पुरुष; सप्तमी, एकवचन; दीप्तिमुषिनीलकान्तौ इत्यर्थ: (चरित्र०); वर्णस्य कान्ते: चौरे:, तत्तुल्य वर्ण इत्यर्थ: (संजी०); नीलिम्नोऽपहर्त्तरि। अन्यदीयद्रव्यस्या-स्मिन्दर्शने चौर्यशङ्कोपपत्तेर्भगवद्वर्णसाम्यस्यास्मिन्नुपलब्धेश्च लक्षणया सदृशे चोरशब्दप्रयोग:। अथवा अभवद्वस्तु-सम्बन्धत्वेनोपमापरिकल्पिका निदर्शनेयम्। अथवा नारायणीयं लावण्यसर्वस्वं त्वयि दृश्यते; तत्सर्वथा त्वया मुषितम्; न जानीमस्तत्र किञ्चिदवशिष्टं वा न वेति सोत्प्रासवचनम्। एतदिन्द्रनीलत्वोत्प्रेक्षानिदानम् (विद्युल्लता); कान्तिहारके तद्वर्णसमानवर्णे कृष्णवर्णे (सुबोधा); रंग को चुराने वाले। यह समानता को बताने के लिये काव्यमय वर्णन है। ऐसा ही वर्णन अगले पद्य में 'कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम्' में है।

1336 वर्णमात्रेण (पू० 52.4.20.43) वर्णमात्र+टा; संज्ञा, तृतीया, एकवचन; पापकार्ष्ण्याभ्यां मुक्तद्रव्यवाचिन: शुद्धशब्दस्य श्रवणात् तव कृष्णवर्णलोपो न शङ्कनीय इत्याशङ्क्याह वर्णमात्रेण कृष्ण इति। वर्णमात्रेण वर्णेन एव तव चारुत्वहेतु: कृष्णवर्णस्य विपर्ययो न भवति इत्यभिप्राय: (प्रदीप); वर्णेन एव न तु पापेन इत्यर्थ: (संजी); वाह्यरूपेणैव श्याम: सलिलगर्भस्यैव नैल्योदयात्, मलिन इति च स्फुरति। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इति वैजयन्ती (विद्युल्लता); केवलं वर्णेन (सुबोधा)।

1337 वर्द्धित: (उ० 14.3.14.32) वृध्+णिच्+क्त+सु; विशेषण; प्रथमा; एकवचन; उदकसेकादिना वृद्धि प्रापित: (चरित्र०); पोषित: (संजी० 14); सेकादिना पोषित: (पंचिका); पयोदानादिना वृर्द्धिप्रापित: प्रतिपालित इत्यर्थ:। प्रेमाविष्कृतिरियम्। अत एवोद्यानप्रशंसायां प्रथममेव तत्स्मरणम् (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में एक बार (2.19) हुआ है।

1338 वर्त्म (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 19.2.7.37; 42.2.10.14)** वर्त्मन्+अम्, संज्ञा, द्वितीया एकवचन; उदयवर्त्म। त्वया प्राचीमुखे निरुद्धे प्रणयिनो रात्रिशङ्कया प्रभातेऽपि खण्डितानां प्रसादं न कुर्यु:। अतो भानोरुदयवर्त्म

त्यजेत्यभिप्राय:। सोऽपि भानुरपि नलिन्या: खण्डिताया: इत्येव। तस्या खण्डितात्वं भानोर्देशान्तरगमनात् (प्रदीप); मार्गम् (42 चरित्र०); मार्गम् (संजी० 19); मार्गम् (विद्युल्लता 19); पन्थानम् तत्प्रसिद्धं परमूर्ध्ववर्त्म वा (सुबोधा 19); पन्थानम् (सुबोधा 42)।

1339 वर्षभोग्येण (पू० 1.2.7.32) वर्ष+अम्+भोग्य+टा; द्वितीया तत्पुरुष; विशेषण; कृत्स्नैक वर्षभोग्येण, 'अत्यन्तसंयोगे च' 2.29 इति समास: (प्रदीप); वर्षेण संवत्सरेण सम्भुज्यते समाप्यते वर्षभोग्य:। यद्वा वर्ष भोग्य: 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' द्वितीया (चरित्र०); संवत्सरभोग्येण, 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया, 'अत्यन्तसंयोगे च' इति समास:, 'कुमति च' इति णत्वम् (संजी०); संवत्सरम् अनुभाव्येन। 'वर्षोऽस्त्री भारताद्यब्दवृत्तिषु प्रावृषि स्त्रियाम्' इति वैजयन्ती। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। 'अत्यन्तसंयोगे च' इति समास:। एतेन प्रणिपातप्रसादितेन प्रभुणा एकवर्षावधि: शाप: कृत: इति अवसीयते। कुपितदशायामवधि-विधानानुपपत्ते:। शापस्य भोग्यत्वं नाम फलत: प्रियाविरहरूपात् निग्रहान्तरेऽपिशक्तस्य एतावता क्रोधनिवृत्तिर्महालाभ:, अप्रतिविधेयत्वात् इति द्योत्यते (विद्युल्लता); वर्षभोग्येण वर्षं संवत्सरं व्याप्य अविच्छेदेन भोग्येन अनुभवनीयेन। वर्षे भारतखण्डे भोग्येन, मनुष्यलोकवासस्य नरकवासतुल्यत्वात् शापस्यातिशयदु:सहत्वं सूचितमिति अन्ये (सुबोधा); वर्षभोग्येण इत्यनेन वियोगिनामेकोऽपि ऋतुर्दुसह: किं पुन: षड्ऋतुरूप: संवत्सर: इति शापस्यातिशयदु:सहत्त्वं सूचितम्। किंवा अस्तंगतस्य सूर्यदेरिव अस्य यक्षस्य पुनरुदय: शापान्तेऽवश्यं भवतीति सूचितम् (सुबोधा); एक वर्ष (की अवधि) तक भोगे जाने वाले। वर्षे भोग्य: तेन। शाप का विशेषण है। क्रिया (=भोग) के सतत होने से अत्यन्त संयोग में द्वितीया आई है। 'कुमति च' से न् को ण् हो गया है।

1340 वर्षाग्रविन्दून् (पू० 38.3.12.46) वर्षाग्र+ङि+विन्दु+शस्; तत्पुरुष; संज्ञा, द्वितीया, बहुवचन; प्रावृट्प्रथमविप्रुष: (चरित्र०); वर्षस्य अग्रविन्दून् प्रथमविन्दून् (संजी०); अग्रविन्दून् प्रथमजलकणान्, अन्येषाभुद्वेगजनकत्वात् (विद्युल्लता); वृष्टिप्रथमजलकणान् (सुबोधा)।

अग्रविन्दु शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने प्रथम बिन्दु किया है। हमने उसका अर्थ 'बड़ी-बड़ी बूँदे' ऐसा समझा है, जिन्हें मेरठ की बोली में बुन्दाकडे या सावन के सरवरे कहते हैं। कालिदास ने मेघ की आकृति, रूप, ध्वनि, गति, विद्युत् और वृष्टि इन छह बातों का यथासम्भव अनेक रूपों में उल्लेख किया है। मेघ की बूँदें भरन, फुहार, बुन्दाकडे आदि जितने रूपों में बरसती हैं, उन सब का ही उल्लेख मेघदूत काव्य में कहीं-न-कहीं आ गया है। बुन्दाकडे एकदम से बरसने लगते हैं और कुछ क्षणों बाद ही बन्द हो जाते हैं। उसी की ओर कवि का संकेत है।

1341 वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयम् (पू० 64.1.3.15) वलय+सु+कुलिश+टा+उद्घट्टन+भिस्+उद्गीर्ण+सु+तोय+अम्; बहुव्रीहि, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; वलयमेव कुलिशं वलयकुलिशं तेन वलयकुलिशेन ऊर्ध्वप्रोतत्वं वलयकुलिशोद्घट्टनम्। कुलिशग्रहणेन उद्घट्टनसाधनत्वमुक्तम् (प्रदीप); वलयमेव कुलिशं तेन यद् घट्टनं तेनोद्गीर्ण वान्तं तोयं येन स तम् (चरित्र०); वलयकुलिशानि कङ्कणकोटय:, शतकोटिवाचिना कुलिशशब्देन कोटिमात्रं लक्ष्यते, तैरुदघट्टनानि प्रहारा: तै: उद्गीर्ण उत्सृष्टं तोयं येन तम् (संजी०); वलयकुलिशै: हेमकङ्कणस्थहीरकैर्यानि उद्घट्टानि क्षतानि तैरुदीर्णतोयं निर्गतजलं (सुबोधा)।

इन शब्दों के मूल में वस्तुस्थिति इस प्रकार है। कैलास के क्षेत्र में पहुँचने पर अत्यधिक शीत से मेघ का बाह्य आवरण बरफ के रूप में जम जाता है, किन्तु उसके भीतर जल भरा रहता है (स्तम्भितान्तर्जलौघ:)। अतिशीत प्रदेशों में बरफ जमने का यही प्राकृतिक नियम है। नदी या समुद्र की ऊपरी सतह पर बरफ जम जाती है और उसके नीचे जल भरा रहता है। बाहर से ठोस और भीतर जल से पूर्ण मेघ में सुरबालायें अपने

कंगनों में जड़े हुए हीरों की ठकठक चोट से जब छेद कर देती हैं, तो भीतर का जल फूट निकलता है और मेघ का स्वरूप बने-बनाये फव्वारे का हो जाता है।

वलयकुलिशानाम् उद्घट्टनेन उद्गीर्णं तोयं यस्य, तम्। वलयकुलिश—मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'कड़ों के किनारे' किया है। परन्तु यहाँ 'कुलिश' को वज्र के अर्थ में लेना ही उचित है। वेद में भी इन्द्र अपने वज्र के प्रयोग से ही बादलों को वर्षा करने पर बाधित करता है। अत: इसका विग्रह 'वलया: एव कुलिशा:' होगा। श्री काले ने इसका विग्रह 'वलया: कुलिशा: इव' किया है। यह भी अच्छा है। इसका अर्थ—'वज्र के समान, अर्थात्—वज्र का काम देने वाले कड़े' बनता है। कुछ विद्वानों ने 'कुलिश' का अर्थ मणि किया है। परन्तु यह पद इस अर्थ में नहीं आता है। न ही उस अर्थ से इष्टसिद्धि होती है; क्योंकि मणियों से वर्षा नहीं होती है। सारो०, महिमसिंह और सु०वि० का पाठ कुलिशवलयोदघ्रो० है। वे इसका विग्रह इस प्रकार करते हैं—कुलिश संयुक्तानि हीरकविद्धानि वलयानि कुलिशवलयानि तेषामुद्घट्टनं तेनोद्गीर्णं वान्तं तोयं येन। उद्गीर्ण-उद्+√गृ (गिरना)+क्त।

1342 **वल्मीकाग्रात्** **(पू० 15.2.6.24)** वल्मीक+ङस्+अग्र+ङसि; तत्पुरुष, संज्ञा, पंचमी, एकवचन; वल्मीकाग्रात् प्रभवति तदन्तर्गतसर्पशिरोरत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्षणीयं धनु: खण्डं वल्मीकाग्रात् प्रभवति इत्यर्थ:। वल्मीकाग्रात् इन्द्रधनुष: प्रादुर्भाव उक्त: संहितायाम्। जलमध्येऽनावृष्टिभुविशस्यवधस्तरुत्थिते व्याधि: वल्मीके शस्त्रभयं निशिसचिववधाय धनुरैन्द्रम्।। इति। अनेन अर्थेनापि निमित्तं सूचितम्। तथाह महायात्रायां 'चापमैन्द्रमनुलोमखण्डं प्रोज्वलद्वहलमायतमिष्टमिति (प्रदीप); वामलूरविवरात्; वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्' इत्यमर: (संजी०); वल्मीकाग्रादपि पाकशासनशरासनोदय:। उक्तं च संहितायाम्—'जलमध्येऽनावृष्टिर्भुवि शस्यवधस्तरुत्थिते व्याधि:। वल्मीके शस्त्रभ्यं निशि सचिववधाय धनुरैन्द्रम्' इति (विद्युल्लता); ऊयिकाकृतकृतमृत्स्तूर्पाग्रात् (सुबोधा); वल्मीकाग्रादिति "वासुकिफण—मणिगणद्युतिर्वल्मीकरन्ध्रान्नि:सृत्य नभसि समेधे शक्रधनुराकारमापद्यते" **इत्यागम**:। मतान्तरे वल्मीकाग्रात्पर्वताग्रादिति च व्याचक्षते। सूर्यकरा हि वाताक्षिप्ता धनूरूपा इन्द्रधनुरुच्यते। तथा च **ज्योतिषे**—"सूर्यस्य विविधवर्णा: पवनेन विघट्टिता: करा: साभ्रे। विहायसि धनु:संस्था दृश्यन्त इन्द्रधनुरुक्तं तद्वे" ति।।—"वामलूरे गिरे: शृङ्गे वल्मीकपदमिष्यते" इति **संसारावर्त**:। 'वल्मीक: सातपोमेघ' इति **कश्चिद**भिधानं पठति। वल्मीक: सूर्य इति **केचित्** (सुबोधा)। इस शब्द के अर्थ के विषय में टीकाकारों के कई मत हैं। मल्लिनाथ ने साँप की बाँबी का अर्थ किया है। भरत का भी यही मत है, किन्तु उन्होंने व्याख्या करते हुए इतना और लिखा है कि पाताल से वासुकि नाग के फणों में लगी हुई मणियों की कान्ति बाँबी से उठकर आकाश में छिटकती है, वही इन्द्रधनुष है। 'मेघदूत' के टीकाकार सनातन ने वल्मीक शब्द का अर्थ पर्वत और अग्र का अर्थ शिखर किया है। अतएव उनके अनुसार वल्मीकाग्र=पर्वत शिखर। उन्होंने 'शब्दार्णवकोश' का एक प्रमाण दिया है। वामलूरे गिरे: शृङ्गे वल्मीकपदमिष्यते। एक दूसरे टीकाकार रामनाथ ने मुक्तावली नामक टीका में यह प्रमाण दिया है—

वल्मीक: सातपो: मेघ: वल्मीक: सूर्य इत्यपि 'अर्थात् वल्मीक वह मेघ है, जिस पर धूप पड़ रही हो। तभी सूर्य की किरणें इन्द्रधनुष के आकार में दिखाई देती हैं। इस सम्बन्ध में वराहमिहिर ने भी ज्योतिष शास्त्र का प्रमाण दिया है—

सूर्यस्य विविधा वर्णा पवनेन विघट्टितकरा: साभ्रे।
वियति धनु: संस्थाना: ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनु:।

वस्तुत: वर्षाकाल में मेघों के जलकणों पर सूर्य की धूप पड़ने से आकाश में इन्द्रधनुष दिखाई देता है। इन्द्रधनुष का वैज्ञानिक कारण तो यही है। किन्तु इसमें सन्देह है कि कालिदास इस तथ्य की ओर

उल्लेख कर रहे हैं अथवा किसी लोक-विश्वास पर आश्रित कवि-कल्पना की ओर। हमने मल्लिनाथ का अर्थ ही रखा है।

कुछ लोगों की यह धारणा है कि इन्द्रधनुष वल्मीक में रहने वाले साँप की मणि से उत्पन्न होता है—इन्द्रचापं किल वल्मीकान्तर्व्यवस्थितमहानागशिरोमणिकिरणसमूहात् समुत्पद्यते। वल्लभ ने वल्मीक का अर्थ 'सातपो मेघ:' भी किया है। एक और टीकाकार ने इसका अर्थ 'सूर्य' किया है। इन अर्थों में तो इन्द्रधनुष की वैज्ञानिक उत्पत्ति स्पष्ट ही है। वल्मीक का मूल अर्थ क्या था, यह कहना कठिन है। कोषों के टीकाकारों ने इसकी व्युत्पत्ति वलन्ते (संवृता भवन्ति) दी है। बृहदारण्यकोपनिषद् में इसका अर्थ 'चींटियों का भिट्टा' ही है। सम्भवत: इसकी व्युत्पत्ति 'वलते संवृणोति अनेन तत् वल्मीकम्' (उ० 4.25) है। आरम्भ में इसका अर्थ 'मेघ' रहा होगा। श० 6.3.3.4.6 में इसका सम्बन्ध यजु० 11.16; 17 से जोड़ा है। तै० 3.7.2.1 में वल्मीक को 'प्रजापति सम्बन्धी' बताया है। यद्यपि यहाँ प्रजापति का व्याख्यान 'यज्ञ' किया गया है, तो भी आरम्भ में यह प्रजापति=सविता=यज्ञ ही होगा; क्योंकि प्रजापति सविता भी है। चींटियों का भिट्टा भी वल्मीक कहलाता था। भ्रम से दोनों को एक समझा गया। अत: इन्द्रधनुष की उत्पत्ति का वैज्ञानिक पक्ष लौकिक कहानी में आवृत हो गया। शाकु० 7.11 में प्रयोग तथा पूर्वोल्लिखित गाथा के आधार पर वल्मीक का अर्थ 'वाल्मीक आश्रम' करना सम्भव नहीं।

इस पर सारोद्धारिणी टीका यों है—"इन्द्रचापं किल वल्मीकान्तर्व्यवस्थितमहानागशिरोमणिकिरणसमूहात् समुत्पद्यते।" सारो० ने वल्मीक का अर्थ 'सातपो मेघ:' किया है, परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। केचिदनन्तकुलोरगनिश्वासोद्भूतमाहुराचार्या:।

1343 वसति: (पू० 7.31.4.34) वसति+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; स्थानम् (चरित्र०); स्थानम् (संजी०); वास: (विद्युल्लता); राजधानी, इत्यनेन निरुपमविभूतिशालित्वात् अतिदर्शनीयतया अवश्याभिगमनीयतां व्यनक्ति (विद्युल्लता); वसतिर्निवासस्थानम् (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (11.33; 15.11) तथा शाकु० (2.15) में एक बार हुआ है।

1344 वसतिम् (पू० 1.4.13.57) वसति+आम्; संज्ञा, द्वितीया एकवचन; पदम् (प्रदीप); अवस्थानम् (चरित्र०); 'वही वस्यर्तिम्यश्च' इत्यौणादिको 'अति' प्रत्यय: (संजी०); स्थितिम् (सुबोधा), वसति: औणादिकोऽति:। (सुबोधा)।

√वस्+क्तिन्। निवास

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग छह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (6.77; 16.22), कुमार० में दो बार (4.11; 6.37) तथा विक्रम० (4.43) में एक बार हुआ है।

1345 वसन्तम् (12.1.6.11) वस्+शतृ+अम्; विशेषण; द्वितीया; एकवचन, तिष्ठन्तम् (चरित्र०); वर्त्तमानम् (संजी०); आसीनम् (पंचिका); तिष्ठन्तम् (सुबोधा); 'वसन्तम्' से तात्पर्य है गृहस्थ की तरह रहने वाले न कि आते-जाते रुक जाने वाले। इन सारे अर्थों की व्यञ्जनाएँ बड़े ही निपुण ढंग से पूर्णसरस्वती ने स्पष्ट की है—"वसन्तन्न तु चरन्तम्; गृहाभिमानेन सदा निषीदन्तमित्यर्थ:। अनेन तादृशे देशे किञ्चिदप्यपराध्यत: प्रचण्डदण्डापत्तिर्द्योत्यते।"

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त रघु० में इसका प्रयोग एक बार (13.63) हुआ है।

1346 **वस्तुनि (उ० 51.4.22.38)** वस्तु+ङि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; प्रयोजनादिविषये (प्रदीप); विषये (संजी०); अर्थे (पंचिका); पदार्थे (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में एक बार (106.4) हुआ है।

1347 **वहति** (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 66.3.17.28; उ० 12.2.10.15)** वह्+लट्; प्रथम पुरुष, एकवचन; तिङन्त; दधाति (चरित्र 12); विभर्त्ति (संजी० 66); विभर्त्ति (संजी० 12); आदत्ते, स्वव्यापारान् कुरुते इत्यर्थ: (पंचिका 12); धारयति (सुबोधा 66); धारयति (सुबोधा 12);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग छह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में दो बार (1.1; 7.6) रघु० (13.61) तथा ऋतु० (3.21) में एक एक बार हुआ है।

1348 **वा** (एकादशवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 57.4.14.55; उ० 24.1.7.20; 24.2.10.30; 24.3.14.36; 22.4.23.39; 25.1.2.4; 26.1.14.14; 26.3.8.23; 48.3.22.30; 54.2.7.21; 54.2.10.24)** अव्यय; वा शब्द इवार्थे (चरित्र 22); इव, 'इव वद् वा यथा शब्दौ' इति दण्डी (संजी० 22); वा शब्दो विकल्पे, 'उपमायां विकल्पे वा' इत्यमर: (संजी० 24); वा शब्द इवार्थे (पंचिका 24); वा शब्दोऽर्थान्तरयासद्योतने (सुबोधा 57); वा शब्द इवार्थे: वा विकल्पोपमानयोरिति रन्ति: (सुबोधा) वा शब्दोऽस्ति (सुबोधा) वा शब्दो द्वाभ्यां सम्बन्धनीय: (बलिव्याकुला मत्सादृश्य) (सुबोधा) वा शब्द एवार्थे (सुबोधा 25); यह 'इव' के अर्थ में आया है—'उपमायां विकल्पे वा' इत्यमर:। प्रकरण मे 'वा' आवश्यक है अन्यथा क्रमभङ्ग हो जाता है तथा उसका अध्याहार करना पड़ता है। मल्लि० ने 'वा' का कोई अर्थ नहीं किया है। 'वा' के बहुत से अर्थ होते हैं। यहाँ इसका 'निश्चय से' अर्थ है। देखिये—अमरकोश-स्युरेवं तु पुनर्वैवेत्यवधारणवाचका:'। का० पा० ने 'के वा' के स्थान में 'केषाम्' पाठ दिया है, परन्तु इस पाठ में अर्थ में कोई भेद नहीं आता। यहाँ 'वा' का अर्थ इव (समान, नाँई) है। 'वा' अव्यय शब्द है, जो निम्न अर्थो में प्रयुक्त होता है—(1) समुच्चय (और, अन्य) (2) उपमा (समान) (3) विकल्प (या, अथवा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पचहत्तर बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शेष ग्रन्थों में इस प्रकार है—रघु० (17), विक्रम० (17), शाकु० (11), मालवि० (10), कुमार० (9)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोश:'।

1349 **वाचालम् (उ० 33.3.13.25)** वाचाल+अम्; विशेषण, द्वितीया एकवचन; यत्किंचन वादिनम् (चरित्र०); बहुभाषिणम् 'स्याज्जल्पकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्, इत्यमर:, 'आलजाटचौवहुभाषिणी' इति आलच् प्रत्यय: (संजी०); यत्किञ्चनभाषिणम् (पंचिका); वाच्+आलच्। व्यर्थ की अनर्गल बातें करने वाला। तुलना करो—स्याज्जल्पकस्तु वाचालो वाचाटो वहुगर्ह्यवाक् अमरकोष। वाच् के आगे आलच् और आटच् प्रत्यय इसी अर्थ में आते हैं। इसके विपरीत विवेकपूर्ण बातें करने वाले को वाग्मिन् कहते हैं।

बहुभाषी के अर्थ में वाच् से आलच् और आटच् प्रत्यय लगते हैं। पाणिनि का सूत्र है—"आलजाटचौ बहुभाषिणि (5.2.125)"। वार्तिक से यह स्पष्ट हो जाती है कि आलच् या आटच् कुत्सित बहुभाषण के अर्थ में लगते हैं—"कुत्सित इति वक्तव्यम्।" आशय यह कि 'वाचाल' उसे कहते हैं, जो बेहूदे ढंग से बहुत बोला करता है। अमरकोश का कथन है—"स्याज्जल्पकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक।' एक बात ध्यान देने की है कि कालिदास ने यह प्रयोग पाणिनि के सूत्रानुसार किया है न कि वार्तिक के अनुसार। यहाँ पर कोई भी कुत्सित बात यक्ष ने न तो अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध में कहीं और न मेघ के और न ही अपने ही संवंध में। अत: 'वाचाल' का तात्पर्य यहाँ बहुभाषी मात्र से है। 'अमरकोश' का भी काल कालिदास के

बाद का ही होना चाहिए; क्योंकि वह भी वार्तिकानुसारी अर्थ ग्रहण करता है। कालिदास ने यहाँ पर यक्ष से उसके लिए 'वाचाल' का प्रयोग अधिक वर्णनपरता के अर्थ में ही कराया है। पूर्णसरस्वती ने इसका भाव ठीक ही स्पष्ट किया है–"वाचालं बहुभाषिणं तद्विरहदशावर्णनवचनमुखरमित्यर्थः।" मल्लिनाथ ने भी–"मां वाचालं बहुभाषिणं न करोति।" या तो इस वार्तिक का ज्ञान कालिदास को न था अथवा उनका रचनाकाल वार्त्तिककार से पूर्ववर्ती रहा हो; कुछ और ऐसे तत्त्व भी महाकवि की रचनाओं में पाये जाते हैं।

1350 **वातैः (पू० 65.3.13.43)** वात+भिस्; संज्ञा, तृतीया, बहुवचन; मेघवातैः (संजी०); सुखद पवन; दर्शनिनालकाप्रवेशाय मङ्गलं ध्वनितम्। उक्तञ्च–" प्रवेशे निर्गमे चैव मङ्गलामङ्गले समे" इति (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में भी एक बार (1.38) हुआ है।

1351 **वान्तवृष्टिः (पू० 20.1.5.12)** वान्ता+सु+वृष्टि+सु; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा एकवचन; अनेन वर्षोत्सर्गश्छर्दिश्च (प्रदीप); वान्तवृष्टिस्सन् (चरित्र०); उद्गीर्णवर्षस्सन्, कृतवमनश्च व्यज्यते (संजी०); वान्ता उद्गीर्णा आविष्कृता वृष्टिर्वर्षणं येन तादृशस्त्वम् (सुबोधा)।

वान्ता वृष्टयः येन सः। बरसा हुआ। 'वान्त' शब्द अश्लील है; क्योंकि इसके सुनने से कै की याद आने से घृणा उत्पन्न होती है। अतः यहाँ ग्राम्यता दोष मालूम पड़ता है। परन्तु यहाँ पर इस पद का प्रयोग मुख्य अर्थ में न होकर गौण अर्थ में हुआ है। अतः यह यहाँ काव्य की शोभा की वृद्धि करता है। देखो दण्डी का लेख–

निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते।।

1352 **वापी (उ० 15.1.1.1)** वापी+सु; संज्ञा, प्रथमा; एकवचन; दीर्घिका (चरित्र); पद्मिनी (पंचिका); दीर्घिका। मानसादण्याधिका वापीति टीकाकृतः (सुबोधा); उप्यते पद्मादि अस्याम्। वपन्ति यत्रेपि वा। √वप्+इ (उ० 4.125) वापि+स्त्री० ई=वापी। बावड़ी। यह एक लम्बे चौड़े आकार का कुआँ ही होता है। इसमें कमलों की सत्ता मानी गई है, पर यह अनिवार्य नहीं। पर्वतों में बावड़ियाँ बहुत पाई जाती हैं। यहाँ यह शब्द 'दीर्घिका' के अर्थ में आया है। 'अमरकोश' में 'वापी तु दीर्घिका' लिखा है। वापी की व्युत्पत्ति है–"उप्यते पद्माद्यस्याम्। √डुवप् बीजतन्तुसन्ताने (भ्वादि), धातोः वसिवपियजिराजिव्रजिसादिहनिवाशिवादिवारिभ्य इञ्" (उणादि 4.125) इत्यनेनेञ्। "कृदिकारादक्तिनः"-इत्यतः ङीप्।" इस प्रकार 'वापी और 'वापि' दोनों शब्द पर्यायरूप से निष्पन्न होते हैं। 'द्विरूपकोश' का कथन है कि "वाप्यां वापिरपि स्मृता।" मतलब उस 'सगरा' से है, जिसमें चारों तरफ जल में उतरने के लिये सीढ़ियाँ या जीने बने होते हैं। बीच में कमल आदि जल में रोपित-पोषित होते हैं। यह बावड़ी नहीं है। वैसे महामहोपाध्याय डॉ० आचार्य के 'अमरकोश' की माहेश्वरी टीका में 'वापी; का अर्थ 'बावड़ी' अर्थात् 'जीनेदार कुआँ' दिया हुआ है। लल्लछिन्द की देवल-प्रशस्ति में यह शब्द 'सगरा' या 'दीर्घिका' के लिये है (Epigraphica Indica, Vol. I, pp. 79, 83)। डॉ० आचार्य की "एन्साइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर" के अनुसार 'वापी' शब्द के अर्थ 'बावड़ी', 'सेचन-कूप' और 'सर्वसामान्य तड़ाग' भी होते हैं। कवि की इस रचना की कल्पना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि उसे 'वापी' शब्द से बँधा हुआ वह सगरा अभीष्ट है, जिसमें जीने वगैरह बने होते हैं और कमलादि उप्त होते हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है–"हमारा अनुमान है कि रहट और बावड़ी दो प्रकार के विशेष कुएँ शकों के द्वारा यहाँ लाये गये। 'बावड़ी' (गुजराती बावं) के लिए प्राचीन शब्द

'शकन्धु' (शक देश का कुआँ) और रहट के लिए 'कर्कन्धु' (कर्क देश का कुआँ, कर्क ईरान के दक्षिण-पश्चिम में था)। ये नाम व्याकरणसाहित्य में सुरक्षित मिलते हैं"।

1353 **वाम:** (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 10.2.9.11; उ० 35.1.1.1)** वाम+सु; संज्ञा; प्रथमा एकवचन; वामो वामपार्श्वस्थ: (प्रदीप:); वामस्थित: (चरित्र०); वामभागस्थ:; 'वामस्तु वक्रे रम्ये स्यात् सव्ये वामगतेऽपि च' इति शब्दार्णवे (संजी०); वामभागस्थित:, चातकस्य वामभागस्थितौ प्राशस्त्यात्; यथा योगयात्रायाम् वराहमिहिर:

'चुचुन्दरीशूकरिकाशिवालिश्यामागलीपिङ्गलिकान्यपुष्टा:।
वामा: प्रशस्ता: गृहगोधिका च पुंसंज्ञका ये तु पतत्रिणश्च।।'

इति। तथा महायात्रायाम्—'न तु भाद्रपदे ग्राह्या: सूकराश्ववृकादय:।
शरद्यजागलीक्रौञ्चा: श्रावणे हस्तिचातका:।।'

इति कालविशेषनिषेधात् कालान्तरे चातकस्वरस्य प्रशस्तत्वम् (विद्युल्लता); वाम; देशस्थ: (सुबोधा 10); वाम इत्यनेनापि सम्बन्धश्चकारेण द्योतित:। ईदृक् चातकोऽपि शुभशंसी। यदुक्तं तत्र—

'वर्हिणश्चातकाश्चाषा ये च पुंसंज्ञिता खगा:।
मृगा वा वामगा हृष्टा: सैन्यसम्पद्बलप्रदा:।।' इति।

प्रशस्त: (सुबोधा 10); सव्य (सुबोधा 35)

बाई ओर चातक, मोर, हरिण आदि का आगमन शुभ माना गया है। देखो—

'वर्हिणश्चातकाश्चाषा ये च पुंसंज्ञिता: खगा:।
मृगा वा वामगा हृष्ट: सैन्यसम्पद्बलप्रदा:।।'

तथा—

'कामं वामसमायुक्ता भोज्ये भोगप्रदायिन:।
हृष्टास्तुष्टिं प्रयच्छन्ति प्रयातुर्मृगपक्षिण:।।

परन्तु श्री रामनाथ तर्कालङ्कार 'वाम:' का अर्थ 'सुन्दर' करते हैं। उनके मत में पक्षियों आदि की दक्षिण में सहर्ष स्थिति ही शुभ होती है। हिन्दुओं के मत में भी साधारणतया वाम भाग में स्थित पक्षी आदि शुभ शकुन नहीं होते । यूनानियों की विचारधारा भी श्री रामनाथ के मतानुसार ही है। परन्तु रूमवासियों के विचार वाम भाग सम्बन्धी पहले मत के समान हैं। दोनों मतों का समन्वय 'वाम:' का 'बाई और सुन्दर' अर्थ करके किया जा सकता है। कम से कम यहाँ पर कालिदास वाम भाग में ही शुभ शकुन मान रहे हैं।

यहाँ वाम (बाँयें) ऊरू के फड़कने का उल्लेख इसलिए किया है कि स्त्रियों के शरीर का वाम तथा मनुष्यों का दक्षिण भाग श्रेष्ठ माना गया है। देखिये टीका में दिया गया यह श्लोक-'वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिण:। दाने देवादिपूजायां स्पन्देऽलंकरणेऽपि च।।' और देखिये निमित्तनिदान—'ऊरो: स्पन्दाद्रतिं विद्यादूर्वो: प्राप्तिं सुवासस:।।'

1354 **वामपादाभिलाषी (उ० 17.3.15.34)** वामपाद+अम्+अभिलष्+णिनि+सु; विशेषण; प्रथमा, एकवचन; वामचरणाभिलाषुक:; यथाहं सापराध: पादप्रसादं वाञ्छामि तद्वत् (चरित्र०); चरणप्रहारानुग्रहेण तस्य विकासात् (पंचिका); वामपादस्य अभिलाषी। अथवा वामपादम् अभिलषितुं शीलमस्य। कविसमय में प्रसिद्ध है कि अशोक युवतियों के बायें पैर की लात से खिलता है। तुलना करो—कु० सं० 3.26; मालविका 3.12; वाम पाद से यहाँ वाम-पाद का प्रहार अभिप्रेत है। 'किसी सुन्दरी के बायें पैर के प्रहार से अशोक वृक्ष में फूल निकल पड़ते हैं' यह एक प्राचीन धारणा है। देखिये कुमार० III.26 'असूत सद्य: कुसुमान्यशोक

स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि। पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेणा।' और देखिये—मालविका० III. 12 अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणिहितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधाम्।। इसी नाटक के III अंक में देखिये—विदूषक—"भवति! न युक्तं नामत्रभवत: प्रियवयस्याशोको वामपादेन ताडितुम्......।" यक्ष की तरफ 'वामपादाभिलाषी' पद से अपनी पत्नी के वाम पद संवाहन (shampooing) की इच्छा व्यङ्ग्य होती है। इसके लिए देखिये अभि० शाकु० III. 'अङ्के निधाय करभोरु, यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ' इसी तरह अशोक और यक्ष दोनों वामपादाभिलाषी हैं।

'वामश्चासौ पादश्च वामपाद:। तमभिलषतीति-एवं शील: वामपादाभिलाषी। ताच्छील्ये णिनि:। श्री संसारचन्द्र ने यहाँ 'इन्' प्रत्यय बताया है; वह इनि की ओर इंगित कर रहे हैं या 'णिनि' की, कुछ पता नहीं। 'अशोक' का 'वामपादाभिलाषित्व' उसके दोहद से स्पष्ट है। महिमसिंह गणि का कथन है—"पादाहत: प्रमदया विकसत्यशोक: शोकं जहाति बकुलो मुखसीधुसिक्त:" अलंकारशेखर में इन दोनों कविसमयों को साथ-साथ प्रस्तुत करके असन्निबन्ध सिद्ध किया गया है—केसराशोकयो: सत्स्त्रीगण्डूषात् पादघातत:। मासान्तरेऽपि पुष्पाणि।" यह कविसमय कितना पुराना है, कहना कठिन है। काव्यों में तो पौर्वापर्य विवादग्रस्त होने से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है; परन्तु मूर्तिकला के नमूनों में इस बात के प्रवल प्रमाण हैं कि यक्षिणियों के 'वामपाद' का स्पर्श अशोक को लगभग 250 शक पूर्व में भी अत्यन्त अभीष्ट था। भरहुत की यक्षिणी ('कामशिल्प'—चि०सं० 9) एक अशोक से लिपटी खड़ी है। उसका वामपाद अशोक-सङ्गत है। अशोक पुष्पगुच्छों से लद गया है। इस पादाघात का ढंग भी अजीव है; बाएँ हाथ से अशोक को वेष्टित करके और फिर बाएँ पैर से भी पेड़ को लपेटते हुए पंजों को वृक्ष से सङ्गत किया गया है। यहाँ कालिदास का वाम शब्द-प्रयोग बड़ा ही उपयोगी प्रतीत होता है। वैसे कविसमय वताने वाली किसी भी उक्ति में 'वाम' शब्द नहीं मिलता। 'सह मया' की विच्छित्ति से भी कम मानसासेचन नहीं होता है। महाराज हर्ष ने लिखा है—कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममापि।" 'वाम' को इस प्रकार का अर्थ लेने पर श्लिष्ट माना जा सकता है। 'वामाय पादाभिलाषी'—समासविग्रह को दृष्टि-पथ में रखने पर 'वाम' का अर्थ 'काम' होगा—'वामसव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे। पयोधरे हरे कामे विद्याद्'—'विश्वप्रकाश'। 'वाम' का बायाँ अर्थ लेने पर भी उसके कामायतन होने के विशेषार्थ को ध्यान में रखा जा सकता है। "स्त्रीणां वामपादस्य कामनिकेतनत्वेन प्राधान्यम्"—विद्युल्लता। लगभग 500 शकाब्द के बादामि की तृतीया गुफा में एक आम्र के नीचे यक्ष को यक्षिणी के वामपादाभिलाषी के रूप में उत्कीर्ण किया गया है ('कामशिल्प'—चि० सं० 39)। इसी प्रकार लगभग सातवीं शक शताब्दी की मिथुनमूर्ति को, जो हुच्चिपन मठ मैसूर में स्थित है, देखा जा. सकता है (कामशिल्पं—चि० सं० 40)। इसी वामपादाभिलाषिता के भाव को खजुराहो के विश्वनाथ-मन्दिर में भी देखा जा सकता है ("कामशिल्प"—चि० सं० 73)। कालिदास की इस कल्पना का अमित प्रभाव इन वास्तुगत मूर्तियों पर पाया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में बड़ी ही गलत बातें शारदारञ्जन राय और उनके अनुयायी श्री संसारचन्द्र ने की है। जब पाद-संवाहन ही करना है, तो दाएँ-बाएँ का कैसा भेद? इसे वे ही बता सकेंगे।

1355 वायु: (पू० 45.4.12.84) वायु+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; पवन: (चरित्र०); वात: (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (16.25), कुमार० (2.35), तथा ऋतु० (6.22) में एक-एक बार हुआ है।

1356 वायौ (पू० 56.1.3.3) वायु+ङि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; वनवाते (संजी०); मारुते, सहायसम्पदा संभृतमदत्वाद् दु:सहत्वमग्ने: प्रकाश्यते; अन्यथा प्रबलबाधाभावात् (विद्युल्लता); वाते। तञ्चेद्वाते सरतीति

क्वचित् पाठः (सुबोधा); वायु के चलने से सरल वृक्षों की आपस की रगड़ से आग पैदा हो जाती है। यह वन्य अग्नि भारत में बहुधा देखने को मिलती है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (8.90) हुआ है।

1357 **वारितोष्णाः (उ० 6.2.8.17)** वारित+सु+उष्ण+टाप्+जस्; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा, बहुवचन; शामितातपाः सत्यः (संजी०); वारितम् उर्ष्ण यासां ताः। उष्ण=गरमी, धूप। मन्दार वृक्ष छाया करके धूप और उसकी गरमी को दूर कर देते थे।

1358 **वारिधारासहस्रैः (पू० 56.3.13.47)** वारिधारा+आम्+सहस्र+भिस्; तत्पुरुष; संज्ञा, तृतीया, बहुवचन; वारिधाराणां सहस्रसंख्याभिः। अत्र सहस्रशब्दःसंख्यावचनोऽपि क्रियासमन्वयसामर्थ्याभावात् संख्येये पर्यवस्यति इत्येव बोद्धव्यम्। वारिधाराभिरित्यर्थः (प्रदीप); झटित्यसंख्यवारिधाराविकिरणैः, आतिपातिके कार्ये मान्द्यस्यायुक्तत्वादिति भावः। न केवलं प्रत्युपचिकीर्षया, अपि तु आर्त्तानुकम्पयाप्येतदनुष्ठेयमित्याह (विद्युल्लता); असंख्येय जलधाराभिः (सुबोधा); जंगल की आग का बुझना कठिन-सा कार्य है। इसी विचार से कवि ने बादल को कहा है कि तू इस अग्नि को हजारों जलधाराओं से अर्थात् मूसलाधार पानी बरसाकर शान्त करना। दावानल की व्यापकता के कारण उसे हटाने के लिए जल की भी प्रचुरता अभीष्ट होने से धारासहस्रैः लिखा गया है। उद्भूतावयव भेद की विवक्षा से बहुवचन किया गया है।

1359 **वाष्पम् (पू० 12.4.22.51)** वाष्प+सु; संज्ञा,प्रथमा, एकवचन; उष्माणं अश्रुजलं च। वाष्पोश्रूणि अम्बुधूमे च इति यादवः। अत्र कश्चित् सुहृद दूरादागतं सुहृद् दृष्ट्वा चिरविरहोष्णं वाष्पं उन्मुच्य सौहृदं आविष्करोतीत्यर्थः (प्रदीप); उष्माणम्। वाष्पं उष्माश्रु कशिपु इत्यमरः (चरित्र०); उष्माणं नेत्रजलं च; वाष्पो नेत्रजलोष्मणो' इति विश्वः (संजी०); अश्रु; 'वाष्पोऽश्रुणिअम्बुधूमे च' इति वैजयन्ती। अनेन चिरादुपगते हि सुहृदि तदनुरागिणो जनस्यातीतविरहदुःखानुस्मरणहेतुकं झटिति प्रवृत्तमश्रुसलिलमनुमापयति तद्विषयं हृदयगतमनुरागातिशयम्; एवमस्यापि द्योत्यते। (विद्युल्लता); उष्माणम् (सुबोधा), वाष्पो धूमाकारो जलसम्पर्कात्तप्तभूमिनिर्गतोऽश्रुच, 'वाष्पो नेत्रजलोष्मणोरिति" **विश्वः**। हर्षलक्षणवाष्पाभिव्यक्त्या निदर्शना नामालंकारः। (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में इस पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० (200.3; 206.2) में दो बार हुआ है।

1360 **वासः (उ० 13.1.1.1)** वासस्+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; वसनम् (संजी०); अम्बरम् (पंचिका); वस्त्रम् (सुबोधा); सर्वत्र एकवचन की समानता रखने के लिए बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग हुआ है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पाँच बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में तीन बार (3.54; 7.6; 7.60) तथा रघु० में एक बार (7.9) हुआ है।

1361 **वासयष्टिः (उ०18.1.5.13)** वासयष्टि+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; निवासदण्डः (चरित्र०); निवासदण्डः (संजी०); पक्षियों के बैठने का डण्डा-अड्डा-होता है। देखिये—हंसदूत० 47 'अलिन्दे यस्यास्ते मरकतमयी यष्टिरमला शयालुर्या रात्रौ मदकलकलापी कलयति।।'

1362 **वासवीनाम् (पू० 46.3.11.46)** वासव+इनि+आम्; विशेषण; षष्ठी, बहुवचन; वासवस्य अमूः वासव्यः तासां इन्द्रसम्बन्धिनीनां (चरित्र०); वासवस्य इया वासव्यः, 'तस्येदं' इति अण्; तासां वासवीनां ऐन्द्रीणाम् (संजी०); वासवः इन्द्रः, तत्सम्बन्धिनीनाम्, वासवोदेवाः तदीयानां वा। एतेन दानवकदनदूनदीनवासवादिप्रार्थनाप्रसन्नत्वं परमेश्वरस्य उक्तम्; यथा कुमारसम्भवे—'अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूति प्रतियाचितः इति (विद्युल्लता); इन्द्रसम्बन्धिनीनाम्

(सुबोधा); इन्द्र की। (पा० 4.2.114), के आधार पर वल्लभ इसे अशुद्ध रूप मानते हैं और 'वासवीयानाम्' को शुद्ध। परन्तु मल्लिनाथ ने पा० 4.3.120 के आधार पर इसे ही शुद्ध रूप माना है। ऐसी कथा आती है कि तारकासुर ने तप करके ऐसा वर पा लिया था कि उसे सात दिन के बालक के अतिरिक्त और कोई न मार सके। अत: इसे मारने के लिए 'कुमार' (=स्कन्द) का जन्म हुआ।

1363 **वाससीव (पू० 62.4.15.73)** वासस्+ङि+इव; तत्पुरुष; अव्यय; वस्त्रे (संजी०); वस्त्रे (सुबोधा)।

1364 **वासितम् (पू० 20.1.4.9)** वास्+क्त+अम्, विशेषण, द्वितीया एकवचन; अनेन गन्धसंस्कारो रुपितत्वं च विवक्षितम् (प्रदीप:); सुगन्धीकृतम् (चरित्र०); सुरभितं भावितं च; हिमवद्विन्ध्यमलया गजानां प्रभव: इति विन्ध्यस्य गजप्रभवत्वात् इति भाव: (संजी०); परिमलितम् (विद्युल्लता); सुरभीकृतं वा (सुबोधा); "वासितं भावितं प्रोक्तं वासितं सुरभीकृत" मिति वल:। केचित्तु तिक्तैर्मदैर्वासितैः विरसीकृतम् एतेन परोपकारितया विरसमपि ग्राह्यमिति भाव इत्याहु: (सुबोधा); (1) सुगन्धित (2) मिला हुआ, अन्य पदार्थों के गुणों से युक्त।

1365 **वास्यति (पू० 45.3.6.74)** वा+लृट्; प्रथम पुरुष, एकवचन; तिङन्त; त्वां विजयिस्यति इति अर्थ: (संजी०); गमिष्यति (सुबोधा)।

1366 **वाहयेत् (पू० 41.3.14.34)** वह्+णिच्+लिङ् प्रथमपुरुष, एकवचन; प्रापयेदित्यर्थ:। वहत्तं यान्तमध्वानं वाह्यतीति वाह्यदिति रूपम्। अध्वनि च यातीति प्रयोगोऽस्ति। एप पन्था विदर्भाणामेष यास्यति कोसलान्' इति दर्शनात् (प्रदीप:); प्राप्नुयात् (चरित्र०); गच्छेत्, निशासु भास्वत्कलनूपुराणां य: सञ्चरोऽमूदभिसारिकाणाम्। ज्वलन्मुखोल्काविचितामिषाभि: स वाह्यते राजपथ: शिवाभि: इत्यत्र वाह्यत इति वत् (विद्युल्लता); गच्छेत् (सुबोधा); √वह् (ले जाना, वहना)+णिच्+विधिलिङ् प्र० पु० एकवचन।

1367 **वाहा: (उ० 14.1.4.15)** वाह+जस्; संज्ञा, प्रथमा, बहुवचन; हया: (संजी०); वाह्यते अनेन इति इति वाह:, ते।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (5.73) हुआ है।

1368 **विकचकमलै: (उ० 15.2.7.23)**विचक+जस्+कमल+भिस्; कर्मधारय; संज्ञा; तृतीया बहुवचन; विकसितपङ्कजै: (चरित्र०); पद्ममुकुलै: (पंचिका); **कमलमुकुलै**—पद्मकुडमलै:। कमलकुसुमैरिति क्वचित् पाठ:, विकचकमलैरिति च क्वचित् (सुबोधा); **कमलमुकुलै**—पा०भे० कमलों की कलियों से। विद्युल्लता के मत से फूल तो खिलते ही पूजा के लिये तोड़ लिये जाते थे। इसलिए वहाँ कलियाँ ही थीं। पर यह क्लिष्ट कल्पना ही है। तथा 'नालै:' 'मुकुलै:' का विशेषण बनता है, जो अप्राकृतिक है। **विकचकुसुमै**—पा०भे० से 'कमल' का अर्थ नहीं निकलता।

कमलमुकुलै—यह पाठ वल्लभदेव, पूर्णसरस्वती, भरतमल्लिक आदि को अभीष्ट है—"विकचकमलै:" पाठ मल्लिनाथ, चरित्रवर्धन आदि को इष्ट है। परन्तु 'कमलमुकुल' का एक साहित्यिक वैशिष्ट्य है, जिसे 'विकचकमल' प्रस्तुत करने में असमर्थ है। 'बलिव्याकुला' पद के द्वारा कालिदास ने जिस प्रोषितपतिका प्रियतमा की पतिस्वास्थ्यविषयक निरन्तर अर्चना, मान-मनौतियों आदि की कल्पना की है, उसके कारण राशि-राशि विकसित कुसुमों का व्यय होते रहने के कारण केवल कलियाँ ही वापी की शोभा बढ़ाने के लिये बच पाती थीं। इस वस्तु-ध्वनि को देने मे 'विकचकमलै:' पाठ असमर्थ और 'कमलमुकुलै:' पाठ परम समर्थ है। विद्युल्लताकार के शब्दों में—"मुकुलोपादानमनुदिनविकासिनां कमलानां विच्छेदध्वननार्थम्। मत्प्रियया मत्समागमफलसिद्धये देवतार्चनाय नित्यमेव विकसितमात्रेषु कमलेष्वाक्षिप्तेषु मुकुलमात्रावशिष्टत्वं मुकुलशब्देन द्योत्यते 'बलिव्याकुला वे' त्युपर्युक्ते:। अवशिष्टमुकुलबाहुल्यादेव समृद्धिर्द्योत्यते।

1369 **विकल्पान् (उ० 13.2.10.31)** विकल्प+शस्; विशेषण, द्वितीया, बहुवचन; विशेषान् (संजी०); विकल्पम्—प्रकार (design)। बहुवचन—विकल्पान् के स्थान पर यह एकवचन पाठ समता के लिए बहुत अच्छा है।

1370 **विक्लवा: (पू० 40.4.18.55)** विक्लवा+जस्; विशेषण, प्रथमा, बहुवचन; भीरव: ततो वृष्टिगर्जिते न कार्य इत्यर्थ: (संजी०) विक्लवा: अधीरा:; यतो गम्भीरभीषणे तव गर्जिते जृम्भमाणे ससम्भ्रमपरिरम्भोचिते दयितजने चासन्निहिते तासामतिसुकुमारीणामचिन्तनीयापि कापि दशा संभाव्यत इति भाव:। अत्र मुखरत्वविक्लवत्वयोरति-वैधर्म्यादघटमानत्वमिति विषमालंकार: (विद्युल्लता); कामव्यग्रा: गर्जितासहा इति स्तनितं मा कार्षीरित्यर्थ:। किंवा त्वद्गर्जने ता विह्वला: स्युरित्यर्थात्, किंवा त्वं मुखरो मा भू:, ताश्च विक्लवा मा भूवन् (सुबोधा)।

विक्लव—वि+√क्लु (जाना)+अच्। तुलना करो—'स्त्रीस्वभावस्तु कातर:।' स्त्रियों को बादल की गर्जन और बिजली की चमक बड़ी भयावह मालूम पड़ती है। देखो पू०मे० 22, कु०सं० 4.11 (—घनशब्द विक्लवा:)। ये ही भाव यहाँ अभिप्रेत है। 'प्रणयकातर' भाव न स्वाभाविक है, न प्रासङ्गिक, न शिष्ट। कामसूत्र के अनुसार स्वयं उपस्थित हुई नायिका (=अभिसारिकाओं) की अवहेलना नहीं की जा सकती है। (शुकदेव जी जैसे व्यक्ति अपवाद हैं। उन पर यह नियम लागू नहीं)।

1371 **विक्षिपन्तीम् (उ० 30.1.3.12)** वि+क्षिप्+शतृ+ङीप्+अम्; विशेषण, द्वितीया एकवचन; चालयन्तीम् (संजी०); चालयन्तीम् (प्रदीप); उत्क्षिपन्तीमपास्यन्तीम् (पंचिका); विकीर्णयन्तीं इतस्तत: प्रापयन्तीम् (सुबोधा)।

1372 **विगणयन् (उ० 48.1.4.6)** वि+गण्+णिच्+शतृ+सु; प्रथमा, एकवचन; विजानन् इत्यर्थ: (प्रदीप); जानन् (चरित्र०); शापान्ते सति एवं एवं करिस्थ्यामीति आवर्त्तयन् (संजी०); जानन् (पंचिका); विचारयन्नहम् आत्मनैव न पुनरन्येन, विगणयन्नात्मनैव इत्यत्र अचि नस्य द्वित्वम्, न त्वात्मानमिति पाठे तु पुनरर्थे, अहं पुनर्बहु विगणयन् आत्मनैवात्मानं न न अवलम्बे अपितु अबलम्बे एवेत्यर्थ:, (सुबोधा); बहुत सी बातों के बारे में सोच-समझकर। मल्लिनाथ ने इसका अर्थ यह बताया कि 'शापकाल की समाप्ति के बाद मैं ऐसा करूँगा यह करूँगा आदि-आदि' इसी पर बार-बार विचार करते हुए। चरित्रवर्धन ने इसका अच्छा अर्थ किया है। उनका कहना है—'बहुत ही शुभ होगा ऐसा जानते हुए।' यही ठीक अर्थ है—बहुमङ्गलम् भविष्यतीति विगणयन् जानन्। दक्षिणावर्तनाथ ने भी चरित्रवर्धन का ही अर्थ दे रखा है—"बहु विगणयन् बहु भद्रकं भविष्यतीति विजानन्नित्यर्थ:।' पूर्णसरस्वती ने मल्लिनाथ का सा ही आशावादी एक अर्थ दे रखा है, परन्तु वह साहित्यिक अधिक है—"बहु विगणयन् त्वया सहोपरि परिभोक्ष्यमाणम् अनेकम् अभिलाषविषयं विचिन्तयन्—इति हेतु:।" पूर्णसरस्वती के द्वारा उसकी व्यञ्जना पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। परन्तु सामान्य अर्थ भरतसेन ने सबसे अच्छा दिया है—"बहुत सोच-विचार कर।" इस दृष्टि से मल्लिनाथ का प्रयास सबसे अधिक चिन्त्य है।

1373 **विगलितशुचा (उ० 31.2.10.19)** विगलिता+सु+शुच+टा; बहुव्रीहि; विशेषण; तृतीया, एकवचन: विगलिता गता शुक् शोको यस्य स तेन (चरित्र०); वीतशोकेन (संजी०); नष्टशोकेन (पंचिका); विगतशोकेन सती (सुबोधा); विशेषणगलिता शुक् यस्य, तेन। शाप की समाप्ति और यक्षोचित स्वमहिमा की प्राप्ति के कारण उसका शोक पूर्णतया दूर हो जाना था। जिसका शोक एकदम समाप्त हो गया हो, उसे 'विगलितशुक्' कहते हैं। यहाँ पर 'विगलित' के 'वि' से विशेष' या 'सदा के लिए' का अर्थ अभीष्ट है। जिसका 'शोक' या 'विरहजन्य कष्ट' सदा के लिए समाप्त हो गया हो। उसके शोक की पुनरावृत्ति अब कभी भी नहीं होनी है। यक्ष जीवन भर ऐसी लापरवाही नहीं करेगा। अत: फिर ऐसा अवसर नहीं आने का। 'विद्युल्लता' में लिखा है—"विगलितशुचा विशेषेणापुनरुद्भवाय गलिता नष्टा शुग् दु:खं यस्य तेन विगलितशुचेति। उपरि ईदृशानां प्रमदानां परिहारेण मतिपूर्व प्रवर्तनात् प्रियाविरहदु:खस्य न कदाचिदपि सम्भावनेति भाव:।"

1374 **विचर (उ० 54.3.16.39)** वि+चर्+लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन; विपूर्वश्चरतिः सकर्मको भवति। 'अधिज्यधन्वा विचचार दावं' इत्युक्तत्वात् (प्रदीप); भ्रम (पंचिका); यथेष्टं चरिष्यसि (सुबोधा); वि+√चर् अकर्मक धातु है। देखिये नैषध–'हंसं विचरन्तमन्तिके।' परन्तु प्रस्तुत श्लोक में 'विचर' सकर्मक है। इसका कर्म 'देश' है। इस विषय में मल्लि० ने इसके सकर्मक होने के बारे में 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' यह प्रमाण दिया है। विचर के सकर्मक होने के बारे में देखिये रघु० II–'अधिन्ज्यधन्वा विचार दावम्।' विविध ढंग से भ्रमण करने के अर्थ में इसे रखा गया है।

1375 **विचरेत् (पू० 63.2.9.20)** वि+चर+लिङ्; प्रथम पुरुष; एकवचन; तिङन्त; क्रीडेत् परिक्रामेत् इति वा (प्रदीप); विशेषणलीलया गच्छेत् (सुबोधा); इसके स्थान पर 'विहरेत्' पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ 'बिहार करे' होगा। यह पाठ प्रकरण में बहुत अच्छा रहता है। विहरेत्=इसके स्थान पर 'विचरेत्' यह पाठान्तर है। 'विचरेत्' का अर्थ भ्रमण करे। 'विहरेत्' पाठ अच्छा प्रतीत होता है; क्योंकि इसका 'क्रीडाशैल' से सम्बन्ध है। यह पाठ असली प्रतीत होता है; क्योंकि पार्श्वा० में भी यही पाया जाता है।

1376 **वितत्य (पू० 61.3.12.68)** वि+तन्+क्त्वा; अव्यय; विस्तीर्य। यावदाकाशं वितत्य इत्यर्थः (प्रदीप); विस्तीर्य (चरित्र०); व्याप्य (संजी०); व्याप्य (सुबोधा); वि+√ तन् (फैलना)+ल्यप्। विस्तार करके, फैलाकर।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में एक बार (7.84) हुआ है।

1377 **वित्तेशानाम् (उ० 4.4.17.63)** वित्तेश+आम्; संज्ञा; षष्ठी, बहुवचन; यक्षानाम् (चरित्र०); यक्षाणाम् (संजी०); 'वित्ताधिपः कुबेरः स्यात्प्रभौ धनिकयक्षयोः' इति शब्दार्णवे (संजी०); यक्ष। कुबेर के नवनिधि कोष की रक्षा केवल यक्ष करते हैं। उद्यान की रक्षा यक्ष और राक्षस तथा सरोवर की रक्षा केवल राक्षस करते हैं। कुबेर के कोष के रक्षक होने से यक्ष वित्तेश (=धन के स्वामी=रक्षक) कहे जाते हैं। इसका अर्थ 'धनिक' करना भी उपयुक्त होगा।

1378 **विदित्त्वा (उ० 51.1.5.10)** विद्+क्त्वा; अव्यय; ज्ञात्वा (संजी०); अवेत्य (पंचिका), ज्ञात्वा (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (3.43; 13.68) तथा शाकु० में एक बार (57.2) हुआ है।

1379 **विद्धि (उ० 38.1.5.10)** विद्+लोट्; मध्यम पुरुष, एकवचन; तिङन्त; जानीहि (चरित्र); जानीहि (संजी०); जानीहि (पंचिका); जानीहि (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (1.79; 11.76) तथा मालवि० में एक बार (2.5) हुआ है।

1380 **विद्युता (उ० 54.4.26.54)** विद्युत्+टा; संज्ञा, तृतीया, एकवचन; कलत्रेण इति शेषः (संजी०); तडित्प्रियया (पंचिका); तडिता (सुबोधा०); विद्युतो मेघवनितात्वेन वर्णनं कविसम्प्रदायसिद्धम् (सुबोधा०); विद्युत् को मेघ की पत्नी माना है। तुलना करो–मा०मा० 9–25।

1381 **विद्युत्वन्तम् (उ० 1.1.1.3)** विद्युत्+मतुप्+अम्; विशेषण; द्वितीया; एकवचन; विद्युत् विद्यते यस्य तम् (चरित्र०); विद्युतो सन्तीति विद्युत्वन्तम् (संजी०); सतडित्कम् (पंचिका); तडिद्वनितायुक्तं, ललितगुणयुक्ता हि नार्यश्चञ्चला भवन्तीति विद्युत्साम्यम् (सुबोधा); पूर्वमेघ के समान ही कवि ने यहाँ भी विषय को एकदम प्रारम्भ करके तथा 'विद्युत्' पद का प्रयोग करके मंगल पूरा कर दिया है। विद्युत् ऐसी शक्ति है, जो पापनाशक है (वि+√दो काटना, दूर करना आदि से। देखो–तै० 3.10.9,1) और ज्ञान देने वाली है

(वि+√दा देना से देखो—श० 14.8.7.1, वै०ए० पृ० 215 सं० 645)। अत: ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'विद्युत्' को 'ब्रह्म' (तै० 3.10.9.1) 'सावित्री' (जै०उ० 4.27.9) सविता (गो० 1.1.33) अशनि (=वज्र श० 6.1.3.14) कहा गया है। ऐसे व्यापक शब्द का प्रयोग जहाँ मंगल को पूरा करता है, वहाँ कवि देवताओं में एकत्व भावना को भी व्यक्त करता है। शैव होते हुए भी वे अन्य देवताओं का समुचित आदर करते हैं। 'विद्युत्' का 'व' भी वरुण और पवन वाचक होने से मंगल को पूरा कर देता है।

विद्युत: सन्त्यस्येति, तम्। विद्युत+वत् (मतुप्)+द्वितीया एक व० पु०। बिजली से युक्त। अमरकोष के टीकाकार भानुजि दीक्षित तथा अन्य लेखकों ने 'विशेषेण द्योतते' ऐसा कहकर 'विद्युत्' को वि+√द्युत् (चमकना) से क्विप् लगाकर बनाया है। इस पर वैदिक मत ऊपर दिया जा चुका है।

"सौदामिनी सहितम्। "तसौ मत्वर्थे" (अष्टाध्यायी 1.4.19) इति भसंज्ञा। तेन तकारस्य पदाश्रयं जश्त्वन्न भवति।"—पू०स०।

1382 **विद्युदुन्मेषदृष्टिम् (उ० 20.4.14.71)** विद्युत्+ङस्+उन्मेष+सु+दृष्टि+अम्; बहुव्रीहि, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; विद्युदुन्मेष विद्युत्स्फुरणम्। तदेव दृष्टिरिति विद्युदुन्मेषदृष्टि: (प्रदीप); विद्युत् उन्मेष: उन्मीलनं सैव दृष्टि: *प्रकाशत्वात् तान् (चरित्र०); विद्युदुन्मेषो विद्युत्प्रकाश: स एव दृष्टिस्ताम् (संजी०); तडिदुद्योतनमेव* दृशम्, यथा तां पश्यसीति भाव: (पंचिका 20); विद्युदुन्मेष एव तडित्प्रकाश एव दृष्टिस्ताम्। त्वयि विद्युति प्रदीपबुद्ध्या सा भयादिरहिता स्वच्छन्दं स्थास्यतीति पर्यवसितोऽर्थ: (सुबोधा); विद्युत: उन्मेष: विद्युदुन्मेष:। स एव दृष्टि:, ताम्। बिजली की चमक रूपी दृष्टि को।

1383 **विद्युद्गर्भ: (उ० 37.3.10.32)** विद्युत्+सु+गर्भ+ङि+सु; बहुब्रीहि, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; अन्तस्तम्भित—विद्युत्क:। इदं विशेषणं तस्या: मेघसन्दर्शनसुखार्थमुक्तम् (प्रदीप); विद्युत् गर्भे यस्य सा तादृश: सन् (चरित्र०); विद्युत् गर्भ: अन्तस्थ: यस्य स: विद्युत्गर्भ: अन्तर्लीनविद्युत्क इत्यर्थ:; 'गर्भोऽपवरकेऽन्त:स्थे गर्भोऽग्नौ कुक्ष्णोऽर्भके' इति शब्दार्णवे, दृष्टिप्रतिघातेन वक्तुर्मुखावलोकनप्रतिबन्धकत्वात् न विद्युता द्योतितव्यामिति भाव: (संजी०); तडित्वति (पंचिका); विद्युत कम्पस्मितनयनां विद्युत: कम्पेन चलनेन यस्यास्तादृशी, विद्युतकम्पिस्तमितनेत्रत्वं तदभिमुखध्वनि: (सुबोधा); बिजली को अन्दर धारण किये हुए। भाव यह है कि उस समय तुम बिजली मत चमकाना। यदि तुम बिजली चमकाओगे, तो उसकी आँखें चकाचौंध हो जायेंगी और वह डर भी जायेगी। फल यह होगा कि वह स्थिरता से तुम्हारी बात नहीं सुनेगी और तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। सारो० आदि कुछ टीकाओं के मत में विद्युद्गर्भ: का अर्थ है 'अपनी बिजली रूपी पत्नी के साथ'; क्योंकि परपत्नी से एकान्त में बातें करना उचित नहीं। परन्तु मेघ तो यक्ष का पुत्र-तुल्य छोटा भाई है (उ०मे० 41) और यक्षपत्नी मेघ की मातृतुल्या भ्रातृजाया और उसकी सखी है (देखो पू०मे० 9)। अत: यह व्याख्यान कवि के भावों के अनुकूल नहीं। **विद्युद्गर्भ**। पा०भे०—यह सम्बोधन पद है। **विद्युत्कम्प०**— पा०भे० विद्युत: कम्पेन स्तिमिते नयने यस्या:, ताम्। बिजली की चमक के कारण निश्चल आँखों वाली। बिजली की चमक से आँखें स्थिर नहीं होतीं, बन्द हो जाती हैं। अत: यह पाठ प्रकृति-विरुद्ध है।

सारो० तथा अन्य टीकाकारों के अनुसार 'विद्युद्गर्भ:=स्त्रीसहाय; ' से यह भाव निकलता है कि मेघ वहाँ बिजली रूपी स्त्री को साथ लेकर ही जावे; क्योंकि मेघ के लिए परनारी के साथ अकेले ही वार्तालाप करना उचित नहीं (परनारीसंभाषणमेकाकिनो नोचितम्)। मल्लि० के अनुसार बिजली को अपने मध्य में छिपाकर, रखने का प्रयोजन यह है कि कहीं यक्षपत्नी की आँखें बिजली की चमक से चौंधिया गई, तो वह मेघ का मुख देख न पायेगी। इसलिए उसे बिजली नहीं चमकानी चाहिए। 'विद्युद्गर्भ' वाले पाठ में यह

'गवाक्षे' का विशेषण है, अर्थात् खिड़की पर जिसके भीतर विजली थी। गवाक्ष का विशेषण न बनाकर मेघ का विशेषण बनाने में ही अधिक स्वारस्य है। वल्लभदेव के अनुसार 'विद्युद्गर्भे' पाठ समीचीन है। मल्लिनाथ ने विद्युद्गर्भः 'स्तिमितनयनाम्" पाठ माना है। अध्याहतकर्तृपद 'त्वम्' के विशेषणमात्र को उपन्यस्त करना शुद्ध शब्दशिल्प की दृष्टि से साधु नहीं माना जा सकता। साथ ही 'त्वत्सनाथे गवाक्षे' होने से उस गवाक्ष का 'विद्युद्गर्भे' विशेषण भी प्रकृतिसिद्ध है। बरसनेवाले वादल बिजली से संवलित तो रहते ही हैं। अतः जलदयुक्त गवाक्ष का विद्युतगर्भत्व सुतरां समीचीन है। गर्भ के कई अर्थ होते हैं—गर्भोऽपवरकेऽन्तस्थे गर्भोऽग्नौ कुक्षिणोऽर्भके" (शब्दार्णव)। सारोद्धारिणीकार ने बहुत ही समीचीन वारीकियाँ उद्भावित की हैं। किसी एकाकी पुरुष का एकान्त में परस्त्री से सम्भाषण करना भी अनुचित है और ऐसे पुरुष से एक पतिव्रता को तो एकान्त में विलकुल ही बात नहीं करनी चाहिए और खासतौर से निशीथ में। अतः मेघ को सपत्नीक प्रस्तुत करने में कालिदास की कला की सूक्ष्मता है—"विद्युद्गर्भः स्त्रीसहायः। परनारीसम्भाषणमेकाकिनो नोचितम्।" जो 'गवाक्ष' त्वत्सनाथ है, वही 'विद्युद्गर्भ' भी है। इससे दम्पती का ऐकाधिकरण्य भी आ जाता है। 'मेघ' रूपी परपुरुष को यहाँ शब्द उपात्त न करके कवि ने यक्षाङ्गना के परोक्ष रखकर ही सम्भाषाणनिरत दिखाया। आमना-सामना कराना अभीष्ट होता, तो मेघ को साक्षाच्छब्दोपात्त करके प्रस्तुत करता।

1384 **विद्युद्दामस्फुरितचकितैः (पू० 28.3.13.52)** विद्युत्+ङस्+दामन्+आम्+स्फुरित+भ्यस्+चकित+जस्; तत्पुरुषः विशेषण, तृतीया, बहुवचन; सौदामिनीमालादीप्तिचञ्चलै। विद्युत्सौदामिनी इत्यमरः (चरित्र०); विद्युद्दाम्नो विद्युल्लतानां स्फुरितेभ्यः स्फुरणेभ्यः चकितैः लोलापाङ्गैः चलकटाक्षैः (संजी०); भवत्सहचारिण्याः सौदामिन्याः परम्परायाः स्फुरणेन सत्रासैः (विद्युल्लता); विद्युद्दाम्नां तडिद्गुणानां स्फुरणेन द्योतकेन चाकचक्येन चकितैश्चमत्कृतैः सभयविस्मितभंगुरैः (सुबोधा); **कौमुंदीकारस्तु** विद्युद्दामेत्यादिना चक्षुरिङ्गितं ध्वनितम्, यदुक्तं **कात्यायनेन**—

"दूरादपाङ्गविन्यस्तं सन्निकृष्टे निकुञ्चितम्।
प्रीतिचक्षुः प्रपातेन भंगुरं चक्षुरिङ्गितम्।।" इति। (सुबोधा)

इह चकितत्वेन कुटिलत्वं, विद्युद्दाम च मेघस्य सम्भोगचक्षुः प्रषात इति मन्तव्यमित्याह (सुबोधा)।

1385 **विद्रुमाणाम् (पू० 34.3.12.34)** विद्रुम+आम्; संज्ञा, षष्ठी, बहुवचन; प्रवालानाम् (चरित्र०); प्रवालानाम् (संजी०)।

1386 **विधिना** (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 30.4.16.58; उ० 41.4.16.59)** विधि+टा, संज्ञा तृतीया, एकवचन; विधिनो वृष्टिमोक्षेण (प्रदीपः); विधानेन (चरित्र 30); विधात्रा (चरित्र०); व्यापारेण (संजी० 30); स च विधिः एकत्र वृष्टिः अन्यत्र सम्भोगः तदभावनिबन्धनात् कार्श्यस्येति भावः (संजी० 30); दैवेन (संजी० 41); विधीयत इति विधिः कर्म, येन कर्मणा वर्षणाख्येन, समागमरूपेण च अत्र 'प्रवासावसाने विरहविधुरितायाः प्रियायाः परिभोगो रसस्य पराकाष्ठां इति द्योत्यते, यथाह कविवल्लभः—'प्रवासान्ते पाण्डुमुखीं क्षामामुपचितस्मराम्। दिवसान्निविर्विशेः काश्चिदकर्कशतरां प्रियाम् इति (विद्युल्लता 30); प्रकारेण (सुबोधा 30); यहाँ इस पद की व्यञ्जना यह है कि सारे जगत्प्रपञ्च का विधान करने वाला (विधत्ते—इति विधिः—"उपसर्गे घ्वोः किः") ही जब वैरी हो उठे, तो एक सामान्य यक्ष (कामपरवश इन्द्रियों वाला) भला कौन सा रास्ता बचने के लिए निकाल पा सकता है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग बारह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में पाँच बार रघु० में तीन बार तथा शाकु० में दो बार हुआ है।

विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1387 **विधिवशात् (पू० 6.13.3.31)** विधि+ङस्+वश+ङसि; षष्ठी तत्पुरुष; पंचमी, एकवचन; विधिर्दैवम्;

तस्य वश आधीनम् तस्मात् (चरित्र०); दैवायतत्वात् 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः, 'वशमायत्ते वशमिच्छाप्रभुत्वयो' इति विश्वः (संजी००); दैवबलादिति अप्रतिकर्तव्यतां द्योतयति (विद्युत्); देवाधनित्वात् (सुबोधा)।

1388 **विधुरः (उ० 54.2.8.22)** विधुर+सु; संज्ञा, प्रथमा एकवचन; प्रियाविश्लिष्टः (प्रदीप); वियुक्तः; विधुरं तु प्रविश्लेषे 'इत्यमरः (संजी०); दुःखितः (पंचिका); व्याकुलः (सुबोध); विधुरे इति सप्तम्यन्तं मयीत्यस्य विशेषणम् (सुबोधा०); विगता धूर्यस्य। वियुक्त, काम सन्तप्त। इसके 'दुःखी' मृतपत्नीक' आदि अर्थ भी होते हैं। इस पद का प्रयोग विक्रमो० 4.20 तथा कु० स० 4.32 में भी देखें । वल्लभ ने 'विधुरः' का अर्थ 'दुःखित' किया है और इस समास का इस प्रकार विग्रह किया है—'विघटिता धूः कार्यभारोऽस्य'। इस सम्वन्ध में क्षीरस्वामी अमरकोश III.2.20 टीका करता हुआ कहता है—'विधुरो विकलेऽन्यवत्'। पूर्वमेघ 8 'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्' में विरहविधुरां का अर्थ विरह से व्याकुल या दुःखित किया गया है।

'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' से अन्त में 'अ' आ जाने तथा वाद में 'ऊ' के ह्रस्व हो जाने से 'विधुर' बना। मल्लि० ने विधुरः का अर्थ 'वियुक्तः' दिया है। 'विधुर' का यहाँ पर 'विकल' अर्थ अधिक चमत्कारकारी है, वैसे 'विश्लिष्ट' अर्थ प्रायः लिया गया है। हैमकोश का कथन है—"विधुरं स्यात् प्रविश्लेषे विकले।" वैसे कुछ टीकाकारों ने 'विधुर' को 'मयि' का विशेषण बनाकर सप्तम्यन्त माना है। पर उस अवस्था में 'इति' पद निरर्थक हो जाता है।

1389 **विनोदाः (उ० 26.4.1.62)** विनोद+जस्; संज्ञा; प्रथमा, वहुवचन; कालयापकाः (चरित्र०); कालयापनोपायाः (संजी०); केलयः (पंचिका); क्रीडाप्रकाराश्चितावलम्वनस्थानानि भवन्ति। तथाचोक्तम्—

देवतापूजनं कुर्यात् कुर्याद्वा निभृते वलिम्।
लिखेत् कान्तप्रतिकृतिं पाठयेच्छुकसारिकाम्।।
वादयेच्च तथा वीणां गायेद् गीतं तदङ्कितम्।
गणयेत् सावधिदिनं तिष्ठेत् सङ्कल्पसङ्गमैः।।
एवं विधैर्विनोदैस्तु रमणेन विनाऽबला
विनयेच्च व्यथां तीव्रां सङ्गमाशावलम्वनात्।। इति।। (सुबोधा०)

वि+√नुद्+णिच्+घञ्। जिससे दुःख आदि दूर किये जाते हैं। अतः मनवहलाव। भरतसेन ने "अङ्गनानां विनोदाः" को भी बहुत ही सुन्दर ढंग से—1. देवतापूजन या 2. वलि, 3. कान्तप्रतिकृतिरचना, 4. सारिकापाठन, 5. वीणावादन, 6. तदङ्कितगान 7. अवधिदिनगणना और 8. संकल्पसङ्गम, के शास्त्रपाठ द्वारा प्रस्तुत किया है। देवतापूजन या बलि "आलोके ते निपतति पुरा सा वलिव्याकुला वा" में, कान्त की प्रतिकृति का निर्माण "मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती" में सारिकापाठन "पृच्छन्ती वा मधुरं वचनां सारिकां पञ्जरस्थाम्" में, वीणावादन और तदङ्कितगेयगान "उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्यसारिकां पञ्जरस्थाम्" में वीणावादन ओर तदङ्कितगेयगान "उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्यनिक्षिप्य वीणाम्" तथा इस छन्द के 'विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः' में अवधिदिनगणना, 'मत्संयोगं हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती' में संकल्प-संगम दृष्टिगत होते हैं।

1390 **विन्ध्यपादे (पू० 19.3.12.49)** विन्ध्य+ङस्+पाद+ङि; तत्पुरुष, संज्ञा, सप्तमी एकवचन; विन्ध्यपर्यन्तपर्वते। "विन्ध्यपादे विशीर्णाम्" इत्यनेन कामातिशयात् प्रियतमपादे कस्याश्चित् पतनं ध्वन्यते (प्रदीपः); विन्ध्यस्य विन्ध्याचलस्य पादे प्रत्यन्तपर्वते। पादो वृध्ने तुरीयांशे शैलप्रत्यन्तपर्वतः' इति मेदिनीकारः (चरित्र०); विन्ध्यस्य अद्रेः पादे प्रत्यन्तपर्वते, पादः प्रत्यन्तपर्वता इत्यमरः (संजी०); 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः; विन्ध्यस्य

समासे गुणीभूतत्वेऽपि वस्तुत: प्राधान्यात्तस्यैव गजेनोपमेयत्वम्। तुङ्गत्वदर्शनीयत्वादि: साधारणो धर्म: रेवाभूत्योस्तु स्वच्छत्वपापहरत्वादि: (विद्युल्लता); विन्ध्यस्य स्वनामप्रसिद्धस्य पादे प्रत्यन्तपर्वते (सुबोधा)

विन्ध्य—यह सात कुल पर्वतों में से एक है।
महेन्द्रो मलय: सह्य: शुक्तिमान् ऋक्षपर्वत:।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वता:।।

यह उत्तर भारत को दक्षिण भारत से पृथक् करता है और मध्यदेश की दक्षिणी सीमा है। देखो—मनु० 2.21 (हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश: प्रकीर्तित:।।) यह लगभग पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक फैला हुआ है। विन्ध्याचल आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा है। इससे आर्यावर्त और दक्षिणावर्त (Deccan) पृथक्-पृथक् किए गये हैं। यह पर्वतश्रेणी समुद्र के पूर्वी तट से पश्चिमी तट तक फैली हुई हैं। देखिये—मनु० II.22.

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरम् गिर्योरार्यावर्त विदुर्बुधा:।।

1391 **विन्यस्यन्ती (उ० 26.2.13.19)** नि+वि+अस् (फेंकना, दिवा०)+श्यन्+शतृ+ङीप्+सु; कृदन्त; प्रथमा, एकवचन; स्थापयन्ती (चरित्र०); पुष्पविन्यासै: मासान् गणयन्ती इत्यर्थ: (संजी०); स्थापयन्ती (पंचिका); स्थापयन्ती वा; ते आलोके निपतीति सम्बन्ध:। अनेन द्वारेण प्रिय: प्रस्थितोऽनेनैव प्रवेक्ष्यतीति विरहिणीभिर्देहली पूज्यते इति स्त्रीणामाचार:। अतएव सापि तां पूजयति। अतएव तत्पूजाविन्यस्तैस्ततो मुक्तै: पुष्पैर्गणयति, नाङ्गुलिरेखाभिर्विस्मरणाशङ्कयेत्यर्थ:। विन्यास करती हुई, रचती हुई अर्थात् लिखती हुई, विचित्र करती हुई। शतृ प्रत्यय इस कर्म की असमाप्ति और सततता को प्रकट करता है।

1392 **विपणिरचितान् (पू० 34.3.11.32)** विपणि+ङि+रचित+शस्; विशेषण, तत्पुरुष; विपण्यां हट्टायां रचितं कृतराशीम् (चरित्र०); विपणिषु पण्यवीथिकासु, 'विपणि: पण्यवीथिका' इत्यमर:, रचितान् प्रसारितान्, इदं विशेषणं यथालिङ्गं सर्वत्र सम्बध्यते (संजी०); विपणिषु (दुकानों या बाजारों में) रचितान् (सजाए हुए)।

1393 **विप्रबुद्धा (उ० 50.2.16.24)** वि+प्र+बुध्+क्त+टाप्+सु; कृदन्त क्रिया, प्रथमा, एकवचन; विप्रबुद्धा आसी: (संजी०); विनिद्रा जाता (पंचिका); उन्निद्रतां गता जागरिता, (सुबोधा)।

1394 **विप्रयोग: (उ० 54.4.27.61)** विप्रयोग+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; मद्विरह: (संजी०); विरह: (संजी०); विच्छेद: (सुबोधा); यह मेघदूत में नाटक के भरतवाक्य के समान आशीर्वादात्मक है। इसमें मेघ के प्रति मंगलकामना की गई है कि वह वर्षाऋतु में क्षण भर भी अपनी प्रियतमा बिजली से वियुक्त न होने पावे। जहाँ भी जावे, बिजली उसके साथ ही रहे। यहाँ मेघ तो निमित्तमात्र है। वास्तव में कवि मेघ के व्याज से मनुष्यमात्र के लिए यह शुभकामना करता है कि उनका अपनी प्रियतमाओं से वियोग न होवे; क्योंकि वियोग की वेदना बहुत ही बुरी हुआ करती है। कालिदास का मेघदूत इस तरह अन्त में मार्मिक मंगलवाक्य के साथ समाप्त होता है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (14.66) तथा विक्रम० (5.16) में एक-एक बार हुआ है।

1395 **विप्रयोगे (पू० 9.4.18.61)** विप्रयोग+ङि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; वियोगे, विश्लेषे (चरित्र०); विरहे (संजी०); इष्टजनविरहे सति (सुबोधा)।

1396 **विप्रयोगोपपत्ति: (उ० 4.3.16.54)** विप्रयोग+ङस्+उपपत्ति+सु; तत्पुरुष; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; विप्रयोगस्य वियोगस्य उपपत्ति: सद्भाव: (चरित्र०); विरहप्राप्ति: (संजी०); विप्रयोगस्य उपपत्ति:। वि+प्र√युज्+घञ्। उप+√पद्+क्तिन्। विरह की उत्पत्ति=प्राप्ति। अर्थात् विरह।

1397 विफलप्रेरणा (उ० 7.4.16.62) विफला+सु+प्रेरणा+सु; बहुव्रीहि; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; दीपनिर्वापणाक्षमत्वात् निष्फलक्षेपा (संजी०); दीपशान्तिधिया प्रेरितो विफलो भवति निष्फल: सम्पद्यते. प्रद्योतक अप्रशमात् कदाचित् अन्यत्रासौ पतितो भवेत् इत्याह (पंचिका); विफलत्वं तु अनश्वरत्वात् रत्नार्चिष: (पंचिका); निष्प्रयोजनविक्षेपा (सुबोधा); विफला प्रेरणा यस्या: सा। जिसका फेंकना व्यर्थ रहता है; क्योंकि रत्नरूपी दीपक धूलि से नहीं बुझ सकते। मल्लिनाथ इसमें यक्षवधुओं की मुग्धता को व्यंग्य मानते हैं। रत्न-प्रदीपों के प्रकाश को देखकर प्रेमिकायें अपने प्रियतमों (प्रेमियों) के सामने नग्नावस्था में होने से लज्जा के मारे मरी-सी जाती हैं। अत: बुझा देने के विचार से वे उन प्रदीपों पर मुट्ठी भरकर 'पाउडर' फेंकती हैं। वे तैल के दीपक तो हैं नहीं, जो बुझ जायें। वे तो रत्न हैं, जो हमेशा प्रकाशित ही रहते हैं। बेचारी स्त्रियों का उन प्रदीपों पर चूर्ण (पाउडर) फेंकना बेकार ही चला जाता है। इसमें बिम्बाधराओं का 'मुग्धात्व' व्यङ्ग्य होता है। वे मुग्धा भोली-भाली नायिकायें हैं, जो प्रिय-सहवास से लजाती हैं।

1398 विबुधवनितावारमुख्यासहाया: (उ० 10.3.10.56) विबुधवनिता+जस्+वारमुख्या+जस्+सहाया+जस्; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा, बहुवचन; विबुधवनिता अप्सरस: ता एव वारमुख्या वेश्या:। ता: एव सहाया: येषां ते तथोक्ता:; 'वारस्त्रीगणिकावेश्यारूपाजीवाऽथ सा जनै:। सत्कृता वारमुख्या स्यादित्यम् (संजी०); विबुधानां वनिता: ता: एव सहाया: येषां ते। विबुध—विशेष ज्ञानवान्। देखो—श० 3.7.3.10, अत: देवता: विबुधवनिता—देवताओं की नारियाँ, अप्सरायें। यहाँ देवताओं की पत्नियों का अर्थ नहीं, प्रत्युत् सामान्य कमनीय स्त्रियों से अभिप्राय है, जिनकी सभी कामना करते हैं (√वन् से) वारमुख्या—वारे वारे वेश्यावृन्दे मुख्या। सम्मानित वेश्या। सहाया:—साथी, सहचर। 'वारमुख्या' गणिकाओं (वेश्याओं) को कहते हैं, जो बड़ी कलाकार होती हैं। उनका कार्य देवालयों में नृत्यादि करना है। इसलिए वे समाज में आदर-पात्र हुआ करती हैं, घृणा-पात्र नही। देखिये—अमरकोश—वारस्त्री गणिका वेश्या रूपजीवाऽथ सा जनै:। सत्कृता वारमुख्या स्यात्'।

1399 विभ्रम: (पू० 29.4.13.83) विभ्रम+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; विलास: (चरित्र०); विलास: (संजी०); स्त्रीणामेष स्वभावो यद् विलासैरेव रागप्रकाशनं न तु कण्ठत इति भाव:, विभ्रमश्चात्र 'नाभिसन्दर्शनादिरुक्त एव (संजी०); शृंगारचेष्टा; (विद्युल्लता); भावविशेष: (सुबोधा); विभ्रमलक्षणं यथा—

"रागोद्रेककृताकाररूपयौवनसम्पदा।
अनवस्थितचेष्टत्वं विभ्रम: परिकीर्तित:।।" इति।

अन्यच्च

"बाहुमूलं स्तननाभिमूरुमूलञ्च मेखलाम्।
ब्याजतो दर्शयेद् यत्तु वामाऽसौ विभ्रमो मत:।। इति।

अथ एव यथान्या प्रियप्राप्तिसमुत्सुका तथेयमपि। साधर्म्याद‌भिसारिकेयं नायिकेति ध्वनितम्। अभिसारिका-लक्षणं यथा—

"त्यक्ता या लज्जया बिद्धा मदेन मदनेन वां
अभिसारयते कान्तं विदुस्तमभिसारिकाम्।।" इति।। (सुबोधा)

इशारों से मन का भाव बहुधा प्रकट किया जाता है—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मन:।।

कामावेश में आई हुई स्त्रियाँ रतिसुखप्राप्ति के लिए अपनी इच्छा को वचनों में प्रकट नहीं करतीं, वरन् हाव-भावों से ही अपना अभिप्राय बताया करती हैं। कहा भी है—

स्निग्धं दृष्टिपथं विभूषिततनुः कर्णस्य कण्डूयनं
नाभेर्दर्शनमुत्पथं च गमनं बालस्य चालिङ्गनम्।
केशानां च मुहुर्मुहुर्विवरणं वार्ता च सख्या सह
कुर्युः प्रीतिवशात् स्त्रियः समदना दृष्ट्वा नरं वांछितम्।।

प्रकृत पद्य में निर्विन्ध्या को रतिसुख के लिए लालायित रागपूर्ण स्त्री के रूप में वर्णित किया गया है। चञ्चल जलों में कूजते हुए पक्षी उसकी तगड़ी हैं, भँवर उसकी नाभि है और उसका जल ही रतिसुख है।

1400 **विभ्रमादेशदक्षम्** **(उ० 13.1.5.13)** विभ्रम+आम्+आदेश+ङि+दक्ष+अम्; तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; विभ्रमाणां आदेशे उपदेशे दक्षम्, अनेन विभ्रमद्वारा मधुनो मण्डनत्वमनुसन्धेयम्, तच्च मण्डनादिवत् देहधारये अन्तर्भावम् (संजी०); विभ्रमाणाम् आदेशे दक्षम्। यहाँ पर विभ्रम का प्रयोग केवल 'आँखों की विलासयुक्त दृष्टि' के लिए हुआ है। अपने सामान्य अर्थ में इसका प्रयोग आगे श्लोक 14.80 में हुआ है। मदिरा से आँखों में खुमारी आ जाती है, तब वे विविध विलास करने लग जाती हैं। इसलिए मदिरा को यहाँ विलासों की शिक्षिका बताया है। देखिये—कुमार० IV.12 "नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन्पदे पदे। असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना।'

1401 **विमुखः** **(पू० 17.4.17.75)** विमुख+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; पराङ्मुखः (चरित्र०); प्रतिनिवृत्तमुखः, अनादर इति यावत् (विद्युल्लता); पराङ्मुखः (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० में एक बार (131.3) हुआ है।

1402 **वियुक्तः** **(उ० 40.3.19.48)** वि+युज+क्त+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; दूरवर्ती सन् (चरित्र०); वियोगं प्राप्तो दुःखी सन् (संजी०); वियुक्तां वियोगिनीम् (सुबोधा); बिछुड़े हुए संयोग वाला। जिसको मिलन से वञ्चित कर दिया गया है। अतः विरही। इस पद का प्रयोग यक्ष के वियोग की असह्यता को प्रकाशित करता है। **नियुक्तः**—यह पाठ भी अच्छा है। यक्ष की आज्ञा से काम पर लगा हुआ। अतः विवश। मेरा स्वयं का अधिकार होता, तो कभी का लौट चुका होता। **वियुक्ताम्**—पा०भे० यह यक्षपत्नी का विशेषण है।

1403 **विरचितपदम्** **(उ० 25.2.8.23)** विरचित+जस्+पद+अम्; बहुव्रीहि; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; विरचितानि आरोहावरोहिस्वरक्रमेण विनिवेशितानि स्थापितानि पदानि यत्र तत्र (चरित्र०); विरचितानि पदानि यस्य तत्तथोक्तम् (संजी०); विरचितानि पदानि शब्दाः यस्य (पंचिका); विशेषेण रचितं पदं शब्दो वाक्यं वा यत्र तादृशम्। मद्गोत्राङ्कं यथा स्यात्तथा विरचितं पदं यत्रेति व्याचक्षते (सुबोधा); पदं शब्दे च वाक्ये चेति च। वर्णसमुदायः पदमिति नैयायिकः सुपतिङन्तं पदमिति वैयाकरणाः (सुबोधा); विरचितं कृतं पदमास्पदं यत्र, विसदृशानि रचितानि पदानि सुपतिङन्तानि यत्र तादृशम्। मद्गोत्राङ्कं यथा स्यात्तथा विरचितं पदं यत्रेति च व्याचक्षते।

'विरचितपदम्' और 'गेयम्' दोनों पद 'मद्गोत्राङ्क' का विशेष्य माने जा सकते हैं। पहले को विशेष्य मानने पर दूसरा भी उसका विशेषण माना जाएगा और दूसरे को विशेष्य मानने पर पहले को भी उसका विशेषण मानेंगे। सामान्यतः टीकाकारों ने 'गेयम्' को विशेष्य माना है और 'विरचितपदम्' (विरचितानि पदानि यत्र तत्) को विशेषण। विशेण्य पक्ष में—'विशेषेण रचितम्' विरचितम्। विरचितं च तत् पदञ्च विरचितपदम्।' उभयथा आशय 'प्रच्छेदक' नामक लास्याङ्ग से ही है। उसका लक्षण है—"अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना।

वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियः प्रच्छेदको मतः।।" आगे कवि कहेगा भी—"दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति।"

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० में एक बार (5.25) हुआ है।

1404 **विरचितवपुः (पू० 63.3.13.32)** विरचित+सु+वपु+सु; बहुव्रीहि; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; विच्छिद्य विच्छिद्य रचनं विरचनम्। सोपानमित्यर्थः। (प्रदीप); विरचितं रचितं वपुर्यस्य स तथा (चरित्र०); कल्पितशरीरस्सन् (संजी०); विशिष्टं कृतशरीरः (सुबोधा); श्री साधुराम ने 'विरचितवपुः' को नृत्यशास्त्र की परिभाषा माना है। उन्होंने न इस विषय में कोई प्रमाण दिये हैं न इस पद की परिभाषा की है।

1405 **विरचिताम् (पू० 19.4.16.59)** विरचिता+अम्, विशेषण, द्वितीया एकवचन; अर्पिताम् (प्रदीप); निर्मिताम् (सुबोधा); विशेषेण रचितं पदं शब्दो वाक्यं वा यत्र तादृशम्। मद्गोत्राङ्कं यथा स्यात्तथा विरचितं पदं यत्रेति व व्याचक्षते (सुबोधा)

1406 **विरहगणितम् (उ० 46.3.14.26)** विरह+ङि+गणित+अम्; तत्पुरुष; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; विरहकाले पश्चादेवमनुभविष्याव इति गणितं संकल्पितम्। आत्माभिलाषं गणयित्वा हृदये निहितामित्यर्थः (प्रदीप); चिरकालगणितम् (पंचिका); विच्छेदे, गुणितम् एवं कृत्वा कर्तव्यमिति बहुशश्चिन्तितम्, द्विगुणीकृतं वा (सुबोधा); विरहेन गुणितम्, तम्। विरह के कारण बढ़ी हुई इच्छाओं को। जिनका रस (=भोगने की इच्छा) विरह के कारण बहुत बढ़ गयी है। तुलना करो—यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्। विक्रमो० 3.21; तथा—सुखं दुःखान्यनुभूय शोभते। मृ० 1.10; **विरहगणितम्**—पा०भे०। यह मल्लिनाथ का पाठ है। विरह के दिनों में गिने हुए, सोचे हुए, विचारे हुए। **विरहजनितम्**—पा०भे०। विरहे चित्ताभिप्रायेण विषयीकृतम्'। सारो०। विरहकाल में कल्पना में प्रसूत। अन्त में भाव 'गणितं' पाठ के समान होगा। विरह में अभिलाषाओं का होना और बढ़ना स्वाभाविक ही है। विरह के बाद प्राप्त हुए सुख में बड़ा स्वाद रहता है; देखिये विक्रमो० III.21. यदेवोपनतं दुःखात् सुखं तद्रसवत्तरम्। निर्वाणादत्तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः।। और मृच्छ० 1.10—सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते, घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।'

1407 **विरहतनु (उ० 24.2.9.28)** विरह+टा+तनु+अम्; तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; विरहेण तनुसंस्थानम्। इदं विशेषणं सादृश्यशब्दस्य आलेख्यवाचित्वे घटते (प्रदीप); विरहेण वियोगेन तनु दुर्वलम् (चरित्र०); विरहेण तनु कृशम् (संजी०); विरहवशात् तनु दुर्वलम् (पंचिका); विरहेण या तनुता कृशता, विरहे इदृशीवल्लभस्य तनुता भूता, विरहकातरस्या मम यादृशी तनुता तादृशी वल्लभस्य भूतेत्येवं भावं हृदय तेन गम्यं परिच्छेद्यम् अदृष्टमपि बुद्ध्यवसायेन लिखन्ती कौमुदीकारस्तु भावो ह्यासनाद्यनवधानम् यदुक्तम्—

आसने शयने वापि न तुष्यति न तिष्ठति।
नित्यमेवोपतप्तः स्यादुद्वेगाद्विरही जनः। इति।। (सुबोधा)

1408 **विरहदिवसस्थापितस्य (उ० 26.1.19.9)** विरह+ङस्+दिवस+ङसि+स्थापित+ङस्; तत्पुरुष, विशेषण, षष्ठी, एकवचन; विरहस्य दिवसस्तस्मात् स्थापितस्य तत् आरभ्य निश्चितस्य (संजी०); गमनदिवस स्थापितस्य पाठान्तर; प्रस्थान—दिनात् प्रभृति व्यवस्थितस्य (सुबोधा); स्थापित—√स्था+णिच्+क्त। वियुक्त होने के दिन अर्थात् पहले दिन जब यक्ष रामगिरि जाने के लिए बिदा हुआ तब रक्खी हुई, अर्थात् निश्चित की हुई। **गमनदिवस**—जाने के दिन से। इस पाठ से न तो विरहव्यथा की ध्वनि निकलती है, न इस बात की कि यह गमन अनिवार्य था। इसको रोकने में उनका अपना वश नहीं। 'विरह' पद से ये दोनों भाव निकल आते है: 'गमनस्य दिवसः गमनदिवसः (षष्ठी शेषे)। ततः प्रस्तुतस्य गमनदिवसप्रस्तुतस्य।' दूसरा पाठ

है—"विरहदिवसस्थापितस्य" अवधि स्थापित न होकर प्रस्तुत अर्थात् प्रारब्ध हुआ करती है। यदि 'निश्चित' अर्थ करें, तो 'स्थित' होना चाहिए 'स्थापित' क्यों? फिर विरह के तो ये सारे ही दिन है। गमन का दिन एक ही होगा। अत: निर्धारणार्थ 'गमनदिवस' और 'प्रस्तुत' शब्द समीचीन हैं।

1409 **विरहदिवसे (उ० 31.1.3.7)** विरह+सु+दिवस+ङि; बहुव्रीहि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन: वियोगदिने (पंचिका); विच्छेददिने (सुबोधा)।

1410 **विरहमहतीम् (उ०28.4.20.59)** तत्पुरुष, विशेषण; विरहजनितैर्विच्छेदोत्पादितैरत (सुबोधा 28); विरहेण महतीम्। विरह के कारण बढ़ी थी। तुलना करो—विक्रमो० 3.4.22;

1411 **विरहविधुराम् (पू० 8.3.11.40)** विरह+टा+विधुरा+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; विरहक्लिष्टां, विरहकृच्छ्रगतामित्यर्थ। **'विधुर: पत्यपेतेस्यात् क्लिष्टविश्लिष्टयोरपि'** इति यादव: (प्रदीप); विरहेण वियोगेन विधुराम् (चरित्र); विरहेण विधुरां कृशाम् (संजी०); संभावितशरीरापायाम् (विद्युल्लता); विरहेण वियोगेन विधुरां विकलाम् (सुबोधा); "विप्रयोगे च विधुरं विधुरो विह्वले त्रिष्वि'ति **यादव:** (सुबोधा)।

विगता धू: कार्याभारो यस्या: सा। जो किसी कार्य को न सम्भाल सके। अथवा, पतिरूप धुरा से विहीन। अत: विवश, असहाय, दु:खी, सन्तप्त। क्षीरस्वामी 'विधुर' का विग्रह इस प्रकार करते हैं—विघटिता धू कार्यभारोऽस्य।

1412 **विरहशयने (उ० 28.1.2.11)** विरह+ङि+शयन+ङि; तत्पुरुष; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; विरहे शयनं तस्मिन् विरहशयने, पल्लवादिरचित इत्यर्थ: (संजी०); विरहशय्यायाम् (पंचिका); नवपल्लवाद्यास्तीर्णभूशय्यायां, (सुबोधा); विरहकाल में प्रयुक्त शय्या। श्री काले ने सुझाव दिया है कि इसको मध्यमपदलोपी समास भी लिया जा सकता है। विरहानुकूलं शयनं विरहशयनम्। विरह के उपयुक्त शय्या। श्री श०रा० शास्त्री का विग्रह—विरहस्य शयनम्—विरहकालीन शय्या है। इसे उ०मे० 28 का "अवनिशयन' ही लेना उचित है।

'विरहे शयनं विरहशयनं तस्मिन्।' मल्लिनाथ ने इस पद का यही समासविग्रह प्रस्तुत किया है। परन्तु शारदारञ्जन राय ने 'विरहस्य शयनम्' लिखकर षष्ठी तत्पुरुष माना है। श्री मोरेश्वर रामकृष्ण काले ने शाकपार्थिवादि की तरह उत्तरपदलोपी समास माना है—"विरहानुकूलं शयनं विरहशयनम्।" श्री संसारचन्द्र ने मल्लिनाथ की टीका देकर भी विग्रह श्री शारदारञ्जन और श्री काले के अनुसार ही देकर इन दोनों को ठीक माना है। परन्तु यहाँ पर मल्लिनाथ का ही विग्रह समीचीन है। यहाँ आधार के अर्थ में सप्तमी है। भट्टोजि दीक्षित ने औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक तीन तरह के आधार माने हैं; और यदि दूरान्तिकार्थ को भी लें, तो प्रातिपदिकार्थमात्र को लेकर चार प्रकार की सप्तमी "अधिकरणे च" में उन्होंने मानी है। हेलराज ने 'वाक्यपदीय' की—"उपश्लेषस्यास्त्यभेद: तिलाकाशकटादिषु"—कारिका के अनुसार उपश्लेषतत्व को अधिकरण के सारे भेदों में व्याप्त सिद्ध किया है। यहाँ संयोग और समवाय दोनों प्रकार के सम्बन्धों से भिन्न वैषयिक या गौण अभिव्यापक आधार माना जायगा; या हेलराज के अनुसार उपश्लेषमात्र होगा। अत: यहाँ 'सप्तम्यधिकरणे च' (2.3.36) से सप्तमी ही होगी। षष्ठी यहाँ किसी भी प्रकार के स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध के न होने के कारण और निर्धारणादि के अभाव में हो ही नहीं सकती। अत: षष्ठी तत्पुरुष का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ तक उत्तरपदलोपी समास को बात है, शाकपार्थिवादि का कोई भी तत्व यहाँ नहीं मिलता। शाकपार्थिवादि उत्तर पदलोप के अभाव में सिद्ध ही नहीं हो सकते। उनका बीज है, पहले समस्त पद के अर्थ में उसके पूर्वपद का लक्षक होना; उसके अभाव में ये समास बन ही नहीं सकेंगे। 'शाकपार्थिव:' में 'शाक:' पद का लक्ष्यार्थ है 'शाकप्रिय:'; इसी से 'प्रिय' शब्द की जरूरत ही नहीं महसूस होती और साथ ही 'शाकप्रियपार्थिव' जैसे समस्त पद की निवृत्ति भी इसी वार्तिक से सिद्ध हो जाती है। यहाँ इस लक्षण

का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि मुख्यार्थ बाध है ही नहीं। विरह को 'विरहानुकूल' का लक्षक तो तभी माना जा सकता है, जब 'विरहे शयनम्' यह विग्रह सम्भव न हो। अत: शारदारञ्जन जी, मोरेश्वर जी और संसार चन्द्र जी ने सर्वथा भ्रामक मत को प्रस्तुत करके एक बहुत बड़ा घपला पैदा कर दिया है। अस्तु, अब ज़रा विरहशयन क्या है, इसे जानना जरूरी है। स्वयं महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीयाङ्क में इसकी झाँकी प्रस्तुत की है—"एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते।........ स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं प्रियाया: साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।।"

1413 **विरहावस्थया (पू० 30.3.11.53)** विरह+ङि+अवस्था+टा; तत्पुरुष, तृतीया, एकवचन; विश्लेषदशया (चरित्र०); वियोगे भवन्त्या स्वदशया (विद्युल्लता); वियोगदशया (सुबोधा)।

1414 **विरहे (उ० 51.3.16.30)** विरह+ङ; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; विरहे सति, अन्योन्यविप्रकर्षे सति (संजी०); वियोगे (पंचिका); विच्छेदेऽपि विगता आपद् विपत्तिर्येषाम् तादृशान्, सततं स्नेहपात्रस्य स्नेहानुस्मरणात्। (सुबोधा); विरहध्वंसिन:—पा०भे० विरह में नष्ट होने वाला। विरहव्यापद:—पा०भे० विरह में व्यापन्न—शीर्ण हो जाने वाले।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (8.60) हुआ है।

1415 **विवृतजघनाम् (पू० 44.4.18.49)** विवृत+सु+जघन+टाप्+अम्; बहुव्रीहि, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; विवृतकटिप्रदेशाम्। जघनं स्यात्कटौ पूर्वश्रोणिभागापराङ्गयो: इति यादव: (प्रदीप); विवृतं वस्त्रेण अनाच्छादितं जघनं यस्या सा ताम् (चरित्र०); विवृतं प्रकटीकृतं जघनं कटि: तत्पूर्वभागो वा यस्या: ताम्; 'जघनं स्यात्कटौ पूर्वश्रोणिभागापरांशयो:' इति यादव: (संजी०); प्रकटितविकटकटितटपुरोभागाम्; 'पश्यान्नितम्ब: स्त्रीकट्या: क्लीबे तु जघनं पुर:' इत्यमर:। विवृतेति स्वानुकूल्यं द्योतयति, 'आनुकूल्यरसा: स्त्रिया:' इत्युक्तत्वात्, सा हि रसस्य पराकाष्ठेति भाव:। जघनेति, दयिताया कण्ठमूलकक्षवक्षोरुहादीनामपि हृदयगन्धसिन्धुरवन्धनालानत्वात्, मदनसार्वभौमगर्वसर्वस्वखनिपर्वते जघनपुलिने प्रकाशिते किं पुनरिति भाव: (विद्युल्लता); **पुलिनजघनाम्**—पुलिनमेव जघनम् कटीपुरोभागो यस्यास्तां पुलिनजघनां नदी, शीतलविशालत्वात् पुलिनमिव जघनं यस्यास्तादृशीं स्त्रियं। जघनस्य पुलिनोपमानेन शैत्यादिगुणवन्त्वसूचनात् वरवर्णिनीत्वमुक्तम्। तथा च—

शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला।
भर्तृभक्तिरता नित्यं सा स्मृता वरवर्णिनी" ति।। केचित्

विपुलजघनामिति पाठे विपुलम् विशालं। श्लेषादस्या: स्वाधीनभर्तृकात्वमुक्तम्, तथा च,

यस्याश्चित्ररतिक्रीडासुखास्वादनलालस:।
न प्रयाति प्रिय: पार्श्वात् सा स्यात् स्वाधीनभर्तृके" ति।।

यदन्तर्वारिणस्तटम्—तोयोत्थितं तत् पुलिनमिति च (सुबोधा);

विवृत—वि+√(ढकना)+क्त। 'संवृत' छिपा हुआ का उलटा है। इसका अर्थ 'फैली हुई' भी किया जा सकता है। पिछले पद्य के अन्तिम दो पादों में गम्भीरा की उपेक्षा न करने की प्रेरणा के कारण का 'ज्ञातास्वादो विवृत०' इत्यादि में विस्तार किया है। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:। फिर तुम तो इन्द्रिय-सुख भोग चुके हो। तुम्हारे लिये कामयमाना, अनावृत प्रेमिका का सुखोपभोग त्यागना सम्भव न होगा। विल्सन (Wilson) ने इसकी जगह 'पुलिनजघनाम्' यह पाठ दिया है, परन्तु यह ठीक नहीं बैठता; क्योंकि 'पुलिन' तीर (तट) को कहते हैं और तीर को पहले नितम्ब कह ही दिया है, उसकी पुनरावृत्ति ही है; दूसरे

मेघ 'सलिल-रूपी वसन' का ही हरण करता है; पुलिन का नहीं; तीसरे काव्य में सलिल का वसन से साम्य अधिक प्रसिद्ध है।

1416 **विशति** (उ० 41.4.16.58) विश्+लट्, प्रथम पुरुष, एकवचन, तिङन्त। प्रवेशं करोति (चरित्र०); एकीभवतीत्यर्थ: (संजी०); प्रवेष्टुमिच्छति, त्वयैक्यं यियासतीत्यर्थ: भिन्नयोश्चैक्यं सारूप्याद् भवतीति तयोरङ्गयोस्तनु च तनुना इति पृथक् विशेषणै: सादृश्यकथनेन समानुरागतामाह (पंचिका); प्रविशति आलिङ्गतीत्यर्थ:। तामेवं ब्रूया इति सम्बन्ध: (सुबोधा); प्रविष्ट होता है, प्राप्त होता है, पहुँचता है, मिलता है। प्रवेश करता है, अर्थात् मल्लि० के अनुसार 'एकीभवति'। यक्ष का अभिप्राय अपने तथा अपनी प्रियतमा के शरीर की समान ही अवस्था बतलाना है। मनोरथ भी समान रूप से दोनों के हृदयों में वे-वे ही हैं, जिनका संयोग-काल में उन्होंनें खूब अनुभव कर रखा है। अत: हर एक बात में दोनों एक जैसे ही हैं। इसका अर्थ मल्लिनाथ ने एकरूप होना माना है, जबकि वल्लभदेव ने 'सरूपता' का अर्थ लिया है। भिन्न वस्तुओं में एकता चूँकि सरूपता से आती है; अत: 'सरूपता को प्राप्त होता है।' भरतसेन ने 'आलिङ्गन करता है'—यह अर्थ माना है। पूर्ण सरस्वती ने यह अर्थ दिया है—"विशति तृष्णातिशयेनैक्यमभिलषन्नु प्रविशति।" यही अर्थ ठीक है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग ऋतु० में एक बार (1.17) हुआ है।

1417 **विशालाम्** (पू० 31.2.8.33) विशाला+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; उज्जयिन्या: विशालेति नामापि। 'विशालोज्जयिनी समा' इत्यमर: (प्रदीप); उज्जयिनीम् (चरित्र०); विशालात्विन्द्रवारुण्यां उज्जयिन्यां तु योषिति' इति मेदिनी (चरित्र०); उज्जयिनीम् (संजी०); अमितचतुरङ्गवलजलधिसान्निध्येऽप्यसंकटविशिखामुखाम्। अथवा विशालां नाम्ना (विद्युल्लता); विशालाभिधानां उज्जयिनीं पुरीम् (सुबोधा); विशालेत्युज्जयिन्या नाम तथा चोत्तरतन्त्रं—"विशालोज्जयिनी प्रोक्ता पुरी चम्पा च मालिनी"ति। "विशालं वृहदाख्यातं विशालोज्जयिनी पुरी" ति धरणि:। **केचित्तु** विशालां विस्तीर्णां, उज्जयिनीं तु पूर्वोद्दिष्टपदादेवगन्तव्येत्याहु: (सुबोधा)।

विशिष्टा: विविधा; वा शाला: यस्याम्, ताम्। उत्तम-उत्तम या अनेक प्रकार के भवनों वाली। यह उज्जयिनी का ही दूसरा नाम है। यह अवन्ति देश की राजधानी थी। वल्लभ इसे नाम न मानकर 'पुरीम्' का विशेषण मानते हैं।

1418 **विशीर्णाम्** (पू० 19.3.13.52) विशीर्णा+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; प्रश्रिताम् (चरित्र०); समन्ततो विसृमराम्, एतेन कस्याश्चित् कामुक्या: प्रियतमचरणपातोऽपिध्वन्यते (संजी०); उच्चावचशिलातलास्फालनस्खलित-जर्जरिततया बहुमार्गीकृताम् (विद्युल्लता); खण्डखण्डीभूताम् इतस्ततो गताम् (सुबोधा); विशीर्णत्वं चिहध्वनि: (सुबोधा);

वि+शृ+क्त+स्त्री० आ+ द्वितीया एक व०। शतश: स्फुटितप्रवाहाम् (सारो०)।

1419 **विशेषान्** (पू० 60.1.6.14) विशेष+शस्; संज्ञा, द्वितीया, बहुवचन; तस्माद्गच्छेरनुकनखलं इत्युक्तान् विशेषान् (प्रदीप); द्रष्टव्यार्थान्; 'विशेषौऽवयवे द्रव्ये द्रष्टव्योत्तमवस्तुनि' इति शब्दार्णव: (संजी०० 60); प्रकारान् नद्यादिस्वरूपान् (सुबोधा); विस्मयावाहक दृश्यों, स्थलों आदि को। प्रो० राय के अनुसार विशेष से अभिप्राय कनखल के पास गंगा से है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में एक बार (1.25) हुआं है।

1420 **विशेषै:** (उ० 1.4.19.53) विशेष+भिः; संज्ञा, तृतीया, बहुवचन; ललितवनितादिभिर्विशेषै:। पूर्वोक्तानां विशेषाणां समासवृत्तितिरोहितत्वात् स्पष्टार्थ तैस्तैविशेषैरित्युक्तम् (प्रदीप); ललितवानितत्वादि धर्मै: (संजी०); धर्मै: (पंचिका); विशेषणै (विद्युल्लता); त्वत्त्वादिभि: (सुबोधा)।

1421 विश्रान्तः (पू० 27.1.1.3) वि+श्रम+क्त; +सु; विशेषण, प्रथम, एकवचन; तत्र नीचैर्गिरौ विनीताध्वश्रमस्सन् (संजी०); पर्वताधिवासात् गतखेदः सन् (सुबोधा)।

1422 विश्रामहेतोः (पू० 26.1.5.16) विश्राम+ङस्+हेतु+ङस्, कर्मधारय, संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' (7.3.34) इति प्रतिषेधात् 'विश्रमहेतोः' इति वक्तव्यम्। 'विश्रामहेतोः' इत्यस्य रूपसिद्धिः चान्द्रव्याकरणेन इत्यनुसन्धेयम् (प्रदीपः) विश्रामः विश्रमः खेदापनयः; भावार्थे 'घञ्' प्रत्ययः; तस्यहेतोः; विश्रामार्थमित्यर्थः 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी; 'विश्राम' इत्यत्र 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्थानाचमे' इति पाणिनीये वृद्धिप्रतिषेधेऽपि विश्रामं वा' इति चन्द्रव्याकरणे बिकल्पेन वृद्धिविधानात् रूपसिद्धिः (संजी०); अध्वश्रमविनोदनात् निमित्तात्। 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' इति वृद्धिप्रतिषेधात् विश्रमेति वक्तव्यम्। विश्रामेति रूपसिद्धि-र्लक्षणान्तरेणेति ज्ञेयम् (विद्युल्लता); विश्रामनिमित्तम् (सुबोधा)।

वि+√श्रम+घञ्। यह पद व्याकरण के नियमों के अनुसार अशुद्ध है। परन्तु साहित्य में इसका प्रयोग अनेक बार हुआ है। शुद्ध पद 'विश्रमः' है। इसमें स्वार्थ में अ (अण्) प्रत्यय लगाने से विश्राम पद की प्राप्ति भी हो जाती है। मल्लिनाथ ने इसे चन्द्रव्याकरण के आधार पर शुद्ध माना है। जो सूत्र उन्होंने उद्धृत किया है, वह जैनेन्द्र का है (पा० 1)। व्याकरण की दृष्टि से विश्रान्तिः (वि+√श्रम्+क्तिन्) पाठ अच्छा है। पार्श्वाभ्युदय में भी 'विश्राान्तिः' पाठ मिलता है। मल्लि० ने 'विश्रान्ति हेतोः' के स्थान में 'विश्राम हेतोः' पाठ दिया है और विश्राम शब्द की व्युत्पत्ति पर "विश्रामेत्यत्र नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" इति पाणिनीये वृद्धिप्रतिषेधेऽपि 'विश्रामो वा' इति चान्द्रव्याकरणे विकल्पेन वृद्धिविधानादूप्रसिद्धः' लिखकर 'विश्राम' शब्द को व्याकरण के द्वारा शुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु पाणिणि व्याकरण के अनुसार 'विश्रम' ही शुद्ध प्रयोग है 'विश्राम' नहीं । मल्लि० ने "विश्रामो वा" यह चन्द्रव्याकरण का सूत्र दिया है, परन्तु यह सूत्र चन्द्रव्याकरण में कहीं भी नहीं मिलता। चन्द्रव्याकरण भी सूत्र VI.1.42 के अनुसार 'विश्रम' ही सिद्ध करता है। सम्भवतः मल्लि० के मस्तिष्क में जैनेन्द्र-व्याकरण का "विश्रामो वा" (Y.2.41) यह सूत्र हो। विश्राम शब्द के अशुद्ध होने के कारण ही वल्लभ श्लोक की टीका करता हुआ लिखता है—विश्रामशब्दः कवीनां प्रमादजः अतः "विश्रान्ति हेतोः" पाठ ठीक है।

1423 विष्णोः (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 15.4.21.51; 60.4.20.62)** विष्णु०+ङस्; संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; वसुदेवसूनोः। यथा कृष्णस्य श्यामं वपुर्बर्हेण कान्तिं लभते तथा इत्यर्थः। श्यामत्वान्मेघस्योपमानं कृष्णः नानावर्णत्वाद् धनुषो बर्हमुपमानम् (चरित्र०); त्रिविक्रमस्य (चरित्र 60); कृष्णस्य (संजी०); व्यापकस्य त्रिविक्रमस्य, (संजी० 60); व्याप्तत्वेन वेदशिरसि प्रतिपाद्यमानस्य, 'वेदान्तवेदभिर्विष्णुः प्रोच्यते यो नतोऽस्मि तम्' इति वचनात्। अत्र भगवत उपमानत्वात् उपमेयस्यापि मेघस्य संकोचविकासशक्तत्वं स्वरसत एव परोपकारपरत्वं च द्योत्यते (विद्युल्लता 15); कृष्णस्य (सुबोधा 15); विष्णोरिति विष्णुतुल्यतया गतो प्रोत्साहः सूचितः। तत्स्मृत्या परममङ्गलञ्च। तथाच "हरिस्मृतिः सर्वविपद्विनाशिनी" ति। "सैव यात्रा शुभा प्रोक्ता यत्र प्राक् स्मर्यते हरि" रिति च। विष्णुपदेन सर्वव्यापकत्वं गोपवेशस्येत्यनेन स्वेच्छाविग्रहत्वञ्च प्रतिपादितम्। तद्द्वयं यथा तस्य तथा तवापीति ध्वनिः (सुबोधा 15)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (13.5; 16.82), कुमार० (7.44), शाकु० (4.5) तथा मालवि० (5.2) में एक-एक बार हुआ है।

1424 विस्मरन्ती (उ० 25.4.21.50) वि+स्मृ+शतृ+ङीप्+सु; कृदन्त क्रिया, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; विस्मरणं चात्र दयितगुणस्मृतिजनितमूर्च्छावशादेव, तथा च **रसरत्नाकरे**—

वियोगायोगयोरिष्टगुणानां कीर्त्तनात्स्मृतेः।
साक्षात्कारोऽथवा मूर्च्छा दशधा जायते तथा।। इति (संजी०)

चेतसोऽस्वास्थ्यात् (पंचिका); आलोके ते निपतीति सम्बन्धः (सुबोधा); यह विस्मृति स्मृतिभ्रंश के कारण थी। देखो गीता—'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।'

1425 विस्मृतभ्रूविलासम् (उ० 34.2.8.40) विस्मृत+सु+भ्रू+ओस्+विलास+सु; बहुव्रीहि; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; ननु विलासिनीनां स्वभावत एव भ्रूविलासः सम्भवति? उक्त चं—'तस्याश्शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतरेखयोर्या। ताम्वीक्ष्यलीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच' इति। कथमत्र मधुपानायत्तो भ्रूविलास इत्युक्तम्। सत्यम्। अत्र स्वभावसिद्धोऽपि भ्रूविलासः स्वोद्दीपनतिभावस्य मधुपानस्य अभावान्नाभिव्यज्यते इति कवेरभिप्रायः। अतएव विस्मृतभ्रूविलासमिति विस्मृतपदं प्रयुक्तम् (प्रदीप); विस्मृता भ्रूविलासा येन तत् (चरित्र०); विस्मृतो भ्रूविलासो भ्रूभङ्गो येन तत् (संजी०); विस्खलितभ्रूविलासम (पंचिका); भ्रूविलासादेव स्पन्दनमित्याशङ्क्याह, विस्मृतो बद्धो मद्यस्य भ्रूविलासो भ्रूवैदग्ध्यं येन तादृशम्। अपि चेति विस्मृतभ्रूविलासमितिभावः। शङ्कितेयं दृष्टिः तथा च—

क्वचिच्चला स्थिरा शून्या क्वचित्तिर्यग् विलोकिनी
अनवस्थिततारा च शङ्किता दृष्टि उच्यते। इति।

अत्र च स्पन्दनेन चलत्वम् अलकरुद्धप्रसरापाङ्गत्वेन तिर्यग्विलोकिनीत्वम् अनवस्थिततारकत्वञ्च विस्मृत-भ्रूविलासत्वाद् भ्रूवोरव्यापारेण स्थिरत्वं ध्वनितम्। अञ्जनस्नेहशून्यमित्यनेन शून्यत्वञ्च स्पष्टम् कुवलयश्रीतुलया तादृशमपि चक्षुः कमनीयमेवेति सूचितम्, स्त्रीणां वामचक्षुः स्पन्दनं शुभसूचकम्। यदुक्तं सव्यनेत्रस्फुरत् स्त्रीणां शंसति प्रियसङ्गममिति (सुबोधा)।

विस्मृतः भ्रुवोः विलासः यस्य, तत्। वैसे तो स्त्रियों का भ्रूविलास स्वाभाविक होता है, परन्तु वह शराब की मस्ती और प्रिय-विरह के कारण भूला हुआ-सा था। भ्रूविलास शृङ्गारचेष्टा है। पति के विरह में वह नहीं की जा सकती । भ्रुवोर्विलासः भ्रूविलासः। विस्मृतो भ्रूविलासो येन तद् विस्मृतभ्रूविलासम्। विलासो भावलीलयोः"—विश्वप्रकाश। यहाँ पर भ्रूलीला के अर्थ में भ्रूविलास शब्द आया है। प्रियतम के देखने पर कामिनियों के अङ्गों में जो विशेष विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उन शृङ्गारभावज व्यापारों को विलास कहते हैं। दशरूपक में लिखा है—"तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु।" यहाँ कवि को प्रियतम के साक्षात्कार के समय के यक्षाङ्गना के भ्रूव्यापारविशेष ही अभीष्ट हैं। प्रियतम के आठ महीनों के विप्रयोग में इस अङ्गविशेष के विलास का भूल जाना सुतरां स्वाभाविक है। आलम्बनविशेष के अभाव में शृङ्गारभावज क्रियाविशेष का अभाव उपयुक्त ही है। कवि ने यहाँ एक बाह्य हेतु भी दिया है; क्योंकि उसके होने पर भी भ्रूचेष्टित दिखाई दे जाते हैं और वह है मधुसेवन। उसका भी प्रत्यादेश हो जाने से सम्भावना का अत्यन्ताभाव हो जाएगा। यहाँ 'विलास' का प्रियतमसमागमनिमित्त, मधुपानअसमवायि और शृङ्गारभाव समवायि कारण हैं। दक्षिणावर्तनाथ ने एक और तर्क दिया है—"ननु विलासिनानां स्वभावत एव भ्रूविलासः सम्भवति।'' उक्तञ्च—

'तस्याः शलाकाऽञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतरेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच।। इति।

कथमत्र मधुपानायत्तो भ्रूविलास इत्युक्तम्? सत्यम्। अत्र स्वभावसिद्धोऽपि भ्रूविलासस्वोद्दीपनविभावस्य मधुपानस्य अभावान्नाभिव्यज्यत इति कवेरभिप्रायः। अतएव विस्मृतभ्रूविलासमिति विस्मृतपदं प्रयुक्तम्।"

1426 विहस्य (पू० 53.3.10.46) वि+हस्+क्त्वा; अव्यय; अवहस्य (संजी०); सौभाग्यसम्भूतेन मदेनानादरादपहस्ये-

वेत्युत्प्रेक्षा (विद्युल्लता); विशेषेण हसित्वेव (सुबोधा); तिरस्कार करके। शिवजी की जटाओं में स्थित अपनी सपत्नी गङ्गा को देखकर पार्वती ने ईर्ष्या और क्रोध में आकर त्योरी चढ़ाई। इसे देखकर गङ्गा ने अपनी फेन (झाग) से उसका उपहास किया। उठती हुई झाग के सफेद होने के कारण इसको हँसी समझा गया है, क्योंकि कवि-जगत् में हँसी का श्वेत रंग माना जाता है और वह इसलिए कि हँसते समय दाँत दिखाई देने लग जाते हैं, जिनसे श्वेत छटा निकलती है। देखिये—रामायण अयो० सर्ग 5० श्लो० 16 जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् (गंगा) ददर्श। हितो० की प्रस्तावना श्लो० I. देखिये—'सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धुर्जटेः। जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला।।'

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोगा तेरह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में छह बार, विक्रम० में चार बार, रघु० तथा मालवि० में एक-एक बार हुआ है।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1427 **विहातुम् (पू० 44.4.20.54)** वि०+हा+तुमुन; अव्यय; त्यक्तुम् (चरित्र०); त्यक्तुम् (संजी०); आस्तां दवीयस्यस्य सेवनम्, सेवनान्तरमपि परित्यागो न सुकर इति व्यज्यते (विद्युल्लता); त्यक्तुम् (सुबोधा)।

1428 **वीक्षमाणाः (पू० 22.1.3.14)** वि+ईक्ष्+शानच्+जस्; विशेषण; प्रथमा, बहुवचन; विलोकयन्तः (चरित्र०); कौतुकात् पश्यन्तः (संजी०)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग ऋतु० में दो बार (5.11; 5.15) हुआ है।

1429 **वीक्ष्य (उ० 39.2.10.32)** वि+ईक्ष्+क्त्वा; अव्यय; दृष्ट्वा (पंचिका); विशेषेणावलोक्य (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग बारह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में छह बार, कुमार० में चार बार तथा शाकु० में एक बार हुआ है।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1430 **वीक्ष्यमाणः (पू० 36.1.6.15)** वि+√ईक्ष्+कर्मवाच्य+शानच्+पु०; प्रथमा एकवचन; दृश्यमानः; चण्डेश्वरस्य धामगमने तदनुचराद् भयं नास्ति सुखेन तत्र यास्यसीत्याकूतम्, आतिथ्यप्राप्तिर्वा ध्वनिता (सुबोधा)।

1431 **वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः (पू० 29.1.1.15)**वीची+ आम्+क्षोभ+टा+स्तनित+जस्+ विहग+आम्+श्रेणी+सु+काञ्ची+ङस्+गुण+टाप्+ङस् बहुव्रीहि विशेषण; षष्ठी, एकवचन; वीचीनां क्षोभः तस्मात् स्तनिताः शब्दायमानाः ये विहगाः पक्षिणः तेषां श्रेणिः परम्परा सैव कांञ्चीगुणो मेखलासूत्रं यस्याः सा तस्याः (चरित्र०); वीचिक्षोभेण तरङ्गचलनेन स्तनितानां मुखराणां; कर्तरिक्त; विहगानां श्रेणिः पंक्तिरेव काञ्चीगुणो यस्याः तस्याः (संजी०); स्वनितेति पाठः; स्तनितस्य शकुने रशनाकलापे चाप्रसिद्धेः। तरङ्गसंघट्टनेन शब्दायमानानां पक्षिणां हंससारसचक्रवाकादीनां आवलिरेव रशनाकलापो यस्याः (विद्युल्लता); वीचेस्तरङ्गस्य क्षोभेण सञ्चालनेन स्तनिता शब्दिता या विहगानां हंससारसादीनां पक्षिणां श्रेणिः पंक्तिः सैव पक्षे सैव काञ्चीगुणो मेखलादाम यस्यास्तथाभूतायाः (सुबोधा); **केचित्तु** नायिकापक्षे वीचिक्षोभो मुखक्षोभस्तेन स्तनितः शब्दितो विहगश्रेणिरिव नानाविचित्रवर्णत्वात् कांचीगुणो रशनाकलापो यस्याः प्रशस्तावर्तयुक्ता नाभिरावर्तनाभिः प्रशंसायामर्श आदित्वादत् (सुबोधा); "वीचिः स्वल्पतरंगे स्यादवकाशे मुखेऽपि चेति' **विश्वः**। "विहगाः पक्षिणो ग्रहा" इति **ध्वनिरित्याहुः** (सुबोधा)।

वीचीनां क्षोभेन स्तनितानां विहगानां श्रेणिः एव काञ्चीगुणः यस्याः तस्याः। स्तनित—श्री काले के मत में यह स्वनित का ही भ्रष्ट पाठ है। क्वणित (पा०भे०) का विहगों की कूजन और काञ्चीगुण के बजने से 'स्तनित' की अपेक्षा अधिक सामञ्जस्य है। अतः 'क्वणित' पाठ अच्छा है।

1432 वीणाम् (**उ० 25.1.6.12**) वीणा+आम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; वल्लकीम् (सुबोधा)।

1433 वीणिभि: (**पू० 48.2.8.27**) वीणा+इन्+भिस्; विशेषण, तृतीया, बहुवचन; वीणावद्भि:। व्रीह्यादित्वादिनि:। व्रीहि: शिखाष्टका माला पताका वर्मकर्मणी। मेघला वडवा वीणा संज्ञा चर्मबलाकया।। इति व्रीह्यादिगण:। जलसिक्ततंत्रीका वीणा न क्वणतीति 'सिद्धानां मेघमार्गपरित्याग:। वक्ष्यमाणार्थपरितानाम् अत्रेदमनुसन्धेवम्। दशपुराख्यस्य अधिपति: पुण्यश्लोक: कश्चन रन्तिदेव इति राजा बभूव। तदीयानां धेनूनां मध्ये प्रतिदिनं काञ्चनखुरशृङ्गाद्यावयवै; संचरमाणा: काश्चनदेवगव्य: समवतीर्य स्वैर्य विहृत्य गच्छन्ति। तासां रूपं दृष्ट्वा रन्तिदेवधेनव: पप्रच्छु: कुतो युस्माकं ईदृशं रूपं सञ्जातमिति। ता: पुनरब्रुवन् पुरा यज्ञेषु संज्ञापिता वयं ईदृशो जाता इति। ताश्चधेनव: स्वामिनं रन्तिदेवमुपागम्य अब्रुवन हे राजन् एतावन्तं कालं भवतो वयं उपकृतवत्य:। तस्मात् अस्मान् क्रतुषु त्वमालभेथा:। येन दिव्यरूपा भवामेति। सोऽपि ता यज्ञेषु विशस्य तासां चर्माणि पर्वतमिव क्वापि संबभार। तस्मात् सरक्तनिष्यन्दात् चर्मपर्वतात् कापि नदी प्रवहति। या चर्मप्रभवत्वात् चर्मण्वतीमाहुरिति भारतीयमुपाख्यानम् (प्रदीप, द्र० **चर्मण्वती** के ऐतिह्य में रन्तिदेव-कथा); वीणा: सन्ति येषां इति वीणिभि: (चरित्र०); वीणावद्भि:, 'व्रीहादित्वात् इनि:' (संजी०); विपञ्चीसहितै:। व्रीह्यादित्वादिनि:। 'व्रीहि: शिखाष्टका माला पताका कर्मवर्मणी। मेखला वडवा वीणा संज्ञाच्छद्मबलाकयो:' इति व्रीह्यादिगण: (विद्युल्लता); वीणावद्भिरर्थात् स्कन्दमुपवीणयितुमागच्छद्भि: (सुबोधा); वीणा: एषां सन्ति इति वीणीनि, तै:। वीणाधारी।

1434 वृन्दानि (**उ० 38.3.13.34**) वृन्द+शस्; संज्ञा; द्वितीया, बहुवचन; समूहान् (चरित्र०); सङ्घान् (संजी०); समूहान्, यो वृन्दानीत्यादिना प्रोषितभर्तृकाणामहमुपकारी, (सुबोधा); वृन्दानीति बाहुल्यात् तत्कारिताभ्यासं कथयति (वक्रोक्तिजीवित)।

1435 वृष्टिमन्त: (**उ० 14.2.9.25**) वृष्टि+मत् (मतुप्); प्रथमा; बहु० व०; विशेषण; वर्षशीला:। बरसने वाले। यह 'करिण:' का विशेषण है। यहाँ पर उपमान-वाचक पद 'त्वम्' एकवचनान्त और उपमेय-वाचक 'करिण:' बहुवचनान्त होने में 'ज्योत्स्ना इव सिता कीर्ति: इसके समान भग्न-प्रक्रम-दोष हुआ है।

1436 वेणीभूतप्रतनुसलिला (**पू० 30.1.1.9**)वेणीभूतप्रतनु +सु+सलिल+टा+सु; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा एकवचन; वेणीशब्देन स्तोतश्च केशबन्धश्च विवक्षित: (प्रदीप); वेणीभूतं प्रतनु अल्पतरं सलिलं पानीयं यस्या: सा (चरित्र०); अवेणीवेणीभूतं वेण्याकारं प्रतनु स्तोकं च सलिलं यस्या: सा, तथोक्ता—'अन्यत्र वेणिभूतकेशपाश इति च ध्वन्यते (संजी०); त्रिधा पञ्चधा वा विभज्य दोराकारेण ग्रथित: केशकलापो वेणी। सलिलस्य प्रतनुत्वात् वेणीत्वोपपत्ति:। 'वेणी तु केशबन्धे जलस्तुतौ' इति वैजयन्ती। वेणीधारणं च विरहिणीनां प्रसिद्धम् (विद्युल्लता); वेणी भूता प्राप्ता वेण्या भूता युक्ता वा वेणीभूता, प्रकृष्टम् अतिशयं तनो: शरीरस्य एकदेशे समुदायस्योपचारात् नेत्रस्य, सलिलं जलं अश्रु यस्या: सा तथा, तत: कर्मधारय:, पुंवद्भावादापो निवृत्ति:। (सुबोधा); वेणी केशबन्धभेदस्तद्भूतं तत्प्रायं प्रतनु स्वल्पं सलिलं जलं यस्या: सा तथा, भूतशब्दोऽत्र सादृश्यार्थ: "युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीतेसमे त्रिष्वि" **त्यमर:**।" (सुबोधा)

न वेणी अवेणी। अवेणी वेणी सम्पन्नमिति वेणीभूतम्। वेणीभूतं प्रतनुं सलिलं यस्या: सा। यहाँ पर वेणी से 'एक वेणी' का अभिप्राय है; क्योंकि प्रोषितभर्तृकाएँ एक ही वेणी धारण करती हैं। देखो—शाकु० 7.21—नियमक्षाममुखी धृतैकवेणि:। गरमी के कारण नदी की धार संकुचित ओर पतली हो गई है। अत: वह प्रोषितभर्तृका की एक वेणी (चोटी) के समान मालूम पड़ती है। वेणीभूत से अभिप्राय 'एक-वेणीभूत' का है। अभि०शा० V II.21, 'नियमक्षाममुखी धृतैकवेणी'।

1437 वेत्रवत्या: (पू० 25.4.19.56) वेत्रवती+ङस्; संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; वेत्रवत्या: नद्या: (चरित्र०); वेत्रवत्या: नाम नद्या: (संजी०); वेत्रवतीति नद्या: संज्ञा, (विद्युल्लता)।

यह आधुनिक वेतवा नदी का प्राचीन नाम है। यह विन्ध्य के उत्तर से निकलती है। पर मालवा प्रदेश में लगभग 340 मील तक बहती है। यह काल्पी के समीप यमुना नदी से मिल जाती है। इस नदी का बहुत-सा भाग मालव प्रान्त में से होकर जाता है। देखिये—कादम्बरी I—"मज्जन् मालवविलासिनीकुचतटास्फालन-जर्जरितोर्मिमालया वेत्रवत्या परिगता विदिशाभिधाना नगरी राजधान्यासीत्।

1438 वेश्या: (पू० 38.3.8.31) वेश्या+जस्; संज्ञा, प्रथमा, बहुवचन; पण्यस्त्रिय: (चरित्र०); महाकालनाथमुपेत्य नृत्यन्त्यो गणिका: (संजी०); परिवारवारवनिता: (विद्युल्लता); वेशेन शोभमाना: स्त्रियो गणिका वा (सुबोधा)।

वेशे भवा: वेश्या:। वेश+यत्। वेश—वेश्याओं का घर। अथवा वेशेन शोभते इति वेश+यत्। वेश-सुन्दर वस्त्रादि से युक्त भेस, कृत्रिम आकार। अत: जो सुन्दर वस्त्रादि पहनकर और कृत्रिम रचना करके अपने रूप को आकर्षक बनाती हैं।' यहाँ पर देवदासियों से अभिप्राय है। देवदासियों की प्रथा जाति के लिए बड़ी हानिकारक थी। कुछ समय हुआ जब मद्रास सरकार ने एक नियम द्वारा इसकी रोक-थाम की है। यह भी प्रथा है कि प्रात: और सायं देवताओं की पूजा में वेश्याओं को नाचने के लिए बुलाया जाता है।

1439 वैभ्राजाख्यम् (उ० 10.3.9.44) वैभ्राज+सु+आख्या+अम्; बहुव्रीहि; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; विभ्राजस्य इदं वैभ्राजम्, वैभ्राजमिति आख्या यस्य तत् वैभ्राजाख्यम्, 'विभ्राजेण गणेन्द्रेण त्रातं वैभ्राजमाख्यया' इति शम्भुरहस्ये; चैत्ररथस्य नामान्तरमेतत् (संजी०); यह कुबेर का चैत्ररथ नाम का उद्यान है। देखो पू०मे० 7 बाह्योद्यान पर टिप्पणी। विभ्राज नाम का कुबेर का (कर्मारकर) अथवा, शिव का (काले) गण इसकी रक्षा करता है। अत: इसे वैभ्राज कहते हैं। महाभारत में इसे गन्धमादन पर स्थित तथा राक्षसों द्वारा रक्षित बताया गया है। देखिये—शम्भुरहस्य—'विभ्राजेन गणेन्द्रेण त्रातं वैभ्राजमाख्यया'। वल्लभ कहता है—वैभ्राजम् चैत्ररथम्' वैभ्राज उद्यान का दूसरा नाम चैत्ररथ है।

1440 वैरिणा (उ० 41.4.18.60) वैरिन्+टा; संज्ञा, तृतीया एकवचन; विरोधिना (संजी०); विधुरेण (पंचिका); प्रतिकूलेन (सुबोधा); वैरम् अस्य अस्ति इति, तेन। भाग्य इसलिए वैरी था कि उसने शाप द्वारा यक्ष को उसकी प्रिया से वियुक्त कर दु:ख और सन्ताप में मग्न कर दिया। वीर के कर्म को वैर कहते हैं और वैरयुक्त को 'वैरिन्' (इनि)। पहले आर्यो के कबीले के वीर वैरनिर्यातन में ही वीरता या वीरकर्म की इतिश्री समझते थे। अत: वीरकर्म के अर्थ के 'वैर' शब्द का धीरे-धीरे अर्थसङ्कोच हुआ और वह शत्रुता तक सीमित रह गया। वैरी के द्वारा रुद्धमार्ग व्यक्ति किस तरह बचकर निकल सकता है और फिर वह भी अगर विधि ही वैरी हो तो बचना और भी कठिन हो उठता है।

1441 व्यक्तम् (पू० 58.1.2.4) वि+अञ्ज्+क्त्+अम्; विशेषण; नपुं० द्वितीया, एकवचन; स्पष्टम् (चरित्र०); प्रकटम् (संजी०); भसितलिप्तत्वादिलिङ्गै: स्पष्टम् (विद्युल्लता); प्रभावातिशयात् पङ्के इव विस्पष्टं (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में एक बार (6.23) हुआ है।

1442 व्यञ्जयन्ती (पू० 30.3.12.54) वि+अञ्ज्+णिच्+शतृ+ङीप्+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; प्रकटयन्ती (चरित्र०); प्रकाशयन्ती (संजी०); न केवलं मनसा निरूपयन्ती; अपितु त्रपानाशलक्षणेन दशान्तरेण सर्वजनसाक्षिकं प्रकाशयन्तीत्यर्थ: (विद्युल्लता); प्रकाशयन्ती (सुबोधा)।

1443 व्यपगतशुचः (उ० 15.4.16.52) व्यपगता+सु+शुच्+जस्; बहुव्रीहि; विशेषण; प्रथमा: बहुवचन; व्यपगता शुक् शोको येषां ते (चरित्र०); वर्षाकालेऽपि व्यपगतकलुषजलत्वात् वीतदुःखाः सन्तः (संजी०); तत्रैव उपद्रवाभावात् निर्दुःखाः (पंचिका); विशेषेणापगता पलायिता शुक् शोकः क्लेशो येषां तादृशाः (सुबोधा); व्यापगता शुक् येषां, ते। जिनका दुःख छूट चुका है। दुःखरहित। दुःख दूर होने का कारण यह है कि इस बावड़ी में मानसरोवर और कुबेर के सरोवर के समान सुवर्णकमल उत्पन्न करने की शक्ति है। अतः इसका जल मानस के जल से भिन्न नहीं है। वह वर्षा में भी मैला नहीं हो सकता है। जब मानस के समस्त गुण यहाँ हैं, तो वे व्यर्थ यात्रा क्यों करें। वर्षा के प्रारम्भ में हंसों का मानसरोवर में चले जाना स्वाभाविक ही है; क्योंकि उस समय और सब स्थानों का जल गन्दला हो जाता है, परन्तु अलका में यक्ष के घर की बावड़ी बहुत ही रमणीय है और उसका जल सदा स्वच्छ ही रहता है। इसी कारण हंस वहाँ प्रसन्न रहते हैं और उन्हें मानस सरोवर जाने की चिन्ता ही नहीं रहती।

1444 व्यवसितम् (उ० 53.1.3.7) वि+अव+सो+क्त+सु; कृदन्त क्रिया, प्रथमा, एकवचन; अङ्गीकृतम् (पंचिका); कर्तव्यतयाऽङ्गीकृतमित्यर्थः (सुबोधा); निश्चय कर लिया है, अंगीकार कर लिया है, करना स्वीकार कर लिया है। भाव यह है कि यक्ष मेघ से प्रश्न करता है–'हे भद्र मेघ! क्या तुमने मेरा काम करना स्वीकार कर लिया है? मुझे आशा है तुमने अवश्य मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है। वि+अव+√षो अन्तकर्मणि (दिवादि०)+क्त=व्यवसितम्। 'व्यवसाय' शब्द निश्चयार्थक है; और व्यवसित का यहाँ पर अर्थ 'निश्चित' है। पूर्णसरस्वती ने इसका यह प्रसङ्गापेक्षी अर्थ किया है–'व्यवसितम् अवश्यकर्तव्यत्वेन अङ्गीकृतम्।"

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० में एक बार (2.1) हुआ है।

1445 व्यवस्येत् (पू० 23.4.22.61) वि+अव+षो+लिङ्; प्रथम पुरुष, एकवचन; तिङन्त, व्यवसायं उद्योगं कुर्यात् (चरित्र०): उद्युञ्जीत; प्रार्थने लिङ्; 'शेषे' प्रथमाः', इति प्रथमपुरुषः, शेषश्चायं भवच्छब्दो युष्मदस्मच्छब्दव्यतिरेकात् (संजी०); उद्योगं कुर्यात्, दाक्षिण्यनिघ्नत्वादिति भावः (विद्युल्लता); व्यवसायं कुर्यात् (सुबोधा); प्रार्थनायांगी (सुबोधा)।

वि+अव्+√सो (समाप्त करना, अन्त करना)+विधिलिङ्; प्रथम पु० एकव०। इसके अन्य रूप स्यति, स्यतु, स्येत्, अस्यत्, सास्यति, ससौ (लिट्) तथा असात् या असासीत् (लुङ्) साता (लुट्), सेयात् (आ० लिङ्) आस्यत् (लृङ्) और सित (क्त) होते हैं।

1446 व्याजहार (पू० 4.4.16.63) वि+आङ्+हृ+लिट्; तिङन्त; अप्राक्षीत् (चरित्र०); पप्रच्छ (संजी०); प्रयुयुजे (विद्युल्लता); उक्तवान् (सुबोधा); वि+आ+√हृ+लिट् प्रथम पु० एकव०।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (11.83) तथा कुमार० में एक बार (6.64) हुआ है।

1447 व्यालम्बेथाः (पू० 48.3.10.35) वि+आङ्+लम्ब+लोट्; मध्यमपुरुष, एकवचन; विनम्यप्राप्नुभिः (प्रदीप); विलम्बं कुर्याः (चरित्र०); आलम्ब्य अवतरे इत्यर्थः (संजी०); गगनतलात् अवतरेः (विद्युल्लता); अवलम्बिष्यसे जलग्रहणाय आश्रयिष्यसीत्यर्थः। पुष्करिण्यादिवदियं नदी कीर्तिस्तत्कृतत्वात् (सुबोधा)

1448 व्यालुम्पन्ति (उ० 9.4.10.79) वि+आङ्+लुम्प्+लट्; प्रथम पुरुष, बहुवचन; तिङन्त; अपहरन्ति। चन्द्रपादैः स्फुटजललवस्यन्दिन इत्यन्वयः (प्रदीप); नाशयन्ति (चरित्र०); अपनुदन्ति (संजी०); प्रशमनन्ति (पंचिका)।

1449 व्योमगङ्गाजलार्द्रैः (पू० 46.2.8.33) व्योम+ङि+गङ्गा+ङस्+जल+टा+आर्द्र+भिस्; तत्पुरुष; विशेषण,

तृतीया, बहुवचन; व्योम्नि आकाशे या गङ्गा तस्याः जलं तेन आर्द्रास्तैः (चरित्र०); मन्दाकिनीजलसन्दोहसंमिश्रिततया सरसैः। 'व्योमगङ्गा' इत्युक्तेः कल्पतरूत्पन्नत्वं पुष्पाणां गम्यते। अत्र पुष्पाणां प्राधान्यप्रतीतावपि सामर्थ्यात् गगनगङ्गाजलस्यैव तत्प्रकाराधिवासितस्य प्राधान्यं वेदितव्यम्, 'सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः' इत्यत्रेव, अन्यथा अवकिरणमात्रमेव वक्तव्यम्, 'अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैः इत्यत्रेव।। ततश्च सुरभितरसुरतरुकुसुमसह-चरितशुचिशिशिरगगनसरिदुदकस्नपनेन भगवतः प्रसादातिशयलाभः, ततः प्रकृष्टप्रयोजनप्राप्तिरिति द्योतितम्, 'अभिषेकप्रियः शिवः', 'अलङ्कारप्रियो हरिः' इति पुराणवचनात् (विद्युल्लता); व्योमगङ्गाया मन्दाकिन्या जलेनार्द्रैः स्तिमितैः। देवता च सपुष्पजलेनैव स्नप्यते इति किञ्चिज्जलयोगसूचनाय जलार्द्रैरित्युक्तम्। तत्रापि स्कन्दस्य गङ्गाप्रभवत्वात् तज्जलप्रीत्यातिशयाद् गङ्गोल्लेखः (सुबोधा); व्योम्नि गङ्गा, तस्याः जलं, तेन, आर्द्राः, तैः। आकाशगङ्गा। गङ्गा को तीनों लोकों में बहने वाली माना है—क्षितौ तारयते मर्त्यान्नागांस्तारयतेऽप्यधः। दिवि तारयते देवांस्तेन त्रिपथगा स्मृता।। आकाश में इसे मन्दाकिनी कहते हैं; पृथ्वी पर भागीरथी और पाताल में भोगावती या पातालगङ्गा।

1450 व्योम्नि (पू० 54.1.5.7) व्योमन्+ङि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; आकाशे (प्रदीप); गगने (विद्युल्लता)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (12.67; 12.98) हुआ है।

1451 व्रज (त्रिवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 16.4.16.65; 27.1.3.5; 50.1.3.5)** व्रज+लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन; तिङन्त; गच्छ (चरित्र 16); याहि (चरित्र 50); गच्छ (संजी० 16); गच्छ (संजी० 27); गच्छ (संजी० 50); गमिष्यसि। आशंसायां भविष्यति गी (सुबोधा 16); गमिष्यसि (सुबोधा 27); गमिष्यसि (सुबोधा 50)।

श

1452 शक्ष्यति (पू० 20.3.15.40) शक्+लृट्; प्रथम पुरुष, एकवचन; तिङन्त; शक्तो भविष्यति (चरित्र०); शक्तो भविष्यति (संजी०); पारयिष्यति (सुबोधा)।

1453 शङ्कास्पृष्टा (उ० 8.3.9.43) शङ्का+टा+स्पृष्ट+जस्; तत्पुरुष, विशेषण, प्रथमा, बहुवचन; आलेख्यविनाशं दृष्टवा कोऽप्यस्मान् ग्रहीष्यति इति शङ्कमान इत्यर्थः (प्रदीप); भयभीताः (चरित्र०); चित्रविनाशं विलोक्य अस्मान् कोऽपि ग्रहीष्यतीति शङ्कमानः (चरित्र०); सापराधत्वात् भयाविष्टा; 'शङ्कावितर्कभययोः' इति शब्दार्णवे (संजी०); शङ्किता (पंचिका); सापराधत्वात् भयाक्रान्ता इव सन्तः (सुबोधा); यहाँ शङ्का का अर्थ 'भय' है। भय मेघों को अपराध करने पर हुआ। तस्वीरों का जल की बूँदों द्वारा खराब किया जाना ही उनका अपराध है और इसी भय से वे झरोखों या खिड़कियों में से जर्जर हो—बिखर-बिखर कर—निकल भागते हैं।

1454 शङ्के (द्विधा प्रयुक्तम्) **(उ० 27.2.7.21; 34.3.13.55)** शङ्क्+लट्; तिङन्त; उत्तम पुरुष; एकवचन; सम्भावयामि (चरित्र 34); तर्कयामि, 'शंकावितर्कभययोः' इति शब्दार्णवे (संजी० 27); तर्कयामि (संजी० 34); संभावये (पंचिका 27); आशङ्के सम्भावयामीति शुभसूचनमत्र (पंचिका 34); तर्कयामि (सुबोधा); इत्यहं शंङ्के सम्भावयामि (सुबोधा); अनुमान करता हूँ, उत्प्रेक्षा करता हूँ।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में दो बार (6.3; 506.2), रघु० (13.64), विक्रम० (124.12) तथा मालवि० (153.4) में एक-एक बार हुआ है।

1455 शङ्खपद्मौ (उ० 19.2.8.22) शङ्ख+सु+पद्म+औ; संज्ञा; इतरेतर द्वन्द्वः द्वितीया, द्विवचन; शङ्खपद्माख्यौ

निधिविशेषौ। निधिर्ना शेवधिर्भेदा: शङ्खपद्मादयो निधे:। इत्यमर: (प्रदीप); शङ्खपद्माख्यौ निधी; निधिर्ना-शेवधिर्भेदा पद्मशङ्खादयोनिधे' इत्यमर: (चरित्र०); शङ्खपद्मौ नाम निधिविशेपौ। 'निधिर्ना शेवधिभेदा:' पद्मशङ्खादयो निधे:' इत्यमर: (संजी०); निधी। दृढ़ीकरणमिदं, अन्यैरपि मङ्गलाचारत्वात् कुत्रचित् शङ्खपद्मौ लिख्येते, मम तु धनादेरनुभावाद् द्वारोपान्ते लिखितावित्युत्कर्षो व्यज्यते (सुवोधा); ये कुवेर की नौ निधियों में से दो निधियों के नाम है। इन नव निधियों के नाम ये हैं—

"महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव।।"

कुछ लेखकों ने 'कुन्द' के स्थान पर 'नन्द' नाम रक्खा हैं। इस विपय में श्री विल्सन लिखते हैं कि इन निधियों के नाम बहुमूल्य या पवित्र वस्तुओं के ही हैं। ये पुरुपाकार से युक्त माने जाते हैं। लक्ष्मी आदि की पूजा में इनको भी भाग मिलता है। इनकी पूजा के लिए भी गुप्त मन्त्र बने हुए हैं। यक्षपत्नी ने दरवाजे के दोनों तरफ इन दो निधियों को पुरुषाकार में चित्रित कर रक्खा था, क्योंकि ये माङ्गलिक होते हैं और इनको चित्रित करके वह बेचारी अपने पति के आगमन-दिवस की प्रतीक्षा कर रही थी। देखिये—सारो० 'तौ हि अधोभागे पुरुषरूपौ गृहद्वारशाखासु मङ्गलार्थमालिख्येते।' तान्त्रिक-सिद्धान्तानुसार निधियाँ व्यक्तित्वसम्पन्न (personified) बनाई जाती हैं और विशेष—विशेष अवसरों पर धन-सम्पत्ति की मूर्त्ति भगवती लक्ष्मी की तरह भक्ति-भाव के साथ पूजी जाती हैं।"—विल्सन।

1456 **शङ्खशुक्ती: (पू० 34.1.5.9)** शङ्ख+सु+शुक्ति+शस्; द्वन्द्व: संज्ञा, द्वितीया, वहुवचन; शङ्खांश्च मुक्तास्फोटांश्च; मुक्तास्फोट: स्त्रिया शुक्ति: शङ्ख: स्यात्कम्वुरस्त्रियाम्' इत्यमर: (संजी०)।

1457 **शनकै: (उ० 5.4.13.52)**शन्+अकच्+ऐस्; अव्यय; मन्दम् (संजी०); मन्दम् गाननृत्यानुकूलं यथास्यात्तथा। शनकैरित्यनेन सङ्गीतानुगतमिदमिति सूचितम्। शनकै: क्षणं मधु पीयते क्षणं मृदङ्गा वाद्यन्ते इत्यर्थ:, इति च वदन्ति (सुबोधा)।

धीमा। अत: मधुर। **मधुरम्**—पा०भे०—इससे पुष्कर ध्वनि की मधुरता का भाव सीधा ही निकल आता है। परन्तु धीमी गति का नहीं। यह साभिप्राय शब्द है। एक टीकाकर ने इसका अभिप्राय यह कहा है—'शृङ्गाराङ्गत्वात् पानगोष्ठ्यां कठोरवादित्रं नोपयुज्यते' इति भाव: अर्थात् पानगोष्ठी (Drinking Symposium) के समय गीत और नृत्य के साथ-साथ मृदङ्ग या तबला भी धीमे-धीमे बजाया जाता है, क्योंकि शृङ्गार रस कोमल भावों में गिना जाता है। इसमें गीत और वाद्य की कठोरता नहीं होनी चाहिए, अन्यथा इसकी कोमलता नष्ट हो जाती है। पानगोष्ठी में 'पुष्कर' इसी कारण 'शनकै:' वजाए जाते थे।

1458 **शब्दाख्येयाम् (उ० 42.1.1.5)** शब्द+टा+आख्येय्+अम्; तत्पुरुष, विशेषण; द्वितीया, एकवचन; शब्दा एव आख्येयमभिधेयं यस्य तच्छब्दास्येयं निरर्थकमित्यर्थ: (प्रदीप:); शब्द एव आख्येयो अभिधेयो यस्य; यद्वचनं आननशब्देन उच्चैश्शब्देन आख्येयं वा (चरित्र०); शब्देन रवेण आख्येयं उच्चैर्वाच्यम् (संजी०); प्रकटवाच्यम् (पंचिका); शब्देन ध्वनिना आख्येयं व्यक्त कथनार्ह, न रहस्यभूतं (सुवोधा); शव्देन आख्येयम् (आख्यातुं योग्यम्)। जोर से कहने योग्य, साधारण, जिसमें रहस्य की कोई वात न थी। आ+ख्या प्रकथने (अदा०)+यत्=आख्येयम्। अत्रापूर्वकचक्षिङादेशतोऽपि यत्प्रत्यये कृते रूपासिद्धिर्भवितुमर्हति। शब्दैराख्येयम्, शब्दाख्येयम्। यद्वा 'शब्द एव आख्येयो यस्मिन् तत् तथोक्तम्'। इसका अर्थ टीकाकारों ने दो प्रकार से किया है। मल्लिनाथ और उनके साथियों ने 'शब्दों के द्वारा कहने योग्य' अर्थ किया है। दक्षिणावर्तनाथ ने इसका अर्थ 'निरर्थक' किया है। पहले अर्थ का सौन्दर्य यह है कि जो वस्तु जोर से कहने योग्य थी, उसे भी कानों में कहने का बहाना बनाया गया। दूसरे अर्थ की विशेषता यह है कि निरर्थक बात कहने के बहाने मुँह को

कान के पास ले जाया गया। वस्तुत: उद्देश्य मुखचुम्बन लेना या आननस्पर्श करना था, न कि कानों में कुछ कहना। अत: दोनों ही अर्थ हो सकते हैं; क्योंकि नायक की 'लोलता' दिखानी अभीष्ट है।

1459 **शब्दायन्ते (पू० 59.1.1.1)** शब्द+क्यङ्+लट्; प्रथम पुरुष, बहुवचन; तिङन्त; शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः कर्णे (3.1.17) इति क्यङ्; शब्दायन्ते गीयत इति च वर्तमाननिर्देशः (प्रदीप); शब्दं विदधते (चरित्र०); शब्दे कुर्वन्ति, स्वनन्तीत्यर्थः 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्य: करणे' इति क्यङ्; अनेन वंशवाद्यसम्पत्तिरुक्ता (संजी०); शब्दंकुर्वन्ति (सुबोधा); शब्दं कुर्वन्ति इति। शब्द से नामधातु का लट् प्रथम पु० बहु०व०।

1460 **शमयितुम् (पू० 56.3.11.41)** शम्+णिच्+तुमुन्; अव्यय; निर्वापयितुम् (चरित्र०); निर्वापयितुम् (विद्युल्लता); शान्ति नेतुं निर्वापयितुम् किंवा शान्तियुक्तं कल्याणिनं कर्तुम् (सुबोधा); √शम् (शान्त होना)+णिच्+तुमुन्।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (17.55) तथा शाकु० (24.4) में एक-एक बार हुआ है।

1461 **शम्भुना (पू० 63.1.4.9)** शम्भु+टा; संज्ञा, तृतीया, एकवचन; शिवेन (संजी०); महादेवेन (सुबोधा)।

1462 **शम्भोः (पू० 53.4.13.49)** शम्भु+ङस्; संज्ञा; षष्ठी, एकवचन; महेशस्य (चरित्र०); महादेवस्य (सुबोधा); यहाँ कवि शिव के कल्याणकारी प्रसन्नरूप को प्रकट करना चाहता है। अत: इस पद का प्रयोग बड़ा उत्तम हुआ है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग छह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में पाँच बार (2.59; 2.60; 3.58; 5.66; 6.13) हुआ है।

1463 **शयने (उ० 50.1.6.6)** शयन+ङि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; तल्पे (पंचिका); शय्यायां (सुबोधा); "न तूद्यानविहारादौ। अनेन विजने वासमन्दिरे मद्द्वितीया हंसतूलिकातल्पगतेति सखीभिरपि अविदितस्य द्वाभ्यामेव ज्ञातत्वं द्योत्यते" (विद्युल्लता)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (19.38) तथा ऋतु० (2.11) में एक एक बार हुआ है।

1464 **शय्योत्सङ्गे (उ० 32.2.6.26)** शय्या+ङस्+उत्सङ्ग+ङि; तत्पुरुष, संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; शय्यायाः उत्सङ्गे पृष्ठे (चरित्र०); तल्पपृष्ठे (पंचिका); शय्याया उत्सङ्गे-क्रोडे, (सुबोधा); बिस्तर की गोद में, अर्थात् बिस्तर पर। उ०मे० 29 में यक्षपत्नी अवनिशय्या के एक पार्श्व मे बैठी चित्रित की गई है। अत: यहाँ 'बिस्तर के एक किनारे पर'–अर्थ हुआ।

1465 **शरणम् (पू० 7.1.4.6)** शरण+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; आश्रयः (चरित्र०); पयोदानेन आतपखिन्नानां प्रोषितानां स्वस्थानप्रेरणया च रक्षकः; शरणं गृहरक्षित्रोरित्यमरः (संजी०); रक्षिता, 'शरणं गृहरक्षित्रोः, इत्यमरः (विद्युल्लता); रक्षिता (सुबोधा); सन्तप्तानां शरणमिति सामान्यप्रतीतत्वाद् विरहिसन्तापशान्तयेऽपि त्वं प्रभुः, त्वन्निवेदितावस्थस्य ममापि प्रियायाः कृते सन्देशमवश्यं हरिस्यसीति भावः। "शरणं गृहरक्षित्रो" रित्यमरः। आश्रय, रक्षक। प्रथम को वर्षा द्वारा ठण्डक पहुँचा कर, दूसरों को प्रवासियों को घर लौटा कर। देखो– 'प्रवासिनो यान्ति नराः प्रदेशान्' (रामायण); तथा कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्। (मेघ० 8)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में दो बार (147.2; 6.32), विक्रम० में दो बार (1.3.; 34.4), रघु० (4.64) तथा कुमार० (1.12) में एक-एक बार हुआ है।

1466 **शरभाः (पू० 57.2.7.28)** शरभ+जस्+संज्ञा; प्रथमा, बहुवचन; अष्टापदाः। शरभः कुञ्जरोत्पादकोऽष्टपादपीत्य-भिधानचिन्तामणिः (चरित्र०); अष्टापदमृगविशेषाः; 'शरभः शलभेचाष्टापदे प्रोक्तो मृगान्तरे' इति विश्वः

(संजी०); पादाष्टकविशिष्टा: दुष्टमृगा:। 'शरभश्च गजारातिरुत्पादश्चाष्टपादपि 'इति वैजयन्ती। बहुवचनेन एकस्य मोहादपाचारे क्षन्तव्येऽपि बहूनां बुद्धिपूर्वमैकमत्येन करणे क: क्षमाया: प्रसङ्ग इति व्यज्यते (विद्युल्लता); पशुभेदा:। शरभो नाम जन्तुरुद्वर्ताधोभागेनाष्टचरण: "शरभोऽष्टापद: स्मृत:" इति भागुरि: (सुबोधा); इसके अर्थ करने में टीकाकारों ने बड़ी कल्पना दौड़ाई है। महाभारत के 'अष्टापद: शरभ: सिंहघाती' के आधार पर आठ पैरों के एक भयानक हिंसक पशु की कल्पना की गई है। श्री शंकरराम शास्त्री लिखते हैं–"कि वास्तव में ऐसा प्रसिद्ध है कि हिरण्यकशिपु के वध के पश्चात् नृसिंहावतार–रूपधारीविष्णु के उत्पात को शान्त करने के लिए शिवजी ने शरभ का रूप धारण किया। मल्लिनाथ ने 'शरभ: शलभे चाष्टपदे प्रोक्तो मृगान्तरे' के प्रमाण के आधार पर इन्हें मृग विशेष माना है। वास्तव में यह एक हरा–हरा सा जीव है, जो वर्षा ऋतु में बहुत होता है। ये बड़ी संख्या में पंक्तिबद्ध होकर वेग के साथ उड़ते हैं। साधारण भाषा में इसे 'राम जी की गाय' कहते हैं। इसके चार पाँव होते हैं। जो कमर के ऊपर तक लम्बे होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक पैर को दो मानने से इसके आठ पाद हो जाते हैं। शरभ के आठ पैरों में चार उसकी कमर पर माने जाते हैं और इसीलिए उसे कभी–कभी ऊर्ध्वपाद भी कहते हैं। श्री कर्मार्कर का भी यही मत है। इस विषय में मल्लिनाथ का प्रमाण 'शरभशलभे' भी ध्यान देने योग्य है। हिमालय पर न कोई आठ पैरों का पशु मिलता है न प्रकरण में वैसे पशु का कोई अर्थ लगता है। इसका सिंहघाती नाम सम्भवत: इस प्रकार के किसी विचार पर आधारित हो, जिस प्रकार चींटी को हाथी का घातक कहा जाता है।

1467 **शरवणभवम् (पू० 48.1.3.9)** शरवण+ङि+भव+अम्; तत्पुरुष; विशेषण; द्वितीया एकवचन; शरजन्मानम् (चरित्र०); शराबाणतृणानि, 'शरो बाणे बाणतृणे' इति शब्दार्णवे, तेषां वनं शरवणम्; 'प्रनिरन्त: शर' इत्यादिना णत्वं, 'तत्र भवो जन्म यस्य तं शरवणभवम्; 'अवर्ज्यो: बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपद' इति वामन:, अवर्ज्यो अगतिकत्वात् आश्रयणीय इत्यर्थ:; 'शरजन्माषडानन' इत्यमर: (संजी०); मेरुमेखलावस्थितकनक–मयकाशकाननप्रदेशे प्रसूतत्वात् (विद्युल्लता); शरस्य वने भव उत्पत्तिर्यस्य तम्। शरवणभुवमिति पाठे शरवणं भूरुत्पत्तिस्थानं यस्य तम् (सुबोधा); स्कन्द सरकण्डों से उत्पन्न हुए हैं। इसमें 'शर' के कारण 'वन' के 'न' को 'ण' हो गया है। शरवणे भव: जन्म यस्य तम्। यह व्यधिकरण बहुव्रीहि है।

1468 **शशिनि (उ० 43.2.6.19)** शशिन्+ङि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; चन्द्रे (संजी०); मृगाङ्के (पंचिका); चन्द्रे (सुबोधा); शशिनीति पाण्डुरत्वात् (अभिनवगुप्त); कलङ्क की याद करा देने के लिए इस पद को कवि ने रखा है, तभी तो व्यतिरेकध्वनि प्राप्त होगी। पूर्णसरस्वती का कथन है–"चन्द्रमस: पूर्णत्व एव मुखसादृश्यलाभा–दस्थिरत्वम्। तदानीञ्च स्फुटविकटकलङ्कपङ्काङ्कतया तत्सामग्र्यविरहो ध्वन्यते।"

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० (4.3) तथा विक्रम० (1.7) में एक–एक बार हुआ है।

1469 **शश्वत् (पू० 58.2.6.18)** अव्यय; अनवरतम् (चरित्र०); सदा (संजी०); व्रतत्वेन (विद्युल्लता);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में छह बार (2.48; 4.70; 5.5; 6.64; 17.74; 19.52) हुआ है।

1470 **शष्पश्यामान् (पू० 34.2.6.12)** शष्प+सु+इव+श्याम+शस्; विशेषण; द्वितीया, बहुवचन; शष्पवत् बालतृणवत् श्यामान् नीलवर्णान्। शष्पं बालतृणं घासम्' इत्यमर: (चरित्र०); शष्पं बालतृणं तद्वत् श्यामान्; 'शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनमित्यमर: (संजी०); हरी घास के समान हरे। शष्पवत् श्याम:, तान्। मरकतमणियों और हरी घास का सादृश्य साहित्य में प्राय: वर्णित किया गया है।

1471 **शान्तिम् (पू० 42.2.6.8)** शान्ति+अम्; संज्ञा, द्वितीया एकवचन; उपरतिम् (प्रदीप); शान्तिं नेयम्; प्रणिपातादिप्रसादनोपायप्रयोगेणावेगापनयनान्निवारणीयम् (विद्युल्लता); उपशम (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में तीन बार (6.46; 9.66; 11.62) हुआ है।

1472 **शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम् (पू० 39.4.14.59)** शान्त+सु+उद्वेग+सु+स्तिमित+औ+नयन+अम्; बहुव्रीहि; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; भयङ्करस्य गजाजिनस्य अदर्शनात् देव्याः शान्त उद्वेगाः (प्रदीप); शान्तोद्वेगेन गतक्लमेन स्तिमिते निश्चले नयने यत्र दर्शनं तत्तथा। स्तिमितोऽचंचलार्द्रयोरिति मेदिनी। उद्वेगं क्लमकीलके। (चरित्र०); शान्त उद्वेगो गजाजिनदर्शनभयं ययोस्ते अतएव स्तिमिते निश्चले नयने यस्मिन् कर्मणि तत्तथोक्तम्; 'उद्वेगस्त्वरिते क्लेशे भये मन्थरगामिनि' इति शब्दार्णवे (संजी०); शान्तोद्वेगः प्रचण्डताण्डवोद्दण्डभुजतरुषण्डस्य खण्डपरशोर्जगदण्डखण्डनक्षमेषु मण्डलभ्रमणसम्भ्रमेषु धैर्यावलम्वेन नियन्त्रितभावविकारः। स्तिमितनयनं कामचारिणो विषयरसिकस्यास्य कथमीदृशी भक्तिरुत्पन्नेति विस्मयविकसितनिभृतनयनकुवलयम् (विद्युल्लता), शान्तेन दूरीकृतेन उद्वेगेन मनोविकारविशेषेण स्तिमितनयनम् स्निग्धनिश्चललोचनं यथा स्यात् तथा। शान्तेति क्रियाविशेषेण विस्मिता दृष्टिः सूचिता तथा च—

किञ्चिदुद्भूतनेत्रान्ता दृष्टोद्भटभटाञ्चला।
स्फीता विक्रमिता दृष्टिर्विस्मिता विस्मये रसे।। इति

शान्तोद्वेगेति मेघसम्बोधनं शान्त उपशमित उद्वेगो येनेति केचित्। "स्तिमितो निश्चले क्लिन्ने" इति धरणिः। शान्तः उद्वेगः ययोस्ते। शान्तोद्वेगे स्तिमिते च नयने यस्मिन् कर्मणि तत् तथा। उद्वेगे का अर्थ 'घबराहट'—'भय' है। पार्वती स्त्री हैं। अतः गजचर्म को देखकर गजासुरवध की स्मृति से घबरा जाती हैं। परन्तु बादल को देखकर उसकी घबराहट दूर हो जायेगी; क्योंकि गजचर्म न होने से उसको गजासुर वध की स्मृति न आयेगी। अथवा पार्वती स्त्री हैं। 'स्त्री स्वभावस्तु कातरः'। वह मेघ गर्जन को सुनकर घबरा जाती होंगी। परन्तु सान्ध्या पूजा उपस्थित हो जाने से उन्हें मेघ की सेवा को देखकर प्रसन्नता हुंई होगी। कवि ने यही कल्पना यहाँ चित्रित की हो सकती है। परन्तु इस भाव में दूरान्वय, क्लिष्ट कल्पना आदि दोष हैं। यह पद्य स्वतन्त्र है और पूर्वपद्य भी । अतः इस भाव में भी दोनों पद्यों को अलग रखना उचित होगा।

1473 **शापस्य (उ० 31.2.8.13)** वर्षविरहरूपस्य (सुबोधा) संज्ञा।

1474 **शापान्तः (उ० 49.1.1.3)** शाप+ङस्+अन्त+सु; तत्पुरुष, संज्ञा; प्रथमा, एकवचन; शापावसानम् (संजी०); शापस्यान्तः परिसमाप्तिर्भविष्यति (सुबोधा); 'शापस्य अन्तः शापान्तः' यहाँ 'शाप' शब्द अपराध या प्रमाद के कारण उत्पन्न आक्रोश से दिये गये दण्ड के अर्थ में आया है और 'अन्त' शब्द अवसान अर्थ में। 'शाप' का अर्थ चरित्रवर्धन ने 'कोपवचः' लिखा है। यह एक सामान्य अर्थ हुआ। 'कोपवचन' साधिकार-निरधिकार, भले-बुरे, बड़े-छोटे सभी बोल सकते हैं। यहाँ पर कैसे कोपवचन से आशय है? यह चरित्रवर्धन के अनुसार कुछ स्पष्ट नहीं होता। अन्य सभी टीकाकारों ने निग्रहवचन यानी दण्डादेश (Sentence) के अर्थ में इसे बताया है। भरतमल्लिक ने लिखा है—"शापेन निग्रहविधिना"। दक्षिणावर्तनाथ ने "निग्रह वचनं शापः" और पूर्णसरस्वती ने "शापो निग्रहवचनम्" लिखा है। इन अर्थों से भी यह बात पुष्ट हो जाती है कि जब कोई साधिकार व्यक्ति—जैसे राजा, महाराज, स्वामी, ऋषि, महर्षि या देवता अथवा गुरु—किसी अपराधी को दण्ड सुनाते थे, तो उस 'निग्रह वचन' (punishment) को 'शाप' कहा जाता था। यह शब्द ही √'शप् आक्रोशे' धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। मेदिनीकोश का कथन है—"शाप आक्रोशदिव्ययोः।" 'मेघदूत' में नायक को, जो कि राजराज कुबेर का अनुचर था, उसके प्रमाद (culpable negligence) के

कारण एक वर्ष के रामगिरिप्रवास का 'शाप' दिया गया था। यह 'शाप' स्वयं धनाधिप यक्षेन्द्र ने दिया था। यह एक प्रकार का साल भर का देशनिकाला या 'शहरबदर' (transportation for one year) था। सारा दण्ड भुगत लेने पर ही उस शाप का अवसान हो सकता था। यक्ष ने यहाँ उसी की ओर इङ्गित किया है। 'अन्त' के भी कई अर्थ हैं—'अन्तःस्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः।' अतः यहाँ पर 'शापान्त' का अर्थ 'दण्डभोगावसान' है।

1475 **शापेन (पू० 1.2.5.23)** शाप+टा, संज्ञा, तृतीया एकवचन, शापफलेन। निग्रहवचनं शापः (प्रदीपः); कोपवचस्तस्मात् (चरित्र०); शापो निग्रहवचनम् (विद्युल्लता); निग्रहविधिना (सुबोधा); शापेन वसतिं चक्रे इति च योजयन्ति, (सुबोधा०); क्रोधवश दण्डरूप) शाप से। कुबेर ने यक्ष को शाप दिया था कि वह एक वर्ष तक अपनी पत्नी से अलग रहे। भरत, सनातन, रामनाथ, हरगोविन्द और कल्याणमल्ल की टीकाओं में यक्ष के शाप के कारण बताते हुए कहा है कि कुबेर ने उसे अपना उद्यानपाल नियुक्त किया था, किन्तु पत्नी के साथ विलास करने के कारण उसने अपने कार्य में असावधानी की। किसी दिन इन्द्र का ऐरावत हाथी कुबेर के उद्यान में आकर उसे विध्वंस करने लगा, जिससे कुबेर कुपित हुए और अपराधी यक्ष को शाप दिया। सारोद्धारिणी टीका में शाप का कारण इस प्रकार लिखा है—कुबेर की आज्ञा थी कि प्रतिदिन प्रातःकाल यक्ष शिव की पूजा के लिए मानसरोवर से कमल लाकर दिया करे। पर प्रातःकाल अपनी प्रियतमा का साथ न छोड़ने से वह रात के रखे हुए कमल ही देने लगा। एक दिन ऐसा हुआ कि कमल-कोष में बैठे हुए भौंरे ने कुबेर की उँगली में डँस लिया। भेद खुलने पर कुबेर ने यक्ष को शाप दिया।

1476 **शार्ङ्गपाणौ (उ० 49.1.5.13)** शार्ङ्गपाणि+ङि, संज्ञा, सप्तमी, एकवचन, शार्ङ्गपाणौ यस्य स तस्मिन् शार्ङ्गपाणौ, विष्णौ। 'सप्तमी विशेषणे' इत्यादिना बहुव्रीहिः। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः; इति वक्तव्यात् पाणिशब्दस्य उत्तरनिपातः (संजी०); हरौ (पंचिका); विष्णौ (सुबोधा); शृंगस्य विकारः, शार्ङ्गपाणौ यस्य सः। तस्मिन्। शार्ङ्गपाणि विष्णु का नाम है, क्योंकि उनके हाथ में शर्ङ्ग=शृङ्ग का वना हुआ धनुष रहता है। ब०व्री० होने से वास्तव में 'पाणिशार्ङ्गः' समास होना चाहिए था, क्योंकि इसका विग्रह 'पाणौ शाङ्र्गं यस्य सः' है, किन्तु सप्तमी विभक्तिवाले पदों का प्रहरण (शस्त्र) अर्थ वाले शब्दों से साथ समास होने से 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' नियम से पाणि शब्द के परनिपात होने पर 'शार्ङ्गपाणि' वना, "पाणिशार्ङ्गः' नहीं। कवि ने 'शार्ङ्गपाणि' शब्द का बड़ा ही सप्रयोजन उपयोग किया है। 'शार्ङ्ग' नामक धनुष को हाथ में धारण करने वाले विष्णु भगवान् की ओर इङ्गित दण्डधारिता की दृष्टि से किया गया है। राजराज कुबेर से भी दण्डशक्ति की दृष्टि से अधिक शक्तिमान् व्यक्ति को द्योतित करने के लिए कवि ने 'शार्ङ्गपाणि' शब्द का प्रयोग किया है। इसका एक दार्शनिक पहलू भी है। विष्णुपुराण में कहा गया है कि 'ईश्वर' दो प्रकार के 'अहङ्कार' को धारण करता है—पहला है भूतादि—जिसे शंख के रूप में धारण करते है और दूसरा है इन्द्रियादि—जिसे शार्ङ्ग के रूप में धारण करते हैं—"भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाऽहङ्कारमीश्वरः। बिभर्ति शङ्खरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम्।।" पूर्णसरस्वती ने इस दार्शनिक पहलू की व्यञ्जनायें इस प्रकार स्पष्ट की हैं—तत्त्वदृष्ट्या निखिलेन्द्रियकारणभूततैजसाहङ्काररूपशार्ङ्गधरात् सकलेन्द्रियप्रवर्त्तकत्वेनापरिप्लुतदृक्स्वरूपस्य, लोकदृष्ट्या दुष्टनिष्टापनप्रकृष्टदिव्यायुधवहनाल्लोककण्टकखण्डनव्यापृतस्य कुतो निद्राप्रसङ्गः, कुतस्तरां च प्रबोधशङ्केति व्यज्यते। अतश्चातीतशरत्कालप्रारम्भे शापस्योपलम्भ इति गम्यते। तदानीञ्च तत्प्राप्तिः वर्षयन्त्रितानां प्रवर्तकत्वाच्छरदस्तदारम्भेऽप्यस्य दयितादिसङ्गेन निधिपालनादौ स्वाधिकारे प्रमादादित्यवसेयम्।

1477 **शार्ङ्गिणः (पू० 49.1.5.9)** शार्ङ्ग+इनि+ङस्; संज्ञा, षष्ठी एकवचन; कृष्णस्य (संजी०); विष्णोः (विद्युल्लता); विष्णोः (सुबोधा); शृङ्गस्य विकारः, शार्ङ्गम्। तदस्य अस्ति इति शार्ङ्गी, तस्य। सींग के धनुष को धारण करने

वाले, विष्णु। विष्णु नीले या काले (=साँवले) रंग के हैं। प्रत्येक देवता का शस्त्र अलग हैं। शिव पिनाक=धुनर्ष धारण करते हैं, विष्णु शार्ङ्गधनुष, तो कृष्ण सुदर्शन चक्र चलाते हैं। इन्द्र का आयुध वज्र है, तो कामदेव का फूल। इसी प्रकार अन्य देवताओं के शस्त्र भी पृथक्-पृथक् हैं। ग्रीक और रोमन पौराणिक कथाओं में भी देवताओं के शस्त्र आदि पृथक्-पृथक् ही माने गये हैं।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (12.70; 15.4) हुआ है।

1478 **शिखरम् (पू० 18.2.6.24)** शिखर+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; शृङ्गम् (चरित्र०); शृङ्गम् (संजी०); शृङ्गम् (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार में एक बार (5.7) हुआ है।

1479 **शिखरिदशना (उ० 21.1.3.5)** शिखरिन्+जस्+दशन+टाप्+सु; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; शिखरीणि कोटिमन्ति दशनानि यस्याः सा शिखरिदशना तथा सामुद्रे-स्निग्धः समानरूपः सुपंक्तयः शिखरिणः श्लिष्टः। दन्ताः भवन्ति यासां आसां पादे जगत्सर्वम् इति। पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः (प्रदीप); शिखराणि दाडिमबीजानीव दशना यस्याः सा। शिखरिणः कोटिमन्तो दशना दन्ता यस्या इति वा। शिखरं वज्र तद्वदुज्वलदर्शनाः इति वा। 'पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः' इत्यभिधानचिन्तामणिः (चरित्र०); शिखराणि येषां सन्ति इति शिखरिणः कोटिमन्तः, 'शिखरं शैलवृक्षाग्रकक्षापुलककोटिषु' इति विश्वः, शिखरिणो दशना दन्ता यस्याः सा, एतेन अस्याः भाग्यवत्त्वं पत्यायुष्करत्वं च सूच्यते, तदुक्तम् सामुद्रिके—

स्निग्धाः समानरूपाः सुपंक्तयः शिखरिणः श्लिष्टाः।
दंता भवन्ति यासां तासां पादे जगत्सर्वम्।।
ताम्बूलरसरक्तेऽपि स्फुटभासः समोदयः।
दन्ताः शिखरिणो यस्याः दीर्घं जीवति तत्प्रियाः।। (संजी०);

तीक्ष्णदन्ता (पंचिका); शिखरवत् कुन्द कुट्मलवत् दशना यस्या तादृशी, शिखरं शृङ्गमग्रच्चशिखरं कुन्दकुट्मल इति बलः। केचित्तु शिखरमग्रं तदतिशयेनाश्रास्तीति अतिशयेऽशीदित्वादत्; शिखरा अतिशयिताग्रा दशना यस्याः सा तथा दशनानां तीक्ष्णाग्रत्वेन शुभलक्षणं सूचितं; तदुक्तं पराशरसंहितायां स्त्री शुभलक्षणे समशितशिखरदशना चेती' त्याहुः। अन्ये तु शिखरदशना पक्वदाडिमबीजाभमाणिक्यसमदन्ता; यथा च विश्वः—

शिखरिदशना

शिखरं शैलवृक्षाग्रकक्ष्या पुलककोटिषु।
पक्वदाडिमबीजाभमाणिक्यशकलेऽपि चे" ति।।

"पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदु" रित्यनेकार्थकोषश्च।अतएवात्र शिखरशब्दो लोहित माणिक्य-वाचीत्याहुः। किन्तु दन्तस्य शुभ्रत्वमेव कविभिर्वर्ण्यते (सुबोधा)।

इससे यक्षपत्नी का सौभाग्य और सौन्दर्य व्यक्त किया गया है। 'समस्त उत्कृष्ट सामुद्रिक लक्षणों से युक्त होने पर भी उसे और मुझे यह विरह सहन करना पड़ा। कितनी विडम्बना है।' यह भाव भी इससे निकलता है। **शिखरदशना**—पा०भे०—शिखर मणि के समान दाँतों वाली।' यह मणि अनार के पके हुए दानों के समान होती है। अतः चिकने, सफेद और लाल दाँतों वाली। लाल दाँत करने के लिए पान चबाया हो सकता है। परन्तु प्रोषितभर्तृका के लिए यह कार्य वर्जित है। अतः 'मसूढों की और अधर की किरणों से लाल'—यह अर्थ ही करना पड़ेगा। अनुचित व्यञ्जना निकलने से यह पाठ प्रशस्त नहीं। साथ ही इस

पाठ में अधरों की लाली भाव लेने में 'पक्वबिम्बा०' के भाव की पुनरावृत्ति होती है। **अशिखरदशना**—पा०भे०—अविषमदशना (सारो)। अर्थात्—एक जैसे बराबर दाँतों वाली। इस पाठ में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है। नुकीले (तीखे) दाँतों वाली। शिखरिदशना पाठ पर सारो० ने "अथ च शिखरं पक्वदाडिमवीजाकारं माणिक्यं तद्वदुज्वलतया दशना: दन्ता: यस्या: सा इत्यधरौष्ठरागित्वम्" यह अर्थ दिया है। मल्लि० समुद्धत (शिखरिदशना की टीका में) सामुद्रिक शास्त्र के दो श्लोकों से यह निश्चित है कि नुकीले दाँतों वाली स्त्री भाग्यवती होती है और उसका पति चिरायु होता है। शिखराण्येषां सन्तीति शिखरिण:। शिखर+इन् (मत्वर्थे) तथाभूता: दन्ता: यस्या: सा (ब०व्री०)। मल्लिनाथ ने 'शिखरिदशना' पाठ माना है और 'शिखरिन्' का अर्थ 'कोटिमान्'। सारोद्धारिणीकार ने 'अशिखरदशना' पाठ मानकर 'अविषमदशना' यानी मिले हुए 'वरावर-वरावर दाँतों वाली' अर्थ किया है। परन्तु ये दोनों ही पाठ असमीचीन हैं। प्राचीनतम पाठ वल्लभदेव का है और उन्होंने 'शिखरदशना' ही दिया है। दूसरे इसके बड़े ही सुन्दर और साहित्यिक अर्थ निकलते हैं। भरतमल्लिक ने उन अर्थों को प्रस्तुत किया है। 'शिखर' शब्द 'कुन्दकुड्मल' के अर्थ में वलकोश के आधार पर आता है। कुन्दकुड्मल से दाँतों की तुलना प्रायश: प्रस्तुत की जाती है। दूसरा अर्थ 'अत्यन्त तीक्ष्ण नोक वाले' का है। साथ ही पराशरसंहिता में इस प्रकार के दाँतों की प्रशंसा भी की गई है। 'विश्वप्रकाश' के अनुसार पके हुए अनार के दानों के तुल्य माणिक्य के टुकड़ों को 'शिखर' कहते हैं। 'अनेकार्थकोश' में भी यह अर्थ दिया हुआ है। यह तीसरा अर्थ और भी अधिक हृदयग्राही है। पूर्णसरस्वती ने हलायुधकोश को उद्धृत करके इसी तीसरे अर्थ की पुष्टि की है और 'शिखरदशना' पाठ माना है—"शिखरदशना। 'पक्वदाडिमवीजाभं माणिक्यं शिखरं विदु:।' इति हलायुध:। शिखराख्यमाणिक्यविशेषवत् स्निग्धधवलारुणदन्तीत्यर्थ:। 'श्लक्ष्णै: स्निग्धै: सितैर्दन्तै: शोभनत्वं च गच्छति'—इति सामुद्रोक्ते:।" 288040

1480 शिखरिषु (पू० 13.3.13.36) शिखरिन्+सुप्; संज्ञा, सप्तमी, वहुवचन; पर्वतेषु (चरित्र०); पर्वतेषु (संजी०); न पुनर्नगमात्रेषु; गगनसरणिविततततुङ्गभृङ्गाणामेव त्वदुपगमयोग्यत्वमितिभाव: (विद्युल्लता); सखेदस्य विश्रामो युक्त इति शिखरिषु पदं न्यस्येत्युक्तुम्। तथाहि—"पथि विश्रम्य गन्तव्यं" विश्रामाज्जायते वल" मिति: अन्यथा अबलत्वाद् गमनाभावे मत्कार्यस्यासिद्धिरित्याकूतम्। सोऽयं नभोगामित्वादस्य शिखरवास एवोचित:? ननु कथं कथं शिखरिष्विति प्रतिज्ञायते? "हर्म्येष्वस्या: कुसुमसुरभिष्वध्वखिन्नान्तरात्मा त्यक्त्वा खेद" मिति, "तां कस्यांचिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायां नीत्वा रात्रि" मिति चाशिखरिण्यपि वासं वक्ष्यति? उच्यते समुचितमार्गे गिरय एव वक्तव्या: असमुचितमार्गे अन्यत्रापि स्थिति:। वक्ष्यति च "वक्र: पन्था यदपि भवत: प्रस्थितस्योत्तराशां सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा च भूरुज्जयिन्या" इति। अतएव समुचितमार्गापेक्षया शिखरिष्विति प्रायेवृत्या वा बोद्धव्यम् (सुवोधा)।

कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'वृक्षों पर' करते हैं। यह उचित नहीं; क्योंकि वृक्ष वादलों के विश्राम के उपयुक्त नहीं।

1481 शिखादाम (उ० 31.1.5.10) शिखा+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; शिखादाम; चूडाशेखरम् (पंचिका); शिखादामचूड़ामणि (सुबोधा); शिखादामचूड़ास्रजमिति च व्याचक्षते। पुष्परचितचूडामणि: शिखादामपुष्प चूड़ामणिधीरै: शिखादामिनि कीर्त्यते इति रन्तिरिति केचित्। कुसुमवन्धनी केशलता शिखा, तत्र दाम माल्यमिति (सुबोधा०); चोटी, वाल, वेणी। (सुधीर०)

मल्लिनाथ ने 'शिखा' और 'दाम' को अलग-अलग पद माना है। मल्लिनाथ ने 'शिखादाम' को समस्त न मानने का कोई हेतु नहीं दिया है। दक्षिणावर्तनाथ ने कुछ हेतु दिये हैं। परन्तु उन्होंने 'शिखादाम' की जगह 'शिरोदाम' पाठ माना है—"शिरोदाम हित्वेति पाठ:। शिखादाम हित्वेति पाठे शिखाशब्द: शिर: शब्दपर्यायो न

भवति। 'घृणिज्वाले अपि शिखे' इत्यमरसिंहवचने शिखा ज्वालाकेकि मौल्यो' रिति यादवप्रकाशवचनेऽपि शिखाशब्दस्य शिर: शब्दपर्यायत्वादर्शनात्। आशय यह कि अमरकोश या यादवकोश दोनों में 'शिखा' का अर्थ सिर नहीं होता। अत: 'शिखादाम' का अर्थ शिरोमाल्य नही हो सकेगा और त्याग उसी का हो सकता है। अत: उन्होंने अपनी ओर से 'शिरोदाम' पाठ कर दिया। परन्तु यह पाठ-परिवर्तन का ढंग नितान्त स्वातन्त्र्यपूर्ण एवं अवैज्ञानिक है। भरतमल्लिक ने 'शिखादाम हित्वा' पाठ माना है और दो-दो कोशों का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। 'शिखादाम' का अर्थ 'शर्वकोश' के अनुसार 'चूड़ामणि' है तथा 'रन्तिकोश' के अनुसार 'पुष्प चूड़ामणि' है। 'कौमुदी' के अनुसार अलकों की पुष्पगुम्फिनी लट को 'शिखा' कहते हैं और उसमें खोंसी जाने वली माला को 'शिखादाम' कहेंगे। यही अर्थ पूर्णसरस्वती ने भी लिया है-"धम्मिल्ल भूषणभूतनवकुसुममालिकाम्।" वल्लभदेव ने भी 'चूडाशेखर' अर्थ करके इसी पक्ष का समर्थन किया है। दक्षिणावर्तनाथ की बात यों भी ठीक नहीं है। क्योंकि हलायुधकोश के पञ्चमकाण्ड के 799वें श्लोक में 'शिखा' शब्द को शिरोवाची भी माना गया है-"चूडाशिखे शिरस्यापि।" भरहुत की यक्षी की चोटी में मौलसिरी के फूलों की माला है (कनिंघम-'भरहुत' प्लेट 52)। डा० मोतीचन्द्र का कहना है ("गन्धार की मूर्तियों और अर्धचित्रों से पता चलता है कि) स्त्रियाँ अक्सर अपने बाल शेखरक से सजाती थीं।" ["प्राचीन भारतीय वेशभूषा"-पृ० III]। अत: 'शिखादाम' पद अधिक उपयुक्त एवं सत्य पर प्रकाश डालने वाला है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में एक बार (5.2) हुआ है।

1482 **शिखिनाम् (उ० 43.2.7.20)** शिखिन्+आम्; संज्ञा, षष्ठी, बहुवचन; मयूराणाम् (चरित्र०); बर्हिणाम् (संजी०); मयूराणाम् (पंचिका); मयूराणां, यद्यपि बर्हशब्देनैव मयूरपिच्छमुच्यते तथापि शिखिनामिति तत्र स्थित्यर्थमुक्तम् (सुबाधा); "न पुन: शिखिन:। तेन तेषामपि प्रावृषि प्रभूतमदानाम् अरोगाणां बहूनाम्मध्ये केषाञ्चिदेव शबराद्यनुल्लुञ्चितेषु पिच्छकलापेषु केषुचिद् धनतरायतस्निग्धनीलमृदुलेष्वेव साम्यसिद्धे: तथात्वस्य दु:खोपलभ्यत्वं प्रकाश्यते।" पूर्णसरस्वती ने इस प्रकार इस 'पद' की उपयोगिता स्पष्ट कर दी है; अन्यथा बर्ह-मात्र से पिच्छ अर्थ उपलब्ध हो जाने के कारण यह स्पष्ट ही 'अधिकपद' माना जाता।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (13.27) तथा ऋतु० (2.14) में एक-एक बार हुआ है।

1483 **शिञ्जावलयसुभगै: (उ० 18.3.10.52)** शिञ्जाप्रधान+जस्+वलय+भिस्+सुभग+भिस्; मध्यमपदलोपि तत्पुरुष; विशेषण, तृतीया, बहुवचन; शिञ्जा शिञ्जितम्। शिञ्जावन्ती वलयानि शिञ्जावलयानि। शाखावृक्षवत्समास: (प्रदीप); शिञ्जा शिञ्जितम्। तद्युक्तानि वलयानि तै: सुभगै: रम्यै: (चरित्र०); शिञ्जा भूषणध्वनि:। 'भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमर:। भिदादित्वात् अङ्। शिञ्जिधातुरयं तालव्यादिर्न तु दन्त्यादि:। शिञ्जाप्रधानानि वलयानि तै: सुभगा रम्यास्तै: (संजी०); शिञ्जान कनककटकमनोहरै: (पंचिका); शिञ्जेरात्मनेपदित्वात् शिञ्जतीति प्रयोग: प्रमादज:, अनित्यो वा अनुदात्तेदात्मनेपदविधि: (पंचिका) क्वणत्कङ्कणमनोहरै:। शिञ्जादिति क्वचिदात्मनेपदिनोऽपि परस्मैपदं स्यादिति शतृ:। परिष्वजति पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दन "मित्यादयो बहव: प्रयोगा दृश्यन्ते। शिञ्जेर्घञर्थेक:, तत: क्वि:, तत: शतृरित्यन्ये (सुबोधा); सिञ्जद्वलय, शिञ्जद्वलय-पा०भे०। मल्लिनाथ ने ठीक ही लिखा है कि यह धातु √शिञ्ज् है। √सिञ्ज् नहीं। अपि च-यह धातु आत्मनेपद है। अत: ये दोनों ही पाठ अशुद्ध हैं। सिञ्जद् रूप की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। सिञ्जद् के स्थान पर शिञ्जान रूप होना चाहिए। वल्लभ लिखते हैं कि यह प्रयोग कवि ने प्रमाद से किया है। अथवा, यह समझना चाहिए कि आत्मनेपद विधायक नियम की विधि अनित्य है। उस नियम के प्रतिकूल भी प्रयोग मिल

सकते हैं। अतः शिञ्जद् पाठ को भी स्वीकार किया जा सकता है। अन्य टीकाकार शिञ्जः (√शिञ्ज्+अच्) इव आचरति इति शिञ्जति।' इस नामधातु से शतृप्रत्यय लगाकर 'शिञ्जद्' रूप सिद्ध करते हैं। परन्तु माधव इस प्रक्रिया से असन्तुष्ट होकर लिखते हैं—'ननु शिञ्जाजृम्भादिभ्यः शब्देभ्यः आचारक्विबन्तेभ्यश्च परस्मैपदानि' सिध्यन्ति। तत्किमनेन। सत्यं शब्दाः सिध्यन्ति अर्थास्तु सहृदयहृदयंगमा न भवन्ति।' भाव यह है कि इस प्रकार शब्द तो सिद्ध हो जाता है, पर उससे उचित भाव नहीं निकल पाता है। अतः यह प्रकार माननीय नहीं। **सभ्रूभंगं करतललयैः**—पा०भे०। लय का लक्षण—'गीतवाद्यपादन्यासानां क्रियाकालयोः साम्यम्' किया जाता हैं। तबले के बजाने और पैरों के रखने के साथ संगीत के विरामों को 'लय' कहते हैं। अतः इस पाठ का अर्थ—भौओं के भंग (=मटकाने) के साथ हाथों की लय से'—हुआ। यह पाठ यक्षपत्नी की मयूर में आसक्ति और उसे नचाने में आनन्द तथा भावानुसारी अभिनय को प्रकट करता है। (तुलना करो उ०रा० 3.19)

भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः प्रचलितचतुरभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि।।

भवभूति के इस पद्य पर कालिदास के प्रकृत पद्य की छाप है। इसका 'करकिसलयतालैः पाठ 'तालैः शिञ्जा०' पाठ की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है। अपि च इस पाठ के 'ताल' पद से भी उपयुक्त सभी ध्वनियाँ निकल आती हैं।

यह 'तालैः' का विशेषण है। 'शिञ्जा' भूषणों की ध्वनि (झनझनाहट) को कहते हैं; देखिये अमरकोश—'भूषाणानान्तु शिञ्जितम्' तथा विक्रमो० IV.14. 'नेदं नूपुरशिञ्जितम्'। इसके पाठान्तर 'शिञ्जद्वलय-सुभगैः' या 'सिञ्जद्वलय' है। श्री मोरेश्वर काले 'शिञ्जद्वलय सुभगैः' इस पाठ में शिञ्ज् धातु बताते हैं, किन्तु यह अदा० की आत्म० धातु है। अतएव व्याकरणानुसार इसका शत्रन्त 'शिञ्जत्' न होकर शानजन्त 'शिञ्जान' होना चाहिए था। सम्भवतः इसी कठिनाई से बचने के लिए मल्लिनाथ ने 'शिञ्जावलयसुभगैः' यह पाठ दिया है। वल्लभ जो मल्लि० से प्राचीनतर है कहता है—शिञ्जेरात्मनेपदित्वाच्छिञ्जदिति प्रयोगः प्रमादजः। अनित्यो वानुदात्तेन आत्मनेपदविधिः।' सारोद्धा० में 'शिञ्जद्वलयसुभगैः' इस पाठ के सम्बन्ध में ऐसा विवेचन किया गया है—*शिञ्जतेरात्मनेपदित्वात् शानचा भवितव्यम्। अतः शिञ्जदित्यसाधुपदम्। अत्र* समधीयते। √शिजि अव्यक्ते शब्दे। अतएव शिङ्क्ते। पचादित्वादच् (शिञ्जः)। स इवाचरतीति। क्विब्लोपे सति परस्मैपदम्। शिञ्जदिति वर्तमाने शतृ। श्री वसन्त रामचन्द्र नेरूरकर भी 'शिञ्जत् और 'सिञ्जत्' को शिवज ओर सिवज (झनझनाहट) इन शब्दों से नामधातु (शिवज इवाचरति) बनाकर उसका शत्रन्त रूप देते हैं। इसका पाठान्तर 'सभ्रूभंगं करतललयैः' मोरेश्वर काले ने दिया है। 'सभ्रूभङ्गम्' का अर्थ है—तेवरी चढ़े हुए, इसका यहाँ क्रियाविशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। 'करतललयैः' में 'लयैः' का अर्थ है—'गीतावाद्यपादन्यासानां क्रियाकालयोः साम्यम्।' अर्थात् संगीत में बाजे तथा पैरों का क्रिया और समय की दृष्टि से चमत्कारपूर्ण साम्य—समन्वय—, एवं 'करतललयैः' का अर्थ हुआ तालियों द्वारा क्रिया और काल की दृष्टि से साम्य। शिञ्जद्व०—व्याकरण की दृष्टि से इस पाठ की अपेक्षा 'शिञ्जावलयसुभगैः' ही ठीक है। दोनों का समास विग्रह—(क) 'शिञ्जन्ति तानि वलयानि च शिञ्जद्वलयानि; तैः सुभगाः तैः शिञ्जद्वलयसुभगैः।' (ख) शिञ्जा प्रधानानि वलयानि शिञ्जावलयानि। समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसङ्ख्यान-मुत्तरपदलोपश्च"—इति वार्तिकेन प्रधानलोपः। तैः सुभगास्तैः शिञ्जावलयसुभगैः। यहाँ पर √'शिजि' आत्मनेपद धातु है। अतः शत्रन्त रूप को टीकाकारों ने प्रमादज या च्युतसंस्कृति माना है; क्योंकि '√शिजि अव्यक्ते शब्दे' और 'पृच्यन्ता अनुदात्तेतः' के आधार पर आत्मनेपद है और इसी से उसका शानजन्त रूप होना चाहिए

1488 **शिलावेश्मभि: (पू० 26.4.16.69)** शिला+आम्+वेश्म+भिस्; तत्पुरुष, विशेषण, तृतीया, बहुवचन; शिलाग्रहै:। अयमभिसन्धि:—पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारीणि यस्य शिलावेश्मानि दृष्ट्वा तत्रत्या: जना: एवं विस्मयन्ते—'अहो नागरिकाणां यौवनानि' यत: पण्याङ्गना अपि पणप्रदानं विना स्वसौभाग्येन वशीकृत्य स्वैरं एतेषु शिलागृहेषु भुञ्जन्ते (प्रदीप); पाषाणगृहै:। पाषाणप्रस्तरग्रावो पलाशमान: शिलादृशत्' इत्यमर: (चरित्र); कन्दरै: (संजी०); दरीगृहै: (विद्युल्लता); पाषाणगृहै: कन्दरै: (सुबोधा)।

1489 **शिशिरमथिताम् (उ० 22.4.21.37)** शिशिर+टा+मथित+टाप्+अम्; तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; हिमसम्पर्कविशीर्णाम्। अस्यार्थस्य मूलं 'हिमहतनलिनीव नष्टशोभामिति वचनात्। अनेन श्रीरामायणवचनार्थानुसारेण कवे: पूर्वोक्तो रामकथाभिलाष: स्पष्ट: (प्रदीप); शिशिरेण शिशिरकालेन मथिताम् (संजी०); शिशिरदग्धाम् (पंचिका); हिमविलोडितां (सुबोधा); मल्लिनाथ ने शिशिर को शिशिर ऋतु= सर्दी ही माना है। सु० वि० इसका अर्थ 'हिम-दग्धा' करते हैं। सारो० का पाठ 'तुहिनमथिताम्' है। 'पद्मानां शिखिरो भयम्' इस सुभाषित में शिशिर ऋतु को पद्मों के लिए दु:खदायी माना है। शिशिर का अर्थ हिम, तुहिन (=पाला) भी किया जा सकता है। तुलना करो—रघु० 8.45; 16.7; मृच्छ० 9.19; स्वप्नवासवदत्ता 5.1 आदि। इस कल्पना को कवि ने वाल्मीकि की इन पंक्तियों से ग्रहण किया है—

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा व्यसनपरम्परया निपीऽयमाना।
सहचररहितेन चक्रवाकी जनकसुता कृपणां दशाम्प्रपन्ना।।

—वाल्मीकीय रामायण (सु० 16.30)

1490 **शीघ्रसम्पातहेतो: (उ० 20.1.4.12)** शीघ्रसम्पात+सु+हेतु+ङस्; कर्मधारय; संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; तीव्रसम्पातहेतो: (प्रदीप); शीघ्रं यथा स्यात्तथा सम्पात: संचरणं तद्धेतो: (चरित्र०); शीघ्रसम्पात एव हेतुस्तस्य, शीघ्रप्रवेशार्थमित्यर्थ:, 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी; 'सम्पात: पतने वेगे प्रवेशे वेदसाम्विद' इति शब्दार्णवे (संजी०); **तत्परित्राणहेतो:**—तस्यास्त्वत् सख्या: परित्राणहेतो रक्षाकारणात्। तत्परित्राणहेतोरिति अन्तर्भवनपतितां कर्तुमित्यत्रापि योज्यम् (सुबोधा); हेतु पद के प्रयोग में षष्ठी आती है। अत: यहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है। मल्लिनाथ के मत में 'शीघ्र प्रवेश करने के निमित्त'। छोटे शरीर से यक्षगृह में प्रवेश सुकर और सम्भव था, बड़े शरीर से नहीं। श्री काले 'संपात' का अर्थ 'उतरना' लगाते हैं। छोटे आकार वाली और गठीली वस्तु बहुत जल्दी नीचे उतर आती है। मेघ को आकाश में से उतरना था। अत: उसे अपना आकार छोटा बनाना आवश्यक था। वस्तुत: यहाँ दोनों ही भाव अभिप्रेत है; मेघ का प्रधान उद्देश्य यक्षपत्नी के पास पहुँचना था। यक्ष-गृह में प्रवेश के लिए भी लघु आकार की आवश्यकता थी। अत:—'शीघ्रता से उतरने और घर में प्रवेश के निमित्त'—यही अर्थ उपयुक्त है। **तत्परित्राण**हेतो:—'पा०भे० तस्या: मत्प्रियाया: परित्राणस्य हेतो:। मेरी प्रिया को बचाने के निमित्त। इस पाठ से 'कलभतनुतां गत्वा' का प्रयोजन ज्ञात नहीं होता। अपि च—यह पाठ कालिदास की शैली का प्रतीत नहीं होता। सम्पूर्ण काव्य में अन्यत्र कहीं भी इस प्रकार सीधे शब्दों में 'परित्राण' की प्रार्थना यक्ष ने नहीं की है। वह सन्ताप-निवारण (पू०मे० 7), सुख देने (उ०मे० 28), आश्वासन देने (उ०मे० 53) और धैर्य बँधाने (उ०मे० 49) तथा अपने जीवन और प्रेम के विषय में विश्वास दिलाने (उ०मे० 52) के लिए ही सन्देश भेजता है। पू०मे० 4 के 'दयिताजीवितालम्बनार्थी' पद का व्याख्यान भी इसी धारा में करना उचित होगा। उसे तो विश्वास है कि वह 'अव्यापन्ना' (पू०मे० 9) होगी, परित्राण की रक्षा की प्रार्थना कैसे करता।

शीघ्रं सम्पात: शीघ्रसम्पात: [अत्र "सह सुपा" (2.14) इत्यनेन सुप् सुपेति समास:]। 'शीघ्रसम्पातस्य हेतो:'—इति प्रयोगस्थाने समस्त: प्रयोग: कृत: कविना। शीघ्रसम्पात एव हेतुरिति शीघ्रसम्पातहेतुस्तस्य।

शीघ्रसम्पातहेतो:। यहाँ पर षष्ठी मल्लिनाथ के अनुसार "षष्ठी हेतुप्रयोगे" सूत्र के अनुसार है। परन्तु इस पर शारदारञ्जन राय ने कुछ कटाक्ष करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि यह नियम यहाँ लगता ही नहीं और विस्तारार्थ "विश्रामहेतो:" की टिप्पणी की ओर निर्देश किया है। उनके द्वारा वहाँ दिया गया हेतु यह है—"Here the rule षष्ठी हेतुप्रयोगे dose not at all apply, for this rule does not regulate the षष्ठी in हेतुशब्द but that in the word of which the हेतुत्व is implied (द्योत्य)" परन्तु यह कथन नितान्त भ्रामक है। काशिकावृत्ति में सूत्र को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"हेतो: प्रयोगो हेतुप्रयोग: हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी विभक्तिर्भवति अन्नस्य हेतोर्वसति।" यहाँ पर हेतुशब्द का प्रयोग और हेतु की द्योत्यता अर्थात् सूचनीयता दोनों अभीष्ट हैं। भट्टोजि दीक्षित ने काशिका के अनुसार लिखा है--हेतुशब्द प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति।" इसी पर ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने दो मत उद्धृत किये हैं। एक के अनुसार--अन्न शब्द में षष्ठी 'हेतौ द्योत्ये' के कारण होती है। दूसरे के अनुसार--अन्य शब्दों से षष्ठी न हो, इसलिए 'हेतौ द्योत्ये' कहा गया है। यहाँ हेतु शब्द में भी षष्ठी इसी सूत्र से होती है। ज्ञापक है "सर्वनाम्नस्तृतीया च" की वृत्ति। अपेक्षित उक्तियाँ हैं--"अत्र 'हेतौ'—इत्यनुवर्तते तदाह हेतौ द्योत्य इति। अन्नस्येति। 'हेतौ'—इति तृतीयायां प्राप्तायामनेन षष्ठी। हेतु--प्रयोगे किम्? अनेन वसति। हेतौ द्योत्ये किम्? अन्नशब्दात् षष्ठी यथा स्यादित्येके। अन्नस्य हेतो स्तुभ्यं नम इत्यत्र युष्मच्छब्दान्मा भूदित्यन्ये। × × × पंचम्यां तु हेतुशब्दात् षष्ठी-तृतीये न स्यातामित्याशयेनाह-सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य चेति।" अतिः स्पष्ट है 'पदान्त' में षष्ठी इसी सूत्र से हुई है न कि शारदारंजन राय के अनुसार यहाँ षष्ठी "शेषे षष्ठी" से है (पृ० 103)। श्री शारदारञ्जन राय जी को ज्ञात होना चाहिए कि सूत्र "षष्ठी शेषे (2.3.50)" है, न कि 'शेषे षष्ठी' जैसा कि वे उद्धृत करते हैं। यहाँ कारक और प्रातिपादिकार्थ से व्यतिरिक्त स्व-स्वामिभावादि सम्बन्ध है ही नहीं। यहाँ तो हेत्वर्थक षष्ठी होने से कारकता का विषय है। इस प्रकार यह 'षष्ठी शेषे' का विषय नहीं है और यहाँ मल्लिनाथ ने शास्त्रानुसार लिखा है। 'सम्पात' का यहाँ पर 'प्रवेश' अर्थ अभीष्ट है—"सम्पात: पतने वेगे प्रवेशे वेदसंविदे" (शब्दार्णव)। जिस प्रकार मल्लिनाथ ने स्पष्ट किया है। समास में भी कोई बाधा नहीं है। अत: शारदारञ्जन जी का समास-क्षेप भी अनुचित ही है। भरतमल्लिक के अनुसार यहाँ पर "तत्परित्राणहेतो:" पाठ है और वहाँ भी षष्ठी उक्त सूत्र से ही है।

1491 **शीत:** **(पू० 45.4.11.38)** शीत+सु, विशेषण, प्रथमा, एकवचन त्वन्निष्यन्देत्यनेनैव शैत्यहेतो: प्रसङ्गात् (विद्युल्लता); इतस्ततो विकीर्ण निष्यन्दशीतलीभूत: (सुबोधा)।

1492 **शुक्लापाङ्गै:** **(पू० 23.3.12.27)** शुक्लापाङ्ग+भिस्, संज्ञा, तृतीया बहुवचन; मयूरै: 'मयूरो बर्हिणो बर्ही शुक्लापाङ्ग: शिखावल:' इति **यादव:** (प्रदीप); मयूरै: (चरित्र०); मयूरै:; 'मयूरो बर्हिणो बर्ही शुक्लापाङ्ग: शिखावल' इति **यादव:** (संजी०) "शुक्लापाङ्ग; शिखावल:' इति **वैजयन्ती** (विद्युल्लता); मयूरै: (सुबोधा); "शुक्लापाङ्गो मयूर: स्यात् प्रचलाकी भुजङ्गभुक्" इति **केशव:** (सुबोधा)

शुक्लौ अपाङ्गौ येषां तै:। मोर। यह भारत के अनेक स्थानों में पाया जाता है। वर्षा ऋतु में इसे विशेष मस्ती आती है। मयूरों के अपाङ्ग (नेत्र-प्रान्त, कनखियाँ) श्वेत होते हैं। इसलिए उनको शुक्लापाङ्ग कहते हैं।

1493 **शुद्धस्नानात्** **(उ० 30.2.4.15)** शुद्ध+सु+स्नान+ङसि; कर्मधारय; संज्ञा पंचमी, एकवचन; गन्धामलकादिरहित-स्नानात् (प्रदीप); तैलादिरहितस्नानात् (संजी०); पानीयमात्र भिषेकेण (पंचिका); यदि हि सा मङ्गलार्थ कदाचित् स्नाति तत्सुरभितैलामलकादिशून्येन तोयमात्रेण (पंचिका); ऋतुशुद्ध्यर्थ स्नानाद्धेतो: ऋतुस्नाता हि रागवती भवति (सुबोधा); शुद्धस्नानादित्यस्य निश्वासेनेत्यनेन च पुरुषमित्यनेन काकाक्षिगोलकन्यायेन सम्बन्धो बोध्य: प्रोषितभर्तृकाणामृतुस्नाने दु:खनिश्वासो भवत्येव। तथा च—

ऋतुस्नाताः सनिःश्वासं स्मरन्ति गतभर्तृकाः
कान्तमत्यन्तसंजातमदनावेशविक्लवाः।। इति।।

विरहिण्या अलकपुरुषत्वादिकं युक्तमेव; तथा च–

न भूषणं नैव मृजा नालकानाञ्च कर्तनम्
नानुलेपं न संस्कारं कुर्वन्ति प्रोषिते पतौ।। इति।। (सुबोधा)

तेल, उबटन, गन्धमय द्रव्य आदि के प्रयोग से रहित केवल जल से स्नान के कारण। प्रोषितभर्तृका स्त्री के लिए केवल शुद्धस्नान का विधान है। देखिये–याज्ञ० स्मृ० 1.84 क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका।।' अथवा इस श्लोक में आगे 'मत्सम्भोग' पाठ की उपपत्ति के लिए यहाँ 'शुद्धस्नान' से ऋतुकालानन्तरीय स्नान लेना चाहिए; क्योंकि 'ऋतुस्नाता' के लिए पति-सम्भोग का विधान है। मल्लिनाथ ने शुद्ध स्नान का अर्थ तैलादि से रहित स्नान माना है–"शुद्धस्नानात् तैलादिरहितस्नानात्।" इनके अनुसार इसका समासविग्रह–"शुद्धंच तत् स्नानंच शुद्धस्नानं तस्मात्।" पूर्णसरस्वती के अनुसार शुद्धस्नान का तात्पर्य तैल; आमलकी आदि के प्रयोग से रहित व्रत के लिए किये गये स्थान से है– "शुद्धस्नानात् स्नेहायञ्जनस्नानीयलेपविरहेण नियमार्थम् अभिषेकात्।" इन दोनों टीकाकारों ने शुद्ध का अर्थ केवल लिया है, परन्तु भरतसेन ने इसका अर्थ 'पूत' लिया है–"शुद्धः केवलपूतयोः"–(अनेकार्थसंग्रह)। उन्होंने पवित्र होने के लिए किये गये स्नान का अर्थ लिया है। उनका आशय ऋतुस्नान से है। उनके अनुसार समासविग्रह–'शुद्धाय स्नानं शुद्धस्नानम्' है। परन्तु इस प्रकार के अर्थ को देने के बाद उन्होंने भी मल्लिनाथ और पूर्णसरस्वती आदि की तरह का ही अर्थ किया है। वस्तुतः मल्लिनाथादि का अर्थ कम समीचीन नहीं है। दूसरी अर्थ की अन्विति कवि को कम अभीष्ट नहीं; क्योंकि दूसरे दल का अर्थ उसी पर पूर्णतः आधारित है।

1494 **शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्** (**पू० 55.4.18.55**) शुभ्र+सु+त्रिनयन+ङस्+वृष+टा+उत्खात+टा+पङ्क+टा+उपमेया+अम्; तत्पुरुष; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; कामपि वधूं भुक्त्वा तस्या एव जन्मगृहे गन्धादिभिः श्रममपहर्तुः जामातुः कान्तिरत्र ध्वन्यते (प्रदीप); शुभ्रो दीपश्च असौ त्रिनयनस्य शम्भोर्वृषेण वलीवर्देन उत्खातश्चासौ पङ्कश्च तेन उपमेयां उपमातुमर्हा योग्याम् (चरित्र०); शुभ्रमुद्दीपशुक्लयो इत्यमरः (चरित्र०); शुभ्रो यः त्रिनयनय स्यत्र्यम्बकस्य वृषो वृषभः, 'सुकृते वृषभे वृषः' इत्यमरः; तेन उत्खातेन पङ्केन सह उपमेयां उपमातु महीम्; त्रिनयन इत्यत्रपूर्वपदात् संज्ञायामगः इति णत्वं न भवति; 'क्षुम्नादिषु च' इति निषेधात् (संजी०); कैलासगौरेण परमेश्वरवाहनपुङ्गवेन क्रीडया शृङ्गाग्रोद्धृतनदीतटपङ्केनोपमातुयोग्याम्। वृषाणां पङ्कोत्खननं च स्वभावः; यथा रघुवंशे–'मेदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः' इति, 'शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः' इति च। हर्षचरिते च 'प्रकटकलङ्कमुदयमानं विशङ्कटविषाणोत्कीर्णपङ्काङ्क-शाक्वरककुदसंकाशम्' इति। (विद्युल्लता); शुभ्राम, उज्जवलां त्रिनयनस्य महादेवस्य वृषेण उत्खात उत्पाटितः शृङ्गाग्रधारितो यः पङ्कः कर्दमस्तेन उपमेयाम् उपमार्हां सदृशीम्। "शुभ्रमुद्दीप्तशुक्लयो" रित्यमरः। त्रिनयनवृषोत्खातेत्यत्र पङ्कोत्खननस्यान्यथा असम्भवादुपमानोपमेयवलाच्च शृङ्गप्रतिपत्तिः उपमानोपमेयता च हिमालयस्य शुक्लत्वात् शृङ्गलग्नस्य मेघस्य श्यामत्वात्। केचित्तु शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयामिति पठित्वा शुभ्रशब्दस्य उज्जवलार्थस्य पङ्कविशेषणत्वेन सङ्गतिः कार्या; त्रिनयनवृषस्य शुभ्रत्वाव्यभिचारेण विशेषणसमासासम्भवात्, पङ्कस्य उद्दीप्तत्वं श्यामत्वोत्कर्ष इति व्याचक्षते। पङ्केनोपमानात् "भर्तृभक्तो भटः श्ववे" त्यादिवत् हीनोपमा दोषो न वाच्यः, "वृषोऽयं भगवान् धर्म" इति नन्दिकेश्वरपुराणम्" तेन तदुद्धृतपङ्कस्य प्रशस्तत्वात् (सुबोधा०); शुभ्र; यः त्रिनयनस्य वृषः, तेन उत्खातः या पंकः तेन सह उपमेयाम्। शिवजी की तीन आँखें मानी गई हैं (देखो

त्र्यम्बक पद)। उनका बैल भी सफेद रंग का है। अपनी खिलवाड़ में वह मिट्टी के टीले आदि से टक्कर मारता है। अतः उसके शरीर पर काली-काली कीचड़ लग जाती है। इधर हिमालय सफेद है और काला बादल उसकी चोटियों पर बैठा हुआ है। अतः दोनों समान दिखाई पड़ते हैं। शिवजी की तीसरी आँख के सम्बन्ध में श्री कर्मकर ने महाभारत के अनुशासन-पर्व से यह कथा दी है—एक बार पार्वती ने उपहास में शिवजी की दोनों आँखों को ढक लिया। पार्वती के ऐसा करते ही जगत् अंधा हो गया। शिवजी ने अपनी तीसरी आँख खोली। इससे आग की लपटें निकलने लगीं। हिमालय ही सबसे पहिले उसका ग्रास बना था। कामदेव भी शिव की तीसरी आँख से जला था (देखो—कु०स० 3.72)।

'तस्याः प्रभवम्' से मल्लिनाथ और दक्षिणावर्त ने भी हिमालय पर मेघ की क्रीड़ा को श्वशुरालय की क्रीड़ा होने की ध्वनि निकाली है। भाव यह है—गंगा नदी है। अतः वह मेघ की पत्नी है। हिमालय उसकी पत्नी का पिता होने से उसका श्वसुर है। अतः हिमालय पर आगमन मेघ का ससुराल में आना है। ससुराल में साले-सालियों आदि से मनोविनोद किये जाने की प्रथा प्राचीन ही है। शिवजी का बैल (नन्दी) श्वेत वर्ण का है। वह अपने सींगों से खोदकर कीचड़ अपने ऊपर फेंका करता है। उसके शरीर पर फेंके गये कीचड़ की हिमालय पर्वत की चोटी पर स्थिल बादल के साथ उपमा दी गई है। नन्दी के श्वेतरंग के लिये देखिये—'कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः' रघु० II.35. हाथियों के समान बैल या साँड भी टीलों से या पहाड़ों के अग्रभाग से मिट्टी खोद-खोद कर अपने ऊपर डालते हैं। देखिये उ०मे० 53—'शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खात-कूटान्निवृतः'। और देखिये—रघु० XIII.47. शृंगाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः बध्नाति में बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः'। पूर्वमेघ श्लो० 2 में भी बादल की उस हाथी के साथ तुलना की गई है, जो टीले से मिट्टी उखाड़कर तिरछे दाँतों से प्रहार कर रहा हो (वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्')।

1495 **शूलिनः (पू० 37.3.15.31)** शूलिन्+ङस्; संज्ञा, षष्ठी एकवचन; महेश्वरस्य (चरित्र०); शिवस्य (संजी०); तीक्ष्णतरदण्डसाधनविशिष्टत्वोक्तेर्जगदण्डदण्डधरस्य खण्डपरशोः प्रसादे जगत एव प्रसाद इति भावः, 'ब्रह्माण्डस्याधिपत्यं हि श्रीकष्ठस्य न संशयः। न स चेदीशतां कुर्याज्जगतां कथमीश्वरः।। इति, 'वृक्षस्य मूले सेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा। शिवस्य पूजया तद्वत्पुष्यत्यस्य वपुर्जगत्।। इति च वायूक्तेः (विद्युल्लता); महाकालायतने महादेवस्य (सुबोधा)।

1496 **शृङ्गम् (पू० 14.1.2.2)** शृङ्ग+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; शिखरम् (चरित्र०); शृङ्गं प्राधान्यम्; 'शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च 'इत्यमरः (संजी०); न तु शिलामात्रम्। एतेन तुङ्गत्वविस्तृतत्वोक्तिः (विद्युल्लता); शिखरम् (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (9.62; 13.26) तथा कुमार० में एक बार (6.72) हुआ है।

1497 **शृङ्गे (पू० 55.3.15.34)** शृङ्ग+ङि; संज्ञा; सप्तमी; एकवचन; शिखरे (चरित्र०); शिखरे विषाणे इति च स्फुरति। 'क्रीडाम्बुयन्त्रे शृङ्गोऽस्त्री पर्वताग्रप्रभुत्वयोः। पश्वङ्गे च' इति वैजयन्ती (विद्युल्लता); शिखरे (सुबोधा);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में एक बार (6.19) हुआ है।

1498 **शृङ्गोच्छ्रायैः (पू० 61.3.9.57)** शृङ्ग+आम्+उच्छ्राय+भिस्; तत्पुरुष; संज्ञा, तृतीया, बहुवचन; शृङ्गाणां उच्छ्रायैः औन्नत्यैः (संजी०); शिखरोन्नतिभिरुच्छ्रयवच्छिखरैः (सुबोधा); शृंगाणाम् उच्छ्रायाः तैः। चोटियों की उँचाई से। विल्सन ने इसके स्थान में 'तुङ्गोच्छ्रायैः' यह पाठ दिया है, किन्तु 'शृङ्गोच्छ्रायैः' पाठ ठीक है, क्योंकि उच्छ्राय का अर्थ औन्नत्य होता है। अतः तुङ्ग (उन्नत) के साथ 'शृङ्ग' ही ठीक बैठता है।

1499 शृणु (पू० 13.1.3.3) श्रु+लोट्; मध्यम पुरुष, एकवचन; तिङन्त; आकर्णय (चरित्र०); श्रवणमेव प्रार्थ्यते, ग्रहणादीनि महामेघाविनस्तवानुषङ्गिकानीति भाव: (विद्युल्लता); आकर्णय (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग आठ बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में दो बार (4.40; 6.64), विक्रम० दो बार (4.33; 146.2), रघु० (8.77), शाकु० (94.3), ऋतु० (5.1) में एक-एक बार हुआ है।

1500 शेषान् (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(उ० 26.1.18.18; 49.2.6.14)** शेष+शस्; विशेषण, द्वितीया, बहुवचन; गतशेषान् (प्रदीप); आषाढमासाधिकान् आश्वयुज् मासान्तानित्यर्थ:। ननु आषाढस्य प्रथमदिवसे इत्युक्तम्। आषाढ श्रावणो प्रावृट् तत: परं शरदिति प्रसिद्धम्। तस्मात् कथं आषाढात् प्रभृति मासचतुष्टयात् पर: शरत्काल इत्युक्तम्। उच्यते। ऋतूनां कल्पना द्विधा। केचित् षड्तव इति वदन्ति। अपरे त्रय इति। तथा श्रीरामायणे—चत्वारो वार्षिका: प्रोक्ता: गतावर्षशतोपमा: इति (प्रदीप 49); गतावशिष्टान् (संजी०); अवशिष्टान् (संजी०); अतश्च अद्यारभ्य (पंचिका 49); अतिक्रान्तेभ्योऽवशिष्टान (सुबोधा); बचे हुए अर्थात् चार मासों को। देखो—शेषान् मासान् गमय चतुर: (उ०मे० 501) शेष—शिष्यते इति शेष:। √शिष् (विशेषणे)+घञ्। इसके अर्थों के लिए देखो—'शेषाऽनन्ते वधे सीरिण्युपयुक्तेतरेऽपि। शेषा निर्माल्यदाने स्यात्।।' इति हैम:। (ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (प्रथम समु०पृ० 12 तथा 8 म समु० पृ० 147) में 'शेष' का अर्थ 'परमात्मा' भी किया है।

प्रारम्भिक छन्दों में ही कवि ने कह रखा है—"शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तु:।" कुल वियोग की अवधि है एक वर्ष; और अब अवशिष्ट हैं चार मास—शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा"। आठ महीने यक्ष ने आषाढ़ के पूर्व ही समाप्त कर लिए हैं-रामगिर्याश्रमों में। आर्थर बेरिडेल कीथ ने इस थोड़े समय के वियोग पर कुछ कटाक्ष किया है—

At first sight the effect of the poem seems to be marred by an element of unreality in the longing of the YAKSHA whose separation is but temporary and who as an attendant of SHIVA cannot in truth fear either death or even injury for his beloved from his absence" (p. 86, HSL) बड़ा ही हार्दिक क्लेश होता है, ऐसी बेबुनियाद आलोचनाओं को पढ़कर। संस्कृत-साहित्य के एक इतिहासकार को कुछ तो रसों का अध्ययन कर लेना चाहिए, और फिर एक बार उस ग्रन्थ को भी देखने का कष्ट उठाना चाहिए, जिसकी कि वह समीक्षा करना चाहता है। विप्रलम्भशृङ्गार रस और करुण रस के बीच अन्तर ही यही होता है कि पहले में विरह आल्पकालिक होता है और दूसरे में शाश्वत। आल्पकालिक या 'टेम्परारी' विरह में ही दूत-प्रेषण का प्रश्न उठता है, नित्य या सनातन में नहीं। खैर, यह तो शास्त्र-चर्चा का विषय है। कीथ साहब को नहीं पता हो तो कोई बात नहीं। परन्तु सबसे अधिक कष्ट का विषय यह है जो उन्होंने यक्ष को शिव का अनुचर लिखा है, जबकि स्वयं कालिदास ने लिखा है—"अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।" और "सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।" इस प्रसङ्ग में सर्वाधिक उपयोग इन बीतने से बचे हुए (गतशेष) चार मासों को गिनने का है। कवि उसे उसी में लगी हुई दिखाता है—"विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पै:।" जब चार ही महीने बाकी हैं, तो उन्हें गिनने में कितना समय लगेगा। वास्तव में यह गणना मासानुसारी न होकर दिवसानुसारी है। कवि पूर्वमेघ में ही कह चुका है— "ताञ्चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीम्।" उसे दुहराने की क्या जरूरत? अत: आषाढ़ के प्रथम दिन अथवा जब मेघ अलका पहुँचेगा उस दिन, वह लगभग साढ़े आठ महीने पूरे कर चुकेगी और उस काल के दो सौ पचास या दो सौ पचपन दिनों के प्रतीक पुष्पों को गिनती होगी। फिर पूरे वर्ष भर के दिनों में से उन्हें घटाती होगी और तब निष्कर्ष तक पहुँचती होगी। फिर उनमें भी तिथिक्षय, तिथिवृद्धि,

अधिकमास, आदि का भी चक्कर हो सकता है। यह सब पर्याप्त-समयापेक्षी है। जरा गिनती करने के तरीके को देखिये—

देहल्यां द्वाराधः स्थितफलकायामनुदिनमेकैकशो निहितैः पुष्पैः, कतिपयदिनावसाने तैः सम्पिण्डितैर्गणितैर्गत-दिवसेयत्तापरिज्ञानसौकर्यात्।"—

पूर्णसरस्वती के कथन का तात्पर्य यह है कि प्रवास के दिन से रोज-रोज एक-एक फूल दहलीज में डालती जाती थी। कुछ दिन बीत जाने पर उन इकट्ठा फूलों को गिनकर बीते दिनों की संख्या जान लेती थीं; फिर वर्ष भर की दिनसंख्या से घटाकर शेष अवधि का हिसाव निकाल लेती थी। कवि ने 'शेषे' शब्द बड़ा ही व्यञ्जक रखा है। 'शेष' का अर्थान्तर 'अनन्त' और 'वध' भी है। "शेषोऽनन्ते वधे सीरिण्युपयुक्तेतरेऽपि च" (अनेकार्थसंग्रह)। महीने चाहे तीन ही चार हों, पर प्रथम विरह और मेघों की ऋतु के आ जाने से अनन्त परिमाण लगते हैं या 'वध परिमाण' से कष्टदायी लगते हैं। जिसका परिमाण किया जाता है उसे मास कहते हैं। अतः उसके परिमाण में यदि वराबर लगी हो, तो पूर्णतः समीचीन ही प्रतीत होता है।

1501 **शेषविस्तारपाण्डुः (पू० 18.4.18.69)** शेषविस्तार+ङि+पाण्डु+सु; तत्पुरुष, प्रथमा एकवचन; मध्यादन्यत्र हरिणवर्णः। हरिणः पाण्डुरः पाण्डु इत्यमरः (प्रदीप); स्तनस्थानीयः पर्वतः श्यामिकास्थानीयो मेघः पाण्डुतास्थानीयाः काननाम्राः (चरित्र०); शेषे मध्यादन्यत्र विस्तारे परितः पाण्डुर्हरिणः; 'हरिणः पाण्डुर" इत्यमरः (संजी०); तद्व्यतिरिक्ते निजमण्डलाभोगे तारुण्यजनितलावण्यपाण्डिमा; तथा रघुवंशे—'अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डु-स्तनलम्बिहारम्' इति (विद्युल्लता); अवशिष्टपरिणाहे पाण्डुः यौवनभेदात् पाण्डुरः (सुबोधा); "पाण्डुस्तु पीतभागार्हः केतकीधूलिसन्निभः" इति **शब्दार्णवः** (सुबोधा)।

शेषे यो विस्तारः; तस्मिन् पाण्डुः। कालिदास ने रघु० (4.51) में भी पर्वतों को पृथिवी का स्तन बताया है—स्तनाविव दिशस्तस्या शैलो मलयदर्दुरो।।

मल्लिनाथ यहाँ पर ध्वनि निकालते हैं—परिश्रान्तः कश्चित् कामी कामिनीनां कुचकलशे विश्रान्तः सन् स्वपिति तद्वद् भवानपि भुवो नायिकायाः स्तन इति।

1502 **शेषैः (पू० 31.4.14.49)** शेष+भिस्; विशेषण तृतीया, बहुवचन; अवशिष्टैः (चरित्र०); भुक्तशिष्टैः (संजी०); स्वर्गार्थानुष्ठितकर्मशेषाणां स्वर्गदानावश्यं भावादिति भावः (संजी०); फलदेभ्योऽन्यैः। 'अथ शेषास्त्रिष्वन्य-स्मिन्नुपयुक्ततः' इति वैजयनती। 'ताः पिवन्ति मदायुक्ता जलदादिषु ये स्थिताः। वर्षे तु ते जनपदाः स्वर्गाभ्येत्य मेदिनीम्।।' इति श्रीविष्णुपुराणे; 'प्राप्यपुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती समाः। शुचिनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो विजायते।।' इति भगवद्वचने च पुण्यशेषज्ञापनात् (विद्युल्लता); भुक्तावशिष्टैः (सुबोधा)।

1503 **शैलम् (पू० 12.1.6.12)** शैल+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; चित्रकूटाद्रिम् (संजी०); रामगिरिम् (सुवोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघूदत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (4.71) हुआ है।

1504 **शैलराजावतीर्णाम् (पू० 53.1.4.12)** शैलराज+ङसि+अवतीर्ण+टाप्+अम्; तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; हिमवतः प्रवृतां हिमवतः प्रसूतां च (प्रदीप); शैलराजात् हिमालयात् अवतीर्णा प्रवृत्ताम् (चरित्र०); शैलराजात् हिमवतः अवतीर्णाम् (संजी०); हिमवतो भारतवर्षप्रारम्भेऽवतीर्णमात्राम् अवतीर्णा न तु जाताम्। अनेन त्रिभुवनविक्रममाणस्य बलिरिपोरुर्ध्वप्रवृत्तचरणपुण्डरीकवेगखण्डितब्रह्माण्डविवरनिष्ठ्यूतवारिपूरपरिपोषित-विरिञ्चिकरकुण्डिकाजलोपोद्बलितधर्मदेवताद्रवरूपायाः शिवजटाजूटविधृतवेगायाः सुमेर्वादिक्रमेण हिमवन्तं यावदगतायाः सुरसरितो भगीरथतपोनुरोधेन भारतेऽवतारः; न तु नद्यन्तरवत् क्वचन गिरिकुडुङ्गे संभूतिरिति ध्वन्यते; तेन

तीर्थान्तरेभ्य प्रकृष्टसुकृतप्रसावकत्वं च (विद्युल्लता); शैलराजात् हिमालयात् अवतीर्णा प्रादुर्भूतां लम्वितां (सुबोधा); अवतीर्ण—अव+√तृ (तैरना आदि)+क्त।

1505 **शैलात्** (**उ० 52.2.6.28**) शैल+ङसि; संज्ञा, पंचमी, एकवचन; कैलासात् (संजी०); कैलास की ओर संकेत हैं।

1506 **शैलोदग्राः** (**उ० 14.2.5.20**) शैल+ङस्+इव+उदग्र+जस्; तत्पुरुष, विशेषण, प्रथमा, वहुवचन; शैलवत् उन्नताः (संजी०)।

1507 **शोभाम्** (द्विवारं प्रयुक्तम्) (**पू० 55.4.17.38; 62.3.7.47**) केचित्तु शोभामित्यत्र लीलामिति पठित्वा लीलां विलासं छलोक्त्या यदा कदाचित् शृङ्गारवशात् स्वस्कन्धे वस्त्रं निक्षिपति तदैवेति सूचितमित्याहुः (सुबोधा 62)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पाँच वार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० (1.19) मालवि० (192.2) तथा ऋतु० (6.13) में एक-एक वार हुआ है।

1508 **श्यामः** (द्विवारं प्रयुक्तम्) (**पू० 18.4.14.59; 60.4.16.48**) श्याम+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; कृष्णवर्णः (संजी० 60); चुचुकयोगान्नीलः (सुवोधा 18); पाद इह ऊरुजङ्घासमुदायार्थस्तेन श्याम इत्युक्तम्। अधःस्थितैरूर्ध्वभूतः श्याम इव दृश्यते इति वा। त्वमपि श्यामः (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन वार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक वार (13.53) हुआ है।

1509 **श्यामम्** (**पू० 15.3.11.33**) श्याम+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; श्याममिति साधारणो धर्मः (विद्युल्लता); नीलम् (सुबोधा); श्याममित्यादिना स्पर्शनमपि ध्वनितम्। यदुक्तं—

"दर्शनं स्पर्शनं शस्तं मङ्गलानां श्रुतिस्तथा।
रत्नानां कीर्तनं शस्तं तथा विष्णोश्च कीर्तनम्।।" इति। (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो वार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग विक्रम० में एक वार (2.7) हुआ है।

1510 **श्यामा** (**उ० 21.1.2.2**) श्याम+टाप्+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; स्यामवर्णा हरितवर्णा इत्यर्थः। अस्यार्थस्य अनुकूलमेव वक्ष्यति श्यामास्वङ्गमिति। यद्वा 'श्यामायौवनमध्यस्था प्रौढातिक्रान्तयौवना' इति उत्पलमालायाम्। अस्यार्थस्य अनुकूलद्योतकं युवतिविषय इति पदम् (प्रदीप); यौवनमध्यस्था हरितवर्णा वा षोडशवार्षिकी। 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इति वाक्यात् (चरित्र०); युवती, 'श्यामायौवनमध्यस्था' इति उत्पलमालायाम् (संजी०); एकवारप्रसूता तरुणी इत्यर्थः (पंचिका); सौकुमार्यादि गुणवती; यदुक्तं—

शीते या चोष्णगात्री स्यादुष्णे च स्पर्शशीतला।।
प्रकृत्या सुकुमाराङ्गी सा श्यामा कथिता बुधैरिति।।

श्यामा प्रियङ्गु मञ्जरीवत् श्यामदेहा वा। श्यामा प्रियङ्गुकलिकेव श्यामवर्णेति केचित्। श्यामा षोडशवार्षिकी। तथा च "द्वयष्टवर्षा भवेच् श्यामे" ति केचित्। अप्रसूतेति केचित्। (सुवोधा); इसके ये अर्थ हैं—1. यौवनमध्यस्था (म०) 2. जिसको अभी कोई वच्चा नहीं हुआ है—अप्रसूता 3. षोडशवर्षीया युवती 4. मनोहर साँवले रंग की स्त्री 5. मधुर कण्ठवाली स्त्री।

विद्युल्लता का मत है कि अगले पद्य के 'वालाम्' पद में यक्षपत्नी की अवस्था वता दी गई है। अतः मल्लिनाथ का अर्थ अनुपयुक्त है। परन्तु यह युक्ति विशेष वलशालिनी नहीं है। प्रकरण में सव ही अर्थ

उपयुक्त है। केवल तीसरा अर्थ ठीक नहीं लगता। आर्य जाति में लड़कियों का विवाह 16 वर्ष की अवस्था से पूर्व नहीं होता था। वियोग से पूर्व यक्ष वहुत दिनों तक वैवाहिक जीवन का सुख भोग चुका था। अत: यक्षपत्नी कम से कम लगभग 17–18 वर्ष की होगी।

युवति। मल्लि० के अनुसार 'श्यामा' युवति को कहते हैं, देखिये उत्पलमाला—"श्यामा यौवनमध्यस्था"। कुछ टीकाकार श्यामा से विशेष प्रकार की स्त्री को लेते हैं। इस सम्बन्ध में भट्टिकाव्य के टीकाकार **(V.18)** निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—'शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला। तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते।।" मोरेश्वर काले ने श्यामा का अर्थ—'अप्रसूता' (वह स्त्री जिसके अभी बच्चा नहीं हुआ) दिया है। इसके लिए देखिए—'भवेत् श्यामा तन्वी च नवयौवना' अप्रसूता भवेच्छ्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी। श्यामा च श्यामवर्णा च श्यामा मधुरभाषिणी।। श्यामा का प्रथम (सौकुमार्यादिगुणवती) अर्थ पूर्णत: असमीचीन है; क्योंकि यह एक असम्भावित वस्तु किंवा सर्वगत सत्य है। यदि यह स्त्रीगत वास्तविक वैशिष्ट्य के रूप में माना जाय, तो असम्भव है और यदि कान्त के हृदय की आत्मानुभूति के रूप में माना जाय, तो समस्त प्रियतमाओं में प्राप्त होने वाला तत्त्व है। दूसरा अर्थ (षोडशवर्षीया) लेने पर इसी युग्मक में आया हुआ 'बाला' शब्द पुनरुक्ति का घटक अथ च अधिकपद हो जायगा; क्योंकि 'रतिरहस्य' का कथन है—"बाला तु षोडशब्दात् तदुपरि तरुणी त्रिंशतं यावत्।" तीसरा अर्थ (अप्रसूताङ्गना) मुग्धा, प्रौढ़ा, वृद्धा सबका वाचक हो सकता है, बशर्ते कि सन्तान न हुई हो; साथ ही यह अमङ्गलव्यञ्जक भी होगा; क्योंकि कवि का अभीष्ट 'अपुत्रप्रसवा' या प्रौढ़ादि नहीं। यहाँ 'परिमितकथाम्' के होने से चौथे अर्थ (मधुरभाषिणी) से भी कवि का आशय नहीं हो सकता। मल्लिनाथ का अर्थ तो कवि की कल्पना से एकदम विरुद्ध है। एक तरफ कवि उसे "बाला' कह रहा है, दूसरी ओर महान् टीकाकार की सहृदयता उसे आधी जवानी के पार बैठाये दे रही है। तन्वी में उद्धृत षड्वर्जिताओं में 'अति गौरी' और 'अतिकाली' आ जाती हैं। अत: इसमें तनिक भी अनौचित्य नहीं, यदि कालिदास की कल्पना में कुवलय के दलों की तरह अथवा प्रियङ्गु की मञ्जरी या कलिका की तरह साँवली कामिनी का निवास हो। सीता, द्रौपदी, आदि श्यामा एवं कृष्णा वर्णित थी हीं। दक्षिणावर्तनाथ ने लिखा है—"श्यामा श्यामवर्णा हरितवर्णेत्यर्थ:।" पूर्णसरस्वती बड़ा ही मनोरम विवेचन करते हैं। प्रमाणस्वरूप "श्यामास्त्रङ्गम्" की मेघदूत की उक्ति स्वयं प्रस्तुत है। प्रियङ्गुलता, उसकी मञ्जरी और उसकी कलिकायें सभी तो श्यामल होती हैं। "श्यामा कुवलयदलश्यामवर्णा। ××× श्यामा यौवनमध्यस्थेत्यर्थोऽत्र न वक्तव्य:, वर्णस्य अवश्यवक्तव्यत्वात्। 'बाला' इति चानन्तरमेवावस्थाया वक्ष्यमाणत्वात्।।" कालिदास जैसे मानवतावादी महाकवि की दृष्टि यदि श्यामा के सौन्दर्य की प्रशस्ति करती है, तो सर्वथा उचित ही है। वैद्यक-शास्त्र के अनुसार भी यक्षाङ्गना का श्लेष्मप्रकृतिक तथा श्यामा होना सर्वथा समीचनी है।

"श्यामा कफप्रकृतिका बडवा मृगी वा गन्धर्वयक्षसुरकिन्नरसात्त्विका या।
बालाऽथवाऽभिनवयौवनभूषिताङ्गी सा भामिनी भवमुदां परमं रहस्यम्।।"

जिस श्लेष्मप्रकृति युवतिजन की आयुर्वेद में प्रशसा है, उसका स्वरूप भी श्यामा माना गया है।

"स्निग्धनखदशननयना निरनुशया मानिनी स्थिरस्नेहा।
सुस्पर्शशिशिरमांसलवराङ्गविवराऽङ्गना श्यामा।।"

'श्यामा' में हम रतिरहस्य के 'कुवलयदलकान्ति:' (कुवलयदलकान्ति: काऽपि चाम्पेयगौरी...) का रहस्य प्राप्त करते हैं, जिसका उल्लेख नन्दिकेश्वर ने 'पद्मिनी' के लक्षण में किया है (दृष्टव्य—'चकितहरिणी प्रेक्षणा' पर टिप्पणी)।

1511 **श्यामासु** (उ० 43.1.1.10) श्यामा+सुप्, संज्ञा, सप्तमी, बहुवचन; अत: परं चतुर्भि: श्लोकै: विरहिणां कामतंत्रोक्तानि विरहिणीसदृशावलोकनचित्रकर्मस्वप्नसमागमतदङ्गस्पृष्टस्पर्शनानि चत्वारि विनोदनानि उक्तानीत्यनुसन्धेयम्। यथा गुणपताकायाम्—

वियोगे चायोगे प्रियजनसदृक्षानुगमनं; ततश्चित्रालोकं स्वपनसमये दर्शनमपि।

तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमिति; प्रतीकार; कामन्यवितमनसां कोऽपि गदित:।। इति।

तेषु प्रियासदृशावलोकनमाह—श्यामास्विति। श्यामासु प्रियङ्गुलतासु: (प्रदीप:); प्रियङ्गुलतासु; श्यामत्वतनुताभ्यां अङ्गसादृश्यम् (चरित्र); प्रियङ्गुफलिनीश्यामा' इत्यभिधानचिन्तामणि: (चरित्र०); प्रियङ्गुलतासु 'श्यामा तु महिलाह्वया। लता गोवन्दनी गुन्द्रा प्रियङ्गु: फलिनी फली।' इत्यमर: (संजी०); श्यामलतासु (पंचिका); श्यामलतासु, प्रियंगुष्वित्यन्ये (सुबोधा); यहाँ श्यामा से तुलना यक्षपत्नी के छरहरे शरीर, कोमलता और ललित तथा श्याम रूप को द्योतित करती है। कभी-कभी प्रेमी (=नायक) को भी श्यामाङ्ग कहा जाता है। देखो—मालतीमाधव 3.9; रघु० 6.65; माल० 2.6; (सुधीर०)। यहाँ केवल पतलेपन का ख्याल करके ही श्यामा लता (प्रियङ्गु) में यक्ष-पत्नी के शरीर की समानता बतलाई है; अन्यथा रंग में वह गौर (गोरी) थी, श्यामा लता की तरह काली नहीं। विपरीत तुलना के लिए देखिये—ऋतु० IV-10—'प्रिये प्रियङ्गु: प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव।' कभी-कभी प्रेमी को भी 'श्यामाङ्ग' कहा जाता है। देखिये—मा०मा० III.9—'प्रियङ्गुलतासुपाण्डिम्ना तनिम्ना कण्टकितत्वेन च योगात् (अभिनवगुप्त)। अभिनवगुप्त ने इसमें पाण्डिमा, तनिमा और कण्टकितता की अभिव्यक्ति प्राप्त की है। जैसी विरह-पाण्डुता यक्षप्रिया में है, वैसी ही कभी-कभी जेठ की धूप से कुम्हलायी प्रियङ्गुलता में भी हल्की पीतिमा दिखायी दे जाती है। क्षीणता भी उभयत्र एक-सी कभी-कभी दिखती है। और यक्षाङ्गना यदि रोमाञ्च पूर्ण है, तो प्रियङ्गुलता भी कण्टकाञ्चिता है। पूर्णसरस्वती के शब्दों में—"अनेन देशकालदशाविशेषवशात् तासां वैविध्येनाप्रयत्नतोऽन्विष्य कस्याञ्चिद् वर्णकान्तिम्, अन्यस्यां कोमलत्वम्, अपरस्यां तनुत्वमित्यादि द्योत्यते।"

1512 **श्रद्दधाना:** (पू० 58.4.18.67) श्रत्+धा+शानच्+जस्; विशेषण; प्रथमा, बहुवचन; श्रद्धावन्त: प्राणिन: (चरित्र०); विश्वसन्त: पुरुषा:; श्रद्धाविश्वास:; आस्तिक्यबुद्धिरिति यावत्; 'श्रदन्तरोरुपसर्गवत् वृत्तिर्वक्तव्यमिति श्रत्पूर्वात् दधाते: शानच्' (संजी०); आस्तिक्यार्द्रीकृतचेतस:। 'तथेति प्रत्यय: श्रद्धा' इति हलायुध:। श्रद्धापूर्विकाया एव प्रवृत्ते: सर्वत्र साफल्यमिति भाव:; 'हतमश्रद्धयेतरत्' इति स्मृते: (विद्युल्लता); श्रद्धावन्तो जना: (सुबोधा); श्रत्+√धा (धारण करना) शानच्+पु० प्रथमा बहुव०। सत्य भाव को धारण करते हुए। श्रद्धा और सत्य का अटूट सम्बन्ध है।

1513 **श्रवणपरुषै:** (पू० 64.4.17.57) श्रवण+ङि परुष+भिस्; विशेषण; तत्पुरुष; तृतीया, बहुवचन; कर्णकर्कशै: (चरित्र०); श्रवणकटुभि: (संजी०); श्रुतिकटुभि: कर्णभेदिभिर्वा (सुबोधा०); श्रवण कान।

1514 **श्रवणविषयम्** (उ० 42.3.16.32) श्रवण+ङस+विषय+अम्; तत्पुरुष, संज्ञा, द्वितीया एकवचन; श्रवणदेशम्; अन्योन्यवार्त्ताश्रवणदेशमित्यर्थ: (प्रदीप:); अन्यान्यवार्ताश्रवणदेशम् (चरित्र०); कर्णपथम् (संजी०); कर्णगोचरम्, (सुबोधा) (अतिक्रान्त:); श्रवण विषय-कान का विषय। अत: न मेरे वचन सुने जा सकते हैं, न मेरा समाचार मिलता है। श्री कर्मार्कर इस पद को अनावश्यक समझते हैं। उनका मत मानना सम्भव नहीं। विषय शब्द का अर्थ साधारणत: ज्ञानेन्द्रियों के पदार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शादि—है, किन्तु यहाँ विषय से अभिप्राय—इन्द्रियों की पहुँच से है। यक्ष विरह-काल में रामगिर्याश्रमों में रहता था और उसकी पत्नी अलका में। इस तरह उन दोनों का एक दूसरे की कर्णेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय की पहुँच से दूर होना स्वाभाविक ही था।

1515 **श्रवणसुभगम्** (पू० 11.2.11.23) श्रवण+ङे+सुभग+अम्; तत्पुरुष; विशेषण, द्वितीया एकवचन; राजहंसानां

श्रवणसुभगमित्यर्थ:, परुषं मेघगर्जितं इति प्रसिद्धम्। वक्ष्यति च 'यस्यास्तोये कृतवसतय इत्यादिकं, तस्मात् कथं हंसानां श्रवणसुभगामियुक्तं, सत्यम्। इदम् परिगृहीततटाकादिपरित्यागात् किंचित् परुषम्। स्तेषां निवासस्थानभूतस्य मानसतटाकस्य गमनहेतुत्वात् अतीव प्रियं च। उक्तं च 'क्वचित्खगानां प्रियमानसानां' इति। ननु च हंसा प्रियमानसाश्चेत् कुतो हेतोस्तद् विहाय देशान्तरे परिभ्रमन्ति। उच्यते 'हिमालये एकदेशस्थं मानसं हिमदूषितसलिलादिकत्वात् अनुपभोग्यं भवति। ततस्तेषां देशान्तरगमनं भवति। वर्षसमये तु वर्षजलविरलितहिमत्वात् तस्य हंसनिवाससयोग्यत्वमस्ति। नित्यप्रसन्नत्वात् देशान्तरतटाकादिवत् कालुष्यं न भवतीत्युदीच्या उपदिशन्तीति अनुसन्धेयम् (प्रदीप); श्रोत्रसुखम् (चरित्र०); श्रोत्रसुखम्। लोकस्येति शेष: (संजी०); निदाघदाहकदर्थितानां जनानामपेक्षायां सन्निकृष्टवृष्टिसुखसूचकतयोदीर्णत्वात् कर्णामृतायमानम् (विद्युल्लता); कर्णसुखदायि मधुरम् (सुबोधा); देखिये—ऋतु०सं० II.3 'बलाहका: श्रोत्रमनोहरस्वना:।'

1516 **श्राम्यताम् (उ० 38.3.16.37)** श्रम्+णिच्+शतृ+आम्; विशेषण, षष्ठी, बहुवचन; शांतिमापन्नानाम् (संजी०); खेदं भजताम् (पंचिका); खिद्यमानानां, पथि: श्राम्यतां विश्रामकुर्वताम् उपसर्ग विनायि श्रमे विश्रामार्थतेत्याहु: (सुबोधा); मार्ग में पत्नीवियोग के कारण सन्तप्त होते हुए, खिन्न होते हुए, थकते हुए। "स्थपुटगिरिकटकसरिद्वटतरुविटपादिसङ्कटे मार्गे सीदताम्। अनेन तादृशक्लेशशतनिरूपणेनैव तेषामविश्रमं प्रवृत्तिर्व्यज्यते" (विद्युल्लता); त्वरायामसमर्थानामपि (वक्रोक्तिजीवित)।

1517 **श्री: (उ० 2.2.9.29)** श्री+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; लक्ष्मी: (चरित्र०); शोभा (संजी०); लक्ष्मी: (पंचिका); मुखशोभा (सुबोधा);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग नौ बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु में छह बार (3.36; 5.38; 6.29; 12.2; 17.46; 18.8), कुमार० (7.78) तथा विक्रम० (1.12) में एक-एक बार हुआ है।

1518 **श्रीविशालाम् (पू० 31.2.7.31)** श्री+टा+विशाला+अम्; विशेषण, तत्पुरुष; द्वितीया, एकवचन; श्रिया लक्ष्म्या विशालां पृथुलां परिपूर्णा (चरित्र०); सम्पत्तिमतीम्; 'शोभासम्पत्तिपद्माषु लक्ष्मी श्रीरिव दृष्यते' इति शाश्वत् (संजी०); विशालेति उज्जयिन्या: संज्ञान्तरम्। 'विशालोज्जयिनी समे' इत्यमर:। तस्या: भुक्तिमुक्तिक्षेत्रत्वात्पूजायां श्री शब्दप्रयोग:। अथवा श्रिया धनधान्यादिलक्षणया लक्ष्म्या विस्तृताम् (विद्युल्लता); श्रिया सम्पत्या शोभया वा विशालामतिशयिताम् (सुबोधा); श्रीविशालामित्यत्र श्रीर्विशाला महती यत्रेति विगृह्णन्ति अन्ये। किन्त्वत्र बहुव्रीहौ विशेषणस्य परनिपातो यत्नसाध्य: (सुबोधा)।

1519 **श्रुत्वा (पू० 11.2.9.17)** श्रु+क्त्वा; अव्यय; निशम्य (चरित्र);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सत्रह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—रघु० (87), शाकु० (3), विक्रम० (2), मालवि० (2), कुमार० (1), ऋतु० (1)।

1520 **श्रेणीभूता: (पू० 22.2.4.17)** श्रेणि+च्वि+भू+क्त+जस्; तत्पुरुष; विशेषण, प्रथमा, बहुवचन; कृतपंक्ती: (चरित्र०); बद्धपंक्ती:, अभूततद्भावे च्वि (संजी०); पंक्तिभूत: (सुबोधा)।

1521 **श्रोणीभारात् (उ० 21.3.9.33)** श्रोणी+ओस्+भार+ङसि; तत्पुरुष, संज्ञा, पंचमी, एकवचन; न तु जघनदोषात् (संजी०); नितम्बभारात् (पंचिका); श्रोणी एव नितम्ब एव भारस्तस्मात्; श्रोणी भारादिति गुरुत्वात् रूपकं; 'श्रोणीभारभरादिव, मन्दगमनेत्युत्प्रेक्षेयम् (सुबोधा)।

श्रोण्या: भार:, तस्मात्। अभिप्राय यह है कि मन्दगति के कारण उसके नितम्बों का भार था, जन्य कोई शरीरिक दोष नहीं। इस प्रकार का भाव काव्यों में अनेक बार आया है। देखो—शाकु० 2.2; अमरु

शतक 34 आदि। कुमार०-I में भी इसी प्रकार का वर्णन है—'न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्य:।'

1522 **श्रोत्रपेयम् (पू० 13.2.11.33)** श्रोत्र+भ्याम्+पा+यत्+अम्; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; श्रोत्राभ्यां पेयं पानार्हम्; अतितृष्णया श्रोतव्यमित्यर्थ:, पेयग्रहणात् सन्देशस्य अमृतसाम्यं गम्यते (संजी०); श्रोतव्यशब्दसन्दर्भम् अतिकरुणार्थपरिपोषितविप्रलम्भरससुधानिर्भरगर्भत्वात्। श्रृणोते: 'ओरावश्यके' इति ण्यत् प्रत्यय: (विद्युल्लता); श्रोत्राभ्यां पेयं सादरमाकर्णनीयम् (सुबोधा); श्रोत्रपेयमिति सुखवाच्यत्वसूचनम्। अर्हार्थे य: श्रवणयोग्यं शब्दस्वरूपमित्यर्थ:। एतेन दुर्वहचिन्ता निरसता (सुबोधा); श्रोत्राभ्यां पेय:, तम्। जो बात कानों को परम प्रिय लगती है, उसे श्रोत्रपेय कहते हैं। श्राव्यबन्ध—सुनने योग्य रचना वाला। पार्श्वाभ्युदय का यह पाठ ठीक नहीं; क्योंकि यक्ष के मन की अवस्था रचना के सौन्दर्य को समझने के उपयुक्त नहीं है। इसका पाठान्तर 'श्रव्यबन्धम्' है, जिसका अर्थ 'जिस (सन्देश) का शब्द विन्यास (कानों को) तृप्त करने वाला है।' इस पाठार्थ का 'श्रोत्रपेयम्' वाले पाठार्थ से विशेष भेद नहीं है।

1523 **श्रोष्यति (उ० 39.3.14.38)** श्रृ+लृट्; प्रथम पुरुष, एकवचन; तिङन्त; आकर्णयिष्यति (पंचिका); त्वदुच्यमानवार्तामित्यर्थात् (सुबोधा)।

1524 **श्रोष्यसि (पू० 13.2.10.30)** श्रु+(भ्वा० प०) लृट् मध्यमपुरुष, एकवचन आकर्णयिष्यसि। सुनोगे।

1525 **श्लाघनीयाम् (पू० 37.8.16.32)** श्लाघनीय+टाप्+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; स्तवनीयम् (चरित्र०); प्रशस्याम् (संजी०), सज्जनप्रशंसायोग्याम् (विद्युल्लता); प्रशंस्याम् (सुबोधा)।

ष

1526 **षट्पदज्यम् (उ० 12.2.13.22)** षट्पद+जस्+ज्या+अम्; बहुव्रीहि; विशेषण; द्वितीया; एकवचन; षट्पद: भ्रमरा: एव ज्या यस्य तम् (चरित्र०); षट्पदा एव ज्या मौर्वी यस्य तम् (संजी०); षट्पद: मौर्वीकम् (पंचिका); भृङ्गगुणं पौष्यमित्यर्थ:, तेनैव पूर्वकृतापराधत्वात् (सुबोधा); षट् पदानि अस्य असौ षट्पद:। भौंरा। त एव ज्या यस्य तम्। काव्यों में कामदेव की धनुष की डोरी को भौंरों से बनी हुई बताया गया है। त्वामपि प्रेक्ष्य काम:—पा०भे० तुम्हें देखकर भी कामदेव अपना धनुष धारण नहीं करता है। इससे मेघ की अवमानना है। यक्ष यह कभी नहीं कर सकता। उसे मेघ से काम लेना है। अत: यह पाठ उपयुक्त नहीं। देखिये—कुमार० IV. 15—'अलिपंक्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता। विरुतै: करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम्।।' भ्रमरों को षट्पद इसलिए कहते हैं कि वे छ: पैरों वाले होते हैं। 'षट् पदानि येषान्ते षट्पदा:। त एव ज्या यस्य तत्।' कामदेव का धनुष पौष्प है और उसकी प्रत्यञ्चा भ्रमरनिर्मिता है। इसके पाँच फूलों के बाण भी हैं—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायका:।" किसी के पास ऐसा धनुष हो, जिसमें कोई शब्द न हो तो वह उसे छिपाये भी रख सकता है। परन्तु यहाँ तो सबसे बड़ी आपत्ति है झङ्कारमय गुञ्जार करते हुए भ्रमरों का धनुष। इसी से भय भी अमित है। इस वस्तुध्वनि को पूर्णसरस्वती के शब्दों में देखें—"षट्पदज्यम् मधुकरमालामौर्वीकम्। अनेन झङ्कारमुखरभृङ्गावलिकोलाहलशङ्का-कुलितत्वादिति व्यञ्जते।" इसके स्थान पर दक्षिणावर्तनाथ ने 'त्वामपि प्रेक्ष्य काम:' पाठ सही माना है। उनका कहना है—'त्वामपि प्रेक्ष्येत्यनेन मेघ-सम्बन्ध उक्त:। मन्मथ: षट्पदज्यमिति पाठे पूर्वश्लोकेष्विव मेघसम्बन्धो न स्यात्।" इसके विरुद्ध इतना ही कहना है कि पूर्वश्लोक की तरह का यह भी एक श्लोक है। अत: 'त्वाम्' की कोई अपेक्षा नहीं है।

स

1527 स: (पञ्चवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 2.1.5.21; 4.3.8.31; 30.4.17.59; 42.3.16.24; उ० 42.3.14.24);** यक्ष: (चरित्र०, संजी०); 4.3.8.31 यक्ष:। यश्चिरं दध्यौ स इत्यर्थ: (संजी००); यक्ष: (चरित्र 42); विधि: (संजी० 30); भानु: (संजी० 42); तव प्रिय: (पंचिका); यक्ष: (विद्युल्लता 4); यक्ष: (सुबोधा 4); भानु: (विद्युल्लता 42); स विधिर्वृष्टिलक्षण: (सुबोधा 30); भानु: (सुबोधा 42) उस

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार सौ एकतालीस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—रघु० (327), कुमार० (48), शाकु० (29), मालवि० (11), विक्रम० (10), ऋतु० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोश:'।

1528 संकल्पै: (उ० 41.4.14.56) सङ्कल्प+भिस्; संज्ञा, तृतीया, बहुवचन; संकल्पैमनसिकर्मीभूतैस्तनुत्वता-पादिविशिष्टै: शरीरावस्थान्तरै: (प्रदीप:); मनोव्यापारै: (चरित्र०); मनोरथै: (संजी०); उत्कण्ठावशात् (पंचिका 41); संकल्पैमानसिकर्मभिर्भावनाभि; मानसिक विचार, कल्पनायें, मनोरथ। इसके सम्भवत: दो अर्थ हो सकते हैं—1. विशेष मनोरथ, जिनका यक्ष ने सहवास-काल में अनुभव कर रखा था और वे मनोरथ, जो अब उसके हृदय में विरह के कारण उथलपुथल मचाते हैं। 'तत्' सर्वनाम यहाँ पूर्वानुभव के अर्थ में है। 2, वे मनोरथ, जो सामान्यत: विरहकाल में प्रेमियों के हृदय में स्वभावत: जागृत हुआ ही करते हैं। एक टीकाकार के अनुसार—'चुम्बन-दर्शन-स्पर्शनादि व्यापार' हैं।

1529 संक्रीडन्ते (उ० 6.4.11.44) सम्+क्रीड्+लट्; प्रथम पुरुष, बहुवचन; दीव्यन्ति; क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च इति तन् (चरित्र०); गुप्तमणिसंज्ञया दैशिकक्रीडया सम्यक्क्रीडन्तीत्यर्थ:; 'क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च, इति आत्मनेपदम्, 'रत्नादिभिर्वालकादौ गुप्तैर्द्रष्टव्यकर्मभि:। कुमारीभि: कृता क्रीडा नाम्ना गुप्तमणि: स्मृता।। रासक्रीडागूढमणिर्गुप्त-केलिस्तुलायनम्। पिच्छकन्दुकदण्डाद्यै: स्मृता: दैशिककेलय:।।' इति शब्दार्णवे (संजी०)

1530 संयुगे (उ० 14.3.31.40) संयुग+ङि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; युद्धे (संजी०)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में एक बार (2.57) हुआ है।

1531 संयोगम् (पू० 12.3.17.30) संयोग+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; सम्बन्धम् (चरित्र०); सम्पर्कम् (संजी०;) सम्पर्कम् (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० में एक बार (5.18) हुआ है।

1532 संरम्भोत्पतनरभसा: (पू० 57.1.2.10) संरम्भ+टा+उत्पतन+ङी+रभस+जस्; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा, बहुवचन; संरम्भ: कोप:। कोपोत्पतनवेगिन इत्यर्थ (प्रदीप); संरम्भेण क्रोधेन उत्पतनरभसोर्ध्वगमना: वेगिन: सन्त: (चरित्र०); संरम्भ: कोप:; 'संरम्भ: संभ्रमे कोपे' इति शब्दार्णव:; तेन उत्पतने उत्प्लवने रभसो वेगो येषाम् ते तथोक्ता:; 'रभसो वेगहर्षयोरित्यमर: (संजी०); शिखरितुङ्गस्य भवतो लङ्घनोद्योगे प्रथममशक्यतया भग्ने, पुन: सरोषनिर्बन्धं यलङ्घनार्थमुत्प्लवनम्, तत् संरम्भेणोत्पतनं तस्मिन्, स्वनाशमप्यनवेक्षमाण: क्रममुल्लङ्घयन् य: सत्वरो व्यापार:, स रभसो येषाम्। 'आवेश एव विषये प्रतिघातिनि रोषवान्। अनुबन्धी च भूयोऽपिसंरम्भत्वं प्रपद्यते।। इति 'सर्वात्ययानवेक्षी तु त्वरायाम् लङ्घितक्रम:। अशक्य: सोढुमन्यैश्च व्यापारो रभस: स्मृत:।। इति च दिवाकर: (विद्युल्लता); **असहना:**—सोढुमसमर्था: सन्त: (सुबोधा); संरम्भेण उत्पतने रभस: येषां ते।

सरंम्भ-क्रोध। देखो—प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् (रघु० 4.64); रभस-वेग-क्रोध। यह पद अकारान्त है।

1533 **संलक्ष्यन्ते (पू० 34.4.15.39)** सम्+लक्ष्+लट्, प्रथम पुरुष, बहुवचन, कर्मवाच्यः अनुमीयन्ते (संजी०)।

1534 **संश्रयाय (पू० 17.3.13.67)**संश्रय+ङे; संज्ञा, चतुर्थी, एकवचन; निवासाय (प्रदीप); संश्रयणाय (संजी०); स्वगृहनिवासार्थम् (विद्युल्लता); स्थिताय (सुबोधा); संश्रयायेति तादर्थ्ये, चतुर्थी तुमर्थे वा, आश्रयं आश्रयं कर्त्तुमित्यर्थः। (सुबोधा)

1535 **संसक्ताभिः (पू० 59.2.6.8)** सम्+पच्+क्त+टाप्+भिस्; विशेषण, तृतीया, बहुवचन; भक्तिमतीभिः (प्रदीप); भक्तियुक्ताभिः (चरित्र०); संयुक्ताभिर्वशवाद्यानुसक्ताभिर्वा (संजी०); **संरक्ताभिः** तद्दर्शनात् सम्यगनुरक्ताभिर्मधुरस्वाभिर्वा। रक्तोऽनुरक्ते नील्यादि रञ्जिते मधुरस्वरे' इति सर्वः (सुबोधा०); इसका मल्लिनाथ ने पाठान्तर संसक्ताभिः दिया है और उसका अर्थ 'सम्मिलित हुई अथवा वंश-वाद्यों के बजाने में लगी हुई' किया है। वास्तव में मीठी-मीठी बाँसुरी (वंश) तो वायु ही बजा रहा था, किन्नरियाँ नहीं। मीठी बाँसुरी के साथ गाथ गान भी मीठा ही होना चाहिए और वह किन्नरियाँ कर रही हैं। इसलिए 'संरक्ताभिः' (=प्रेमभरी अर्थात् मीठे कण्ठ वाली) वाला पाठ ही ठीक है। सम्+सञ्ज् (लगना)+क्तः स्त्री० आ+तृतीया बहुवचन 'मिलकर' अथवा 'वाद्य सामग्री से युक्त'। पहला अर्थ ही अच्छा है। ईश्वर के गुणगान मिलकर ही किए जाते हैं। इन्हें ही कीर्तन कहते हैं। इसका अर्थ 'भावमग्न' भी किया जा सकता है। कीर्तन आदि भक्तिभाव में विभोर होकर ही किये जाते हैं। प्रकरण में दोनों भाव लेने अच्छे रहेंगे। मल्लिनाथ ने 'संरक्ताभिः' पाठ भी दिया है। इसका अर्थ सुन्दर, मनोहर स्वर में, अथवा, भक्तिभाव से युक्त किया जा सकता है। परन्तु यह पाठ बहुत अच्छा नहीं। इसमें सम्मिलित कीर्तन का भाव नहीं आता।

1536 **संसर्पन्त्या (पू० 54.3.13.31)** सम्+सृप्+शतृ+ङीप्+टा; विशेषण, तृतीया, एकवचन; अवगाहमानया सपदि संसर्पन्त्या इत्यवः (प्रदीप); अवगाहमानया (चरित्र०); संक्रामन्त्या (संजी०); सम्यक् व्याप्नुवत्या (विद्युल्लता); सञ्चरन्त्या (सुबोधा)।

1537 **संसर्पन्त्याः (पू० 29.2.2.39)** संसर्पन्ती+ङस्; विशेषण, षष्ठी एकवचन; अनेन विलासगमनमपि ध्वन्यते (प्रदीप); गच्छन्त्याः (चरित्र); प्रवहन्त्याः गच्छन्त्याश्च (संजी०); वहन्त्या अथचाभिसाराय सञ्चरन्त्याः (सुबोधा); सम्+√सृप्++शतृ+स्त्री० ई+षष्ठी, एकवचन।

1538 **सकलम् (उ० 13.4.17.54)** सकल+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; सर्वम् (संजी०); चतुर्विधमपि इत्यर्थः। 'कचधार्य देहधार्य परिधेयं विलेपनम्। चतुर्धा भूषणं प्राहुः स्त्रीणामन्यच्चदेशिकम्।। इति **रसाकरे** (संजी०)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग विक्रम० में एक बार (4.16) हुआ है।

1539 **सखीनाम् (उ० 42.1.7.12)** समक्षं साक्षाद् (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में दो बार (1.29; 5.15) तथा रघु० में एक बार (7.69) हुआ है।

1540 **सखीम्** (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(उ० 27.2.11.32; 52.1.4.26)** सखी+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; मद्वल्लभाम् (चरित्र०); स्वप्रियाम् (संजी०); मत्प्रियां; केचित्तु प्रीतिप्रतिपादनम्, अतो द्रक्ष्यसि भ्रातृजायामित्यनेन न विरोध इति बोध्यम्; (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में तीन बार (63.5; 183.4; 403.6) तथा कुमार० में दो बार (5.61; 6.1) हुआ है।

1541 **सखे** (चतुर्वारं प्रयुक्तम्) (**पू० 23.1.4.6; 44.3.14.36; 64.3.12.46; उ० 16.3.11.33**) सखि+सु; संज्ञा, सम्बोधन, एकवचन; भो मेघ (चरित्र 23); मित्र (चरित्र 16); हे मेघ (संजी० 23); मित्र (संजी० 64); निर्व्याजप्रेमास्पद (विद्युल्लता 23); हे मित्र (सुबोधा 23); सखे इति सम्बोधनावश्यककर्त्तव्यताद्योतनार्थम्। ननु भ्रातृजायामिति प्रागुक्तम्, न च भ्राता सखे इति सम्बोध्यते। उच्यते कल्पितसम्बन्धात् प्रियोक्तिमात्रमेतदिति, विह्वलत्वादिति न दोषः (सुबोधा 23); सखे इति, प्रियवयस्येन त्वया न विस्मर्त्तव्या मद्दशेति द्योतयति (विद्युल्लता 44); हे मित्र, सखे इति प्रार्थनायाम् प्रियवाक्यम् (सुबोधा 44); हे मित्र (सुबोधा 64); हे मित्र (सुबोधा 16)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चौवन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—शाकु० (18), विक्रम० (15), मालवि० (15), रघु० (1), कुमार० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1542 **सख्याः** (द्विवारं प्रयुक्तम्) (उ० 17.3.11.24; 32.1.2.2;) सखी+ङस; संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; वल्लभायाः (चरित्र 17); मत्प्रियायाः (चरित्र 33); मद्गेहिन्याः (पंचिका 17); वयस्यायाः (पंचिका 33); सख्या इति प्रेमपात्रोपलक्षणम् (सुबोधा); मत्कान्तायाः (सुबोधा 33); सख्याः (तव)—तुम्हारी सखी (=सहेली) अर्थात् भाभी। मित्र को पत्नी को मित्र की मित्रता के नाते 'सखी' भी कहा जाता है। इस परिपाटी के आधार पर पू०मे० 9 में 'भ्रातृजाया' पद को देखकर कुछ विद्वान् उसे प्रक्षिप्त समझते हैं। परन्तु वहाँ यक्ष मेघ को अपना छोटा भाई बनाकर उसके प्रति परम आत्मीयता प्रकट कर रहा है। तब ही तो उसका प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा। स्वभाव से पवित्र आचरणवाली होने के नाते मेरी प्रियतमा तुम्हारी सखी होने योग्य है। यक्ष कहता है कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह ऐसी-वैसी स्त्री नहीं है, जो अपनी धोखेबाजी से मुझे प्रवञ्चित करके स्नेहभाजन बन गई हो। वह तो वाल्मीकि के शब्दों मे "अनन्या" है (अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा) उसका हृदय मेरे प्रति सम्भृतस्नेह है। कालिदास का यह एक प्रिय पदोच्चय है। उदाहरणार्थ देखें—"एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी।" मेघ आपत्तिमित्र होने के कारण उत्तमकोटि का सखा है। अतः यक्ष उसका सखा हुआ। उसकी पत्नी भी मेघ की इसी सम्बन्ध से सखी ही होगी। ऐसे व्यवहार पुरातन हैं। महाभारत में—तव कृष्ण प्रिया सखी।' विष्णुपुराण में भी—"इत्युक्तो वै निववृते देवराजः तथा द्विज। प्राह चैनामलञ्चण्डि! सखि! खेदातिविस्तरैः।।" एक और भी पदोपादान सौन्दर्य यहाँ उपलब्ध होता है और वह है 'सखी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। "समानाख्याते जनैः। 'समाने ख्यः स चोदात्तः' (उणादि० 4.137) इतीण् डित् समानस्य स च। ' सख्यशिश्वीति भाषायाम्' (4.1.62) इति ङीष्।" वह मेरे प्रति सम्भृतस्नेह है और तुम भी; वह है नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशा और तुम भी हो सलिलोत्पीडसम्भृत; वह भी नयनसलिलमोचिनी है और तुम भी नवजलमयास्रमोची होने वाले हो। अतः 'तव सख्याः' सार्थक है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग नौ बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में तीन बार (427.1; 429.4; 440.1), मालवि० में तीन बार (130.5; 152.3; 160.12) तथा विक्रम० में एक बार (106.12) हुआ है।

1543 **सगन्धः** (**पू० 10.2.16.20**) सह+गन्ध+टा, तत्पुरुष, विशेषण, प्रथमा एकवचन; सगन्धः 'सगन्धो बन्धुरिष्यते' इति हलायुधः। 'पितृपैतामहानमात्यान्कुर्वीत, दृष्टापदानत्वात्। ते हि एनं अपचरन्तमपि न त्यजन्ति। सगन्धत्वात् (अधिकरण 1, अध्याय, 8, प्रकरण 4) इति कौटिल्येन बन्धुविषये सगन्धः शब्दः प्रयुक्तः (प्रदीप); सगर्वः

साभिमान: (चरित्र०); सगर्व:; सम्बन्धीति केचित्; गन्धो गन्धक आमोदे लेशेसम्बन्धगर्वयो: इति उभयत्रापि विश्व: (संजी०); अत्रापि यथाशब्दोऽनुपज्यते। तव प्राणभूत: समीरणो यथा त्वां चोदयति, त्वच्छरणजीवनैक-शरणस्त्वदन्यवदान्यविमुखश्चातकश्च यथा प्रशस्तभागस्थित: 'गम्यतामर्थलाभाय क्षेमाय विजयाय च' इतिवत् श्रवणसुभगमाभाषते। तथा शब्दोऽध्याहर्त्तव्य:, गम्यत्वान्नोपात्त:। तेन प्रकारणे लिङ्गेन उन्नीयते; यथोक्तं हर्षचरिते—

"निधिस्तरुविकारेण सन्मणि: स्फुरता धाम्ना।
शुभागमो निमित्तेन स्पष्टमाख्यायते लोके।।"

तथा शाकुन्तले—'हला सउन्दले एदाए अब्भुवपत्तिए सूइदा दे भत्तुणो गेहे अणुहोदवा राअकच्छी" इति (विद्युल्लता); सगर्व: गर्भस्थजलसम्वर्धनीयत्वात् सदर्पो हृष्ट: सन् (सुवोधा), प्राप्ताभीष्टजलकत्वात् सगर्व:। तदाह कोहल:—

'गर्वो वामकुलैश्वर्यरूपविद्यावलादिभि:।
इष्टार्थ विषयोत्पत्तेर्जायते नीचगोचर:।। इति।

सगर्ध इति क्वचित् पाठ:, तत्र गृधुं अभिकांक्षयां यत्र, गर्धस्तृष्णा तत्संहित:' किन्त्वेवं शाकुनविरोधो दुष्परिहार: (सुवोधा)।

गर्वयुक्त, मस्त। क्योंकि उसे जल मिलने की आशा हो गई है। यही अर्थ उपयुक्त है। इसकी पुष्टि सहर्ष: आदि पाठभेदों से भी होती है। मल्लिनाथ द्वारा अन्यों का दिया 'सम्वन्धी' अर्थ भी काम दे सकता है; क्योंकि वादलों और चातकों का सम्वन्ध कविसमय में ख्यात है। चोली-दामन का साथी (सा०)। श्री कर्माकर के मत में 'तोयगृध्नु:' पाठ ही कठिन होने से मूलपाठ हो सकता है। परन्तु यह युक्ति ठीक नहीं। कालिदास कठिनता लाने में विश्वास नहीं करते हैं। इसका दूसरा अर्थ 'सम्वन्धी' भी है, जो इस स्थल में भी ठीक वैठता है, क्योंकि कविता की दृष्टि से 'वादल' और 'चातक' का परस्पर वड़ा सम्वन्ध है। देखिये—अभि०शाकु० V 'सर्व सगन्धेषु विश्वसिति'।

1544 सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम् (पू० 53.2.7.26) सगर+ङस्+तनय+आम्+स्वर्ग+ङस्+सोपान+आम्+पंक्ति+अम्; तत्पुरुष; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; सगरनाम्नो भूपस्य तनयानां पुत्राणां स्वर्गसोपानपंक्तिं स्वर्गारोहणनिश्श्रेणीं (चरित्र०); सगरतनया नाम स्वर्गसोपानपंक्तिम्, स्वर्गप्राप्तिसाधनभूतामित्यर्थ: (संजी०); सगरपुत्राणां षष्टिसहस्रस्य कपिलमुनिकोपजातवेदसि शलभीभूतानामलब्धपुण्यगतीनां स्वर्गारोहणस्य सोपानपरम्परा-भूताम्; तज्जलस्पर्शानन्तरं तेषां चिताभस्मभूतानां पुण्यलोकारोहणदर्शनात्। अनेनावुद्धिपूर्वकमासेवनेऽपि तस्या: प्रभूतदुरितप्रक्षालनक्षमत्वम्; प्रवलभक्तिश्रद्धापुर: सरत्वे तु किं पुनरिति प्रकाश्यते। 'अपहत्य तमस्तीव्रम् यथा भात्युदये रवि:। तथापहत्य पाप्मानं गङ्गा भाति सरिद्वरा'।। इति, 'श्रुताभिलषिता दृष्टा पृष्टा पीतावगाहिता। या पावयति भूतानि कीर्त्तिता च दिने दिने।।' इत्यादिपुराणवचनानि (विद्युल्लता); सगरस्य राज्ञस्तनयानां पुत्राणां स्वर्गीय स्वर्गारोहणाय सोपानापंक्तिम् आरोहणपरम्पराम् (सुवोधा); सगरस्य तनया: सोपानाम् पंक्ति:। सोपान: पंक्ति:। सगरतनयानां स्वर्गस्य सोपानपंक्तिम्। सगर सूर्यवंशी राजा थे। इनकी विमाता ने इनकी गर्भवती माता को विष दिया था। अत: ये सगर कहलाते हैं। इन्होनें जव 100वाँ अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया, तव इन्द्र ने अपने पद के छिन जाने के भय से यज्ञ के घोड़े को चुरा लिया और पाताल में कपिल मुनि के पास वाँध दिया। सगर के 60,000 पुत्र अश्व की खोज में वहाँ पहुँचे। उन्होनें समझा कि कपिल ही चोर हैं। अत: उन्होनें ऋषि का अपमान किया और उनके तप में विघ्न डाला। ऋषि ने क्रुद्ध होकर सव को भस्म कर दिया। सगर का पोता अंशुमान् घोड़े को तो ले आया, परन्तु उसके पितृगण सौ वर्षों तक इसी अवस्था में

पड़े रहे; क्योंकि इनका उद्धार गंगा के जल के छूने पर ही हो सकता था। अंत में बड़े घोर तप के पश्चात् भगीरथ गंगा को पृथिवी पर लाने और फिर पाताल में ले जाने में सफल हुए। तब इन सभी जले हुये सगर के पुत्रों का उद्धार हुआ। भगीरथ के परिश्रम के कारण ही गंगा भागीरथी कहलाती है। विसतार के लिए देखो—रामायण, बालकण्ड, सर्ग 35-44. सगर सूर्यवंशी राजा था। उसकी विमाता ने जन्म से पूर्व उसकी माता को विष (गर, गरल) दे दिया था। जन्म के बाद उसका नाम सगर (स-गर)—विषवाला पड़ा। सगर की दो रानियाँ थीं, जिनका नाम केशिनी और सुमति था। उन्हें भृगु से दो वर प्राप्त हुए। पहले वर से केशिनी के असमञ्जस नाम का पुत्र हुआ और दूसरे वर से सुमति के 60,000 पुत्र हुए। असमञ्जस के पुत्र का नाम अंशुमान्, उसके पुत्र का नाम दिलीप और उसके पुत्र का नाम भगीरथ था। सगर के पर प्रपौत्र भगीरथ ने यह काम अपने हाथों में लिया और वे कठोर तपस्या करके गङ्गा की धारा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने में सफल हुए एवं उन्होंने गङ्गा-जल से अपने 60,000 चचरे प्रपितामहों का उद्धार किया। इस सम्बन्ध में देखिये उत्तर० 1.23 'तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे कपिलमहसा रोषात्प्लुष्टान्पितुश्च पितामहान्। अगणिततनूतापांस्तप्त्वा तपांसि भगीरथो भगवति तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुदतीतरत्।।'

1545 **संकल्पन्ते (पू० 54.1.16.49)** सम्+कृप्+लट् प्रथम पुरुष, बहुवचन; नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालम्' (2.3.16) इति सूत्रे त्वलं शब्दस्यार्थग्रहणात् पर्याप्तवाचिनः क्लृपिधातोर्योगे स्थिरगणपदप्राप्तये इति चतुर्थीनिर्देशः (प्रदीपः); साधुशक्ता भवन्ति (चरित्र०); समर्था भवन्ति (संजी०) 'कल्पिष्यन्ते' इति पाठः। योग्या भविष्यन्ति। 'तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजोऽपि शुद्धये' इति वत् (विद्युल्लता), **कल्पन्ते**—समर्था भवन्ति। "शक्तार्थवषडि" त्यादिना शक्तार्थे चतुर्थी (सुबोधा); **कल्पिष्यन्ते**—√क्लृप् (समर्थ होना)+लृट् प्रथम पु० एकव०। समर्थ होंगे। इसके स्थान पर 'संकल्पन्ते' और 'कल्पन्तेऽस्य' पाठ मिलते हैं। ऊर्ध्वम्' के साथ समता के लिए इन दोनों पाठों को भविष्यत् काल में लेना होगा। अतः पहला पाठ ही अच्छा है। इसकी अपेक्षा वल्लभ या विल्सन के द्वारा दिया गया 'कल्पन्तेऽस्य' यह पाठ भी अच्छा प्रतीत होता है। इस पाठ में 'अस्य' का अर्थ 'शिवजी के' है, किन्तु वर्तमान काल मानने के लिए विल्सन को सारो० और म०सि० की तरह द्वितीय पाद में आये 'ऊर्ध्वम्' के स्थान में 'दूरम्' पाठ मानना पड़ा है; 'ऊर्ध्वम्' वाले पाठ में शरीर छूटने के बाद ही 'स्थिर-गण-पदप्राप्ति' के योग्य हो सकेंगे। यह भविष्यकालीन प्रयोग ही ठीक है। 'कल्पिष्यन्ते' के स्थान में सारो० मे०सिं० तथा सुमति० ने सङ्कल्पन्ते पाठ दिया है, परन्तु सम् पूर्वक √कल्प का अर्थ प्रायः निश्चय करना होने से 'कल्पिष्यन्ते' ही ठीक है।

1546 **संक्षिप्येत (उ० 47.1.13)** सम्+क्षिप्+लिङ्, कर्मवाच्य; प्रथमपुरुष, एकवचन; प्रार्थनायां लिङ् (प्रदीपः); लघु क्रियेत् (संजी०); गच्छेयुः (पंचिका)।

1547 **संगमम् (उ० 44.4.24.41)** सङ्गम+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; संयोगम् (चरित्र०); सहवासम् (संजी०); समागमम् (पंचिका); पादप्रणामेन मिलनं (सुबोधा)।

1548 **संगमात् (उ० 39.4.22.57)** सङ्गम+ङसि, संज्ञा, पञ्चमी एकवचन; अतः परमवधाने किं कारणमित्यपेक्षायामाह- सङ्गमात् (प्रदीपः); संयोगात् (चरित्र०); कान्तसम्पर्कात् (संजी०); सम्मिलनात् (सुबोधा); यहाँ संगम का अभिप्राय मिलन; संयोग और सम्भोग से है।

1549 **संगीताय (उ० 1.2.5.19)** संगीत+ङे; संज्ञा, चतुर्थी, एकवचन; नृत्तवाद्यगीतानां त्रयं संगीतम् (प्रदीप); संगीतस्य नृत्यगीतवाद्यादित्रयस्य अर्थाः हेतवः (चरित्र०); तौर्यत्रिकायाः (संजी०); गुणनिकार्थम् (पंचिका); गानार्थ (सुबोधा); नृत्य, वाद्य और गीत के सम्मिलित कार्यक्रम को संगीत कहते हैं—नृत्यं वाद्यम् तथा गीतं त्रयं संगीतमुच्यते। संगीतरत्नाकर।

कामसूत्र 13.15 में परिगणित 64 कलाओं में गीत, वाद्य, नृत्य और आलेख्य को क्रम से पहली चार कलाएँ माना है। अत: संगीत और चित्रकर्म कामियों के लिए दो मुख्य कलायें हैं। इनके वर्णन से अलका के निवासियों की कामुकता का परिचय दिया गया है। इस पद्य के 'वनिता' और 'मणिमयभुव:' पद भी इसी का उल्लेख करते हैं। इस भाव का सविस्तार वर्णन उ०मे० 2.4.5.6.7.10.11 पद्यों में किया गया है। इसका आरम्भ पू०मे० 67 में ही हो चुका है। चतुर्थी विभक्ति यहाँ 'सङ्गीतङ्कर्त्तुम्' के अर्थ में "क्रियार्थोपपदस्य च कर्म्मणि स्थानिन:" (अ० 2.3.14) के अनुसार सङ्गत है। श्लोक में प्रकृति विशेषण को छोड़कर सभी एकपदात्मक ही हैं। इस जगह दो पद हो जाने से 'प्रक्रमभङ्ग' दोष आ गया है। वस्तुत: रचना को जैसी उठान कवि ने दी है, उसको उसे निभाना चाहिए; अन्यथा प्रस्तावौचित्य बिगड़ जाता है। भग्नप्रक्रम का लक्षण है—"भग्न: प्रक्रम: प्रस्तावौचित्यं यत्र तत्" (काव्यप्रदीप)। नागेश ने 'प्रस्तावौचित्य' को इस प्रकार स्पष्ट किया है 'येन रूपेणोपक्रमस्तेनोपसंहार:'। यहाँ पर एकपदात्मक उपक्रम को अन्त तक निभाना चाहिए। कवि ने उसे यहाँ 'सङ्गीताय' और 'प्रहतमुरजा:' लिखकर भग्न कर दिया। इस प्रकार 'भग्न-प्रक्रम' दोष आ गया है। दक्षिणावर्तनाथ के पाठ 'सङ्गीतार्थप्रहतमुरजा:' में इस दोष के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। अत: उसे काव्यसौष्ठव की दृष्टि से बेहतर पाठ माना जा सकता है।

1550 संगीतार्थ: (पू० 59.4.18.35) सङ्गीत+सु+अर्थ+सु; कर्मधारय, संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; सङ्गीतस्य हेतु:। सङ्गीतं नाम प्रेक्षणीयनृत्तगीतवाद्यात्मकं त्रयम्। ननु सङ्गीतशब्दस्य नृत्तादित्रवाचकत्वं नास्ति, नाटकेषु संगीतकमनुतिष्ठामीति दर्शनात्। संगीतशब्दस्तु गायनमात्रे प्रयुज्यते तथा कुमारसम्भवे-वनान्तसंगीतसखीररोदयत इति। वक्ष्यति च संगीताय प्रहतमुरजा इति कथमत्र संगीतस्य नृत्तादित्रयवाचकत्वमस्तीति व्याख्यायते इति। उच्यते संगीतशब्दस्यैव नृत्तादित्रयवाचकत्वं यादवेनोक्तम् 'नृत्तं गीतं वाद्यमिति नाट्यं तौर्यत्रिकं त्रिकम्। संगीतं प्रेक्षणादर्थेऽस्मिन् इति (प्रदीप); गीतनृत्यवाद्यत्रयं नाट्यं तौर्यत्रिकंच तत्। संगीततं प्रेक्षणीयार्थेऽस्मिन' इत्यभिधानचिन्तामणि: (चरित्र०); सङ्गीतं सम्यग्गीतं; तौर्यत्रिकं तु संगीतं न्यायारम्भे प्रसिद्धके। तुर्याणां त्रितये च इति शब्दार्णव:; तदेवार्थ: संगीतार्थ: संगीतवस्तु:; अर्थोऽभिधेय रयि वस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु इत्यमर: (संजी०); सङ्गीताभिधेयं सङ्गीतमेव किंवा सङ्गीतप्रयोजनं। वंशकण्ठस्वरमुरजध्वनिमेलक: सङ्गीतमिति वंशकण्ठस्वर दर्शयति। "कण्ठवंशमृदङ्गानां शब्दै: सङ्गीतकं विदु" रिति पुरुषोत्तम: (सुबोधा); संगीत में तीन वस्तुएँ होती हैं—गीत, वाद्य और नृत्य। यहाँ कीचकों का शब्द नृत्य है, 'किन्नरियों का गान' गीत है और बादल का 'गजर्न' वाद्य है। अत: सगीत की सभी वस्तुएँ उपस्थित हो जाती हैं। नृत्यस्तत्र पूर्ण: पाठ सम्भवत: मूल में संशोधन के अभिप्राय के कल्पित किया गया है। परन्तु वह कवि को अभीष्ट प्रतीत नहीं होता। सारो० में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—'तथा वादनृत्यस्यार्थ:=समुदाय:। इसका यह अर्थ किया जा सकता है 'संगीत की सामग्री' संगीत का शाब्दिक अर्थ वह गायन है, जिसके साथ वादन तथा नृत्य भी हो; परन्तु इस श्लोक में नृत्य का उल्लेख ही नहीं है; अतएव मल्लिनाथ ने 'पशुपते:=शिवस्य नृत्ये इति शेष: लिखकर नृत्य का अध्याहार किया है।

1551 सचित्रा: (उ० 1.1.4.15) सह+चित्र+टा+जस्; बहुव्रीहि, प्रथमा, बहुवचन; आलेख्यसहिता: (प्रदीप:); चित्रेण आलेख्येन सह वर्तन्त इति; आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम् इत्यमर: (चरित्र०); सहचित्रैर्वर्त्तन्ते इति सचित्रा:; 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्तम्' इत्यमर:, 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहि:; 'वोपसर्जनस्येति' सहशब्दस्य सादेश: (संजी०); सालेख्या (पंचिका); चित्रेणालेख्येन सहिता: (सुबोधा); चित्रै: सह वर्तन्ते इति सचित्रा:। उन भवनों की दीवारों पर रंग-बिरंगे चित्र बने हुए थे। इस कारण वे बड़े सुन्दर थे।

1552 सजलनयनै: (पू० 23.3.13.33) सजल+जस्+नयन+भिस्, बहुव्रीहि, संज्ञा, तृतीया बहुवचन; मेघसन्दर्शनानन्देन

साश्रुजलनयनैः। अनेन शुक्तिपात्रगतं पाद्यजलं सूचितम् (प्रदीपः); स्नेहत्वात् जलेन स्नेहाश्रुपानीयेन सह वर्तन्त इति सजलानि नयनानि येषां ते तैः। अथ च उक्तिः। यथा कश्चित् स्नेहाश्रुजलं मुञ्चन् स्वागतमिति वाक्यं ब्रुवन् परदेशादागतं मित्रं प्रत्युद्याति (चरित्र०); सजलानि सानन्दवाष्पाणि नयनानि येषां तैः (संजी०); चिरसन्दर्शनसंभृतानन्दवाष्पविन्दुभिः संस्तम्भितनयनैः (विद्युल्लता); भवद्दर्शनानुरागात् सानन्दाश्रुभिः (सुबोधा); सनयनजलत्वमत्र चिरेण मित्रालोकनात् (पञ्चिका)।

अनुवाद में तथा टीकाकारों ने इसे शुक्लापाङ्गैः का विशेषण बनाया है। इसे स्वतन्त्र पद लेकर 'सजलनयनैः पाद्यम् परिकल्प्य' आँसुओं से भरी हुई आँखों से पैरों को धोने का जल तैयार करके यह अर्थ भी लिया जा सकता है। ये आँसू हर्ष के हैं। मोर वर्षा ऋतु में परम प्रसन्न होता है। दन्तकथा है कि वर्षाऋतु में मोर गर्भाधान करते हैं। यह गर्भाधान मोरनी को मोर के आँसू पीने से हो जाता है। सर्वत्र कवि सम्भोगरत प्राणियों के वर्णन में कृतप्रयत्न है। अतः यहाँ सम्भोगरत होने के कारण आँसुओं से भरी हुई आँखों से वा, वाले—अर्थ पद्य के अर्थ को अत्यन्त ही चमत्कृत कर देगा।

1553 सततगतिना (उ० 8.1.3.8) सततगति+टा; संज्ञा, तृतीया, एकवचन; वायुना (प्रदीप); मरुता (चरित्र०); सदागतिना वायुनाः 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः (संजी०); वायुना (पंचिका); वायुना (सुबोधा); सततं सतता वा गतिर्यस्य तेन। जो सदा चलती रहती है। वायु। सदा चलती रहने से वह तो निरपराध है। मेघ ही दोषी ठहरता है। सतत—सम्+√तन्+क्त। इसके सतत और सन्तत दोनों ही रूप होते हैं। इसी प्रकार सम्+√धा+क्त के 'संहित' और सहित रूप होते हैं। सम्+√तन्, तना० उभ० (ले जाना)+त (क्त)। सम् के 'म्' का तत या हित के पूर्व विकल्प से लोप हो जाता है। सम्+तनु विस्तारे+क्तः 'समो वा हिततत्योः' (वा० 6.1.144) इत्यनेन समो मलोपः। सततम्। सततं गतिर्यस्य स सततगतिर्वायुः। 'सतत' अव्यय 'सदा' के अर्थ में आता है और 'सदागति' 'पवन' की संज्ञा है। " शश्वद्भीक्ष्णं नित्यं सदा सततमजस्रीमिति सातत्ये" तथा "मातरिश्वा सदागतिः"—ये कोशवाक्य प्रमाण रूप से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। बादलों को ले आने व ले जाने वाला पवन ही हुआ करता है; वही उनका प्रेरक है। पूर्वमेघ में कालिदास ने लिखा है—"मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो तथा त्वाम्।"

1554 सताम् (उ० 53.4.23.43) सत्+आम्; संज्ञा, षष्ठी, वहुवचन, उत्तमानाम् (प्रदीप); सत्पुरुषाणाम् (संजी०); महताम् (पंचिका); साधूनाम् (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सत्रह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष काव्यों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—रघु० (7), शाकु० (3), कुमार० (3), विक्रम० (3)।

विसतृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1555 सति (पू० 62.4.12.66)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग नौ बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में चार बार (7.71; 8.40; 8.69; 16.10), कुमार० में दो बार (1.59; 3.28), विक्रम० (4.10), तथा मालवि० (1.36) में एक-एक बार हुआ है।

1556 सद्यः (चतुर्वारं प्रयुक्तम्) **(पू० 25.2.6.13; उ० 8.2.8.40; 20.1.2.2; 46.1.2.2;)** अव्यय; तत्क्षणात् (चरित्र 25); सपदि (संजी० 20); तत्क्षणम् (पंचिका 20); तत्क्षणम् (पंचिका 36); तत्क्षणम् (पंचिका 46); गमनानन्तरमेव (विद्युल्लता 25); तत्क्षणम् (सुबोधा 28); तत्क्षणं गमनवात्रमेव (सुबोधा 20); तत्क्षणं (सुबोधा 36); तत्क्षणं (सुबोधा 47)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सत्ताइस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों

में इसका प्रयोग इस प्रकार है—रघु० (13), कुमार० (3), शाकु० (2), मालवि० (2), ऋतु० (2), विक्रम० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1557 **सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि (उ० 36.4.21.51)** सद्यः+कण्ठ+ङसि+च्युत+सु+भुजलता+ङस्+ग्रन्थि+सु; बहुव्रीहि; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; सद्यः कण्ठात् प्रच्युतो बाहुलताग्रन्थिः पाशो यस्त तत् (चरित्र०); सद्यः तत्क्षणं कण्ठात् च्युतः स्रस्तो भुजलतयोर्ग्रन्थिः बन्धो यस्य तत, कथंचित् लब्धस्यालिंगनस्य सद्यो विघातो भाभूदित्यर्थः (संजी०); गलभ्रष्टबाहुवल्लिपाशं माभूत; अश्लेषविच्छेदो मास्म भव इत्यर्थः (पंचिका); भुजावेव बाहुएव लते वल्यो तयोग्रन्थिर्बन्धऽन्योन्यमिलनं कण्ठात् गलात् च्युतस्रस्तो यस्त (सुबोधा०)।

1558 **सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य (पू० 62.2.5.30)** सद्यः+कृत्त+सु+द्विरद+ङस्+दशन+ङस्+छेद+सु+इव+गौर+ङस; तत्पुरुष, विशेषण, षष्ठी बहुवचन; सद्यः कृत्तश्छिन्नश्चासौ द्विरदस्य दन्तस्य छेदस्तद्वत् गौरस्य (चरित्र०); सद्यः कृत्तस्य छिन्नस्य द्विरददशनस्य गजदन्तस्य छेदवदगौरस्य धवलस्य (संजी०); सद्यस्तत्क्षणं कृत्तश्छिन्नो यो द्विरदस्य हस्तिनो दशनो दन्तस्तस्य यश्छेदः खण्डं तद्वद गौरस्य शुभ्रस्य; छेदोपमानेनातिस्निग्धशुभ्रत्वं सूचितम् (सुबोधा);

हाथी के दाँत प्रतिवर्ष फुट-डेढ़ फुट बढ़ते हैं। उन्हें वर्ष में एक बार आरी से कटवा देते हैं। जिस जगह से दाँत काटा जाता है, वह छेद (हिन्दी छेवा) कहलाता है। दाँत के ऊपरी रंग की अपेक्षा इस कटे हुए छेवे का रंग एकदम गोरा-चिट्टा होता है। उसी के रंग से कैलास के रंग की तुलना की गई है। (अग्र०) सद्यः कृत्तस्य द्विरददशनस्य छेदवत् गौरस्य। कृत्त √कृत् (काटना)+क्त। तुरन्त के काटे हुए हाथी दाँत के टुकड़े के समान सफेद।

1559 **सद्यःपाति (पू० 9.4.15.25)** सद्यः+पत्+णिनि+सु; विशेषण; प्रथमा, एकवचन; तत्क्षणादेव पतनशीलं (चरित्र०); सद्यो भ्रंशनशीलम् (संजी०); यस्मिन् क्षणे दुःखप्राप्तिः, तत्क्षण एव पाते नाशे प्रणयि वद्योद्योगम् (विद्युल्लता); तत्क्षणपतनशीलम् (सुबोधा), सद्यः पातप्रणयीति पाठे पातप्रणयि पतनायत्तम् (सुबोधा); सद्यः पतितुम् शीलमस्य। देखो—स्त्रीस्वभावस्तु कातरः। वियोगिनियाँ प्रेमी के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनाये करती हैं। अतः छोटी-सी बात भी उनके दिल को तोड़ देती है।

1560 **सद्यस्सीरोत्कषणसुरभिः (पू० 16.3.9.44)** सद्यः सीरोत्कषण+टा+सुरभि+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; इदमारोहणं क्रियाविशेषणम्। वर्षानन्तरं हलोत्कषणसुरभिगन्धमित्यर्थः (प्रदीप); तत्क्षणात् सीरेण हलेन उत्कर्षणंविदारणं तेन सुरभीणि क्षेत्राणि यस्य तत् (चरित्र०) सद्यः तत्कालमेव सीरैः हलैः उत्कर्षणेन सुरभिघ्राणतर्पणं यथां तथा; 'सुरभिर्घ्राणतर्पणम्' इत्यमरः (संजी०); समनन्तरमेव हलमुखोल्लिखितेषु घर्मवप्तेषु प्रदेशषु त्वदुपगमजनितनव-वर्षावसेकात् घ्राणेन्द्रियप्रीणनयुक्तम्। 'अथौ फलम्'। तत्क्षणं सीरेण हलेन यदुत्कर्षणं तेन सुरभिः सुगन्धिः (सुबोधा); सद्य इति तत्क्षणहलकर्षितभूमौ जलविन्दुसंयोगेन सुगन्धित्वमुत्पद्यते इत्युक्तम्। सुगन्धित्वञ्चान्यथानुपपत्या भूमेर्दग्धत्वं जलबिन्दुयोगित्वञ्चोन्नेयम्। सौरभोपलम्भेन परमानन्दस्तव संपत्स्यते इति ध्वनितम् (सुबोधा); निरीषं कूटकं फालः कृषिको लाङ्गलं हलम्। गोदारणं च सीरः' इत्यमरः; 'सुरभिर्घ्राणतर्पणः' इति च (विद्युल्लता);

अनुवाद में 'अभी-अभी' का अर्थ है—अभी तुम्हारे भूमि पर प्रथम वर्षा के पश्चात्। मल्लिनाथ ने इसे क्रिया-विशेष रक्खा है—सद्यस्तत्कालमेव सीरैर्हलैरुत्कषणेन कर्षणेन घ्राणतर्पणं यथा तथा। यही उचित प्रकार हैं; क्योंकि इसी में तुरन्त जोते हुए खेत का वर्षा के कारण सुगन्धित होना सम्भव है। इसे विशेषण के रूप में लेने से—'केवल जोतने मात्र से सुगन्धित'—यह भाव निकलेगा और बादल का इस सुगन्धि से

कोई सम्बन्ध न होगा। यदि सुरभिक्षेत्रम् एक शब्द लिया जाय (देखो, पार्श्वाभ्युदय, विल्सन) तो यह 'मालम्' का विशेषण बन जायगा और बहुव्रीहि समास तब 'अभी तुम्हारी वर्षा के पश्चात् जोतने के कारण सुगन्धयुक्त खेतों वाले' यह अर्थ होगा। यही अर्थ और पाठ सत्य प्रतीत होते हैं।

1561 सन् (पू० 27.1.2.24)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग नौ बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में पाँच बार (1.9; 2.61; 5.16; 8.72; 19.53), कुमार० (5.77), शाकु० (4.1), तथा विक्रम० (5.18) में एक-एक बार हुआ है।

1562 सन्तप्तानाम् (पू० 7.1.1.3) सन्तप्त+आम्; विशेषण, षष्ठी, बहुवचन; आतपसन्तप्तानां कामसन्तप्तानां च। ननु कामसन्तप्तानां मेघालोकनं विरोधि? उक्तं च 'कण्ठाश्लेषप्रणयिनिजने किं पुनर्दूरसंस्थे' इति। तत्कथं कामसन्तप्तानामिति गृह्यते? उच्यते मेघः खलु प्रोषिताप्रियतमप्रेरणया तान्प्रोषितान्प्रियतमाभिः सङ्गमय्य तेषां मिथुनानां सन्तापं हरति, तस्मात् सन्तप्तानां त्वमसि शरणभित्युक्तम् (प्रदीप); आतपेन स्मरेण च संतप्तानां पीडितानां प्राणिनाम् (चरित्र०); आतपेन वा प्रवासविरहेण वा संज्वरितानाम्; 'सन्तापः संज्वरः समौ' इत्यमरः (संजी०); कर्कशतरनिदाघार्ककिरणदावसम्पर्कनितान्ततप्तानाम् अविशेषोक्त्या स्थावराणां जङ्गमानां च भूतानामिति सिध्यति (विद्युल्लता); 1. गरमीं से तङ्ग आये हुए। 2. पति या पत्नी के वियोग से दुःखी।

1563 सन्देशम् (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 7.2.8.14; 13.2.6.22)** सन्देश+ अम्, संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; श्यामास्वङ्गमित्यादिना वक्ष्यमाणाम् (प्रदीप); वार्ताम् (चरित्र०); वाचिकम् (चरित्र 13); वार्त्ताम् (संजी० 7); वाचिकम्; 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः (संजी० 13); सन्देशमिति सन्देशस्यानन्तरश्रवणेनाविस्मरणं ध्वनितम्। एवं हि लोकव्यवहार इति च (सुबोधा 13)।

1564 सन्देशार्था (पू० 5.2.5.23) सन्देश+जस्+अर्थ+जस्; कर्मधारय समास; संज्ञा, बहुवचन; सन्देश एव अर्थः सन्देशार्थ इति कर्मधारयः (प्रदीप); सान्देश्यन्त कथ्यन्ते इति सन्देशा ते च ते अर्थाश्च (चरित्र०); सान्देश्यन्ते इति सन्देशा ते एव अर्थाः (संजी०); सन्दिश्यमान वस्तूनि (सुबोधा); सान्देश्मानस्य वचनस्य अभिधेयाः (विद्युल्लता); सान्देश्यन्त इति सन्देशाः, कर्मणि घञ्, ते च ते अर्था वस्तूनि चेति ते तथा, सान्देश्यमानवस्तूनि इत्यर्थः। यद्वा सन्देशः संवादः तदर्थास्तद्रूपतया वाच्यानि वस्तूनि, किंवा सन्देशः संवादः सः एवार्थः प्रयोजनं यासां ताः सन्देशार्थाः वच इत्यर्थः। (सुबोधा)

1565 सन्ध्याबलिपटहताम् (पू० 37.3.14.29) सन्ध्याबलि+ङि+पटहता+अम्; तत्पुरुष; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; सन्ध्यासमयभूतवलीप्रदानार्थः पटहः (प्रदीप); देवपूजानकत्वम्। 'बलिः पूजोपहारे च' इति वैजयन्ती। 'आनकः पटहोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः (चरित्र०); सन्ध्यायां बलिः पूजा तत्र पटहताम् (संजी०); सन्ध्याबलिः सायं सन्ध्याकालपूजोपहारः। 'बलिः पूजोपहारे च दैत्यभेदे करेऽपि च' इति वैजयन्ती। पटहः आनकवाद्यविशेषः। 'आनकः पटहो ज्ञेयः' इत्यमरः (विद्युल्लता); सायंसमयपूजावाद्यभेदभावं। "बलिः पूजोपहारे स्यात् कर-चामरदण्डयों" रिति धरणिः। पटह शब्देनात्र कार्यकारणयोरभेदोपचारात् तत्कृतो ध्वनिरुच्यते, किंवा पटहतां पटहभावमेव कुर्वन् तत्तुल्यध्वनिकरणादित्याक्षेपात्। आनकः पटहोऽस्त्री स्यादि'त्यमरः। केचित्तु सन्ध्यावलिपटहतां वृषोत्सर्गवाद्यम्:' तथा चोत्तरतन्त्रं, "ये शिवायतनोत्सृष्टास्ते सन्ध्यावलयो वृषा" इतीति व्याचक्षते, किन्त्वत्र नयनविषयं यावदभ्येति भानुरिति व्यर्थ स्यात् वृषोत्सर्गवाद्ये कालनियमाभावात्। सन्ध्यासमयेऽङ्कितो वृषः सन्ध्यावलिरित्यत्र तु प्रमाणं नास्ति (सुबोधा); सन्ध्यावलीत्यत्र सन्ध्याशब्देन प्रातःसन्ध्योच्यते प्रातःकाले हि देवालये पटहो वाद्यते, तत्र त्वमेव आमन्द्रपटहो भावीत्यर्थः, इति व्याचक्षते (सुबोधा);

पौराणिक सम्प्रदाय में त्रिकाल सन्ध्या मानी गई है—प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में। शाम की संन्ध्या

में विशेष उत्साह होता है। अत: सायंकालीन सन्ध्या में नगाड़े का काम देने को कहा गया है। महाकाल की पूजा के समय मेघ अपनी गम्भीर गर्जना से बजते हुए नगाड़े का काम देगा, यह कवि की कल्पना है।

1566 **सन्नद्धे (पू० 8.3.10.33)** सम्+नह्+क्त+ङि; विशेषण, सप्तमी, एकवचन; प्रोषितनिर्वर्तनोद्युक्ते (प्रदीप); समागते सति (चरित्र०); व्यापृते सति (संजी०); बद्धोद्योगे (विद्युल्लता); संजी०भूते उदिते वा उपस्थिते वा सति (सुबोधा); सन्नद्ध इत्यनेन स्निग्धविद्युद्युक्तत्वादि ध्वन्यते (सुबोधा); सम्+नह्+क्त। तैयार। अपने काम के लिए अपनी गर्जन, बिजली, जल आदि सामग्री सहित उद्यत होने पर। 'सन्नद्धे' की सारोद्धारिणी में इस प्रकार व्याख्या है—'प्रकटितसुरधनुतडिल्लतागर्जितादि सामग्रीके'। देखिये विक्रम० VI.1. नवजलधर संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचर:।'

1567 **सन्निकृष्टम् (उ० 15.3.13.40)** सन्निकृष्ट+अम्; विशेषण; द्वितीया; एकवचन; समीपम् (चरित्र०); सन्निहितम्, सुगममपीत्यर्थ: (संजी०); निकटम् (पंचिका); समीपमपि (सुबोधा); सम्+नि+√कृष्+क्त। समीप।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० में एक बार (152.3) हुआ है।

1568 **सन्निपत्य (पू० 29.3.9.71)** सम्+नि+पत्+क्त्वा, अव्यय, सङ्गमं कृत्वा। एवं विलासं आविष्कुर्वत्या: निर्विन्ध्याया: रतिमनुभव इत्यर्थ: (प्रदीप); एकस्थीकृत्य (चरित्र०); संगत्य (संजी०); संगम्य (विद्युल्लता); प्राप्य अनुभूय (सुबोधा)।

1569 **सन्निपात: (पू० 5.1.2.15)** सम्+नि+पत्+घञ्; विशेषण, प्रथमा एकवचन; समुदाय: (प्रदीप); समुदायरूप: (चरित्र०); संघात: (संजी००); समवाय: मेघक: तद्रूप: (सुबोधा); संश्लिष्ट: समुदाय:, 'गुणसन्निपाते निमज्जति' इतिवत् (विद्युल्लता); समवायो मेलक:, तद्रूप: (सुबोधा)।

1570 **सन्निवृत्तम् (उ० 29.2.8.30)** सम्+नि+वृत्+क्त+अम्; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; स्वयमेव सन्निवृत्तम् (प्रदीप); यथा गत तथैव प्रतिनिवृत्तम्, तदा तेषां अतीव दु:सहत्वादिति भाव: (संजी०); ततो मद्विरहेण खेदकारित्वात् तथैव सन्निवृत्तम्, यद्वदेव रभसात् गतं तद्वदेव प्रत्यागतमित्यर्थ: (पंचिका); यदैवं गतं तदैव सम्यग्व्यावृत्तम् (सुबोधा); हट जाती है। क्योंकि विरह में चन्द्रमा की किरणें आग के समान हो जाती हैं और जलाने लगती हैं तो अमृत सूर्य (श० 10.2.6.19) की बनी हुई ही फिर क्यों न जलातीं। समान भाव के लिए विक्रमो० 3.30 और शाकु० 3.3 देखें। पति के सहवास के समय चाँद की किरणें यक्ष-पत्नी को बड़ा आनन्द देती थीं। उसी अनुभव के आधार पर वियोग में भी ज्यों ही उसने चन्द्र-किरणों की ओर नजर डाली कि वे ही किरणें उसके तन को जलाने लगीं। इसलिए उसे उनकी ओर से अपनी नजर उसी क्षण मोड़ लेनी पड़ी। विचारसाम्य के लिए देखिये—अभि०शाकु० III.3 विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै:' तथा काव्यप्रकाश—यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य। यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (7.71) हुआ है।

1571 **सन्निषण्णैकपार्श्वाम् (उ० 28.1, 3.21)** सन्निषण्ण+सु+एक+सु+पार्श्व+टाप्+अम्; बहुव्रीहि; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; सन्निषण्णं एकं वामदक्षिणयोरन्यत् पार्श्व यस्या: सा ताम् (चरित्र०); सन्निषण्णं एकं पार्श्व यस्या: ताम् (संजी०); सम्यक् निक्षिप्तम् एकं पार्श्व यया तादृशीम् विस्मृतपार्श्वान्तरपरिवर्तनामित्यर्थ:। एतेन विषयान्तरव्याप्ततया चतुर्थीयमवस्था (सुबोधा); संनिषण्णा—सम्+नि+सद्+क्त। भाव यह है कि वह

पतिचिन्ता में इतनी मग्न थी कि वह बिस्तर के एक ओर ही पड़ी रहती थी। करवटें लेना भूल गई थी। अथवा वह इतनी दुबली हो गई थी कि करवट भी नहीं बदल सकती थी। (क्षामत्वात् परिवर्तितुमसमर्थेति भाव:) सन्निकीर्णैक पार्श्वाम्—पा०भे० इस पाठ को वल्लभदेव और भरतसेन आदि ने समीचीन माना है। मल्लिनाथ ने 'सन्निषण्णैकपार्श्वाम्' पाठ मानकर उसका विग्रहमात्र प्रस्तुत किया है—'सन्निषण्णम् एकम् पार्श्वं यस्यास्ताम्।' "√कृ विक्षेपे" (तुदादि०) से क्त-प्रत्यय लगने पर "रदाभ्यां निष्ठातो न: पूर्वस्य च द:" (8.2.42) सूत्र के नकार और फिर "रषाभ्यान्नोण: समानपदे" से णत्व होने पर और 'ऋृत इद्धातो:' (7.1.100) से 'कीर्ण' निष्पन्न होने पर 'निकामं कीर्णम्' (प्रादितत्पुरुष)। "सम्यग् निकीर्णम्, सन्निकीर्णम्" भी "प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया" (वा०) से सिद्ध होगा। फिर 'सन्निकीर्णम् एकं पार्श्वं यया' यह बहुव्रीहि समास होगा। कवि का आशय यह है कि यक्षी एक करवट पड़ गई तो उसी करवट पड़ी रह गई। उसे प्रियतमगतहृदय होने के कारण करवट बदलने की सुध-बुध ही नहीं रह गई। वह चित्रलिखित सी वैसी की वैसी पड़ी रह गई। पूर्ण सरस्वती के शब्दों में—'प्रियतमगतहृदयतया पार्श्वान्तरपरिवृत्तिविरहेण एकेनैव पार्श्वेन लिखितवदवस्थानं व्यज्यते।"

1572 **सन्नयस्ताभरणम्** (उ० 32.1.2.10.) सन्न्यस्त+सु+आभरण+अम्; बहुव्रीहि, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; शरीरसादात् त्यक्ताभरणम् (प्रदीप); सन्न्यस्तानि त्यक्ताभरणानि यस्य तत् (चरित्र०); कृशत्वात् परित्यक्ताभरणम् (संजी०); त्यक्तमण्डनम् (पंचिका); संत्यक्तालंकारम्, सन्न्यस्ताभरणत्वेनानुस्मृत्यवस्था चोक्ता: तथा च विद्वेषादन्यकार्याणामनस्मृतिरुदाहृते' ति (सुबोधा०); यक्षपत्नी ने दुर्बलता के कारण आभूषण उतार दिये थे। वास्तव में विरहिणी होने के कारण उसके लिए आभूषण पहनना निषिद्ध था। अत: उसने आभूषणों को त्याग दिया था। सम्+नि+असु+क्षेपणे (दिवादि)+क्त=सन्न्यस्तम्। सन्न्यस्तानि आभरणानि यस्य तत् सन्न्यस्ताभरणम्। आ+डुभृञ् धारणपोषणयो: (जुहोत्यादि)+ल्युट् (करणे)=आभरणम्।" व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि सौन्दर्य के पोषक अलङ्करणों को आभरण कहेंगे। प्रोषितपतिका के लिए ऐसे अलङ्करणों का उपयोग नितान्त वर्जित है। विद्युल्लताकार ने शास्त्र का उद्धरण दिया है—गतवति दयिते तु क्वापि माङ्गल्यमात्राण्यपचितगुरुविप्रा धारयेद् मण्डनानि।" मङ्गलसूत्रादि विवाहिता के अनिवार्य अलङ्करणों को छोड़ कर शेष शोभामात्रार्थ आभूषणों का परित्याग कर दिया जाता था। पूर्णसरस्वती ने लिखा है—कण्ठसूत्रादिमङ्गलाभरणव्यतिरेकेण सन्न्यस्तानि त्यक्तानि आभरणानि केवल-शोभार्थानि येन।" इसके विषय में मल्लिनाथ का कथन है कि कृश हो जाने के नाते नहीं पहनती थी, तनिक भी समीचीन नहीं प्रतीत होता। कृशत्वात् परित्यक्ताऽभरणम्" से प्रोषितपतिका के पतिव्रत-धर्म के पालन की बात और मजबूरी की बात अधिक टपकती है। ऐसा ही अनौचित्यपूर्ण अर्थ भरतसेन ने भी लिया है। उन्होंने तो विकल्प से 'द्वेषाद्" की बात प्रस्तुत करके विपरीत व्यभिचारभाव की भी ध्वनि करानी चाही है।

1573 **सपदि** (द्विवारं प्रयुक्तम्) (पू० 54.3.14.32; 57.2.6.27) अव्यय; शीघ्रम् (चरित्र 54); अवतरणानन्तरमेव (विद्युल्लता 54); अचिन्तितमेव (विद्युल्लता 57); तत्क्षणं (सुबोधा 15)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चौदह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—रघु० (9), कुमार० (2), शाकु० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोश:'।

1574 **सभ्रूभंगप्रहितनयनै:** (उ०12.3.14.34) सभ्रूभङ्ग+टा+प्रहित+जस्+नयन+भिस्; बहुव्रीहि; विशेषण, तृतीया, बहुवचन; मयि तं देशं प्रविष्टे मदनव्यापार: कथं भविष्यतीत्याशङ्क्याह सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैरिति (प्रदीप); सभ्रूभङ्गं भ्रूकुटिलं यथा स्यात्तथा प्रहितनयनै: प्रेषितनेत्रै: (चरित्र०); सभ्रूभङ्गं प्रहितानि प्रयुक्तानि

नयनानि दृष्ट्यो येषु तैस्तथोक्तैः (संजी०); सभ्रूभङ्गानि प्रहितानि क्षिप्तानि नयनानि येषु (पंचिका); सभ्रूभङ्ग यथा स्यात्तथा, प्रहितानि प्रेरितानि नयनानि यत्र तैः, एतेन भ्रूवल्ली चापः कटाक्षाः शराः कामिनो लक्ष्याणीति ध्वनितम्। एतच्च कामकारणमन्यनाप्युक्तम्। यथा–सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां

लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालभ्यते तावदेव।

भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते

यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ती"ति।। (सुबोधा); भ्रुवोः भङ्गा। तं सहितं यथा तथा सभ्रूभंगम्। सभ्रूभंगम् प्रहितानि नयनानि येषु तैः।

1575 **सभ्रूभङ्गम्** (पू० 25.4.11.51) भ्रूभङ्ग+टा+सहित+अम्, अव्ययीभाव, विशेषण, द्वितीया एकवचन; भ्रूभङ्ग सहितम् (प्रदीप); भ्रूभङ्गसहितम् (चरित्र०); भ्रूकुटियुक्तम्, दशनपीडया इति भावः (संजी०); रसावेशविवशेन प्रेयसा हठात्कारे पीयमानेन मुखाम्बुजेनाभिनीतललितकोपोल्लसितचिल्लीवल्लीमनोहरमित्यर्थः (विद्युल्लता); भ्रूभङ्गेन भृकुट्या सह वर्तमानम् (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० (69.1) में एक बार हुआ है।

1576 **समग्रः** (पू० 59.4.23.43) समग्र+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; सम्पूर्णः (चरित्र०); सम्पूर्णः (संजी०); सम्पूर्णः (सुबोधा); अग्रेण सहितः इति। कोने के साथ, अतः सम्पूर्ण।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० में एक बार (2.12) हुआ है।

1577 **समधिकतरोच्छ्वासिना** (उ० 41.3.12.47) समधिकतर+सु+उच्छ्वास+इनि+टा; विशेषण; तृतीया, एकवचन; समाधिका तीक्ष्णः उच्छ्वासो यस्य तेन (चरित्र०); समधिकतरमधिकमुच्छ्वसितीति समधिकतरोच्छ्वासि तेन। दीर्घनिःश्वासिन इत्यर्थः। ताच्छील्ये णिनिः (संजी०); अतिशयतोर्ध्वश्वासयुक्तेन (सुबोधा)

समधिकतरम् उच्छ्वसिति इति, तथाभूतेन। उच्छ्वासाः सन्ति–अस्येति, उच्छ्वसि (–इनि प्रत्ययः)। समधिकतरञ्चासावुच्छ्वासि च समधिकतरोच्छ्वासि तेन। यद्वा, समधिकतराश्च ते उच्छ्वासाश्च समधिकतरोच्छ्वासाः। ते सन्त्यस्येति तथोक्तम्, तेन।

1578 **समम्** (उ० 37.2.6.22) अव्यय; 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः (संजी०);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सत्रह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है–रघु (12), कुमार० (1), शाकु० (1), विक्रम० (1), मालवि० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रगष्टव्य सम्पाकद की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1579 **समरविमुखः** (पू० 52.2.6.22) समर+ङसि+विमुख+सु; तत्पुरुष; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; त्यक्तसमरः (प्रदीप); युद्धनिस्पृहः (संजी०); युद्धपराङ्मुखः सन् (सुबोधा); समरात् विमुखः। महाभारत युद्ध से विमुख।

1580 **समर्थः** (पू० 44.4.21.57) संज्ञा,

शक्तो भवति अपितु न कोऽपि न कोऽपि (सुबोधा)।

1581 **समुचितः** (उ० 35.3.13.33) समुचित+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; करोपमर्दनयोग्यः (पंचिका); योग्यः समवेतः (सुबोधा)

1582 **सम्पत्स्यन्ते** (द्विवारं प्रयुक्तम्) (पू० 11.4.16.44; 24.4.10.76) सम्+पत्+लृट्, प्रथम पुरुष, बहुवचन; भविष्यन्ति (चरित्र०); सम्पन्ना भविष्यन्ति (चरित्र 24); भविष्यन्ति (संजी० 11) भविष्यन्ति (संजी० 24);

अहो ते दैवानुकूल्यम्, यदनायासेन गुणवत्सहायसंपदिति भाव: (विद्युल्लता 11); भविष्यन्ति (सुबोधा); भविष्यन्ति (सुबोधा 24)।

1583 **सम्पद: (पू० 56.4.15.62)** सम्पत्+जस्; संज्ञा, प्रथमा, बहुवचन; समृद्धय: (संजी०); द्रविणादिविभूतय:। सम्पद इति बहुवचनेन यया कयापि विधया विविधया वर्त्तमाना सर्वापि विभूति: शरीरादिकमपि परोपकरणमौशीनरादिवदिति द्योत्यते (विद्युल्लता); सम+√पद्+क्विप्+प्रथमा बहुवचन। समान भाव के लिए देखो—

पिबन्ति नद्य: स्वयमेव नाम्भ: खादन्ति न स्वादुफलानि वृक्षा:
नन्दन्ति सस्यं खलु वारिवाहा: परोपकाराय सताम् विभूतय:।।

तथा— सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्।। (किरातार्जुनीय 7.28)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग छह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में तीन बार (1.64; 10.59; 17.65;) तथा शाकु० में दो बार (473.2; 7.39) हुआ है।

1584 **सम्भाव्य (उ० 39.2.11.35)** सम्+भू+णिच्+क्त्वा; अव्यय; सम्भावनां च कृत्वैवेत्यर्थ:। अन्योऽयमिति न तूष्णीमास्ते, भर्त्तुर्मित्रं इति बुद्ध्वा सा निशङ्कमेव त्वां प्रेक्षिष्यते सम्भावयति चेत्यर्थ द्योतयितुं एवकार: प्रयुक्त:; सम्भावनीयं विधाय (चरित्र०); सत्कृत्य (संजी०); धिया च उपपद्यते तद्दूतत्वं अस्य इति सम्भाव्य विचार्य (पंचिका); स्वागतं भवत् इत्यादिना आलब्य च (सुबोधा); प्रारम्भ में जब हनुमान् जी सीता के पास पहुँचे, तो सीता ने उनको वेश बदलकर आया हुआ रावण ही समझा था, परन्तु जब हनुमान् जी ने सीता को अपना पूरा-पूरा परिचय दिया और अपने आपको रामचन्द्र जी का दूत बतलाया, तो कहीं उन्हें उन पर विश्वास हुआ और फिर उसने उनका स्वागत किया। देखिये—रामा० सुन्द०का० 36.9-10—

न हि त्वां प्राकृतं मन्ये वानरं वानरर्षभ।
यस्य ते नास्ति संत्रासो राघवादपि संभ्रम:।।
अर्हते च कपिश्रेष्ठ मया समभिभाषितुम्।
....।।

सम्भाव्य का पाठान्तर 'संभाष्य' भी है। यह पाठ भी भला ही मालूम होता है। सम्+√भू+णिच्+ल्यप् सम्भाव्य। अप्रस्तुत पक्ष की सम्भावना का स्वरूप वाल्मीकि रामायण (सुन्दर० 36.9.10) के इन श्लोकों से स्पष्ट है। सीता जी का कथन है—"न हि त्वाम् प्राकृतम्मन्ये वानरं वानरर्षभ। यस्य ते नास्ति सन्त्रासो रावणादपि सम्भ्रम:। अर्हसे च कपिश्रेष्ठ! मया समभिभाषितुम्।।"

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पाँच बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में तीन बार (6.50; 7.8; 18.31) तथा कुमार० में एक बार (7.59) हुआ है।

1585 **सम्भृतम् (पू० 46.4.15.59)** सम्+भृ+क्त+सु; कृदन्त (क्रिया) प्रथमा, एकवचन; निक्षिप्तम् (चरित्र०); सञ्चितम् (संजी०); सम्भावितमिति पितुर्देवस्य बुद्धिपूर्वकमिति सकलशक्तिसमर्पणं द्योत्यते (विद्युल्लता); अर्पितम् निक्षिप्तम् (सुबोधा); सम्+भृ+क्त+नपुंसक प्रथमा० एक०व०

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूतम् के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (5.5; 19.43) हुआ है।

1586 **सम्भृतश्री: (उ० 54.3.18.45)** सम्भृता+सु+श्री+सु; बहुव्रीहि; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; सम्भृतशोभ: (प्रदीप); उपचितशोभा सन् (संजी०); अर्जितदेहोन्नति: (पंचिका); प्रवृद्धलक्ष्मीक: सन् (सुबोधा०); ग्रन्थसमाप्तौ महाकविभिर्मङ्गलार्थ श्री शब्दो दीयते इति श्री शब्दोपन्यास: (सुबोधा); संभृता श्री: यस्य स:। जिसकी शोभा बढ़ गई है। 'सम्भृता श्रीर्यत्र स सम्भृतश्री:।' कवि ने इसमें 'श्री' पद को लाकर अन्त्य मंगल कर दिया है।

भतरसेन ने इसकी ओर इङ्गित किया है। ग्रन्थ के आदि में महाकवि ने 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' में भगवती सीता और आगे 'पुण्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु' में भगवान् राम का नाम लेकर मङ्गलसम्पादन किया है। मध्य में 'स्त्रस्तगङ्गादुकूलाम्' में गङ्गा और आगे 'सेन्द्रचापम्' में इन्द्र का नाम लेकर मङ्गलाचरण किया है। यहाँ पर आशीः भी कवि ने प्रस्तुत कर दी है—"मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।" मल्लिनाथ उद्धृत करते हैं—"अन्ते काव्यस्य नित्यत्वात् कुर्यादाशिषमुत्तमाम्। सर्वत्र व्याप्यते विद्वान् नायकेच्छानुरूपिणीम्।"

1587 **सम्भृतस्नेहम्** (उ० 33.1.6.10) सम्भृत+सु+स्नेह+अम्; विशेषण, बहुव्रीहि, द्वितीया, एकवचन; सञ्चितानुरागम् (संजी०); अतिप्रीतिमत् (पंचिका); उपचितप्रेम (सुबोधा); सम्भृतः स्नेहः यस्मिन् तत्। जिसमें प्रेम इकट्ठा, केन्द्रीभूत हो गया है। सम्भृत—सम्+भृ+क्त। अतः परमस्निग्ध, अत्यधिक अनुराग से युक्त। यह मनः का विशेषण है। यक्षपत्नी पतिव्रता स्त्री है, तो यक्ष भी उसके लिए आदर्श पति है। यदि यक्षपत्नी स्वाधीन पतिका है, तो यक्ष 'अनन्यासक्तपति' है। अतः यक्ष और उसकी पत्नी जैसे पति-पत्नियों का परस्पर हठानुराग होना स्वाभाविक ही है।

1588 **सम्भोगम्** (उ० 26.3.9.31) सम्भोग+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; रतिम् (संजी०); संयोग पाठान्तर; मम सङ्गम् (सुबोधा); संयोगस्तु मुखप्रसादादिना मेघेनावधार्यः अन्यथा तस्यानुपलम्भात्। 'कथमेवश्यं' सा करिष्यतीत्याशंक्य विरहिणी स्वभावमर्थान्तरन्यासेनाह (सुबोधा); संयोगम् वा, मत्संगं वा, मत्सम्भोग, मत्संयोगम् पा०भे०—संग, संयोग और सम्भोगों में 'सम्भोग' पद ही मूल पाठ हो सकता है। यक्ष यहाँ सम्भोगशृङ्गार का वर्णन कर रहा है। उसी का आस्वादन यक्षपत्नी करती है। मत्संयोगम्—पा०भे० मम संयोगः, मत्संयोगः, तम्। मल्लिनाथ ने 'मत्सम्भोगम्' पाठ माना है। परन्तु वह उतना सुन्दर पाठ नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसकी तो स्मृमितात्र होगी। उसका हृदयनिहित आरम्भ इव वियोगावस्था में क्या और क्यों होगा? इसी से यहाँ पर वल्लभदेव, पूर्णसरस्वती, भरतसेन और दक्षिणावर्तनाथ के द्वारा प्रदत्त पाठ ही साधीयान् है। पूर्णसरस्वती का कथन है कि समस्त व्यापारों में मन से अनुभव किये जाते हुए पतिसंयोग की ही विकल्पहीन अनुभूति करती हुई तुम्हारे दृष्टिपथ में आयेगी—"सर्वव्यापारेषु तत्समागमस्य मनसा अननुभूयमानस्य निष्प्रत्यूहतयाऽनुवृत्तेः विकल्पानुपादानम्।।" वाल्मीकि ने 'रामायण' में इसकी भावमातृका प्रस्तुत कर रखी थी—नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्। एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति।।" और नैव दंशान्न मशकान्न कीटान सरीसृपान्। राघवापनयेद् गात्रात् त्वद्गतेनान्तरात्मना।।" इस प्रकार के भगवती सीता के पतिविरह के समय की अवस्था को ध्यान में रखकर ही कालिदास ने इस पदोच्चय की रचना की होगी। 'भार्याधिकार' में शास्त्र का पतिविरह में पत्नी की चर्चा के विषय में यह कथन है—

"गतवति दयिते तु क्वापि माङ्गल्यमात्राण्यपचितगुरुविप्रा धारयेन् मण्डनानि।
उपगुरु शयनञ्च स्वल्पताञ्च व्ययस्य प्रतिदिनमपि कुर्यादस्य वार्तानुसारम्।।
अनवहितविधानं स्वस्थ्यनिर्वाहयत्नं प्रतिदिननियमञ्च क्षेमसिद्ध्यै विदध्यात्।"

मल्लिनाथ का कथन है कि 'सङ्कल्पावस्था' को कवि ने इस रचना द्वारा उपन्यस्त किया है और उसका स्वरूप है—"सङ्कल्पो नामविषये मनोरथ उदाहृतः।"

1589 **सम्भोगान्ते** (उ० 35.3.11.28) सम्भोग+ङस्+अन्त+ङि; तत्पुरुष, संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; सम्भोगस्य सुरतस्य अन्ते अवसाने (चरित्र०); सुरतसमाप्तौ (पंचिका); रतावसाने; (सुबोधा)।

1590 **सरति** (पू० 56.1.4.4) सृ+शतृ+ङि; विशेषण; सप्तमी; एकवचन; सरति सति (चरित्र); वाति सति (संजी०); प्रवर्त्तमाने इति (विद्युल्लता); वहति सति (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० में एक बार (4.11) हुआ है।

1591 **सरलस्कन्धसङ्घट्टजन्मा (पू० 56.1.5.13)** सरल+आम्+स्कन्ध+आम्+संघटट+टा+जन्मन्+सु; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; सरलो वृक्षविशेष:। स्कन्धशब्देन स्कन्धशाखा विवक्षिता (प्रदीप); सरलस्य देवदारोः स्कन्धानां प्रकाण्डानां संघट्टात् संघर्षात् जन्म यस्य स तादृशः (चरित्र०); सरलानां देवदारुद्रुमाणां स्कन्धाः प्रदेशविशेषः; 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यात् मूलाच्छाखावधेस्तरोः' इत्यमरः तेषां संघट्टेन संघर्षणेन जन्म यस्य तथोक्तः; जन्मोत्तरपदत्वात् व्यधिकरणोऽपि बहुव्रीहिः साधुरित्युक्तम् (संजी०); सरलाः तरुविशेषाः तत्प्रकाण्डानां परस्परनिष्पेषनिष्पन्नः (विद्युल्लता); सरलानां स्वनामख्यातवृक्षाणां स्कन्धस्य प्रकाण्डस्य संघर्षात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तादृशः (सुबोधा); सरलानां स्कन्धाः, तेषां संघट्टने जन्म यस्य सः। सरल–देवदारु के समान एक वृक्ष जो हिमालय पर बहुत होता है। चीड़ (?) हिमालय में सरल (देवदारु) के वृक्षों की बहुलता है और इनके बिना हिमालय का वर्णन अधूरा रहता है। देखिये–कुमार० I.9. रघु० IV.75 'सरलासक्त मातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः। आसन्तोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः।।' सरल के वृक्षों, बाँसों तथा अन्य प्रकार के वृक्षों की शाखाओं के परस्पर टकराने से पर्वतों में आग लग जाना कोई नयी बात नहीं। घने जङ्गलों में भी वृक्षों की रगड़ से आग लग जाती है। मल्लि० ने सरल से देवदारु वृक्ष लिया है, किन्तु सरल देवदारु नहीं होता, प्रत्युत देवदारु की जाति का ही एक अन्य वृक्ष होता है (शारदारञ्जन राय)।

1592 **सरसकदलीस्तम्भगौरः (उ० 35.4.17.50)** सरस+सु+कदली+ङस्+स्तम्भ+सु+इव+गौर+सु; तत्पुरुष, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; आर्द्रकदलीस्तम्भपाण्डुरम्। उर्व्योगौरत्वं च निवातवर्तित्वात् (प्रदीप); कदलीस्तम्भवत् गौरः पाण्डुः (चरित्र०); सरसो रसार्द्रः परिपक्वो। शुष्कश्च सेव विवक्षितः तत्रैव पाण्डिमसम्भवात् स चासौ कदलीस्तम्भश्च स इव गौरः पाण्डुरः, 'गौरः करीरे सिद्धार्थे शुक्ले पीतेऽरुणेऽपि च' इति **मालतीमालायाम्** (संजी०); अभिनवकदलीकाण्डवच्च गौरः श्वेतः (पंचिका); रसयुक्तरामकदलीप्रकाण्डवद् गौरः पाण्डरः वस्त्रावृतत्वादीषत् पाण्डुरित्यर्थः, कनककदलीति पाठे कनककदली–कदली विशेषस्तद्वद् गौरः पीतवर्णः तन्वी श्यामेत्यत्र श्यामा स्त्री विशेषः नतु श्यामवर्णेति पीतवर्णत्वे विरोधाभावः; कनककदलीति पाठे तन्वी श्यामेत्यत्र तस्या उत्तमश्यामत्वं बोध्यमित्यन्ये (सुबोधा); सरस–रसयुक्त, रसीली। अर्थात् न सूखी, न पकी हुई। **कदलीगर्भगौर**–श्री काले का विचार है कि कदली का अन्दर का भाग अधिक सफेद होता है। इसलिए यह पाठ अधिक अच्छा है। परन्तु यहाँ पर कवि 'गौर' को श्वेत के अर्थ में प्रयुक्त करता प्रतीत नहीं होता। गौर के अन्य अर्थ गेंहुआ, 'पीला सा लाल' भी है। देखो आप्टे संस्कृत-अंग्रेजी कोष। इस अर्थ में कवि ने इस पद का प्रयोग कु०स० 7.17; रघु० 6.65 में किया है। कनककदली पाठ भी इसकी पुष्टि करता है। अतः सरसकदलीस्तम्भ पाठ ही अच्छा है। सरस पद से 'ऊरूः' के रतिक्रीड़ा में परम सुखदायी, स्निग्ध और शीतल होने की ध्वनि निकलती है। कनककदली० पाठ से यह ध्वनि प्राप्त नहीं होती है। इसका पाठान्तर 'कदलीगर्भगौरः' है। यह पाठ साधुतर प्रतीत होता है, क्योंकि केले के स्तम्भ (तने) का अन्दर का भाग बाहरी भाग से श्वेत होता है। पण्डित ईश्वरचन्द्र इस श्लोक में दिए गये पाठ (अर्थात्–कदलीस्तम्भगौर) का समर्थन करते हुए कहते हैं–"अयमेव पाठः साधीयान्। 'कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः' इत्यत्र अलकायां कनककदलीनां बाहुल्यदर्शनादुपमितिकाले तासामेव बुद्धिस्थत्वात्।" परन्तु यह तो कवि की कल्पना में अप्रस्तुतोद्भावना का अभावमात्र प्रस्तुत करेगा। उसी तत्त्व को पहले प्रस्तुत करके फिर ग्रहण करने में क्या चमत्कृति होगी? सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'गौर' शब्द स्वयं 'पीत' का वाचक है–"गौरः करीरे सिद्धार्थे शुक्ले पीतऽरुणेऽपि च" (सञ्जीवन्युद्धृतमालतीमाला) और वह कदलीस्तम्भ में अनायास सिद्ध है, तो

'कनक' विशेषण लगाकर अधिक पद करने से क्या लाभ? यदि 'अरुण' अर्थ लेना अभीष्ट हो, तो इस अप्रसिद्ध अप्रस्तुत का सहारा लेना तो एक दोष होगा ही, "तन्वी श्यामा" और "श्यामाष्वङ्गम्" आदि से विरोध भी पड़ेगा। अत: 'सरस'—पाठ ही अधिक उचित है। सूखी कदली का स्तम्भ इस हल्की पाण्डिमा को छोड़कर गाढ़ा लाल होकर काला पड़ जाता है। ऊरूगत गौरता का कारण आच्छादित रहना—"ऊर्वोर्गौरत्वं च निवातवर्तित्वात्" (दक्षिणावर्तनाथ)। विद्युल्लता में और भी हेतु दिये गये हैं—सारोत्तरधरातलावस्थानात् समयावसेकाच्च अविदितशोषदण्डकदलीकाण्डवत् श्लक्ष्णवृत्तविपुलत्वसहचरितविमलवर्णविशिष्ट:। गौरवर्णत्वं च वरवर्णिनीनां गण्डमुकुरकुचमण्डलोरूकाण्डेषु स्मरेण यौवनोष्मणा च काव्येषु प्रसिद्धम्।" पाण्डुता का अन्य कारण विरहज्वर स्वयं है। 'सरसा च सा कदली च सरसकदली। सरसकदल्या: स्तम्भ: सरसकदलीस्तम्भ:। सरसकदलीस्तम्भ इव गौर: सरसकदलीस्तम्भगौर:। "उपमानानि सामान्यवचनै:" (2.1.55) इति समास:।'

1593 **सरसनिचुलात् (पू० 14.3.13.33)** सरस+जस्+निचुल+ङसि; बहुव्रीहि; विशेषण, पंचमी एकवचन; आर्द्रवानीरक्त:। सरसनिचुलादित्यत्र निचुलपदेन निचुलाभिधान: कश्चन कवि: विवक्षित:, यस्य सूक्ति: सुभाषिते श्रूयते—

संसर्गजादोषगुणा भवन्तीत्येतन्मृषायेन जलाशयोऽपि।
स्थित्वानुकूलं निचुलश्चलन्तं आत्मानमारक्षति सिन्धुवेगात्।। इति।

अनया निचुलोपवर्णनयन् तस्य कवेर्निचुलाभिधानत्वं आसीत् इति अनुसन्धेयम्। स तु निचुलकविरास्थानत: कालिदासस्य सूक्ती: सम्भावयति। तस्मात् सरसपदेन तं कविं स्तौति (प्रदीप); सरसा अशुष्का पल्लवपुष्पफलसहिता: निचुला: हिज्जलाख्यस्तरवो यत्र यत् तस्मात् (चरित्र); सरसा आर्द्रानिचुला: स्थलवेतसा: यस्मिंस्तस्मात्; वानीरे कविभेदे स्यात् निचुल: स्थलवेतसे' इति शब्दार्णवे; रसिक: निचुलो नाम महाकवि: कालिदासस्य सहाध्यायी पराणादितानां कालिदासप्रबन्धदूषणानां परिहर्त्ता; यस्मिन् स्थाने तस्मात्; संसर्गतो दोषगुणाभवन्तीत्येतन्मृषा येन जलाशयेऽपि। स्थित्वाऽनुकूलं निचुलश्चलन्तमात्मानमारक्षति सिन्धुवेगात्।। इत्येतत् श्लोकनिर्माणात् तस्य कवेर्निचुलसंज्ञा इत्याहु: (संजी०); विमलसलिलवहुलतया सतततरुणवेतसतरुविशेषात्। 'निचुलो हिज्जलोऽम्बुज:' इत्यमर:। एवच्च मदजलनिर्झरोद्गारमण्डितगण्डमण्डलतया चण्डतापविनोदनाय शीतलतमममुं प्रदेशमुद्दिश्य तेषामागमनं संभाव्यत इति व्यंजयति; इदानीमत्र वृष्टिर्नापेक्षिता, तत् गमन एवोद्युज्यतामिति वा; त्वत्कृतेदानीन्तनवर्षगनवीकृततरुतया यावदागमनमिह न शोषशङ्केति वा (विद्युल्लता)।

1594 **सरित: (पू० 43.1.3.3)** सरित्+ङस्; संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; नद्या: (चरित्र०); नद्या: (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (4.24; 5.59) तथा कुमार० में एक बार (6.69) हुआ है।

1595 **सर्व:** (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 20.4.18.43; उ० 32.4.18.47.)** सर्व+सु; सर्वनाम, प्रथमा। प्रथमा, एकवचन; सर्वदा माननीयो सुहृत् भ्राता पिता वन्धुर्गुरूरित्यादिरपि (विद्युल्लता 20); सर्व: जन: (सुबोधा 20)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (7.59; 8.8) शाकु० में दो बार (105.1; 315.2) तथा ऋतु० में एक बार (6.25) हुआ है।

1596 **सर्वावस्थासु (उ० 47.2.7.17)** सर्वा+जस्+अवस्था+सुप्; कर्मधारय; संज्ञा, सप्तमी, वहुवचन; ग्रीष्ममध्यन्दिनावस्थासु (प्रदीप); ग्रीष्ममध्यदिनाषु (चरित्र०); सर्वकालेषु इत्यर्थ: (संजी०) ग्रीष्ममध्याह्नादिष्वपि सकलासु दशासु (पंचिका); पूर्वाह्नमध्याह्नपराह्नेषु (सुबोधा); सब अवस्थाओं में, सब स्थितियों में, सब भागों में, अत: सब ऋतुओं में। सारो० के अनुसार ग्रीष्म-मध्याह्नादिषु दशाषु' अर्थात् ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न आदि अवस्थाओं में। आदि पद से पूर्वाह्न (प्रात:) तथा अपराह्न (सांयकाल) ही लिये जा सकते हैं। दिन की ये

तीन अवस्थायें होती हैं। स्मरण रहे कि यक्ष ग्रीष्म अवसान और वर्षा के आरम्भ में ही मेघ द्वारा अपनी प्रिया के प्रति सन्देश भेज रहा था। ग्रीष्म में तो दिन वैसे ही लम्बे होते हैं। विरह ने उन्हें और भी अधिक लम्बा और गर्म बना दिया था। सर्वाश्च ता अवस्थाश्च सर्वावस्था:, तासु। मल्लिनाथ इसका अर्थ 'सर्वकाल' करते हैं। आशय यह कि ग्रीष्म, पावस आदि सभी ऋतुओं में दिन में उष्णता अत्यन्त मन्द ही रहे। इससे कवि का अभिप्राय यह विरहोष्मा को समृद्ध करने की शक्ति उसमें हर ऋतु में–विशेषत: वसन्त व ग्रीष्म में–क्षीणातिक्षीण होती जाय। भरतसेन ने इसका अर्थ प्रात:, मध्याह्न और सायंकाल किया है। उनका आशय यह कि दोपहरी में आतप अतिसमृद्ध हो उठता है। वह हर समय अतिमन्दातप रहे, तभी विरही को सहन करने में सुगमता होगी। पूर्णसरस्वती ने दोनों को उपयोग में लाने का सत्प्रयास किया है–"सर्वावस्थासु, ग्रीष्मे शरदि मध्याह्ने च।" यही उचित भी है।

कालिदास की कृतियो में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में एक बार (413.3) प्रथमा, हुआ है।

1597 सलिलगुरुभि (उ० 29.3.13.38) सलिल+भिस्+गुरु+भिस्; तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया; बहुवचन; अश्रुदुर्भरै: (संजी०); सवाष्पत्वात् गुरुभि: दुस्सहै: (पंचिका); क्रन्दनजलदुर्वहै: (सुबोधा)।

1598 सलिलनिधय: (पू० 34.4.16.44) सलिलनिधि+जश्; संज्ञा; प्रथमा, बहुवचन; समुद्रा: (चरित्र०); समुद्रा: (संजी०)।

1599 सलिलम् (पू० 65.1.2.16) जलम् (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में दो बार (3.2; 441.1) तथा ऋतु में एक बार (9.2) हुआ है।

1600 सलिलवसनम् (पू० 44.2.8.23) सलिल+सु+वसन्+अम्; संज्ञा; तत्पुरुष; द्वितीया, एकवचन; सलिलमेव वसनं वस्त्रम् (चरित्र); सलिलमेव वसनम् (संजी०); सलिलम् जलमेव वसनम् वस्त्रम् अथ च स्वच्छत्वात् सलिलवद्वसनं (सुबोधा)।

1601 सलिलशिशिरै: (उ० 6.1.2.4) सलिल+टा+शिशिर+भिस्; तत्पुरुष, विशेषण; तृतीया, बहुवचन; सलिलेन शिशिरै: शीतलै: (चरित्र०); सलिलेन शिशिरै; शीतल: (संजी०)।

1602 सलिलोद्गारम् (पू० 66.3.18.33) सलिल+अम्+उद्+गृ+अण्+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; सलिलं उद्गिरतीति सलिलोद्गार:। कर्मण्यण् (3.2.1) इति अणप्रत्यय: (प्रदीप); सलिलमुद्गिरति सलिलोद्गार:। कर्मण्यण् (3.2.1) तम् (चरित्र०); सलिलमुद्गिरतीति सलिलोद्गारं स्रवत्सलिलधारमित्यर्थ: (संजी०); जलोद्गारि। सलिलमुद्गिरतीति सलिलोद्गारं "ढात् षन्निति षण्" (सुबोधा); सलिलम् उद्गिरतीति सलिलोद्गारम्। यह 'अभ्रवृन्दम्' का विशेषण है।

1603 सवितु: (उ० 11.4.15.49) सवितृ+ङस्; संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; आदित्यस्य (चरित्र०), सूर्यस्य (सुबोधा) √सू (प्रेरित करना, उत्पन्न करता)+तृच्+षष्ठी एक व० । प्रेरक, उत्पादक। भानुजि दीक्षित इसे √सू उत्पन्न करना धातु से व्युत्पन्न नहीं मानते। देखो अमरकोश 1.3.31 की सुधा व्याख्या। परन्तु उनका मत माननीय नहीं। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने 'सवितृ' के उत्पादक गुण पर ही विशेष बल दिया है। देखो सविता वै प्रसविता (कौ० 6.14) आदि; तथा वै०ए० सं० 774। वेद में इसके अर्थ परमात्मा, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, वरुण, विद्युत्, वायु, स्तनयित्नु चन्द्रमा, यज्ञ, पृथिवी, बादल, वेद, दिन, पुरुष, पशु, प्राण, मन, यकृत् (=तिल्ली), राष्ट्रपति आदि हैं। देखो–वै०को०, पृ० 584-585 प्रकृत पद्य में 'प्रकाश का उत्पादक सूर्य' अर्थ है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इनका प्रयोग ऋतु० (1.19; 5.15) में दो बार हुआ है।

1604 सव्यापाराम् (उ० 27.1.1.7) सह+व्यापार+टा+टाप्+अम्; अव्ययीभाव; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; सविनोदाम्। रात्रौ निर्विनोदां तव सखीं यथा विप्रयोगः पीडयति अहनि सव्यापारो न तथा पीडयेत्इत्यर्थः। (प्रदीप); पूर्वोक्तबलिचित्रलेखनादिव्यापारवतीम् (संजी०); व्यापारो गृहकृत्यं पूर्वोक्तविनोदो वा तेन सह वर्तमानम्। (सुबोधा०); दैनिक कार्य तो करने ही पड़ते हैं। उनमें व्यापृति के कारण उत्कण्ठा कम हो जाती है और कुछ काल के लिये विस्मृत भी। दिन में मनवहलाव के अनेक साधन भी हैं। विरहिणी यक्षपत्नी दिन में तो कुछ न कुछ काम कर ही लेती थी। इस कारण दिन के समय उसको विरह उतना नहीं सताता था, जितना कि रात को; क्योंकि रात को उसके पास मनोविनोद के लिए, करने को कोई काम ही नहीं होता था। भाव-साम्य के लिए देखिये—विक्रमो० III.4. 'कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमति कृच्छ्रेण। अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या।।' और देखिये—शाकु० IV.15—'एषाऽपि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।'

सह व्यापारैर्वर्तत इति स्त्रियां सव्यापारा, ताम्। "तेन सहेति तुल्ययोगे (2.2.28) इति बहुव्रीहिः; "वोपसर्जनस्य" (6.3.82) इति सहस्य सः।" यहाँ व्यापार से दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं—गृहकृत्य और ऊपर बताये गये विनोद। परन्तु अधिक अच्छा होगा यदि विनोद अर्थ लिया जाय। "प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः" के द्वारा बताये गये व्यापारों (दृष्टव्य—विनोदाः पद पर टिप्पणी) को यहाँ भी परामृष्ट करने में कवि का संरम्भ है; क्योंकि विपर्यास को प्रस्तुत करते समय 'निर्विनोदाम्' पद का प्रयोग किया गया है।

1605 सस्वरम् (उ० 50.2.15.19) स्वर+टा+सह+सु; अव्ययीभाव; अव्यय; सशब्दम् (प्रदीप); सशब्दम्, उच्चैरित्यर्थः (संजी०); सशब्दम् (पंचिका); **सत्वरम्**। शीघ्रम्। सत्वरमित्यत्र सस्वरमिति पठित्वा सध्वनीति व्याचक्षते केचित् (सुबोधा०); स्वरेण सहितं यथा स्यात् तथा: जोर से। **सस्वनम्**०—पा०भे० स्वनेन सहितम् यथा स्यात् तथा। यहाँ वाक्य में 'र' का अनुप्रास होने से 'सस्वरं' पाठ अच्छा है।

1606 सह (द्विवारं प्रयुक्तम्) (उ० 13.2.7.26; 17.3.13.26) समः। सहित।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सड़सठ बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—रघु० (24), शाकु० (13), मालवि० (13), विक्रम० (8), कुमार० (6), ऋतु० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1607 सहचर (उ० 40.2.12.16) सहचर+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; पति (चरित्र०); भर्त्ता (संजी०); पति (पंचिका); प्रियो, सहचर इत्यनेन तदासक्तता सूचति (सुबोधा); साथी, जीवनसंगी, सुख-दुखः में एक समान। (तुलना करो—विवाह-संस्कार का सप्तपदीगमन। ऋ० 10.85.47; गोभिलगृह्यसूत्र 2.3.17.21 आदि।) इस पद के प्रयोग से यक्ष अपनी पत्नी के समान अधिकार और मित्र-भाव को प्रकट कर रहा है।

1608 सहचरे (उ० 22.2.9.18) सहचर+ङि; संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; सहचारिणि, अनेन वियोगासहिष्णुत्वं व्यज्यते (संजी०); पत्यौ (पंचिका); प्रिये (सुबोधा)।

1609 सहते (उ० 44.4.23.38) सह्+लट्; प्रथम पुरुष, एकवचन; क्षमते (चरित्र०); क्षमते (पंचिका); क्षमते (सुबोधा)।

1610 सहस्व (उ० 36.2.12.28) सह्+लोट्; मध्यम पुरुष, एकवचन; प्रतीक्षेथाः (चरित्र०); प्रतीक्षस्व, प्रार्थनायां लोट् (संजी०); प्रतीक्षेथाः मास्य तां बोधयेः (पंचिका); सहेथाः प्रतीक्षिष्यसे (सुबोधा); श्री काले के मत में

'सहेथा' (विधिलिङ्ग) से विनम्र प्रार्थना का प्रकाशन होता है। परन्तु यहाँ कवि नम्र प्रार्थना नहीं कर रहा है। वह तो पू०मे० 64 के समान आचरण का विधान कर रहा है। अतः सहस्व पाठ ही उपयुक्त है। इसका पाठान्तर 'सहेथाः' है। 'सहस्व' लोट् और 'सहेथाः' विधिलिङ्ग है। विधिलिङ्ग का प्रयोग साधुतर है, क्योंकि इसमें नम्र प्रार्थना है, न कि लोट् की तरह आज्ञा।

1611 **सहायाः (पू० 11.4.20.50)** सहाय+जस्; विशेषण, बहुवचन; सार्द्धम् (चरित्र); सयात्राः, 'सहायस्तु सयात्रस्स्यात्' इति शब्दार्णवे (संजी००); 'अनुप्लवश्यानुचरः सहायोऽभिसरः समाः' इत्यमरः। विरुद्धानामपि हंसानां सहायतोक्तिः, वर्षकलुषितजलाशयमात्रे तेषां द्वेषात् जलधरेण सह साक्षाद्विरोधाभावात् समानदेशगमनाच्चेति मन्तव्यम् (विद्युल्लता); सहचराः (सुबोधा); सह अयन्ते गच्छन्तीति सहायाः। पचादित्वादन्। **केचित्तु** ध्वनिनाऽत्रार्थान्तरमपि तद्यथा राजहंसा राजश्रेष्ठा आ कैलासात् पृथिव्यन्तं यावत् तव सहायाः सम्पत्स्यन्ते, निःस्वतया मृणालादिजीविनः, गर्जितं अन्येषां शत्रुभूपानामहङ्कारप्रधानतर्जनवचनं श्रुत्वा मानसेन उत्काः समुत्सुकाः कातरा उन्मनस इत्यर्थः, यद्गर्जितं महीम्। उद्यतानि शिलीन्ध्रवत् श्वेतानि छत्राणि यत्र तादृशी सैन्यातपत्रशतसंकुलां कर्त्तु प्रभवति, श्रवणसुभगं श्रोतुमशक्यम्। अयं भावः, विजिगीषवो राजानः सच्छत्रसैन्याः सन्तः परान् जेतुं वर्षास्वपि यान्ति तत्प्रतापात्तच्छत्रवः कैलासान्तं पलायिष्यन्ते; तदन्वेषिणः पथि कैलासपर्यन्तं तव सहाया भविष्यन्तीति मेघप्रोत्साहनम् (सुबोधा)।

1612 **सा (चतुर्वारं प्रयुक्तम् उ० 24.1.5.9; 32.1.1.1; 36.1.5.7; 39.1.7.13;)** तत्+टाप्+सु; सर्वनाम; प्रथमा, एकवचन; स्त्री (चरित्र 24); प्रेयसी (चरित्र 39); मत्प्रिया (संजी० 24); त्वत्सखी (संजी० 32); मत्प्रिया (संजी० 36); मत्प्रिया (संजी० 39); मत्कान्ता (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो सौ पचपन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शेष ग्रन्थों में इस प्रकार हुआ है—रघु० (73), कुमार० (46), शाकु० (15), विक्रम० (13), मालवि० (4)।

विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1613 **साक्षात् (उ० 12.1.5.10)** अव्यय; प्रत्यक्षम् (चरित्र०); सखिस्नेहात् निजरूपेण (संजी०); प्रत्यक्षरूपेण न तु प्रतिमादिरूपेण (सुबोधा); सह अक्षेण (=इन्द्रियेण) साक्षः। तम् अतति इति साक्षात्। साक्ष+√अत्+क्विप्, स्वयं, सशरीर। देवाधिदेव महादेव जी अलका में प्रत्यक्ष रूप से विराजमान हैं, न कि प्रतिमारूप से। प्रतिमारूप से विद्यमान होते तो कोई बात न थी, मन्मथ अपने धनुष को डाल न देता। यहाँ पर तो विग्रहधारी स्वयं कामारि वर्तमान हैं, जिन्होंने कि—

> तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्य मुखस्य तस्य
> स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात।। 72।।
> क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
> तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनश्चकार।। 73।।

—(कुमारसम्भव—3)

इन सारे अर्थों की व्यञ्जनायें बड़े ही निपुण ढङ्ग से पूर्णसरस्वती ने स्पष्ट की है—साक्षाद् भक्तजनध्यानपूजनार्थमवलम्बितेन पञ्चकृत्योपयुक्तपञ्चब्रह्मात्मकेन वपुषा न तु प्रतिमारूपेणेत्यर्थः। 'साधकस्य तु लक्षार्थं तस्यरूपमिदं स्मृतम्। तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः।। इति।। ईशतत्पुरुषाघोरवा-माद्यैर्मस्तकमादिकम्' इति चागमत्।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सत्रह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—रघु० (6), कुमार (5), शाकु० (3), मालवि० (2)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पाकद की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1614 **सादरम् (पू० 36.1.5.11)** आदर+टा+सह+सु; अव्ययीभाव, विशेषण; अव्यय; सादरं यथा तथा, प्रियवस्तुसादृश्यत्वात् अतिप्रियत्वं भवेदितिभावः (संजी०); सानुरागं यथा स्यात् तथा (सुबोधा)। आकाश शिव की आठ मूर्तियों में से एक है (देखो शाकु० 1.1)। वहाँ नीले बादल छा जाने से गणों को आकाश में शिव का भ्रम होना स्वाभाविक है। अतः वे बादल को सादर देखते हैं।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में दो बार (129.9; 511.2) हुआ है।

1615 **सादृश्यम् (उ० 43.4.21.49)** सादृश्य+सु, संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; सदृशमेव सादृश्यम्। पूर्वोदाहृतानां सदृशवाचित्वात् (प्रदीपः); 'आलेख्येऽपि च सादृश्यमिति यादवः (चरित्र०); साम्यम् (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में (15.67) एक बार हुआ है।

1616 **साधु (पू० 17.1.3.30)** अव्यय; साधुयथास्यात् (चरित्र०); सम्यक् (संजी०); सम्यक् (विद्युल्लता); साधुमूर्ध्ना प्रशस्तशिरसा साधु यथा स्यात्तथा मूर्ध्ना (सुबोधा); भक्तिपूर्वम् (विद्युल्लता 46)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग बीस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में सात बार, मालवि० में छह बार, विक्रम० में तीन बार, कुमार० में दो बार तथा रघु० में एक बार हुआ है।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1617 **साधो (उ० 19.1.2.2)** साधु+सु; संज्ञा, सम्बोधन, एकवचन; साधो विद्वन् (प्रदीप); जलद (चरित्र०); निपुण, 'साधुः समर्थो निपुणो वा' इति काशिकायाम् (संजी०); हे शुद्धबुद्धे। साधो इत्यनेन परहितपरत्वं सूचितम् (सुबोधा); श० 14.12.23 में इसे √सिध् या √साध् से व्युत्पन्न माना है। देखो—वै०ए० 782; वै०को० पृ० 588. उ० 1.1 में इसे √साध् (साध्नोति धर्म्य कर्मेति साधुः सज्जनः दयानन्द की टीका) से सिद्ध किया है। अतः इसका अर्थ हुआ—'कुशल, प्रयत्न में सिद्धि प्राप्त करने वाला चतुर'। यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। 'साधु' होने के कारण मेघ अपने प्रयत्न में अवश्य सफल होगा और यक्ष गृह को पहचान सकेगा।

साधु शब्द कई अर्थों में आता है—"साधुर्जैने मुनौ वार्द्धुषिके सज्जनरम्ययोः" (अनेकार्थसंग्रह)। इस शब्द का बड़ा ही उपयोगी विग्रह सिद्धान्तकौमुदी में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम उणादि सूत्र है—"कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्।" इसके अनुसार '√साध् संसिद्धौ (स्वादि०)' धातु से उण् प्रत्यय करने पर साध शब्द निष्पन्न होता है। भटटोजि दीक्षित का कहना है—"साध्नोति परकार्यं साधुः।" यहाँ मेघ के परकार्य-साधन में लगे होने के कारण कवि ने उसे यक्ष से 'साधु' सम्बोधन प्रदान कराया है। कवि ने घर की पहचानें बताकर यक्ष-सन्देश प्रापणरूपी परकार्य के साधन की दृष्टि से 'साधु' शब्द का सम्बोधन बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से प्रयुक्त किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ऐसे ही शब्दों को दृष्टिपथ में रखकर कहा था—"यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।"

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (2.62); तथा कुमार० (5.52) में एक-एक बार हुआ है।

1618 साध्वीम् (उ० 27.3.17.43) साध्वी+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; पतिव्रताम्, 'साध्वीपतिव्रता' इत्यमरः (संजी०); सुचरित्रां, पतिव्रताम् "सती साध्वी पतिव्रतेत्यमरः (सुबोधा); पतिव्रता होने के कारण तुम आधी रात को भी उसके पास जा सकते हो। इसमें कोई दोष न होगा। वह तुम्हारे साथ भद्र व्यवहार करेगी। रात का दुरुपयोग करने वाली तो पुंश्चलियाँ ही हुआ करती हैं, पतिव्रतायें नहीं। साधु शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय लगने पर 'साध्वी' शब्द निष्पन्न होता है। साध्वी और पतिव्रता (अमरकोश)। एकान्त में आधी रात अकेली यक्ष से मिलने में भुवनविदित-वंश में उत्पन्न मेघ को सङ्कोच होना स्वाभाविक है। अतः इस पद का उपादान कवि ने किया है। पूर्णसरस्वती ने स्मृति का उद्धरण दिया है....."पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम्।।" यहाँ ऐसी ही जितेन्द्रिया साध्वी से आशय है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त रघु० में इसका प्रयोग दो बार हुआ है।

1619 सानुमान् (पू० 17.2.7.41) सानुमत्+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; पर्वतः (चरित्र०); पर्वतः (विद्युल्लता); सानुमत् शब्दः पर्वतपर्यायः, "सानुमान्निर्झरीगिरि" रिति **पुरुषोत्तमः**, किंवा सानुमान् प्रशस्तबहुसानुयुक्तः, प्रशंसायां भूम्नि च मतुप्। एतेन विश्रामयोग्यत्वमुक्तम् (सुबोधा); सानवः सन्ति अस्मिन् इति। सानु—चोटियाँ।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० में (510.3) तथा विक्रम० (124.6) में एक-एक बार हुआ है।

1620 सान्तर्हासम् (उ० 50.3.17.30) अन्तर्हास+टा+सह+सु; अव्ययीभाव, अव्यय; समन्दहासं यथातथा (संजी०); सगूढहासं यथा स्यात्तथा; सान्तर्हासमिति स्वप्नकार्यास्यायथार्थत्वात् (सुबोधा); अन्तर्हासेन सहितं यथा स्यात् तथा। अन्दर ही अन्दर हँसते हुए। क्योंकि जागकर उसे अपने भ्रम का ज्ञान हुआ और अपनी भूल पर लज्जा आई। अतः उपहास बनाकर अगले वाक्य को कहा। मन ही मन हँसती हुई, क्योंकि जिसे उसने स्वप्न में अन्य रमणी के साथ रमण करते देखा, उसे तो वह अपने ही गले लगाये हुए है। वह कुछ लज्जित-सी हुई और अपनी गलती पर मन ही मन उसे हँसी आ रही थी। "अन्तः हासः अंन्तर्हासः। सह तेन कथितं यथा स्यात् तथा, सान्तर्हासम्। प्रबोधानन्तरमेव प्रेमकाष्ठाप्रतिष्ठितनिजहदयातिशङ्काऽनुगुणोन्मेषेण स्वप्नदर्शनेन स्वस्याः प्रतारितत्वमवगम्य समुल्लासितमन्दस्मितमिति कथनक्रियाविशेषणम्।"—(विद्युल्लता)

1621 सान्ध्यम् (पू० 39.2.6.13) सन्ध्या+अण्+अम्; विशेषण, द्वितीया; एकवचन; सन्ध्यासम्बन्धी (चरित्र०); सन्ध्यायां भवं सान्ध्यम् (संजी०); सन्ध्याकालसंबन्धि (विद्युल्लता)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (2.23) है।

1622 साभिज्ञानप्रहितकुशलैः (उ० 52.3.10.64)अभिज्ञान+टा+सह+प्रहित+सु+कुशल+भिस्; बहुव्रीहि, विशेषण, तृतीया, बहुवचन; साभिज्ञानं सलक्षणं यथा तथा प्रहितं प्रेषितं कुशलं येषु तैः (संजी०); यक्ष अपनी प्रियतमा के साथ यह आशा रखता है कि जिस प्रकार मैंने सन्देश के साथ-साथ अभिज्ञान—पहिचान की निशानी—भेजी है, इसी प्रकार वह भी मेघ द्वारा अपना कुशल समाचार भेजती हुई कुछ अभिज्ञान भी देगी।

1623 साभ्रे (उ० 29.4.16.43)सह+ अभ्र+ङि; अव्ययीभाव; विशेषण, सप्तमी, एकवचन; मेघच्छन्ने (प्रदीप); नीरदाभिः युक्ते (चरित्र०); दुर्दिने (संजी०); समेघे (सुबोधा); अभ्रैः सह वर्तते इति साभ्रं, तस्मिन्। मेघों से आच्छादित। 'अह्नि' का विशेषण है।

1624 सारङ्गाः (पू० 21.4.17.36) सारङ्ग+जस्, संज्ञा, प्रथमा बहुवचन; हरिणाः। "चातके हरिणे पुंसि सारङ्ग शबले त्रिषु" इति सिंहः। निर्मनुष्येषु अरण्येषु हरिणास्तवाभिनववृष्टिपातोद्भूतं नीपं दृष्ट्वा तथा अनुकच्छं

कन्दलीश्च जग्ध्वा उर्व्या अधिकसुरभिं गन्धं आघ्राय च त्वद्गमनमार्ग त्वदागमनोत्सुकेभ्यः पथिकेभ्यः सूचयिष्यन्ति। ये पुनः सारङ्गशब्देन 'चातकहरिणगजा विवक्षिता' इति व्याचक्षते, तेषां तु मतमुपेक्षणीयम्, सारङ्गशब्दस्य गजवाचित्वादर्शनात्। 'सारङ्गः शवलो वर्णश्चातकः षट्पदोमृगः' इति यादवः। किञ्च एकस्यैव शब्दस्य युगपदनेकार्थत्वस्य भिन्नक्रियासमन्वस्य च क्लिष्टत्वात् कन्दलीश्चेत्यत्र समुच्चयानुपपत्तेश्चेत्यलमतिप्रसङ्गेन (प्रदीपः); चातकभृङ्गकुरङ्गमतङ्गजाः। सारङ्गश्चातके भृङ्गे मृगेऽपि च मतङ्गजे' इति मेदिनीकारः (चरित्र०); सारङ्गाः मतङ्गजाः। कुरङ्गाः भृङ्गा; सारङ्गश्चातकके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गज' इति विश्वः (संजी०); सारङ्गशब्देनात्र चातकमधुकरहरिणास्त्रयोऽप्यर्थास्त्रिपु वाक्येपु क्रमात्तन्त्रेणोच्यन्ते। 'सारङ्गः शवलो वर्णश्चातकः षट्पदो मृगः' इति वैजयन्ती। तत्र चातकानां कदम्बकुड्मलखण्डनम्, षट्पदानां कन्दलीमुकुलदलनम्, मृगाणां दग्धस्थलपरिमलाघ्राणम्। अथवा पूर्ववाक्येऽपि भ्रमराणामेव कर्तृत्वम्, चातकानां कदम्बचुम्बनस्याप्रसिद्धत्वात्, उत्तरवाक्ये क्रियान्तरोक्तेर्तरिणानाम्। 'घ्राणे तु सारङ्गा गजा' इति केचित्, 'करीवसिक्तं पृपतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम्' इत्युक्तत्वात्। अत्र प्रमाणं मृग्यम् (विद्युल्लता); सारङ्गाश्चातकाः पक्षिणः (सुबोधा); व्याख्यान्तरञ्च कुर्वन्ति, तद्यथाः सारङ्गाश्चातका हरिणा मातङ्गाश्च एकशेपेण वाच्याः उक्तञ्च–

"मृगचातकमातङ्गाः सारङ्गा संप्रकीर्तिता" इति।

अन्यच्च "सारङ्गः शवले ख्यातश्चातके हरिणे गजे" इति।

सारं जलं गायन्ति जलं देहीति वदन्तीति सारङ्गाश्चातकाः ऊर्ध्वचरित्वात् नीपं दृष्ट्वा जलकणप्रत्याशया तव मार्ग सूचयिष्यन्ति सारं बलवद्गच्छन्तीति सारङ्गा हरिणाः, अधश्चारित्वात् कन्दलीर्दृष्ट्वा सूचयिष्यन्ति, ता हि तेभ्योऽतिरोचन्ते। सारमुत्कर्ष गच्छन्तीति सारङ्गा गजाः, अन्तरालचालित्वात् उर्व्यागन्धमाघ्राय सूचयिष्यन्ति। स हि तेभ्योऽतिरोचते। त्रय एवैते मेघानुसारिणः, तथाहि, चातको मेघजलपरः प्रसिद्ध एव, मृगाश्च तृषिता मरीचिकामप्यनुसरन्ति के पुनर्मेघम्। गजाश्च दावपीडिताः शुष्कसरः पङ्कप्रवेशमपि कुर्वन्ति मेघानुसरणं पुनः किं वाच्यम्। सर्वेषां त्वामुपकारीति तात्पर्यम् (सुबोधा); **केचित्तु** सारं मधुरं गायन्तीति भ्रमराः तेऽपि कदम्बमर्धविकसितं दृष्ट्वा सम्पूर्णमधुलाभाशया तव मार्ग सूचयिष्यन्ति। "सारङ्गाश्चातके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गजे" इति **विश्व** इत्याहुः (सुबोधा)।

मल्लिनाथ के अनुसार सारङ्ग शब्द के तीनों अर्थ भौंरे, हिरण और हाथी, इस श्लोक में लिये गये हैं (अग्र०) उ० 1.122 के अनुसार यह √सृ (जाना) से बनता है। सरति गच्छति इति सारङ्गः। कात्यायन ने इसे सार+अङ्ग से 'पशु' और 'पक्षी' अर्थों में सिद्ध किया है। 'साराणि अङ्गानि सारम् अङ्गं वा यस्य'। यह विग्रह प्रकरणोपयोगी है। सार पद बलवान्, स्थिर, मधुर आदि अर्थों में आता है।

यहाँ पर 'सारङ्गाः' पद के तीन अर्थ टीकाकारों ने माने हैं। उनके अनुसार भौंरे नीप को देखकर, हरिण कंदली के विकास को देखकर और हाथी पृथिवी की गन्ध को देखकर मस्त हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि 'सारङ्ग' पद हाथी के अर्थ में नहीं आता। परन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता। श्री मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोष के पृ० 1208 कालम 3 में इस अर्थ को स्वीकार किया है। श्री आप्टे ने भी इस अर्थ को माना है। यद्यपि इस स्थल पर वे इस पद को हरिणवाची ही लेना उचित समझते हैं। अतः इसे तीनों अर्थों में लेना उपयुक्त है और भाव के सौन्दर्य को बढ़ाता है। कालिदास ने रघु० 17.15 में इसे चातक के अर्थ में प्रयुक्त किया है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'मोर' भी किया है। यह अर्थ भी प्रकरण में परम उपयुक्त है। मोर मेघागमन पर मस्त हो जाता है और कूकने लगता है। वाक्य में मोरों और चातकों का सम्बन्ध 'गन्धमाघ्राय' से ही किया जा सकता है। यह सम्बन्ध बहुत रोचक नहीं है। अतः अनुवाद में इन अर्थों को ग्रहण नहीं किया गया है। अपि च—इन अर्थों को लेने पर 'कोयल' अर्थ का

व्यावर्तन सम्भव नहीं था। वर्षा ऋतु में उसका भी महत्त्व और प्राधान्य है। कवि को ये तीनों अर्थ अभिप्रेत प्रतीत नहीं होते। मोरों का वर्णन पद्य 23 में हुआ है। यहाँ करने में पुनरावृत्ति हो जाती है। श्री पाठक का मत है कि कालिदास ने सारङ्ग का प्रयोग अधिकतर हरिण के अर्थ में किया है। अत: वही एक अर्थ यहाँ लेना चाहिए। हम उनकी इस युक्ति से सहमत नहीं।

मल्लि० इस शब्द से 'हाथी' या 'हरिण' अर्थ लेता है। सुमति० कहता है कि इससे 'भ्रमर' अर्थ भी लिया जा सकता है। सारोद्धारिणी के अनुसार इससे उपर्युक्त तीनों अर्थो के अतिरिक्त 'चातक' पक्षी भी अर्थ है। वल्लभ इससे 'मोरों' का अर्थ लेता है, परन्तु अपने पक्ष की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं देता। सरस्वती तीर्थ कहता है कि इस श्लोक में सारङ्गा शब्द से हरिण ही लिए जा सकते हैं। केवल यही एक अर्थ ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि कालिदास 'सारङ्ग' शब्द का सामान्यत: 'हरिण' के अर्थ में प्रयोग करता है। देखिये—अभि० शाकु० 1.5 एष राजेव दुष्यन्त: सारङ्गेणातिरंहसा। विक्रमोर्वशीय के IV अङ्क, में भी देखिये—इमं तावत्प्रियावृत्तिनिमित्तं सारङ्गमासीनमभ्यर्थये'। चातक के अर्थ में भी कालिदास 'सारङ्ग' का प्रयोग करता है, परन्तु बहुत कम। देखिये—रघु० XV 11.15 'प्रवृद्ध इव पर्जन्य: सारङ्गैरभिनन्दित:'। पाणिनि के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—(सार+अङ्ग=सारङ्ग)। यह बहुव्रीहि समास है। टीकाकारों ने इसके हाथी, भ्रमर, चातक अर्थ लेकर सारं सलीलं गच्छति (हाथी); सारं मधुरं गायति (भ्रमर, चातक, मोर); इस तरह 'सारङ्ग' शब्द की व्युत्पत्ति की है, जो व्याकरण की दृष्टि से काल्पनिक ही है।

1625 **सारयन्तीम्** (उ० 31.3.17.30) सृ+णि्+शतृ+ङीप्+अम्, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; परामृशन्तीम् (प्रदीप); अपसारयन्तीम् (चरित्र०); प्रसारयन्तीम् (सञ्जी०); आलोकार्थमपास्यन्तीम् (पञ्चिका); स्वस्थानं नयन्तीम् (सुबोधा)।

1626 **सारयित्वा** (उ० 25.3.14.37) सृ+णिच्+क्त्वा; अव्यय; करेण परामृश्य (प्रदीप); पाणिना संस्पृश्य (चरित्र०); आर्द्रत्वापहरणाय करेण प्रमृज्य, अन्यथा क्वणनासम्भवादिति भाव: (संजी०); योजयित्वा (पंचिका); मार्जयित्वा, घातयित्वा (सुबोधा); मल्लिनाथ—आँसुओं के पानी को हाथ से पोंछ कर; वल्लभ—जोड़कर (=योजयित्वा, श०रा०—सुखाकर अथवा सस्वर करके। वस्तुत: यहाँ ये सब ही अर्थ लगेंगे। आँसू पोंछकर, सुखाकर, तार कसकर, स्वर निकालकर। इतनी क्रियाओं में ही 'कथंचित्' (=जैसे-तैसे, बड़ी कठिनता से) के प्रयोग की सार्थकता है। तारों के गीलेपन दूर करने के लिए उनको पोंछ कर। वल्लभ ने इसका अर्थ 'योजयित्वा'—ठीक-ठीक करके—किया है। लक्ष्मीनिवास भी वल्लभ के ही अर्थ का अनुसरण करते हैं। मोरेश्वर काले 'कथञ्चित्' शब्द का आश्रय लेकर 'सारयित्वा' का अर्थ—'ठीक-ठाक करके' (Adjust) ही उचित समझते हैं।

वल्लभदेव ने 'सारयित्वा' का अर्थ 'योजयित्वा' अर्थात् मिलाकर। बजाने के पूर्व वीणा के तार मिलाये जाते हैं और तब ग्राम मूर्च्छना आदि उस पर प्रस्तुत की जाती है। चरित्रवर्धन का भी यही आशय है। उनका कथन है—"सारयित्वा पाणिना संस्पृश्य"। दक्षिणावर्तनाथ का भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है। उन्होंने भी लिखा है—"सारयित्वा करेण परामृश्य।" परन्तु मल्लिनाथ ने 'आर्द्रा: तन्त्री:' को पोंछने का भाव प्रस्तुत किया है—"सारयित्वा, आर्द्रत्वापहरणाय करेण प्रमृज्य अन्यथा क्वणनासम्भवादिति भाव:।' आँसुओं से तार गीले हो उठे। इसी से आवश्यकता इसकी पड़ी कि उसे पोंछा जाय अन्यथा तार बजेंगे नहीं। वस्तुत: आँसू की बूँदों का तारों के ऊपर टिके रहने का सवाल ही नहीं उठता। तार पर से वे स्वयं झड़ जायेंगी। यदि कोई रह भी गई, तो जैसे ही कोई उन्हें उँगलियों से या मिजराब से छेड़ना आरम्भ करेगा। वह तुरन्त झड़ जायगी। वे सूत के तार नहीं होते, जो आँसू की बूँदों से भीग जायँ या गीले हो जायँ। भरतसेन ने दोनों

अर्थों को स्वीकार किया है—"सारयित्वा मार्जयित्वा घातयित्वा वा"। यहाँ पर तारों को छेड़-छेड़ कर मिलाने से ही आशय है। 'धातु पा०' के अनुसार भी "√सार-कृप-श्रया दौर्बल्ये" (चुरादि०)। 'सारयित्वा' की धातु दुर्बल बनाने के अर्थ में है। जब तन्त्री कस दी जाती है, तो वह दुर्बल हो उठती है। यदि जोर से मिजराव या उँगली लग जाय या थोड़ी भी और खूँटी उमेठ दी जाय, तो वह तुरन्त टूट जायगी। इसलिए यहाँ 'सारयित्वा' का अर्थ 'कसकर' या 'मिलाकर' ही समीचीन माना जाना चाहिए। 'कथञ्चिद्' अव्यय की भी तभी सार्थकता है; अन्यथा पोंछने में क्या कठिनाई हो सकती है?

1627 **सारसानाम् (पू० 32.1.5.9)** सारस+आम्; संज्ञा; षष्ठी, बहुवचन; पक्षिभेदानाम् (चरित्र०); पक्षिविशेषाणाम्; 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः यद्वा सारसानां हंसानाम्, 'चक्राङ्गः सारसो हंस' इति शब्दार्णवे (संजी०); सारसाः वन्दिनः, तेषाम् (विद्युल्लता); पक्षिविशेषाणाम्, सारसरुतेन प्रार्थयते इत्येतेः; प्रियतमोऽपि सारसादिरुतमातनोति, यदुक्तं

"हारीत-पारावतसारसानां रुतं विदध्यात् कलकूजितादी" ति (सुबोधा); किंवा सह आरसेन सम्यक् रसेन वर्तते इति सारसाः स्त्रियः, तासां कण्ठकूजितं प्रतिकूजितेन दीर्घीकुर्वन्, मिथुनस्यैव सारसादिरुतकारितोक्तत्वात्। (सुबोधा)।

1628 **सारस्वतीनाम् (पू० 52.3.15.34)** सरस्वती+अण्+ङीप्+आम्; विशेषण; षष्ठी, बहुवचन; सरस्वत्या नद्या इमाः सारस्वत्यः तासाम् (संजी०); सरस्वत्यास्यमहानदीसंबन्धिनीनाम् (विद्युल्लता); सरस्वतीनाम् नदीसम्बन्धिनीनाम्। सरस्वत्या इमाः सारस्वैत्यस्तासां, ष्णः। बलभ्रदः वसुदत्तनामानं ब्राह्मणं हतवान्। तदवसरे कुरुपाण्डवानां युद्धम् प्रवृत्तम्। तदा यद्यत्र मया अवस्थीयते कुरुपाण्डवानां युद्धार्थ निमन्त्रणं दुष्परिहरम्। मया बन्धुवधो न कर्तव्यः। अत एवास्मिन्नेवावसरे ब्रह्मवध प्रायश्चित्तं क्रियते इति विचिन्त्य बलभद्रः प्रायश्चित्तार्थ प्रतिस्रोतः सरस्वतीं जगाम। तथाच भारतम्—

'ब्रह्महत्यापनोदाय प्रयतो नियतेन्द्रियः।
मृदूर्भूत्वाऽन्वसरत प्रतिस्रोतः सरस्वती' मिति।।

बलभद्रस्य सारस्वतजलाधिगमात् तादृशपापक्षयोऽभूत्। अतएव तदधिगमेन पापक्षयात् त्वमपि शुद्धो भविष्यसीति गतौ प्रलोभनम् (सुबोधा); सरस्वत्याः इमाः इति सारस्वत्यः, तासाम्। सरस्वती—वेदों में यह एक बड़ी नदी के रूप में वर्णित की गई। अब यह मरुभूमि में ही लुप्त हो जाती है। लोकविश्वास है कि यह प्रयाग में गुप्त रूप से गंगा और यमुना से मिलती है। इसे कुरूक्षेत्र में विशेष रूप से पवित्र माना गया है—

'गंगा कनखले पुण्या कुरुक्षेत्रे सरस्वती।

ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये पुण्या सर्वत्र नर्मदा।।' यह वाणी की देवता भी है। सरस्वती भारत की पवित्र नदियों में से एक नदी है। यह हिमालय के दक्षिण भाग से निकल कर कुरुक्षेत्र के कुछ उत्तर पश्चिम में बहती हुई महान् मरुस्थल में लीन हो जाती है।

1629 **सारिकाम् (उ० 24.3.6.40)** सारिका+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; सारिका इति व्यक्तवाक् कापि चटकविशेषस्त्री। 'वाचाला मुखरा सारी' इति यादवः। (प्रदीप); स्त्रीपक्षिविशेषाम् (संजी०); पक्षिविशेषं (सुबोधा); मैना को। प्राचीन काल में विरहिणी स्त्रियाँ अपने अकेलेपन को भुलाने के लिए मैना अथवा तोते आदि को पालती थीं और उनसे वार्तालाप कर विरहकाल में विनोदन किया करती थीं। यह बात 'शुकसप्तति' या 'तोता-मैना के किस्से' से स्पष्ट है। सारिका (मैना) स्त्रियों का प्रातिनिध्य करती है, तो शुक पुरुषों का। सारिका पुरुषों के दोष और शुक स्त्रियों के दोष का उद्भावन करते रहते हैं। विल्सन महोदय के शब्दों में—"स्त्रियाँ पालतू जानवरों को रखने के लिए हमेशा प्रसिद्ध ही हैं और यह बात क्या पूर्व और

क्या पश्चिम एवं क्या प्राचीन काल और क्या वर्तमान—सर्वत्र ही प्रचलित है।" इस सम्बन्ध में देखिये—रघु० V 'अनुवदति शुकस्ते मंजुवाक् पञ्जरस्थ:'।

1630 **सार्द्धम्** (द्विवारं प्रयुक्तम्) (उ० 10.2.8.39; 28.3.14.47) अव्यय; सह (संजी० 10); सह, (सुबोधा);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चौदह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शाकु० में इसका प्रयोग नौ बार मालवि० में दो बार तथा कुमार० में एक बार हुआ है।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोश:'।

1631 **सास्रेण** (उ० 41.2.6.13) अस्र+टा+सह+टा, अव्ययीभाव, विशेषण, तृतीया, एकवचन; वाष्पयुक्तेन (चरित्र०); साश्रुणा (संजी०), सनेत्रजलेन (सुबोधा); अस्रै: (आँसू) सह वर्तते इति साश्रम्, तेन। आँसुओं से पूर्ण। तृतीयान्त 'सास्रेण' यक्ष के शरीर का विशेषण है। इस सम्बन्ध में देखिये उत्तरमेघ 45—'अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे' इससे विरह में यक्ष का अश्रु-प्रवाह बताया गया है।

1632 **सिञ्चन्** (पू० 27.1.5.16) सिञ्च्+शतृ+सु; कृदन्त; प्रथमा, एकवचन; आर्द्रीकुर्वन्; अत्र सिञ्चतेरार्द्रीकरणत्वात् द्रवद्रव्यस्य करणत्वम् यत्र तु क्षरणमर्थ: तत्र द्रवद्रव्यस्य कर्मत्वम् यथा 'रेत: सिक्त्वा कुमारीषु' 'सुखैर्निषिञ्चनमिवामृतं त्वचि' इत्येवमादि:, एवं 'किरतौत्यादिनामपि रज: किरति मारुत:' 'अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैर्परियोषित' इत्यादिषु अर्थभेदाश्रयणेन रजो लाजादीनां कर्मत्वकरणत्वे गमयितव्ये (संजी०); 'निषिञ्चन्' इति पाठ:। उत्पादयन अथवा नितरां सिंचन्। 'सुखैर्निषिल्चत्तसिवामृतं त्वचि' इत्यत्र सिञ्चतेरमृतं कर्मीभवति। अत्र तु जालकानीति? मैवम्, किरतिसिश्चत्यादीनां कुसुमजालादीनि कदाचित्करणीभवन्ति कदाचित्कर्मीभवन्तीति परिहार: (विद्युल्लता);

निषिञ्चन्—नि+√सिच्+पु० प्रथमा एक०व०। सींचते हुए। जब √सिच् √कृ० √वृष् आदि धातुओं का अर्थ 'खूब भिगोना' होता है। तब इनके योग में तृतीया आती है और जब केवल 'छिड़कने' का भाव हो तो द्वितीया आती है। अत: नवजलकणै: में तृतीया 'जोर की वर्षा' का भाव प्रकाशित करती है।

1633 **सितमणिमयानि** (उ० 5.1.3.5) सितमणि+मयट्+शस्; विशेषण, द्वितीया, बहुवचन; सितमणि: स्फटिकमणि: स्फटिकमणि:। स्फटिकमणीनां प्रसादवत्तया रात्रिषु प्रतिविम्वातिशय:सम्भवतीत्यनुसन्धेयन् (प्रदीप); स्फटिकमणि-रचितानि (चरित्र०); स्फटिकमणिमयानि, चन्द्रकान्तमयानि वा (संजी०); स्फटिकानि (पंचिका); स्फटिकहीरक-घटितानि। सिता विशुद्धा मणय: पद्मरागमरकतादय: सितमणिविशुद्धरत्नं सामान्यस्य विशेषपरत्वात् इन्द्रनीलमणिरिति केचित्। "सितं विशुद्धमाख्यातं सितं शुक्लमुदाहतम्।।" इति रान्त: (सुबोधा);

सिताश्च ते मणय:, तेषां विकार:, तानि, सितमणिमयानि। सितमणि०—स्फटिकमणि। कैलास पर्वत स्फटिक मणि का है। अलका उसकी गोद में बसी हुई है। अत: वहाँ के मकानों में ईंट, पत्थर आदि के स्थान पर स्फटिकमणि का ही प्रयोग हुआ । सितमणि का अर्थ सफेद मणि होता है। इससे या तो स्फटिक (crystal) लिया जा सकता है अथवा चन्द्रकान्त। पहले अर्थ के अनुसार 'हर्म्यस्थल' स्फटिकमणि (बिल्लौर) के बने हुए थे और दूसरे अर्थ के अनुसार वे चन्द्रकान्तमणि (Moonstone gem) से निर्मित थे। देखिये—कुमार०—VI.42 'यत्रस्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु। ज्योतिषां प्रतिविम्वानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम्।।' मयट् यहाँ पर विकार के अर्थ में आया हुआ है। 'सित' का अर्थ जैसा कि भरतमल्लिक की टीका में उद्धृत 'रन्तिकोश' से स्पष्ट है, शुक्ल लेना ही अधिक उपयुक्त है। 'मणि' से यहाँ अभिप्राय 'पत्थर' से है। 'विश्वप्रकाश' में बताया गया है—"मणि: स्त्रीपुंसयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च।" सफेद पत्थर अर्थात् संगमरमर से बने हुए महलों के स्थलकुट्टिम है। मल्लिनाथ इससे 'चन्द्रकान्त' अथवा 'स्फटिक' अर्थ लेते हैं। ये अर्थ उदात्तालङ्कार की दृष्टि से उपयोगी हो सकते हैं। भरतमल्लिक 'सित' का अर्थ 'विशुद्ध' लेकर

फर्श की सफेदी हटा देते हैं; क्योंकि 'ज्योतिष्' जैसे श्वेत पदार्थ का प्रतिबिम्ब पद्मराग या मरकत आदि पर ही पड़ सकता है। परन्तु प्रतिबिम्बग्राहकता सङ्गमरमर में कतई नहीं कम होती और न स्फटिक में ही। शङ्खक्षीरन्याय के विरुद्ध स्फटिक, दर्पणादि को ध्यान में रखकर उन्हें संगमरमर के प्रतिबिम्ब–ग्राहकता की कल्पना कर लेनी चाहिए थी।

1634 **सिद्ध: (उ० 12.4.21.66)** सिध्+क्त+सु; क्रिया; प्रथमा, एकवचन; सिद्धो भविष्यतीत्यर्थ: (प्रदीप); निष्पन्नो भवेत् (चरित्र०); निष्पन्न: (संजी०)।

1635 **सिद्धद्वन्द्वै: (पू० 48.2.6.20)** सिद्ध+आम्=द्वन्द्व+भिस्; तत्पुरुष, संज्ञा, द्वितीया, बहुवचन; स्कन्दमुपवीणयितुं आगच्छद्भिरिति भाव: (प्रदीप); मिथुनै: (चरित्र०); सिद्धमिथुनै: (संजी०), भगवन्तं स्कन्दमुपवीणयितुमागतैरिति भाव: (संजी०); सिद्धमिथुनै: (विद्युल्लता), सिद्धमिथुनै: (सुबोधा)।

1636 **सिद्धा: (पू० 22.3.12.33)** सिद्ध+जस्; संज्ञा (विशेषण) प्रथमा, बहुवचन; सिद्धपुरुषा: (सुबोधा); सिद्धा इह लब्धसिद्धाञ्जनगुटिकादिसिद्धय इति **टीकाकार:**।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में एक बार (1.5) हुआ है।

1637 **सिद्धै: (पू० 58.2.7.19)** सिद्ध+भिस्; संज्ञा; तृतीया, बहुवचन; सिद्धसंघै: (चरित्र०); योगिभि:; 'सिद्धिर्निष्पत्ति-योगयो:' इति विश्व: (संजी०) देवयोनिविशैषै:। अथवा कपिलादिभि: परमयोगिभि: 'सिद्धानां कपिलो मुनि:' इति भगवद्वचनात् (विद्युल्लता); प्राप्तसिद्धिभि: (सुबोधा); यहाँ पर यह पद 'देवयोनिविशेष' का भी वाचक हो सकता है और योग द्वारा शक्तियाँ प्राप्त करने में मग्न व्यक्तियों (=योगियों) का भी। यहाँ सिद्ध शब्द से किन्नर न लेकर वे लोग लिए गये हैं, जो योगाभ्यास में लीन हैं और साधना के द्वारा सिद्धि तथा अलौकिक शक्ति को प्राप्त करते हैं। इसी कारण उन्हें योगी और सिद्ध–पुरुष भी कहते हैं। हिमालय ऐसे सिद्धों अथवा योगियों के लिए अभीष्ट स्थान है।

1638 **सिन्धु: (पू० 30.1.4.20)** सिन्धु+सु; संज्ञा, प्रथमा एकवचन; सिन्धुर्नदी, अत्र देशे सिन्धुरिति कापि नदी नास्ति: काश्मीरेषु सिन्धु: प्रवहति इति अनुसन्धेयम् (प्रदीप); तामतीतस्य इति पाठमादृत्य सिन्धुरिति नद्यन्तरं उच्यते इति केचित् वदन्ति। तदानीं अर्थश्चापुष्ट: (प्रदीप); सिन्धुर्निर्विन्ध्या (चरित्र०); नदी, निर्विन्ध्या; 'स्त्रीनद्यां ना नदे सिन्धुर्देशभेदेऽम्बुधौ गजे, इति वैजयन्ती (संजी०); सिन्धुर्नाम कश्चिन्नद: काश्मीरदेशेऽस्ति, नदी तु कुत्रापि नास्ति इति उपेक्ष्यम् (संजी०); सिन्धुरिति नाम्ना प्रसिद्धा कापि नदी (विद्युल्लता); सिन्धुनाम्नी नदी नायिकेव (सुबोधा); नद्या: कृशत्वं स्वल्पजलता, प्रोषितभर्तृकासाधर्म्यात् प्रोषितभर्तृकेयं नदीति श्लेष:। तथाच

"नानाकार्याभिसम्बन्धाद् यस्या विप्रोषित: पति:।
सा रुक्षालकवेणी भवेत् प्रोषितभर्तृके" ति।। (सुबोधा)

अयं भाव; यथान्या कामिनी नायकविरहे वेणीं बध्नाति पाण्डुकान्तिं वहति तनुत्वं धारयति तथेयं नदी भवद्विरहे, यथा नायक: समागम्य तादृश्या नायिकायास्यत् सर्व दूरीकरोति तथा त्वमस्या इति। किञ्च तरया अनुकम्पनीयतां दर्शयता स्वकान्ताया अपि कृपापात्रता कटाक्षिता (सुबोधा); मल्लिनाथ ने 'तामतीतस्य' का खण्डन करते हुए लिखा है–'तामतीतस्य' इति पाठमाश्रित्य सिन्धुर्नाम नद्यन्तरमिति व्याख्यानं तु सिन्धुर्नाम कश्चिन्नद: काश्मीरदेशेऽस्ति। नदी तु कुत्रापि नास्तीत्युप्रेक्ष्यम्, अर्थात् निर्विन्ध्या के अतिरिक्त सिन्धुनाम की कोई और नदी है, यह अर्थ ठीक नहीं; क्योंकि 'सिन्धु' कोई नदी नहीं है, किन्तु एक महानदी है, जो कश्मीर में ही बहती है, न कि मालवा में। मल्लि० के पाठानुसार "असौ सिन्धु" यह नदी (निर्विन्ध्या) अर्थ होता

है। मल्लि० के अनुसार 'सिन्धु' शब्द यहाँ नदी सामान्य का वाचक है, न कि नदी-विशेष का। इसके समर्थन में मल्लि० ने वैजयन्ती का "स्त्री नद्यां नदे सिन्धुर्देशभेदेऽम्बुधौ गजे" यह उद्धरण दिया है, किन्तु मल्लि० के पाठ की अपेक्षा 'तामतीतस्य सिन्धुः' यह पाठ अच्छा प्रतीत होता हैं; क्योंकि मालवा में काली सिन्ध नाम की एक नदी भी है, जो चम्बल नदी में आ मिलती है। इसका समर्थन सारोद्धा, और सुमति० के द्वारा हो जाता है। इसके अनुसार 'सिन्धु' शब्द से यहाँ इसी नदी विशेष का ग्रहण होता है, न कि निर्विन्ध्या का। मल्लि० को सम्भवतः इस 'काली सिन्ध' नाम की नदी का पता नहीं था। इसके अतिरिक्त कवि ने 'सिन्धु' को कम जलवाली (प्रतनु सलिला) कार्श्य—प्राप्त और एक धार में बहने वाली (वेणीभूत०) बताया है, किन्तु निर्विन्ध्या को बड़े वेग से क्षुब्ध (वीचिक्षोभ०) चट्टनों से टकराती गिरती (स्खलितसुभग) और भँवरों से भरी हुई (दर्शितावर्तनाभेः) बतलाया है। अतः यहाँ सिन्धु' नदी 'निर्विन्ध्या' नदी से भिन्न ही है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत शब्द का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग० रघु० (4.35) कुमार० (5.85) तथा शाकु० (5.22) में एक-एक बार हुआ है।

1639 **सिन्धोः (पू० 49.2.8.14)** सिन्धु+ङस्; संज्ञा; षष्ठी, एकवचन; चर्मण्वत्याः (चरित्र०); चर्मण्वत्याख्यायाः (संजी०) नद्याः (विद्युल्लता); नद्याश्चर्मण्वत्याः (सुबोधा); चर्मण्वती नदी की। यहाँ सिन्धु पद 'सामान्य नदी' वाचक है। इसे पद्य 30 की 'सिन्धु' समझना भूल है। समान रूप हो जाने से दोनों पद एक ही अर्थ के हों, यह आवश्यक नहीं।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त कुमार० (3.6) तथा मालवि० (213.3) में इसका प्रयोग एक-एक बार हुआ है।

1640 **सिषेवे (पू० 52.2.9.26)** सेव्+लिट्, आत्मने, प्रथमपुरुष, एकवचन; तिङन्त; अपो भक्षयित्वा तपश्चचार इत्यर्थः (प्रदीप) पापप्रशान्त्यर्थ सेवितवान् (सुबोधा०); जिन (जलों) का सेवन किया। मल्लिनाथ ने इस विषय में एक कथा की ओर निर्देश किया है। एक बार बलराम नैमिषारण्य में किसी सत्र में गये। वहाँ सब ने उनका सम्मान किया, परन्तु एक सूत ने उनकी उपेक्षा की। क्रोध में भरकर बलराम ने सूत को मार दिया। अब उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लग गया। इसके प्रायश्चित्त के लिए उन्हें तीर्थाटन करना पड़ा। इसी निमित्त सरस्वती-तीर पर आकर उसके जलों से अपने आप को पवित्र किया था। यह भाव 'अन्तःशुद्धः' से पूरा मेल खाता है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त रघु० में इसका प्रयोग तीन बार (5.13; 17.49; 18.16) हुआ है।

1641 **सीमन्तिनीनाम् (उ० 39.3.19.45)** सीमन्तिनी+आम्; संज्ञा; षष्ठी, बहुवचन; स्त्रीणाम् (चरित्र०); वधूनाम्, 'नारी सीमन्तिनी वधू' इत्यमरः (संजी०); स्त्रीणां सौम्यसीमन्तिनीनामिति समस्य सुचरितस्त्रीणामिति च व्याचक्षते (सुबोधा); सीमन्तिनी—सीमन्तः अस्य अस्तीति। माँग वाली। सुहागनें माँग में सिन्दूर डालती हैं। यह उनके सौभाग्य का चिह्न है। अतः उन्हें सीमन्तिनी सौभाग्यवती कहा है। सीमन्+अन्त+इन् (णिनि)+ई (स्त्रियाम्) ष०बहुव०। सीमन् के अन् और 'अन्त' के अ में पररूप सन्धि हुई; अर्थात् अन् और अनियमित रूप से 'अ' में मिल गये। सीमन्त का अर्थ माँग (parting line of hair) "सीम्नोऽन्तः। 'शकन्ध्वादिः' (वा० 6.1.94)। सीमन्तोऽस्त्यस्याः। इनिः (5.2.115)। स्त्रियां ङीप्।" सीमन्त माँग या केशविन्यास को कहते हैं। सुन्दर या प्रशस्त सीमन्तवाली को सीमन्तिनी कहते हैं। यह स्थिति केवल सुहागिनों की हुआ करती थी। विधवाएँ केश-संस्कार आदि नहीं कर सकती थीं। अतः उनके सीमन्तिनी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यहाँ कालिदास ने भी सुहागिन के ही अर्थ में इस पद का प्रयोग किया है। कान्त का समाचार उसी को उपलब्ध होगा, जिसके पति होगा। वैसे सभी स्त्रियों को अमरसिंह 'सीमन्तिनी'—शब्दवाच्य मानते हैं।

1642 सीमन्ते (उ० 2.4.15.39) सीमन्त+ङि; संज्ञा सप्तमी, एकवचन; केशसीम्नि (चरित्र०); मस्तककेशवीथ्याम्; 'सीमन्तमस्त्रियां मस्तककेशवीथ्यामुदाहृतमिति शब्दार्णवे (संजी०); सिंथी इति ख्याते केशरचनायां

मस्तक केशवीथी या माँग। उसमें आगे की ओर कदम्ब का फूल सजाया गया था। सीमन्+अन्त+माँग (=केशवेश) के अर्थ में इसकी सन्धि 'सीमन्त' होती है। अन्य अर्थो में 'सीमान्त' होती है।

1643 सुखम् (उ० 48.3.18.22) सुख दु:ख कस्यापि न चिरस्थायिनी सर्वस्यैव कदाचित् अवश्यं विरहदुखगमिष्यति सुखसम्भोगः संयतस्यते (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग नौ बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में तीन बार (1.21; 8.69; 18.3), विक्रम० में दो (3.21; 124.5), कुमार० (4.10), मालवि० (5.3) तथा ऋतु० (4.18) में एक-एक बार हुआ है।

1644 सुखयितुम् (उ० 27.3.14.40) अव्यय; आनन्दयितुम् (संजी०); प्रीणयितुम्; (सुबोधा); √सुखय (सुख से नामधातु)+तुमुन्। सुखी करने के लिए।

1645 सुखिनः (पू० 3.3.13.34) सुख+इनि+ङस्, मत्वर्थे इनिः, विशेषण, षष्ठी एकवचन; सुखहेतुमतः, सन्निहितप्रियजनस्येत्यर्थः (प्रदीप०) कान्तासहितस्यापि पुंसः (चरित्र०); प्रियादिजनसंगतस्यापि (संजी०); अभिमतविषयसन्निधाननिर्वृतस्य (विद्युल्लता); सम्भोगिनः सुरतभाजीः (सुबोधा); सुखिन इति सुखमहि सम्भोगः। उक्तञ्च—

"तपस्तप्यति धर्मार्थ धर्माच्च सुखसम्भवः।

सुखमूलं स्त्रियो नित्यं तासु सम्भोगे इष्यते" इति (सुबोधा); सुखी व्यक्ति का। सुखम् अस्य अस्तीति सुखी, तस्य। पत्नी की संगति, सन्तान से मेल आदि गृह के समस्त सुखों से युक्त।

1646 सुचरितफले (पू० 31.3.10.44) सुचरित+ङस्+फल+ङि; तत्पुरुष संज्ञा, सप्तमी, एकवचन; सुचरितस्य स्वर्गाख्येफले (प्रदीप); पुण्यफले (चरित्र०); पुण्यफले, स्वर्गोपभोगलक्षणे (संजी०); सुचरितं अश्वमेघादिकर्मनिष्पाद्यं पुण्यजातं तस्य फलं विशिष्टभोगसाधनसम्पत्तिः तस्मिन् (विद्युल्लता); सुकृतस्य फले स्वर्गसुखादिके (सुबोधा)।

1647 सुप्तपारावतायाम् (पू० 41.1.4.10) सुप्त+जस्+पारावत+टा+ङि, बहुव्रीहि, विशेषण, सप्तमी एकवचन; अनेन विशेषणेन पौरजनस्तावत् वर्षासमयत्वात् वलभिविहायगर्भगृहे शेते। तत्र पारावता एव भवन्ति, तेस्वपि सुप्तेषु निश्शब्दा भवन्तीत्युक्तम् (प्रदीप); सुप्ताः पारावताः गृहकपोताः यस्यां सा तस्याम् (चरित्र०); सुप्ताः पारावताः कलरवा यस्यां तस्याम्, विविक्तायामित्यर्थः; 'पारावतः कलरवः कपोत' इत्यमरः; जनसंचारस्तत्र असम्भावित एव इति भावः (संजी०); सुखसुप्तानां कलरवाणां अनुपमदैनेत्यर्थः। अथवा तत्सवर्णतया कैश्चिदप्यपरिज्ञात इति (विद्युल्लता); सुप्ता निद्राणाः पारावता यस्यां तादृश्यां। सुप्तपारावतत्वेन निर्जनत्वाद्रति-रसोद्दीपनत्वं ध्वनितम् (सुबोधा); सुप्ताः पारावताः यस्यां यस्याम्। कवियों ने वलभियों में कबूतरों के सोने का वर्णन बहुत किया है। देखो—सौधान्यत्यर्थतापाद् वलभिपरिचयद्वेषि पारावतानि' (मालविकाग्निमित्र 2.12, विक्रमोर्वशीय 3.2 भी देखें)।

1648 सुप्ताम् (उ० 29.4.23.54) सुप्त+टाप्+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; मुकुलिताम् (संजी०); निद्राणां (सुबोधा); न सुप्ताम्—एक पद है। और सुप्सुपा समास है। भाव यह है कि स्थलकमलिनी सूर्योदय पर खिलती है और सूर्यास्त पर संकुचित हो जाती है। मेघावृत दिन में सूर्य न छिपा होता है, न चमकता ही है। अतः कमलिनी अधखिली रहती है। न खिलती है न संकुचित होती है। यही अवस्था यक्षपत्नी की थी।

वह न सो सकती थी, न जाग सकती थी। न मर सकती थी, न जी सकती थी। का०बा० पाठक और० मो० काले न सुप्ताम् को समस्त पद लेते है। ऐसी अवस्था में यह पद 'नञ् तत्पुरुष' समझा जा सकता है, परन्तु यदि इसे नञ् तत्पुरुष माना जाय, तो असुप्ताम् यह प्रयोग होना चाहिए। यक्षपत्नी की पूर्वाभ्यस्त आँखें चन्द्र-किरणों को देखने के लिए ज्यों ही उधर गई कि तत्काल उन्हें आग उगलती पाकर बन्द हो जाया करती थीं। इसलिए वे इस तरह प्रतीत होती थीं, जिस तरह कि मेघाच्छन्न दिवस में स्थलकमलिनी के कमल जो पूरा खिल नहीं सकते, क्योंकि मेघों ने सूर्य की किरणों को ढँक रखा है और बन्द भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वास्तव में उस समय दिन होता है रात नहीं। न सुप्तां निखिलेन्द्रियविश्रमजनकस्य निद्रारसप्रसङ्गस्य भङ्गात्। अन्यत्र दिवसस्वाभाव्यादेव दरदलितदलसम्पुटत्वमात्रविशिष्टत्वात्।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त रघु० में इसका प्रयोग एक बार (2.24) हुआ है।

1649 **सुभग (पू० 30.3.10.41)** सुभग+सु, सम्बोधन, एकवचन; स खलु यं अङ्गनाः कामयन्ते (संजी०); यः सर्वस्यापि सुभगः, तस्मिंस्त्वयि तस्याः प्रार्थना शोभत एवेति भावः (विद्युल्लता); सुभगेत्यनेन त्वं तस्याः सुभगः सापि तव सुभगेति युक्तमकार्श्यकरणम् दुर्भगविरहे हि तथाविधावस्थैव न जायते इति सूचितम् (सुबोधा)।

1650 **सुभगम्मन्यभावः (उ० 33.3.17.35)** सुभग+अम्+मन्+खश्+भू+घञ्+सु; तत्पुरुष; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; सुभगशब्दोपपदात् मन्यतेर्धातोः आत्ममाने खश्च (3.2.83) इति खश्। अरुर्द्विषदन्तस्य मुम् (6.3.67) सुभगम्मन्यः। तस्य भावः सुभगम्मन्यभावः (प्रदीप); सुभगं आत्मानं मन्यते सुभगम्मन्ये तस्य भावः (चरित्र०); सुभगमात्मानं मन्यत इति सुभगम्मन्यः, 'आत्ममाने खश्च' इति खश् प्रत्ययः; 'अरुद्विषार्दित्यादिना' मुमागमः, तस्य भावः सुभगम्मन्यभावः, सुभगमानित्वम् (संजी०); सुभगं इष्टमात्मानं मन्यते सुभगम्मन्यः तद्भावः (पंचिका); कदाचित् सम्बद्धप्रलापादेवमाविष्करोतीत्याह सुभगम्मन्यभावः। सुभगं आत्मनं मन्यते इति सुभगम्मन्य खश्चात्ममैनने इति खः। तस्य भावः स तथा। सुभगं मन्युभाव इति पाठे मन्युः शोको विरहयातनेत्यर्थः तस्य भावः सत्ता सुभगं प्रेयासं मां वाचालं करोति सुभगतया नैवं ब्रवीमीत्यर्थः सुभगं सत्यवादिनम् शोकवानप्यहं सत्यं वदामीत्यर्थः इत्यन्ते (सुबोधा); सुभगं आत्मानं मन्यते इति सुभगंमन्यः तस्य भावः, सुभगम्मन्यभावः। अपने आप को बहुत सुन्दर समझने की भावना। अपने विषय में भावना रखने के अर्थ में खश् और इन् प्रत्ययों का प्रयोग होता है। अतः सुभग+√मन्+खश्—सुभगंमन्यः। पूर्णसरस्वती ने लिखा है—'सुभगं युवतिजनवल्लभम् आत्मानं मन्यते—इति सुभगंमन्यः। 'आत्ममाने खश्च' (2.2.63) इति खश्: 'अरुर्द्विषदज़न्तस्व मुम्' (6.3.67) इति मुमागमः। यस्य भावस्तत्त्वम्।" सुभगम्मन्य उसे कहते हैं, जो अपने विषय में कामिनियों के अनुरक्त होने का वर्णन करता फिरता है। मल्लिनाथ ने लिखा है—"सुभगमानिनामेष स्वभावो यदात्मनि स्त्रीणामनुरागप्रकटनम्" 'सुभग' की व्युत्पत्ति है—'शोभनं भगमस्य स सुभगः।' आशय है सुन्दर श्री काम, माहात्म्य, वीर्य अथवा कीर्तिवाले व्यक्ति से। अमरकोश का कथन है—"भगं श्री काममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु।" इस शब्द की निष्पत्ति "भजं सेवायाम्" (भ्वादि०) से घ—प्रत्यय लगने पर होती है—"खनो घ च" (3.3.125)। रमणियों के द्वारा सुन्दर श्री, अतिशय काम, अत्यधिक माहात्म्य, अतिशायी वीर्य या अच्छी कीर्ति होने के नाते सेवन किये जाने वाले व्यक्ति को 'सुभग' कहेंगे। 'कामसूत्र' में इसका विशेष विवरण एवं 'सुभगङ्करण' के उपायादि बताये गये हैं। 'सुभग' का भरतसेन ने 'सत्यवादी' अर्थ दिया है। यह अर्थ बहुत समीचीन प्रतीत नहीं होता। 'वाचाल' और 'सत्यवादी' के बीच एक जबरदस्त खाई है, जिसे कभी भी नहीं भरा जा सकता।

1651 सुरगजः (पू० 45.1.1.5) सुरगज+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; दिग्गजः (संजी०) श्यामवर्णः कश्चिद् दिग्गज इव (विद्युल्लता); ऐरावत इव (सुबोधा)।

कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ 'इन्द्र का हाथी ऐरावत' किया है। ऐरावत का रंग सफेद माना गया है। अतः इस अर्थ में इसकी मेघ से उपमा ठीक नहीं बैठती है। अतः यहाँ 'दिग्गज' अर्थ ही उचित रहेगा। यदि केवल टेढ़ा होकर पानी पीने तक ही उपमा को माना जाए, तो 'सुरगजः' का 'ऐरावत' अर्थ भी ठीक रहेगा। परन्तु कालिदास की उपमाओं की विशेषता उसकी सर्वाङ्गीणता में है। अतः 'ऐरावत' अर्थ भी प्रकरण में पूर्णतया संगत नहीं लगती है। दिग्गजों के परिचय के लिए मे० 14 के 'दिङ्नागाम्' पर टिप्पणी देखें। इस अर्थ की पुष्टि कु०स० 6.5 के 'दिङ्नागमदगन्धिषु' पद से भी होती है। मल्लि० ने इसका अर्थ 'दिग्गजइव' किया है। आठों दिशाओं के आठ अधिष्ठातृ देवता हैं, जिन्हें 'दिक्पाल' कहा जाता है। इन दिक्पालों के नाम अमरकोष में इस प्रकार दिए हैं—इन्द्रो वह्निः पितृपतिनैर्ऋतो वरुणो मरुत्। कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशा क्रमात्।। सारो०, वल्लभ और सुमति, सुरगज का अर्थ 'ऐरावत' लेते हैं। ऐरावत या ऐरावण इन्द्र का हाथी है और इसका पूर्व दिशा से सम्बन्ध है। इन दिग्गजों के नाम अमर० ने इस प्रकार दिए हैं—'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः।।'

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग चार बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (5; 75; 10.86) तथा कुमार० में एक बार (3.76) हुआ है।

1652 सुरतग्लानिम् (पू० 32.3.11.39) सुरत+ङसि+ग्लानि+अम्; तत्पुरुष; संज्ञा; द्वितीया; एकवचन; रतिश्रमम् (चरित्र०), सम्भोगखेदम् (संजी०) संभोगावसानसंभृतां व्यापार—निःसृताम् (विद्युल्लता); रतिखेदम् (सुबोधा); इस प्रकार के विचार के लिए देखिये, अमरु 58 प्रतिवाति मधो प्रकाशविमसद्राजीवराजीरजो जालामोदमनोहरो रतिरसग्लानिं हरन्मारुतः।

1653 सुरतजनिताम् (उ० 9.2.5.31)

सम्भोगोत्पादिताम् (सुबोधा); सुरतात् जनिताम्; सुप्सुपा समास।

1654 सुरपतिधनुश्चारुणा (उ० 14.2.8.19) सुरपति+ङस्+धनुष्+सु+इव+चारु+टा; तत्पुरुष; विशेषण तृतीया; एकवचन; सुरपतिधनु० इन्द्रचापवत् चारुणा मनोज्ञेन (चरित्र०); मणिमयत्वात् अभ्रंकषत्वाच्च इन्द्रचापसुन्दरेण (संजी०); शक्रचापरम्येण (पंचिका); नानारत्नमयत्वात् इन्द्रायुधवत् सुन्दरेण (सुबोधा)।

भाव यह है कि यक्ष के घर का बहिर्द्वार रंगविरंगी मणियों और चित्रकारियों से इस प्रकार सजा हुआ था कि उस सजावट में इन्द्रधनुष के सभी रंग आ गये थे तथा वे इन्द्रधनुष के क्रम और रूप में रक्खे गये थे। सुरपतेः धनुः तेन चारु, तेन। यहाँ 'सुरपति' पद का प्रयोग सार्थक है। सुर—1. सुरन्तीति सुराः। √सुर् (प्रसवैश्वर्ययोः)+क। 2. शोभनं राजन्ते इति √राज् दीप्तौ+ड। 3. सुनोति सवति उत्पादयति ऐश्वर्यवान् वा भवतीति सुरः। √सु+क्रन् (उ० 2.24.) उत्पादक, शोभाशाली, ऐश्वर्यवान् आदि गुणों वाले 'सुर' होते हैं। उनका पति महान ऐश्वर्यशाली होना निश्चित है। अतः इससे यक्षगृह इन्द्र के ऐश्वर्यो के समान ऐश्वर्यो से परिपूर्ण था—यह ध्वनि निकलती है।

त्वदमरधनु०—पा०भे०। श्री कर्मार्कर इस पाठ को अच्छा मानते हैं; क्योंकि इसमें मेघ का सम्बन्ध सीधा बन जाता है। परन्तु इस पाठ में प्रथम तो दो भावों का संकर है—अमरधनुः+त्वद्धनुः (=मेघधनुनः)। दोनों में से एक ही भाव पर्याप्त था। दूसरे इससे यक्ष की ऐश्वर्यशालिता की कोई ध्वनि नहीं निकलती है। यक्ष के गृह का बाहरी द्वार अर्धमण्डलाकार बहुत ऊँचा तथा विविध रंगों की मणियों से जटित था। इसी कारण उसकी उपमा इन्द्रधनुष से दी गई है। सुराणाम्पतिः सुरपतिः। तस्य धनुः सुरपति—धनुः। तदिव चारु

सुरपतिश्चारु, तेन। "उपमानानि सामान्यवचनैः (2.1.55)"। इह पूर्वपदं तत्सदृशे लाक्षणिकमिति सूचयितुं लौकिकविग्रहे इव शब्दः प्रयुज्यते।' इन्द्र के धनुष की तरह रमणीय। इन्द्रधनुष में सात रंग होते हैं–नील लोहित, नील, गाढ़नील, हरित, पीत, कपिश और रक्त। उसके प्रासाद के तोरण में भी गोमेद, नीलम, मरकत, माणिक्य, पुखराज आदि मणि लगे हैं, जिसके कारण वह भी सतरंगा हो रहा है। अथवा यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि तोरण इन्द्रधनुष के कारण अर्थात् उसका प्रतिबिम्ब पड़ने की वजह से सुन्दर लग रहा है (सुरपति धनुषा चारु सुरपतिधनुश्चारु) अथवा सुरपति का धनुष उसके तोरण में उत्कीर्ण है, जिसकी वजह से वह चारु हो उठा है। इनके भाव विद्युल्लता में अच्छी तरह स्पष्ट किये गये हैं–"इन्द्रचापवत् सुन्दरेण प्रत्युप्तविविधरत्नद्युतिशबलोज्ज्वलत्वात्। अथवा त्वदीयेनेन्द्रचापेन लिखितेन रत्नप्रभाजनितेन वा योगाच्चारुणा। इन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कमितिवत्।"

1655 **सुरभितनयालम्भजाम्** (**पू० 48.3.11.43**) सुरभितनया+आम्+आलम्भ+टा+जन्+ड+टाप्+अम्; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; सुरभितनया धेनवः तासां आलम्भो विशसनं (प्रदीप); सुरभितनयानां कामधेनूत्पन्नगवः आलम्भो मारणं ततो जातः (चरित्र०); सुरभितनयानां गवां आलम्भनेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम् (संजी०); सुरभिर्नाम गोकुलमाता दिव्यधेनुः, 'मथ्यमाने ततस्तस्मिन् क्षीराब्धौ देवदानवैः। हविर्धामाभवत् पूर्व सुरभिः सुरपूजिता' इति श्रीविष्णुपुराणोक्तेः तत्पुत्रीणां गवामालम्भो यज्ञे वधः, तेन जाताम् (विद्युल्लता); सुरभेर्देवधेनो स्तनयानां दुहितृणां कपिलानाभ् आलम्भात् मारणाज्जातां। "आलम्भपिञ्जविशरघातोन्माथवधाअपी" त्यमरः (सुबोधा); सुरभेः (कामधेनोः); तनयाः, तासाम् आलम्भः, तस्मात् जाता, ताम्। पौराणिक कथा है कि रन्तिदेव ने गवालम्भ-यज्ञ में इतनी गौओं की हिंसा की कि उनके खून की नदी बहने लगी और वह चर्मण्वती नदी के रूप में परिणत हो गई। यदि यहाँ पर इस पद का अर्थ गवालम्भ-यज्ञ में (छोड़े गये संकल्प के जलों से) उत्पन्न' अर्थ कर लें, तो वर्णन में विशेष शक्ति और स्वाभाविकता आ जाती है।

महाभारत वनपर्व में दी गई कथा के अनुसार रन्तिदेव की पाकशाला में प्रतिदिन 2000 गौ और 2000 पशु मारे जाते थे और इस मांस के साथ अन्नदान किया जाता था–

राज्ञो महानसे पूर्व रन्दिवस्य वै द्विजः।
द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा।।
अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा।
समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः।।
अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम।
चातुर्मास्ये च पशवो वध्यन्त इति नित्यशः।।

(महा० वनपर्व० अ० 208 श्लोक० 8-10)

इसी कीर्ति का उल्लेख कवि ने किया है। विष्णुपुराण में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है। महाभारत के इस अध्याय में धर्मव्याध अपने हिंसा कर्म को निर्दोष सिद्ध करने के लिए हिंसा की प्रशंसा कर रहा है। वह लिखता है–

अग्नयो मांसकामाश्च इत्यपि श्रूयते श्रुतिः।
यज्ञेषु पशवो ब्रह्मन् वध्यन्ते सततं द्विजैः।। वही, श्लो०।।

यह इस भ्रान्त कथा का मूल है। यज्ञ में या अतिथि-सत्कार में, या अन्य अवसरों पर गोमांस की प्रथा का मूल अ०वे० 9.6 (3) 9 तथा 9.6 (4) 7. अतिथि पद के लिए प्रयुक्त, गोघ्न, तथा यजमानवाची अतिथिग्व, नवग्व, दशग्व, एतग्व (=अश्व भी) आदि हैं। आद्य दो वेद मन्त्रों में 'मांस' पद का अर्थ 'उत्कृष्ट

खाद्य पदार्थ (घी, खोया आदि) हैं। श० 11.7.1.3 में 'एतंदुह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' कहकर इस अर्थ का प्रतिपादन किया है। इस ब्राह्मण ने पशुबन्ध यज्ञ का अर्थ–पशु=वीर यजमान का बन्ध=परम उत्कृष्ट अन्न आदिक का भक्षण–किया है। इस ब्राह्मण में पशु-यज्ञ का सारा तत्त्व निहित है। इसे न समझ सकने के कारण मध्यकालीन तथाकथित वैदिक विद्वानों और उनके अनुयायी आधुनिक विदेशी तथा एतद्देशीय कतिपय वैदिक विद्वानों ने महान् अर्थ का अनर्थ किया है।

गोध्न, अतिथिग्व आदि का सप्रमाण सविस्तार विवेचन बताता है कि इन पदों से कोई पशुहिंसा द्योतित नहीं होती। अत: महाराज रन्तिदेव द्वारा दो हजार गौओं के मारने की कथा कपोल-कल्पित ही है। इसका वास्तविक स्वरूप इस प्रकार है–

ता० महा० 19.13.1 में 'गोसव: क्रतु:' का अर्थ–'अथैष गोसव: स्वाराज्यो यज्ञ:' किया है। रन्तिदेव का अर्थ–'रन्ति: रमणं देवानां यस्मिन् स:'–जिसमें विद्वान् रुचि लेते हैं; अर्थात् विद्वानों को सुखदायक और उनसे आदृत पुरुष। 'रन्ति' पद य० 22-19 में इसी अर्थ में आया है (देखो श० 13.1.6.2)।

इस प्रकार देवपूज्य महाराज रन्तिदेव की स्वराज्य रक्षा ही 'सुरभितनयालम्भ' यज्ञ है। इसकी कीर्ति की परिचायिका चर्मण्वती नदी है। इसी के किनारे इस महाराज ने अपनी दानवीरता, विद्वत्प्रेम, वीरकर्म, प्रजापालन आदि का परिचय दिया था। 'चर्मण्वती' पद 'चर्मन्+क्त्+ई' से बनता है। चर्म का अर्थ है–चरितं गच्छति येन तत् चर्म–जिससे जाता है–कीर्ति को प्राप्त होता है वह चर्म है। अत: रन्तिदेव की कीर्ति का परिचय देने के कारण यह चर्मण्वती कहलाती है।

इसका एक अन्य अर्थ भी हो सकता है। तै: 3.9.7.5 ने 'सुरमय:' का अर्थ 'प्राणा:' किया है। अत: सुरभितनया: (वीर पुरुषा: इति यावत्) तेषाम् आलम्भ: (प्राप्ति:, स्वीकार:, ग्रहणम्), तस्मात् जाता।–'जो वीर पुरुषों की महती सेना रखता है', अथवा 'जो महान् योधाओं का विजेता है।' इस अर्थ में महाराज रन्तिदेव के अद्भुत विक्रम का परिचय मिलता है, जो सर्वथा असम्भव नहीं।

श्री साधुराम ने एक अन्य सुझाव दिया है। 'सुरभि' (पृथिवी) की 'तनया' (पुत्री)=खेती उसका आलम्भ-यज्ञ । हर ऋतु में होने वाली खेती की समुचित रक्षा आदि करके "पृथिवी की कृषि संस्कृति ही 'गो मेघ' यज्ञ है।" यह सुझाव भी अच्छा है। सम्भव है कि महाराज रन्तिदेव ने अपने यज्ञमय राज्य शासनकाल में चम्बल नदी के प्रदेश को परम उर्वर और सस्यश्यामला बना दिया हो।

1656 **सुरभितशिलम् (पू० 55.1.2.4)** सुरभित+जस्+शिला+अम्; बहुव्रीहि; विशेषण; द्वितीया; एकवचन; सुरभिता: सुगन्धीकृता: शिला: यस्य स तम्। सुरभिशब्दात् तारकादित्वात् इतच् क्त प्रत्ययो न स्यात्। ईदृशस्य धातोरभावात् यद्वा सुरभिशब्दात् प्रातिपदिकणिजन्तात् क्तप्रत्यय: (चरित्र०); सुरभिता: सुरभीकृता: शिला यस्य तम् (संजी०); अधिवासितपाषाणम् (विद्युल्लता); सुररभिता: सुगन्धीकृत: शिला: पाषाणा यत्र तादृशम् सुरभितैति "ले: कृत्याख्याने ञि" रिति कृतौञि:, तत: क्त:। सुरभितशिलामिति रम्यताचिहध्वनि: (सुबोधा); सुरभिता: शिला: यस्य, तम्। सुगन्धयुक्त पत्थरों वाले।

1657 **सुरयुवतय: (पू० 64.2.6.35)** सुरयुवति+जस्+संज्ञा; प्रथमा बहुवचन; देवांगना: (चरित्र०) देवाङ्गना: (सुबोधा);

1658 **सुलभविपदाम् (उ० 40.4.21.61)** सुलभा+जस्+विपद्+आम्; बहुव्रीहि; विशेषण; षष्ठी, बहुवचन; सुलभा विपदो येषां तेषाम् (चरित्र०); अयत्नसिद्धविपत्तीनाम् (संजी०); सुप्रापविपत्तीनाम् (पंचिका); सुलभ: विपद: येषाम् ते। जिनको विपत्ति अनायास आ जाती है, जो अनायास ही विपत्तिग्रस्त हो जाते हैं। 'आपदापदमनुबध्नाति'। 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'–इस प्रकार के दु:खी प्राणी। अत: अनिश्चित जीवन

वाले, जिनके जीवन का कोई भरोसा नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि न चाहने पर भी प्राणियों पर संकट तथा दु:ख स्वयं आ ही जाते हैं। इनको खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये जीवन पर अनुस्यूत हैं। इसका मूल सिद्धान्त 'संसार दु:खों का मूल है' से मिलता है। हमारे शास्त्र भी यही कहते हैं, देखिये विष्णु०—'सर्व दु:खमयं जगत्'। कई टीकाकार प्रस्तुत चतुर्थ पाद के स्थान पर यह पाठ पढ़ते हैं—'भूतानां हि क्षयिषु करणेष्वाद्यमाश्वस्यमेतत्।'—अर्थात् प्राणियों के शरीरों के नाशवान होने पर यही सर्वप्रथम आश्वासन की बात होती है।

1659 **सुहृद्** **(उ० 18.4.18.72)** सुहद्+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; मित्रं (चरित्र०) सखा (संजी०); मित्रम्। सुहृद इति तत्र तव मित्रदर्शनमपि भावीति ध्वनितम् (सुबोधा);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (9.9) हुआ है।

1660 **सुहृदाम्** **(पू० 41.4.19.43)** सुहत्+आम्; संज्ञा, षष्ठी, बहुवचन; मित्राणाम् (चरित्र मित्राणाम् (संजी०); अशठहृदयानां मित्राणाम् (विद्युल्लता), मित्राणाम् (सुबोधा); सु शोभनं हृदयं येषां, तेषाम्। मित्र के अर्थ में सु+हृदय में हृदय को हृद् हो जाता है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग मालवि० में एक बार (4.6) हुआ है।

1661 **सुहृदुपनत:** **(उ० 39.4.21.53)** सुहत्+टा+उपनत+सु; तत्पुरुष; विशेषण; प्रथमा, एकवचन; सुहृदा मित्रेण उपहत: आनीत: (चरित्र०); सुहृदा सुहृन्मुखेन उपनत: प्राप्त: सन्, सुहृद् पदं विप्रलम्भशङ्कानिवारणार्थम् (संजी०); मित्रेणानीत: (पंचिका); बन्धुना उपगत आनीत:, (सुबोधा) सुहृदा उपनत: (कान्तोपान्तात्) सुहृदुपगम:—पा०भे०—प्रिय के पास से मित्र का आना। यह तभी सुखकारक होता है, जब सुखद सन्देश लाये। यह भाव छपे पाठ से ही सीधा निकल आता है। 'सुहृदा' उपनत: सुहृदुपनत:। "सुहृदुर्हृदौ मित्रामित्रयो:" (5.4.150) इति सूत्रात् सुदुर्भ्याम् हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। उप+√नम्+क्त:=उपनत:।

1662 **सूचयिष्यन्ति** **(पू० 21.4.20.44)** सूच्+लृट; प्रथम पुरुष, वहुवचन; तिङन्त; अनुमापयिष्यन्ति; यत्र यत्र वृष्टिकार्यं कन्दलोमुकुलनीपकुसुमादिकं दृश्यते तत्र तत्र त्वया वृष्टं इति अनुमीयत इति भाव: (संजी०); ज्ञापयिष्यन्ति; 'मृग्यश्च' दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्। व्यापारयत्त्यो दिशि दक्षिणस्यात्पक्ष्मराजीनि 'विलोचनानि' इतिवत् (विद्युल्लता); कथयिष्यन्ति अग्रेसरत्वात्तव (सुबोधा); एतादृशनीपादिकं त्वदागमनचिह्नम्, अतएव सूचयिष्यन्तीत्युक्तम्। **उक्तञ्च**—"चिह्नैरन्वेषणं सूचनमि" ति। (सुबोधा)

कवि ने यह नहीं बताया कि 'किसको' मार्ग बताया जायगा। सम्भवत: पथिक बादल के मार्ग को जान सके—यही कवि का अभिप्राय मालूम होता है।

अनुवाद में 'तुम्हें मार्ग दिखायें' अर्थ किया है। भाव यह है कि हरिण आदि नीप आदि के भक्षण आदि से मस्त होकर आगे—आगे भागेंगे और इस प्रकार तुम्हें मार्ग दिखायेंगे। मल्लिनाथ ने इसका भाव—जहाँ-जहाँ वृष्टि का फल नीप आदि की उत्पत्ति दिखाई पड़ेगी, वहाँ-वहाँ तुम्हारे बरसने का अनुमान करेंगे।"—दिया है। यदि सूचयिष्यन्ति का अर्थ खोज लेंगे; पता लगा लेंगे' किया जाए तो अर्थ और भाव दोनों ही स्पष्ट हो जाते हैं। अनुमापयिष्यन्ति। किस-किस मार्ग से पानी बरसाता हुआ बादल गया है—इस बात का अनुमान वर्षा के नीप और कन्दली के खिलने आदि कार्य से ही किया जा सकता है।

1663 **सूचिभिन्नै:** **(पू० 24.1.3.19)** सूची+सुप्+भिन्न+भिस्, तत्पुरुष, तृतीया बहुवचन; सूच्याकरिषु मुकुलाग्रेषु भिन्नै: विकसितै: (प्रदीप:) कण्टकमिश्रितै: (चरित्र०); सूचिषु मुकुलाग्रेषु भिन्नै: विकसितै:; केतकीमुकुलाग्रेषु

सूचिस्स्यात् इति शब्दार्णवे (संजी०); सूचि: शस्त्रविशेष:, सूचिवत्तीक्ष्णतया दलाग्राण्यत्र सूचय इत्युच्यन्ते, सूचिमात्रेण विकसितै: अनतिपाकाददलितहतासंपुटैरित्यर्थ: (विद्युल्लता); सूच्याकारा अग्रभागा भिन्ना विदीर्णा स्फुटिता येषां तादृशै: (सुबोधा); सूचिभिन्नैरिति अग्न्याहितत्वात् क्तान्तस्य परनिपात:; सुच्या गर्भद्रोण्या भिन्नैरिति वा विग्रह:। "गर्भदोण्यां स्मृता सूचिस्तीक्ष्णाग्रेषु च वस्तुषु" इति **विश्व**: (सुबोधा)।

सूचिषु सूच्याकारेषु मुकुलाग्रेषु भिन्नै: विकसितै: (सरस्वती तीर्थ); कलियों के अगले भागों में खिले हुए। केतकी को सूचिपुष्प भी कहते हैं।

1664 सूचिभेद्यै: (पू० 40.2.8.22) सूचि+भिस्+भेद्य+भिस्; तत्पुरुष, विशेषण, तृतीया, बहुवचन; अतिबहुलत्वात् सूच्यग्रभेदनार्हैरित्यर्थ: (प्रदीप); निबिडै: (चरित्र०); सूचिभि: भेद्यै:, अति सान्द्रैरित्यर्थ: (संजी०); सूचि: शस्त्रविशेष:, तीक्ष्णाग्र:; तया भेत्तुं योग्यै:, अनेन बहुलत्वातिशय उक्त: (विद्युल्लता); निविडै:, सूचिभेद्यैरिति सूचि: कर्मकारद्रव्यभेद: तया भिद्यन्ते इति च्यण्, सूचिभेदमर्हतीति पण्यो वा, सूचिभेद्यत्वच्च कविसमयस्तमोनिविडतायां न तु वस्तुतस्तमसां सूचिभेद्यता (सुबोधा);

सूचिभि: भेद्यै–सूइयों से तोड़ने योग्य। यह अन्धकार की गहनता को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होता है। इस पर सारो० का लेख यह है–अतिनिबिडत्वात् तमसां कविसमये सूचिभेद्यत्वमिष्यते। औपचारिकोऽयं धर्म:। इतना प्रगाढ़ (अन्धकार) जो कि सुई से छेदा जा सके (pitch dark, inky dark) पंजाबी में इसके लिए 'अन्धेरा घुप' मुहावरा है।

1665 सूच्यते (उ० 11.4.17.51) सूच्+लट्; कर्मवाच्य; तिङन्त; ज्ञाप्यते (चरित्र०); ज्ञाप्यते (संजी०); *मार्गपतितमन्दारकुसुमादिलिङ्गै: अयमभिसारिकाणां* पन्था इति अनुमीयत इत्यर्थ: (संजी०); कथ्यते अनुमीयते वा (पंचिका); प्रकाश्यते। किंवा मन्दारपुष्पादिभिर्हेतुभि: करणैर्वा सूच्यते अर्थाज्जनै:, अनेन यथा अभिसारिका गता इति तत्तत्सन्दर्शनात् विज्ञायते इत्यर्थ:। तामिति सम्बन्ध: (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक बार (17.50) हुआ है।

1666 सूते (13.4.16.35) सू+लट्; प्रथम पुरुष, एकवचन; तिङन्त; जनयति (संजी०)।

1667 सूर्यापाये (उ० 19.4.16.39) सूर्य+ङसु+अपाय+ङि; तत्पुरुष; संज्ञा; सप्तमी, एकवचन; सूर्यापगमे (चरित्र०); सूर्यापाये सति (संजी०); रवेरस्तसमये (पंचिका); सूर्यस्य अपाये अदर्शने (सुबोधा)।

1668 सूर्ये (पू० 41.8.10.30) सूर्य+ङि; संज्ञा; सप्तमी, एकवचन; भास्करे (चरित्र०); सूर्ये दृष्टे, न त्वरुणोदयमात्रे, अनेन तरुणकिरणकवलिततमसि गगनसरणिमशिशिरमहसि समुपसरति सति दिवसमुखविततललितविविधचरितमधिकरुचिरमवनिपनगरं तदतिकुतुकमनुभूयैव गन्तव्यमिति द्योत्यते (विद्युल्लता); सूर्ये दृष्टे सति प्रभाते सति (सुबोधा)।

कुछ टीकाकार इसके स्थान पर 'दृष्टे पूर्वे' पाठ की कल्पना करते हैं और उसका सम्बन्ध पू०मे० 38 के अभ्येति पा०भे० से जोड़ते हैं (सा०)। 'पूर्व दिशा में दिखाई देने पर'। परन्तु यह अर्थ शोभन नहीं। प्रासङ्गिक पाठ–'दृष्टे सूर्ये' ही है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (5.13; 17.26) हुआ है।

1669 सृष्टि (उ० 21.4.17.50) सृष्टि+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; शिल्पम्, प्रथमनिर्मिता युवतिरियमेव इत्यर्थ: (संजी०); निर्माणम्, प्रथमं निर्माणं हि तात्पर्येण भवति। सृष्टिरिति कर्मणि क्ति:। ब्रह्मणा दैवात् सा निर्मिता न पुनरन्या तादृशीति भाव:। (सुबोधा०)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पाँच बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु में दो बार (1.1; 5.6), विक्रम० (10.24), तथा कुमार० (2.28) में एक बार हुआ है।

1670 **सेन्द्रचापम् (उ० .1.1.3.11)** इन्द्रचाप+टा+सह+अम्; अव्ययीभाव: विशेषण; द्वितीया; एकवचन; इन्द्रचापेन सह वर्तत इति सेन्द्रचापम् (चरित्र०); इन्द्रचापवन्तम् (संजी०); ससुरायुधम् (पंचिका); इन्द्रचापेन शक्रधनुषा सहितम्, इन्द्रधनुषो नानावर्णत्वात् सचित्रमित्यर्थ: (सुबोधा); इन्द्रचापेन सह वर्तत इति सेन्द्रचाप: तम्। इन्द्रधनुष में सात रंग होते हैं—1. बैगनी (=लाल+नीला) 2. नीलका 3. नीला 4. हरा (नीला+पीला) 5. पीला 6. नारंगी (लाल+पीला) 7. लाल। इस प्रकार मूल रंग लाल, नीला, और पीला ही होते हैं। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पू०मे० 15 में 'वल्मीक' पर टिप्पणी देखें। सहेन्द्रचापेन वर्तत इति सेन्द्रचापस्तम्। "तेन सहेति तुल्ययोगे [अ० 2.2.28]"–इति बहुव्रीहि:। "वोपसर्जनस्य" [अ० 6.3.82] इति सहस्य स:।

1671 **सेविष्यन्ते (पू० 10.4.20.49)** सेव्+लृट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन; तिङन्त, रागोन्मत्ता स्वयमनुयास्यन्ति, विषयिणश्चात: परं को लाभ इति भाव:। यथा मदनतन्त्रे 'यत्र स्त्री स्वयमेव रतिं प्रार्थयते, तदुत्तमरतम्' इति। एतेन सौभाग्यातिशयोऽस्य ध्वनित: (विद्युल्लता); आश्रयिष्यन्ते, यतो यात्रायां एतादृशशुभसूचकवातानुकूलत्वादिकं तत् तव बहुप्रियालाभो मम कार्यसिद्धिश्च भविष्यतीत्यर्थ: (सुबोधा)।

1672 **सेव्यामाना: (उ० 6.1.1.5)** सेव्+यक्+शानच्+टाप्+जस्; विशेषण, प्रथमा, बहुवचन; सेव्यमाना: सत्य: (संजी०)।

1673 **सोत्कम्पानि (पू० 22.4.13.38)** उत्कम्प+टा+सह+शस्; उत्कम्पपूर्वकाणि; (संजी०); गर्जितभयादिव उद्गतवेपथुसहितानि (सुबोधा); सोत्कम्पानीति एतादृशमालिङ्गनं सात्विकीं प्रीतिं सूचयति—

"रोमाञ्चो वेपथु: स्वेदो वलिते च विलोचने।
मज्जन्त्या इव मात्रेषु संश्लेषस्तृप्तिलक्षणम्।।"

इति उत्कम्पेन सह वर्तमानानि सोत्कम्पानि।

1674 **सोपानत्त्वम् (पू० 63.4.15.44)** सोपान+त्व+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन, नि:श्रेणीत्वम् (चरित्र०); सोपानभावम् (संजी०); आरोहणरूपतां। पदसुखस्पर्शमिति सोपानत्वमित्यस्य विशेषणमित्यन्ये। तन्न युक्तं, धर्मस्य स्पर्शयोगात् (सुबोधा); श्री साधुराम ने 'सोपानत्वम्' को नृत्यशास्त्र की परिभाषा माना है। उन्होंने न इस विषय में कोई प्रमाण दिए हैं, न इस पद की परिभाषा की है।

1675 **सौदामन्या (पू० 40.3.10.24)** सौदामनी+टा; संज्ञा, तृतीया, एकवचन; विद्युता। तडित्सौदामिनी विद्युत् चञ्चलाचपलाऽपि' इत्यमर: (चरित्र०); सुदाम्नाद्रिणा एकदिक् सौदामिनी विद्युत्, तेनैकदिगिति 'अण् प्रत्यय:, तया (संजी०); विद्युता (विद्युल्लता); विद्युता (सुबोधा); वर्त्मदर्शनेन विद्युदल्पतया ता उपकरिष्यसीत्यर्थ: (सुबोधा)।

सौदामिनी सुदाम्नि (मेघे) भवा अथवा 'सुदाम्ना सह वर्तते' इति। यह पद सौदामिनी और सौदाम्नी भी लिखा जाता है। देखो आप्टे संस्कृत-अंग्रेजी-कोष। सुदामन् एक पर्वत (=मेघ; देखो निघ० 1.10) का नाम है और ऐरावत हाथी का भी। दोनों विग्रहों में 'सुदामन्+अण्+स्त्री० ई—यह व्युत्पत्ति होगी।

1676 **सौधवातायनस्थ: (उ० 27.4.22.58)** सौध+ङस्+वातायन+ङि+स्था+क+सुप् विशेषण; प्रथमा, एकवचन; भवनवातायनस्थ इत्यर्थ: (प्रदीप); वातायने गवाक्षे तिष्ठति य: स: तथोक्त: (पंचिका); इसके कई पाठान्तर हैं—1. सद्मवातायन-सद्म का अर्थ घर-भवन है और सौध का अर्थ चूने से बना भवन है। विशेष अर्थभेद कोई नहीं है। 2. अवनिशयनासन्नवातायन—यहाँ सन्न का अर्थ 'पास' है। सारे का अर्थ 'पृथ्वी की शय्या के पास की खिड़की पर बैठा हुआ' है। 3. अवनिशयनां सन्नवातायनस्थ—यहाँ सन्न का अर्थ 'पास के' है।

'सन्न' शब्द का निकटवर्ती' अर्थ में साधारण प्रयोग बहुत कम मिलता है; आसन्न ही अधिक प्रयुक्त होता है। 'सन्न' शब्द की अप्रयुक्तता के कारण ही कुछ टीकाकारों ने 'अवनिशयना सन्नवातायनस्थ:' पाठ दिया है, किन्तु इससे भाव अच्छी तरह स्पष्ट नहीं होता है। एक टीकाकार 'सन्न' का अर्थ 'भग्न' (टूटा हुआ) लेता है और कहता है—इससे प्रकट होता है कि यक्ष का घर उसके वियोग में टूट-फूट गया था, अच्छी हालत में नहीं था।

अवनिशयनासन्नवातायनस्थ:—वातायने तिष्ठतीति वातायनस्थ: (उपपद समास)। वातस्य अयनं वातायनम्। अवनौ शयनम् अवनिशयनम्। तस्यासन्नम् अवनिशयनासन्नम्। अवनिशयनासन्नञ्च तद् वातायनञ्च अवनिशयनासन्नवातायनम्। तत्र तिष्ठतीति कप्रत्यय:—अथवा अवनिरेव शयनं यस्या सा अवनिशयना। तस्य आसन्नवातायनस्थ: तथेति।' पूर्णसरस्वती ने इसका सौन्दर्य इस तरह स्पष्ट किया है— "अवनिशयनासन्न-वातायनस्थ: क्षितितलविततमेध्याजिनादिरूपतदीयशयनप्रदेशसन्निकृष्टगवाक्षवहिर्भागस्थित:। अनेन योग्यस्थानस्थितश्च तव स कश्चिद् तोष इति सूच्यते।

1677 सौधोत्सङ्गप्रणयविमुख: (पू० 28.2.8.24) सौधोत्सङ्गप्रणय+ङस्+विमुख+सु; तत्पुरुष, विशेषण, प्रथमा एकवचन; प्रणय: परिचय, 'प्रणय: स्यात् परिचये याञ्चायां सौहृदेऽपि च' इति यादव:। अनया मार्गवक्रत्व-आलोचनयापि तव उज्जयिनि सौधोत्सङ्गपरिचये वैमुख्यं च मा भूदित्यर्थ: (प्रदीप); धवलगृहपराङ्मुख: (चरित्र०); सौधानां उत्सङ्गेषु उपरिभागेषु प्रणय: परिचय:; प्रणय:, स्यात्परिचये याञ्चायां सौहृदेऽपि च' इति यादव:, तस्य विमुख: पराङ्मुख: (संजी०); ललितविश्रमस्थानसंपत्तिरप्यस्तीति व्यज्यते (विद्युल्लता); सौधानां राजगृहाणां य उत्सङ्ग: क्रोड उपरिभागस्तत्र य प्रणयोऽनुरागस्तत्र विमुख: पराङ्मुख: (सुबोधा)।

सुधालेप: अस्य अस्ति इति सौध: (सौवं वा)। सफेदी से पुता हुआ घर। सौधानाम् उत्संगेषु य: प्रणथ: तस्मात् विमुख:। उत्सङ्ग—महलों के ऊपरी भाग, छज्जे अटारी। ध्वनि से ऊँचे भवनों के गोद की प्रेम (=आलिङ्गन) से वञ्चित। उत्सङ्ग का अर्थ 'गोद' भी होता है। अत: इसका पूरा अर्थ हुआ—ऊँचे भवनों की अटारियों रूपी गोद के प्रेमालिङ्गन के परिचय से घृणा न करना। उसे अवश्य प्राप्त करना।

1678 सौभाग्यम् (पू० 30.3.8.37) सुभग+ष्यञ्+अम्, संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; सुभगत्वम् (चरित्र०); सुभगत्वम् 'हृदभगसिंध्यन्ते पूर्वपदस्य च, इति उभयपदवृद्धि: (संजी०); रमणीयवल्लभत्वम् (विद्युल्लता);

सुभगस्य भाव: सौभाग्यम्। सुभग+ष्यञ्। सिन्धु नदी मेघ के विरह में पतिव्रता स्त्री के समान क्षीण और पीली हो रही है। अत: यह मेघ का सौभाग्य ही है कि उसे ऐसी पतिव्रता पत्नी मिली है। श्री काले 'सौभाग्य' की सत्ता के कारण 'सुभग' पद को पुनरुक्त मानकर ते असुभग ऐसा पदच्छेद करते हैं और इसे 'विरहावस्थया' से समस्त मानते हैं। परन्तु ऐसा करना अनावश्यक है। ऐसी पुनरुक्ति अर्थ को अधिक स्पष्ट करने से रस की पोषक ही है। जिसके लिए स्त्री के हृदय में प्रेम है और जिसे वह चाहती है, वह पुरुष 'सुभग' (भाग्यशाली) होता है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शाकु० (503.4) तथा ऋतु० (6.3) में एक—एक बार हुआ है।

1679 सौम्य (चतुर्वारं प्रयुक्तम् पू० 52.3.14.33; उ० 25.1.4.8; 39.3.18.44; 52.1.2.2;) सौम्य+सु; सम्बोधन; एकवचन; सोम इव सुन्दर: सौम्य तत्सम्बुद्धि: हे सौम्य मेघ (चरित्र 25); हे मेघ (चरित्र 39); सुभग (संजी० 52); साधो (संजी० 25); साधो (संजी० 39) साधो (संजी०); दर्शन (पंचिका 53); शान्तिचित्तेत्यामन्त्रणेन सात्विकतया तव तादृशेष्वेव बहुमतिरिति प्रियप्रकाश्यते (विद्युल्लता 52); सुन्दर, धीर वा (सुबोधा); सुचरित्र; (सुबोधा 25) सच्चरित, (सुबोधा 3.39); साधो (सुबोधा 53); वल्लभ सर्वत्र

'सौम्य' पाठ रखते हैं और इसका अर्थ 'सोम इव' सौम्यः। सोम+यत् (पा० 5.3.103) करते हैं। परन्तु यह स्थिति ठीक नहीं। इस सूत्र का शाखादिगण आकृतिगण नहीं है। इस गण में सोमपद नहीं आया है। अतः यह सूत्र लागू नहीं होता। क्षीरस्वामी ने अ० को 3.3.162 की टीका में इसका व्याख्यान सोमो देवतास्येति सौम्यम्। सोमांहयण् (पा० 4.2.30)। सुन्दरे तूपचारात्' किया है। ऋ० 8.59.4 के भाष्य में अर्थसौम्याः का 'सोमार्हाः' किया गया है। अतः मल्लिनाथ का पाठ और व्याख्यान उचित ही है। इस स्थान पर तथा अन्य स्थानों पर वल्लभ 'सोम्य' पाठ पढ़ता है और इसकी व्याख्या (सोम इव सोम्यः) शाखादिभ्यो यत्, परन्तु शाखादिगण आकृतिगण नहीं है और न ही यह शब्द शाखादिगण में आया हुआ है। अमर० लिखता है 'सौम्यं तु सुन्दरे सोमदेवते'।

सोम ही देवता हैं, जिसके उसके अर्थ में 'सौम्य' शब्द बनता है—"सोमाट्ट्यण्" (4.2.30)। इस सूत्र की वृत्ति में लिखा है—सोमशब्दाट्ट्यण्प्रत्ययो भवति साऽस्य देवतेत्यस्मिन् विषये।" भानुजि दीक्षित ने रामाश्रमी टीका में दूसरी व्युत्पत्ति भी दी है। उसका अनुसरण चरित्रवर्धन ने अपनी टीका में किया है—"सोम इव सुन्दरः सौम्यः, तत्सम्बुद्धिर्हि सौम्य !" दीक्षित ने लिखा है—"यद्वा सोम इव सोमः। ततश्चतुर्वर्णादित्वात् (वा० 5.1.124) ष्यञ्।" परन्तु ये दोनों व्युत्पत्तियाँ शास्त्रप्रतिकूल हैं। पाणिनि का सूत्र है— "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (5.1.124) इस पर वार्त्तिक है—"चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसङ्ख्यानम्।" आशय यह कि 'तस्य भावः' के अर्थ में वर्णविशेषवाची और दृढ़ादि से ष्यञ् होता ही था। गुणवाची और ब्राह्मणादि से 'तस्य भावः' और तस्य 'तस्य कर्म' दोनों अर्थो में ष्यञ् हो। वार्त्तिककार का कथन है कि चातुर्वर्ण्यादि को स्वार्थ में गिनाया जाना चाहिए था; अर्थात् चातुर्वर्ण्य का अर्थ होगा चारों वर्ण। यह तुल्यार्थ या इवार्थ में ष्यञ् का विधान नहीं करता। अतः 'सोम इव' यह व्युत्पत्ति नितान्त अनुचित है। काशिका-वृत्ति में दिये गये चातुवर्ण्यादि गणपाठ में सोम कहीं नहीं है। भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अलग से चातुर्वर्ण्यादिगण का पाठ दिया नहीं और तद्धित प्रकरण में जो ष्यञन्त पद गिनाये हैं, उनमें 'सौम्य' आता नहीं। इसे आकृतिगण भी नहीं कहा गया। अतः भानुजि दीक्षित की यह व्युत्पत्ति शास्त्रबाह्य ही मानी जायगी। चूँकि सोम को देवता मानने वाले आर्य लोग रमणीय होते थे, अतः धीरे-धीरे इस शब्द की प्रसिद्धि 'मनोज्ञ' अर्थ में भी हो गई; फिर इसी प्रकार उपचार से 'अनुग्र' अर्थ भी लिया जाने लगा होगा। अपत्यार्थक यञ्-प्रत्यय से सौम्य का अर्थ बुध भी होता है। "सौम्यः सोमात्मजेऽनुग्रे मनोज्ञे सोमदैवते—" (अनेकार्थसंग्रह)। यहाँ पर "आलोके ते निपतति पुरा" का प्रसंग अध्याहृत किंवा अनुवृत्त है। अतः 'अनुग्रह' अर्थ सबसे अधिक समीचीन है। वैसे 'मनोज्ञ' अर्थ भी असमीचीन न होगा।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो बार (14.44; 14.59) तथा कुमार० में एक बार (4.35) हुआ है।

1680 **सौहार्दात्** (उ० 54.2.6.20) सौहार्द+ङसि, संज्ञा, पंचमी, एकवचन; एतावन्तं कालं आभाषणादि जनितात्सुहृद्भावादित्यर्थः। उक्तं च 'सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहु इति (प्रदीप); सुहृद्भावात् हृद्भाग सिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च इति उभयपदवृद्धिः (संजी०); स्नेहेन प्रीत्या (पंचिका); स्नेहात् (सुबोधा०) सुहृदः भाव सौहार्दम्, सुहृद+अण्। मित्रता, मित्र-भाव। जब समास हृद, भग, सिन्धु से अन्त होता हो, तो ञित्, पित्, कित् प्रत्ययों के पूर्व समास के दोनों पदों में स्वरों की वृद्धि हो जाती है। जैसे सौभाग्यम्, साप्तसैन्धवः आदि। सुहृत् शब्द के सम्बन्ध में रंजनराय ने लिखा है सुहृद् दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः इति निपातनात् साधुः।

'सुहृदो भावः सौहार्दम्, तस्मात्। "सुहृद्दुर्हृदौमित्रामित्रयोः" (5.4.150) सूत्र से निपातित 'सुहृद्' शब्द से 'अण्' प्रत्यय लगने पर "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" (7.3.19) सूत्र से उभय पद वृद्धि होने पर

'सौहार्द' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार सौहार्द का अर्थ यहाँ पर मित्रता है। हेतु में पंचमी होने के नाते 'सौहार्दात्' का अर्थ हुआ 'मित्रता के नाते'। 'बन्धुकृत्य' इसे पहले ही कहा जा चुका है। बन्धुकृत्य सर्वथा मित्रतावश ही किया जायगा। अतः मित्रकार्य में उचितानुचित चिन्ता की ही नहीं जाती। भगवान् श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर का दौत्य, अर्जुन का सारथ्य, द्रौपदी का सख्य आदि क्या-क्या नहीं निभाया। कवि कहता है-

"सारथ्यपारिषदसेवनसख्यदौत्यवीरासनानुगमनस्तवनप्रणामैः।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतस्य विष्णोर्भक्तिं चकार नृपतिश्चरणारविन्दे।।"

सौहार्दाद् वा अनुक्रोशबुद्ध्या वेति विकल्पने द्वयोरेकस्यापि प्रवर्तकत्वम्। किं पुनरेकत्र समुदितयोर्द्वयोरपीति ध्वन्यते (विद्युल्लता)।

1681 **स्कन्दम् (पू० 46.1.2.2)** स्कन्द+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; कुमारं स्वामिनम् (संजी०); 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीरग्निभूर्गुहः' इत्यमरः (विद्युल्लता), कार्तिकेयम् (सुबोधा); कार्तिकेय, महासेन, गृह, सुब्रह्मण्य। इस नामकरण का कारण महाभारत में इस प्रकार दिया है—स्कन्दत्वात् स्कन्दतां प्राप्तो गुहावासाद् गुहोऽभवत्। ये हिन्दुओं के युद्ध-देवता हैं। ये परवाण नामक मोर की सवारी करते हैं। इनके एक हाथ में धनुष है और दूसरे में तीर। इनकी पत्नी का नाम कौमारी, सेना या देवसेना है।

1682 **स्खलितसुभगम् (पू० 29.2.3.44)** स्खलित+टा+सुभग+सु; बहुव्रीहि; विशेषण; प्रथमा, एकवचन; मनोज्ञं यथा स्यात् (चरित्र०); स्खलितेन उपस्खलनेन मदस्खलितेन च सुभगं यथा तथा (संजी०); स्खलितं उपलादिसंघटटनेन प्रतिहतवेगत्त्वम्, व्याजेन गमनविहतिप्रकाशनं च, तेन सुभगं स्पृहणीयम् (विद्युल्लता); स्खलितेन इतस्ततः पातेन अथच कामोद्गमचिह्नविभङ्गेन सुभगं मनोहरं यथा स्यात्तथा (सुबोधा)।

स्खलित—√स्खल+क्त। स्खलितैः सुभगं यथा स्यात् तथा। लड़खड़ाती चाल अर्थात् मस्त चाल।

1683 **स्तनः (पू० 18.4.15.60)** स्तन+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; ननु स्तनौ द्वौ वर्णनीयौ कथं स्तन इत्युक्तम्? सत्यं, विदग्धा नायिका एकमेव स्तनं दर्शयन्ति अथवा धाष्ट्र्यप्रसङ्गात्। तथाच "आवृणोति प्रयत्नेन विदग्धैकस्तनं सदा। विवृणोति तथा चैकं यूनां चित्तापकर्षणे" इति, "सव्याजमंशुकाक्षेपादेकं प्रदर्शयेत् स्तनमि" ति च। एकस्य स्तनस्य काननाभ्रैरावृतत्वाददर्शनमिति स्तन इत्युक्तमित्यन्ये। किमत्रानेकस्तनवितर्केण यतः स्तनाकारस्तावदयं प्रतिभाति, उक्तञ्च—'किमु तर्क-वितर्काभ्यां प्रतीतिस्तावदीदृशी' ति केचित्। (सुबोधा);

1684 **स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः (उ० 11.3.10.38)** स्तन+ओस्+परिसर+ङि+छिन्न+भिस्+सूत्र+भिस्; बहुव्रीहि, विशेषण, तृतीया, बहुवचन; स्तनयोः परिसर, प्रदेशः तत्र छिन्नानि सूत्राणि येषां तैः (संजी०); स्तनपरिमलः कुचामोदो येषां तैः छिन्नसूत्रैः मुक्ताहारैः तदेतेन भ्रष्टाभरणाग्रहणेन समृद्धिरुक्ता (पंचिका); स्तनयोः परिसरैर्वेष्टनैः "वेष्टनं स्यात् परिसर" इति शर्वः। छिन्नानि सूत्राणि ग्रथनतन्तवो येषां तैः। इदं हारैरित्यस्यापि विशेषणम्। स्तनं परिसरन्तीति स्तनपरिसरास्तैः पचादित्वादजिति। स्तनपरिसरैः कञ्चुलिकाभिरिति विशेषणमित्याहुः। स्तनभरस्तेन स्तनपरिसरे स्तनपर्यन्ते वा छिन्नसूत्रं येषां तादृशैः। स्तनपरिसरैरित्यपपाठोऽप्रयोजकदोषापातादन्वयाभावाच्चेति बृहस्पतिः। किन्त्वयमस्य प्रमादः पूर्वटीकाकारैः स्तनपरिसरैरित्यस्यैव व्याख्यातत्वात् प्राचीनबहुपुस्तकेषु तत्पाठस्य दृश्यमानत्वाच्च (सुबोधा);

स्तनयोः परिसरः प्रदेशः, तत्र छिन्नानि सूत्राणि येषां तैः। स्तन परिसर-स्तनों का प्रदेश। अतः निविड, उन्नत और कठिन स्तन। कुछ टीकाकारों ने—स्तनेषु परिसरन्ति ते स्तनपरिसराः (स्तनों पर घूमने वाले) पश्चात् छिन्न-सूत्राः (पीछे टूटे हुए धागे वाले), तैः—यह विग्रह किया है। इसमें स्तनों के गुणों का प्रकाशन नहीं होता। अतः यह अर्थ अच्छा नहीं। स्तनपरिचित—पा०भे०। परिचित=परिचय। अतः स्तनों के परिचय से टूटे हुए इत्यादि। मुक्तालग्नस्तन —पा०भे० मोतियों से चिपटे हुए स्तनों के चन्दन आदि सुगन्धित लेप और

टूटे हुए धागों वाले'। यह पाठ भी अच्छा है, परन्तु इसमें न ऋतुसंहार 1.4 और 2.18 के भाव आये हैं, न स्तनों पर फूलों के आभूषण का वर्णन । अत: पूर्व पाठ ही अच्छा है। अन्य पाठों में 'परिसर' के स्थान में 'परिचय' या 'परिचित' पाया जाता है। इन दोनों का 'सम्पर्क' (मेल) अर्थ है। मुक्तालग्नस्तनपरिमलै:—इसी पाठ को चरित्रवर्धन ने भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार—'मुक्तासु मौक्तिकेषु लग्नः स्तनानां कुचानां परिमलः सौगन्ध्यं येभ्यस्तै:। छिन्नानि त्रुटितानि सूत्राणि तन्तवो येषां तै:, केवल मुक्ता के पड़ी रहने से अभिसारिका का अनुमान नहीं किया जा सकता; परन्तु वक्षःस्थल पर लगाये जाने वाले सुरभित लेप, जैसे चन्दनद्रव, केशर या कुमकुम और मृगमद आदि, यदि उन मोती के दानों पर कहीं लगे हों, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह किसी अभिसारिका के ही हार का है अत: मोती के दानों में चिपके हुए 'वक्षस्थल के सुगन्ध वाले' यही अभीष्ट अर्थ प्रतीत होता है। भानुजि दीक्षित के द्वारा उद्धृत कोश के अनुसार—

स्यात् परिमलो विमर्दातिमनोहरगन्धयोश्चापि। सुरतोपमर्दविकसच्छरीरसङ्गादिसौरभे पुंसि।" और तीसरे अर्थ की रमणीयता का आस्वाद और भी सहृदय हृदयहारी सिद्ध होगा। "मुक्ताजालैः स्तनपरिसरै:" पाठ तो सर्वथा निराकरणीय है। भरत मल्लिक ने बृहस्पति का खण्डन उद्धृत किया है—'अपपाठः, अप्रयोजकदोषापाताद् अन्वयाभावाच्च।' इसके विरोध में उनका समर्थन निरर्थक है; क्योंकि प्राचीनतम पाठ वल्लभदेव का है, जो इस पाठान्तर के अनुकूल नहीं है। यहाँ पर 'रसाकर' के अनुसार चारों भूषणों को प्रस्तुत किया गया है—

कचधार्य देहधार्यं परिधेर्य विलेपनम्।
चतुर्धा भूषणं प्राहुः स्त्रीणां मन्मथदैशिकम्।।

1685 **स्तनाभ्याम्** (उ० 21.3.12.40) स्तन+भ्याम्; संज्ञा, तृतीया, द्विवचन; न तु वपुर्दोषात् (संजी०); स्तनभोगेन (पंचिका); कुचाभ्यां, स्तनयोः सुवृतघनपीनता सूचिता, उक्तञ्च वृतौ घनाविषमौ कठिनापुरस्या' विति (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में एक बार (3.54) हुआ है।

1686 **स्तनितवचनैः** (उ० 37.4.16.48) स्तनित+जस्+वचन+भिस्; तत्पुरुष; संज्ञा, तृतीया, बहुवचन; गर्जितवचनैः (प्रदीप); स्तनितानि गर्जितानि इव वचनानि तैः (चरित्र०); स्तनितान्येव वचनानि तैः (संजी०); गम्भीरगर्जितेनैव वचसा (पंचिका); ध्वनितवचनैः मन्दगर्जितरूपवाक्यैः, प्रवलगर्जितेन चमत्कृतिः स्यादित्युक्तं ध्वनितवचनैः, धीरध्वनितवचनैः इति पाठे मन्द गर्जितवाक्यः सन् त्वम्। धीरध्वनितमुचकेरिति पाठे क्रियाविशेषणम् (सुबोधा); **धीरस्तनितवचन**—पा०भे०—इसके दो पदच्छेद हो सकते हैं—1. धीरस्तनित, एक समस्त पद है—धीरं स्तनितम् एव वचनं यस्य सः। गम्भीर गर्जन रूपी वचनों वाला 2. धीर (सम्बोधन एकव०) स्तनितवचन ये दो पद हैं। **धीरस्तनितवचनम्**—पा०भे०—यह क्रियाविशेषण ही हो सकता है—धीरं स्तनितम् एव वचनं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा।—ऐसे रूप में गम्भीर गर्जन शब्दों का काम कर सकें।' प्रथमान्त 'वचन' पाठ में वचनों की स्थिति गौण होती है। ऐसे ही क्रियाविशेषण पाठ में। 'प्रक्रमेथाः' के साथ सम्बोधनात्मक पाठ अधिक उपयुक्त है। 'धीरस्तनितवचनः' वाले पाठ में यह मेघ का विशेषण है।

1687 **स्तनितविमुखः** (उ० 36.2.10.23) स्तनित+ङसि+विमुख+सु; तत्पुरुष; विशेषण; प्रथमा, एकवचन; गर्जितरहित आसीनः सन् (चरित्र०); गर्जितपराङ्मुखो निःशब्दस्सन् अन्यथा निद्राभङ्गः स्यादिति भावः (संजी०); त्यक्तगर्जितः (पंचिका); गर्जितात् विमुखः पराङ्मुखो निवृत्तो निःशब्दसन् (सुबोधा); स्तनितेभ्यः

विमुखः। कवि ने मेघ को चुप रहने का उपदेश पू०मे० 41 में भी किया है। वहाँ कवि रागसन्तप्त अभिसारिकाओं पर दयाभाव से ऐसा उपदेश कर रहा है। यहाँ भी दयाभाव है।

1688 **स्तनितसमये (पू० 22.3.10.31)** स्तनित+ङस्+समय+ङि; तत्पुरुष; संज्ञा, सप्तमी एकवचन; त्वद्गर्जितकाले (चरित्र०); त्वद्गर्जित काले (संजी०); गर्जितावसरे (सुबोधा)।

1689 **स्तम्भम् (पू० 33.3.17.30)** स्तम्भ+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; आलानम् (संजी०)।

1690 **स्तम्भितान्तर्जलौघः (पू० 63.3.14.40)** स्तम्भित+सु+अन्तः+जल+ङस्+ओघ+सु; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; स्तम्भितोऽन्तर्गतस्य जलस्यौघः प्रवाहो येन तादृशः सन् (चरित्र०); स्तम्भितो घनीभावं प्रापितोऽन्तर्जलस्य ओघः प्रवाहो यस्य स तथाभूतः (संजी०); स्तम्भित ऊर्ध्वं निश्चलीकृत्य विधृतोऽन्तर्मध्ये जलौघस्तोयसमूहो येन तादृशः सन्। जलौघे चलति सति पादस्खलनं स्यादिति स्तम्भितान्तर्जलौघ इत्युक्तम् (सुबोधा); स्तम्भितः अन्तः जलस्य ओघः यस्य सः। स्तम्भित—√स्तम्भ् (रोकना)+णिच्+क्त।

यह इसलिए कि पार्वती और परमेश्वर के विहार में बाधा न हो तथा तत्कालीन गर्जन से पार्वती डरे नहीं। अपि च पानी बरसा देने पर भङ्गीभक्ति भी पूर्णतया सफल न हो सकेगी।

1691 **स्तिमितनयनाम् (उ० 37.3.11.36)** स्तिमित+औ+नयन+औ+टाप्+अम्; बहुव्रीहि; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; निश्चलनयनाम् (प्रदीप); स्तिमिते निश्चले नयने यस्याः सा ताम्, भर्तुः सकाशात् कोऽपि आगच्छेदिति उत्कण्ठया वातायनदत्तचक्षुषं (चरित्र०); कोऽसाविति विस्मयात् निश्चलनेत्राम् (संजी०); दिदृक्षयाक्षिप्तचक्षुषम् (पंचिका); स्तिमिते निश्चले, नयने लोचने यस्यास्तादृशीम् (सुबोधा); स्तिमित—√स्तिम् (पास्तीम्) स्थिर होना+क्त। इसके रूप स्तिम्यति, स्तीम्यति, तिष्टेम, तिष्टीम (लिट्) स्तेमिष्यति, स्तीमिष्यति (लृट्), अस्तेमीत्, अस्तीमीत् (लुङ्), आदि होते हैं।

'यह हमारे घर आज खिड़की से कौन आ गया है'—इस विस्मय के कारण यक्षपत्नी की आँखें खिड़की पर गड़ सी गई थीं, अथवा सहसा जागने में ऐसा होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि प्रायः देखने आता है कि अकस्मात् नींद खुलने पर आँखें निश्चल हो एकटक देखने लगती हैं।

1692 **स्तिमितनयनप्रेक्षणीयाम् (पू० 62.3.9.55)** स्तिमित+भ्याम्+नयन+भ्याम्+प्रेक्षणीय+टाप्+अम्; तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; उत्पश्यामीत्यनेन सम्बन्धः (प्रदीप); स्तिमितैः निश्चलैः नयनैः प्रेक्षितुं योग्याम् (चरित्र); स्तिमिताभ्यां नयनाभ्यां प्रेक्षणीयां शोभाम् (संजी०); स्तिमितैरद्भुतत्वात् निश्चलैर्हर्षद्रैर्वा, नयनैश्चक्षुभिः प्रेक्षणीयां दर्शनार्हाम् (सुबोधा); स्तिमिते नयने, ताभ्यां प्रेक्षणीयाम्। स्तिमित—√स्तिम् (जमना)+क्त। इसके रूप स्तिम्यति, स्तिम्यतु' अस्तिम्यत्, स्तिम्येत् स्तेमिष्यत्, अस्तेमीत् (लृङ्) तथा तिष्टेम (लिट्)—होते हैं। प्रेक्षणीय—प्र+√इक्ष् (देखना)+अनीय।

1693 **स्तोकनम्रा (उ० 21.3.11.39)** स्तोक+सु+नम्र+टाप्+सु; कर्मधारय, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; ईषत् अवनता (संजी०); स्तोकं मनाङ्नम्रनता (पंचिका); स्तोकल्पं यथास्तथा नम्रा स्तनगौरवान्नमनशीला नताङ्गीत्यर्थः स्तोकनम्रेत्यनेन स्तनयोः सुवृतघनपीनता सूचिता उक्तञ्च "वृतौ धना विषमौ" कठिनावुरस्यातिति (सुबोधा)।

स्तोकं नम्रा। कुछ-कुछ झुकी हुई; अधिक नहीं। स्तनभार से झुकावट स्वाभाविक भी है और सौन्दर्य का कारण भी। तुलना करो कु० सं० 3.54; रत्नावली 1.1.

1694 **स्त्रीणाम्** (त्रिवारं प्रयुक्तम्) **(पू 29.4.10.73; 32.3.9.33); उ० 9.1.2.2** स्त्री+आम्; संज्ञा, षष्ठी, बहुवचन; कामिनीनाम् (चरित्र 29); कामिनीनाम् (चरित्र 32); कामिनीनाम् (पंचिका 9); सहजलज्जा भूषणत्वात् स्वमुखोक्तावैयात्यं द्योतयति (विद्युल्लता 29); प्रियतमानुकूल्यप्रार्थनया सान्त्वप्रयोक्तेति वातेऽपि (विद्युल्लता 32); स्त्यायति इति स्त्री। √स्त्यै शब्दसंघातयोः+डट्। उ० 4.166 दशपाद्यु० 8.88 के मत में 'त्र'

प्रत्यय है। 'जो शब्द करती है, संश्लिष्ट होती है, वह स्त्री' होती है। अतः इस पद से सुरतक्रीडा में प्रत्यालिंगन और सीत्कार की ध्वनि निकलती है। अतः इस पद का प्रयोग प्रियतम आदि विशेषण के अनुरूप ही हुआ है। इस शब्द की उपयोगिता एवं व्यञ्जना भानुजिदीक्षित की इस व्युत्पत्ति से पूर्णतः स्पष्ट हो उठेगी—"स्त्यायति गर्भोऽस्याम्। 'स्त्यायतेर्ड्रट्' (उणादि 4.166), टिलोपः (6.4.143), यलोपः (6.1.66),"टिड्ढाणञ्..... (4.1.15) इति ङीप्।" इस प्रकार दृढालिंगन के फल की ओर भी कलाकार ने मनोरम इंगित इस 'स्त्री' शब्द के प्रयोग द्वारा कर दिया है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग ऋतु० में तीन बार (3.18; 3.25; 6.10), कुमार० (6.45; 7.22), तथा शाकु० (357.3; 5.23) में दो-दो बार हुआ है।

1695 **स्थलकमलिनीम् (उ० 29.4.19.48)** स्थलकमलिनी+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; स्थलकमलिनी सूर्यकिरणस्पृष्टा विकसित। मेघच्छन्नैर्किरणैरस्पृष्टा निमीलति च (प्रदीप); स्थलपद्मिनीमिव (सुबोधा); यक्षपत्नी पृथ्वी पर लेटी रहती थी। इसलिए उसकी उपमा पृथिवी के कमल से दी गई है।

जल या पङ्क के अतिरिक्त भूमिमात्र में प्ररोहित होने वाले कमल को स्थलकमल कहते हैं। पाणिनि के अनुसार कमलस्थली को 'कमलिनी', 'अब्जिनी', 'पद्मिनी', 'नलिनी', 'सरोजिनी' आदि कहते हैं। सूत्र है—'पुष्करादिभ्यो देशे' (5.2.135)। पुष्करादिगण में आने वाले प्रतिपादिकों से समदाय से देश का अर्थ अभिधीयमान होने पर 'इनि' प्रत्यय होता है। इसी प्रकार स्थलकमलों के समूह वाली स्थली को स्थलकमलिनी कहेंगे। यक्षाङ्गना के अवनिशयना होने के नाते उसकी तुलना स्थलकमलिनी से कवि ने की है। उसके मुख, नयन, करचरणादि के कमलवत् होने के कारण उसे कमलिनी ही बना दिया गया है। सौन्दर्य एवं सौकुमार्य की अतिशयता की व्यञ्जना इस औपम्य से हो जाती है। साथ ही यह प्रश्न उठता है कि कालिदास ने अन्य कवियों की तरह स्थलकमलकान्ति आदि क्यों नहीं लिखा; क्योंकि प्रबुद्धता-सुप्ततादि तो स्थलकमल के धर्म हैं, स्थलकमलिनी के नहीं। यहाँ यह उक्ति अवयवधर्म को अवयविनी के ऊपर आरोपित करके उपचार से प्रसृत हुई है और उसका प्रयोजन है—असमग्रविकास एवं दरदलितदलसम्पुट के आतिशय्य को अभिव्यक्त करना। महाराज श्रीहर्ष ने भी सरोरुहिणी की आश्वासना, मुद्रण व विकास को प्रस्तुत किया है—

"यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
आश्वासनामयमतीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति।"

1696 **स्थलीदेवतानाम् (उ० 45.3.15.56)** स्थलीदेवता+आम्; संज्ञा, षष्ठी, बहुवचन; तरुकिसलयेष्विति वक्ष्यमाणत्वात् वनशब्दाप्रयोगः (प्रदीपः); वनाधिष्ठातॄणाम् (चरित्र०); वनदेवतानाम् (पंचिका); वनदेवता। स्थली—स्वाभाविक, प्राकृतिक स्थान, वन आदि। ऐसे स्थलों की अधिष्ठातृ देवताएँ।

1697 **स्थातव्यम् (पू० 37.2.7.11)** स्था+ तव्यत्ः कृदन्त;

त्वया अवस्थेयम् (सुबोधा):

1698 **स्थानात् (पू० 14.3.11.27)** स्थान+ङसि; संज्ञा, पंचमी, एकवचन; अनेन आस्थानं च विवक्षितम् (प्रदीप); आश्रमात् (संजी०); स्थितिदेशात् (सुबोधा)

1699 **स्थितः (पू० 61.6.13.69)**

अस्ति (सुबोधा);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—शाकु० (13), विक्रम० (6), रघु० (5), मालवि० (3), कुमार० (1), ऋतु० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1700 **स्थित्वा** (द्विवारं प्रयुक्तम्) (**पू० 3.1.2.2; 19.1.2.2;**) स्था+क्त्वा, अव्यय; विश्रम्य (संजी०); विश्रम्य (सुबोधा 19); खड़े होकर।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग ग्यारह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग विक्रम० में तीन बार (8.1; 122.2; 122.17), मालविका में तीन बार (60.1.; 4.11; 4.11), शाकु० में दो बार (210.3; 372.6) तथा रघु० में एक बार (16.5) हुआ है।

1701 **स्थिरगणपदप्राप्तये (पू० 58.4.17.58)**स्थिर+सु+गण+आम्+पद+ङस्+प्राप्ति+ङे; तत्पुरुष; संज्ञा; चतुर्थी, एकवचन; स्थिरं च तत् गणानां पदं तस्य प्राप्तये (चरित्र०); अलं शब्दस्य अर्थग्रहणात् पर्याप्तिवाचिनः कृपेर्योगे चतुर्थी (चरित्र०); स्थिरं शाश्वतं गणानां प्रमथानां पदं स्थानं; 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती; तस्य प्राप्तये; क्लृपेपर्याप्तिर्वचनस्य अलमर्थत्वात्तद्योगे "नमः स्वस्ति" इत्यादिना चतुर्थीः "अलमिति पर्याप्तार्थग्रहणमिति भाष्यकारः (संजी०); नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' इति सूत्रे अलंशब्दस्यार्थग्रहणात् पर्याप्तिवाचिनः क्लृपिधातोर्योगे प्राप्तय इति चतुर्थी। इन्द्रादिपदवत् कतिपययुगावस्थानलक्षणास्थैर्यरहितशाश्वतपार्षदस्वरूपोपलब्धये, तत् प्रसादान्मुक्तानामपि पशुत्वास्यमलविरहात् सर्वज्ञत्वादिशिवलक्षणाविशिष्टत्वाच्च शिववन्नित्यत्वमेवेति भावः। 'मुक्तात्मनोऽपि शिवाः किन्त्वेते तत्प्रसादतो मुक्ताः। सोऽनादिमुक्तः एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः इत्यागमान्तेषामनादि मुक्तत्वस्यैव निषेधान्तदितरगुणानुमतिः (विद्युल्लता); स्थिरा चिरं निश्चला अव्यभिचारिणी गणानां नन्दिभृङ्गिप्रभृतीनां' यत् पदं तस्य प्राप्तये (सुबोधा); स्थिरं गणानां पदं, तस्य प्राप्तये। शिवजी के 'गण' अमर हैं। यहाँ पर 'स्थिर' पद यह प्रदर्शित करता है कि कुछ व्यक्तियों को अस्थायी रूप से भी यह पद प्राप्त हो जाता है, परन्तु चरणन्यास के दर्शन से मुनष्य सदैव के लिए शिव के गणों में स्थान पा जाता है।

1702 **स्थूलमध्येन्द्रनीलम् (पू० 49.4.23.47)** स्थूल+सु+मध्य+ङि+इन्द्रनील+अम्; बहुव्रीहि; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; स्थूलो मध्ये इन्द्रनीलमणिर्यस्य तम् (चरित्र०); स्थूलो महान् मध्यो मध्यमणिभूत इन्द्रनीलो यस्य तम् (संजी०); स्थूलं मुक्त्याभ्योऽधिकसंस्थानं मध्ये नायकत्वेन प्रयुक्तं महानीलरत्नं यस्मिन्। अनेन हारयष्टिनिविष्टस्य तरलमहानीलस्य परभागलाभान्नयनहरत्वं ध्वन्यते (विद्युल्लता); स्थूलं पीवरं मध्ये मध्यभागे इन्द्रनीलं मणिभेदो यस्य तादृशमेकमद्वितीयं श्रेष्ठं वा (सुबोधा०)

मोतियों की माला जिसे गुप्तकाल में एकावली कहते थे। रघुवंश (13.48) में इसे ही मुक्तावली कहा है। एकावली माला के बीच में नीलम का बड़ा लम्बोतरा मनका पिरोया जाता था। इसकी ओर ही कालिदास का संकेत है। गुप्तकालीन अजन्ता के गुफाचित्रों में इन्द्रनील और मोतियों की एकावली के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कालिदास ने अन्यत्र भी मुक्ताफल और इन्द्रनील के साहचर्य से बनी हुई माला का उल्लेख किया है—

प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामा प्राप्येन्द्रनीलं किमुतो मयूखम्।

(रघु० 16.69)

और भी—

"क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।"

स्थूलः मध्येन्द्रनीलः यस्य, तम्।

1703 स्थूलहस्तावलेपान् (पू० 14.4.20.54) स्थूल+जस्+हस्त+आम्+अवलेप+शस्; तत्पुरुष, संज्ञा, द्वितीया, बहुवचन; पीवरशुण्डादण्डसम्पर्कान, (चरित्र०); स्थूला: ये हस्ता: करा: तेषां अवलेपान् आक्षेपान् परिहरन्; 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात् करेभकरयोरपि' इति, अवलेपस्तु गर्वे स्यात् क्षेपणे दूषणेऽपि च' इति विश्व:; हस्तावलेपान् हस्तविन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन्; 'अवलेपस्तु गर्वे स्यात् लेपने दूषणेऽपि च' इति विश्व: (संजी०); प्रतिगजधिया समराय वा, गिरितटबुद्धया वप्रक्रीडनार्थ वा; समाक्रष्टुं प्रसरतां महतां शुण्डादण्डानां मदभरजनितान् यत्किञ्चित्कारितालक्षणान् व्यापारान्, यथा कुमारसंभवे–'तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्कलावर्त्तकादिषु। अभ्यस्यन्ति तटायातं निर्जितैरावता: गजा: इति (विद्युल्लता); करप्रहारान् (सुबोधा); स्थूलहस्तशब्देन शुण्डार्धमुच्यते, तथा च **धरणि**: "हस्तो गजस्य नासायां शुण्डार्धे स्थूलपूर्वक" इति। अश्वहस्तात् परं स्थूलहस्त:; यदुक्तम्–

"अंगुलीमुखगण्डुषं स्त्रोतसोरन्तरा गतम्।
अश्वहस्तं ततो विद्यात् स्थूलहस्तं तत: पर" **मित्यन्येऽपि।**

अवलेप: प्रहार:, तथाच **रंतिदेव**:"गर्वप्रहारयोरुक्तमवलेपपदं बुधै"रिति। स्थूलहस्तेन स्थूलहस्तस्य वा अवलेपा: स्थूलहस्तावलेपा: तान् स्थूलहस्तावलेपान् पीवरशुण्डदण्डप्रहारान्, स्थूलेत्यनेन प्रहाराणां दु:सहत्वमभिमतम्, तस्मादवश्यं परिहरणीयमिति ध्वनितमित्यन्ये, परिहरन् परिहरिष्यन् गमिष्यसीत्यर्थ:। गजाश्व प्रतप्ता मेघे कराघातं कुर्वन्ति; यदुक्तं गजशास्त्रे–

"अवस्थां पञ्चमीं प्राप्ता दृष्ट्वा कृष्णाम्बुदं गजा:।
सन्तापशान्तये तप्ता: क्षिपन्ति स्थूलहस्तकान्।।" इति।।
पुष्टशुण्डादण्डस्पर्शम् (सु०वि०) पीवरकराधातान् (सारो०)

1704 स्नपयतु (पू० 46.2.6.25) स्ना (अदा०प० नहाना, अभिषेक करना)+णिच् लोट् मध्यम पुरुष, एकवचन। स्नानं कारयिष्यति (सुबोधा); √स्ना+णिच्+लोट् प्रथम पुरुष, एकवचन। इसका दूसरा रूप 'स्नापयतु' है।

1705 स्निग्धगम्भीरघोषम् (उ० 1.2.7.29) स्निग्ध+सु+गम्भीर+सु+घोष+अम्; बहुव्रीहि; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; स्निग्धो मधुरो गम्भीरो धीरो घोषो गर्जितं यस्य स तम् (चरित्र०); स्निग्ध: श्राव्यो गंभीरो घोषो गर्जितं यस्य तम् (संजी०); मधुरधीरध्वनितम् (पंचिका); स्निग्धा मधुरा गम्भीरा मन्द्रा घोषा ध्वनयो यस्य तम् (सुबोधा); स्निग्ध: गम्भीरश्च घोष: यस्य तम्। √स्निह्+क्त=स्निग्ध। बादल की गर्जन स्निग्ध इसलिए है कि वह वर्षा द्वारा मनुष्यों की कामनाएँ पूरी करता है। वेद ने पर्जन्य को 'वृषभ:' और 'जीरदानु:' (ऋ० 5.38.1) कहा है। ब्राह्मणों ने इसे वसु (=धन आदि) की धारा (तै० 3.11.10.3) अन्नादि सब कुछ उत्पादक (श० 6.1.3.15) और अग्नि (श० 14.9.1.13) कहा है। प्रकरण में इसके 'मधुर और सुखदायी' अर्थ ही अभीष्ट है। यही पाठ सरल और प्रकरणोचित है। कवि ने इसी प्रकार का प्रयोग रघु० 1.36– 'स्निग्धगभीरनिर्घोषं (पयोवाहम्)' में किया है।

स्निग्धपर्जन्यघोषम्–पा०भे०। श्री पाठक 'पर्जन्यघोष' का अर्थ मेघ का घोर गर्जन (peals of thunder) करते हैं और इसे भी उपयुक्त पाठ मानते हैं। परन्तु इस अर्थ में दो दोष हैं। प्रथम तो 'पर्जन्य' मेघ का ही पर्याचवाची है। मेघ का उल्लेख 'त्वाम्' में हो गया है। अपि च–यहाँ शब्द की गम्भीरता अनुमानगम्य है, स्पष्ट नहीं। 'स्निग्धगम्भीरघोषम' मुरज के पक्ष में भी लग जाता है। 'पर्जन्यघोष' नहीं लग सकता। श्री कर्मार्कर 'पर्जन्य' का अर्थ ही 'पर्जन्यघोष' करते हैं और घोष पद को अनावश्यक समझते हैं। परन्तु ऋ० 5.83.1.9. में पर्जन्य को 'कनिक्रदन्' ऋ० 5.83.2.9. में 'स्तनयन् कहा गया है। ऋ० 5.83.6 में स्तनयित्नु (=गर्जन) को 'पर्जन्य' का सहचर कहा गया है। अत: मूलत: 'पर्जन्य' 'पर्जन्यघोष' का पर्यायवाची नहीं। अत: 'पर्जन्यघोषम्' पाठ प्रकरण में बहुत अच्छा नहीं। यहाँ स्निग्ध का अर्थ कर्णप्रिय–कानों

को सुख लगने वाला (agreeable to the ear) है और 'गम्भीर' का अर्थ गहरा (deep) है। "स्निग्धः श्राव्यो गम्भीरो घोषो गर्जितं यस्य तम्" मल्लि०। पूर्णसरस्वती, दक्षिणावर्तनाथ आदि टीकाकारों ने 'स्निग्ध पर्जन्यघोषम्' पाठ दिया है। पूर्णसरस्वती ने उस पाठ की सुन्दर व्याख्या की है 'स्निग्धः पर्जन्यघोषम् अपरुषवृष्ट्युद्योगस्तनितयुक्तम्। अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।' इति भगवद्वचने। [श्रीमद्भगवद्गीतायाम्] पर्जन्यशब्दस्य वृष्टिवाचकत्वावगतेः। वैजयन्त्या तु—'पर्जन्यो गर्जदभ्रेऽपि स्वाने शक्रेऽर्थयन्त्रके'—इति श्रवणात् तदानीं स्निग्धगर्जनमिति व्याख्येयम्।" इस पाठ में पर्जन्य शब्द के दो अर्थ लिए जा सकते हैं—एक तो 'सुन्दर गरजते बादलों की गड़गड़ाहटवाले' और दूसरा मीठी-मीठी गरजने की आवाज वाले'। दोनों अर्थो में मेघ के विशेष्य होने के नाते 'अधिकपदत्व' अथवा 'पुनरुक्त' दोष प्रसक्त होगा। इसका परिहार करने का असन्तोषजनक प्रयास पूर्वप्रयोग के बल पर दक्षिणावर्तनाथ ने किया—"अत्र मेघगर्जितवाचिनः पर्जन्यशब्दस्य प्रयोगेणैव सिद्धेऽप्यर्थे घोषशब्दप्रयोगः 'केकारवैर्बर्हिण' इत्यत्र केकारववत् सोढव्यः।" पाठ तो कोई भी हो सहन करना ही पड़ेगा, परन्तु पहले के अपप्रयोग क्या उसे दोषावह होने से रोक सकेंगे। इस प्रसङ्ग में तो वल्लभदेव, मल्लिनाथ, चरित्रवर्धन, भरतसेन आदि का गृहीतपाठ प्राचीनता एवं दोषहीनता दोनों ही दृष्टियों से अच्छा है। इस गृहीतपाठ के पक्ष में यह प्रमाण भी उपन्यस्त किया जा सकता है कि, कालिदास ने अपने अन्य काव्य 'रघुवशं' में पयोवाह के विशेषण के रूप में "स्निग्धगम्भीरघोषम्" (1.36) लिखा है। इस तरह ग्रन्थकार के प्रिय प्रयोग की दृष्टि से भी गृहीतपाठ 'स्निग्धगम्भीरघोषम्' ही ज्यायान् है।

1706 स्निग्धच्छायातरुषु (पू० 1.4.12.55) स्निग्ध+जस्+छायातरु+सुप; कर्मधारय; विशेषण, सप्तमी बहुवचन; स्निग्धः लावण्यशालिनः छायाप्रचुरास्तरवो येषु (प्रदीप); स्निग्धाः शाद्वलदलाः छायाऽनातपः तत्प्रधानास्तरवो वृक्षा येषु तेषुः, अनेन वियोगिनः योग्यं स्थानं ध्वन्यते (चरित्र०); स्निग्धाः सान्द्राः छायातरवो नमेरुवृक्षाः येषु तेषु वसतियोग्येषु इत्यर्थः (संजी००); सीतास्वहस्तोम्भितकुम्भाम्भः सम्भृतसमृद्धिकाः 'प्रभावस्तिमितच्छायाम्' इतिवत्, ततस्तत्करप्रभावादविरतकिसलयकुसुमफलभरभरितविकटविटपास्तत एव स्निग्धाः लावण्यशालिनः छायाप्रचुरास्तरवो येषु। छायातरव इति शाकपार्थिवादित्वात् समासः। रघुवंशे च—'छायावृक्षमिवाध्वगाः' इति। विशेषणाभ्यां 'पापहरत्वं मनोहरत्वं च युगपदेकत्र न संभवति, तदुभयमत्र समुदितम्; अतोऽत्रैव वसामः' इति तस्य बुद्धिरुत्पन्नेति द्योत्यते (विद्युल्लता); अत्र उदात्तमलङ्कारः (विद्युल्लता); स्निग्धा सारसाश्छायातरवः सर्वदा पुष्पादियुक्तास्तरवो यत्र तेषु; किंवा स्निग्धाश्छायातरवोरुद्राक्षवृक्षा यत्र तेषु; किंवा स्निग्धाश्छायातरवः पङ्क्त्युपलक्षितवृक्षाः श्रेणीभूतवृक्षा वृक्षश्रेण्यो यत्र तादृशेषु; किंवा छाया शोभा पुष्पफलादिसमृद्धिरूपा तत्प्रधानास्तरवो येषु तेषु; किंवा छायायै शोभायै तरवश्छायातरवस्ते स्निग्धा यत्र तेषु; स्निग्धछायातरवो वटवृक्षा यत्र तेषु; वटवृक्षा हि यक्षावसानाः, 'यक्षस्तु राजा वटवृक्षवासी' ति हारावलीत्यन्ये (सुबोधा); स्निग्धेत्यनेन विरहियोग्यशीतलस्थानकिसलयशय्यादिसौलभ्यं विरहजन्युदःसहदाहादिकश्च सूचितम्—

सुशीतानि सुगन्धीनि वनानि च सरांसि च।
सम्भोगेष्वनुकूलानि दहन्ति विरहे भृशम्।। इति भरतः।।
'छायातरुः स्थिरच्छाय' इति त्रिकाण्डशेषः।
मध्याह्न संस्थितेऽप्यर्के छाया येषामवस्थिताः।
स्तम्भिता इव तिष्ठन्ति ते छायातरवो मताः।। इति रन्तिः।

'छायातरुः सदा पूर्णः पुष्पैः किसलयैः फलैः' इत्यन्यः। 'छायातरुर्नमेरुः स्यात्' इति बलः।

छाया पङ्क्तौ प्रतिमायामर्कयोषित्यनातपे।

उत्कोचे चाप्यनारम्भे शोभायाश्च तमस्यपि।। इति विश्वलोचन: (सुबोधा);

गहन छाया वाले वृक्षों से भरे हुए।

छाया प्रधाना: तरव: छायातरव:। मध्यमपद लोपी तत्पुरुष समास। स्निग्धा: छायातरव: येषु तेषु। मल्लिनाथ छायातरु का अर्थ नमेरु वृक्ष करते हैं। यह वृक्ष अपनी छाया की बहुलता के लिए विख्यात है। परन्तु इस प्रकार अर्थ को सीमित करने में कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती। अत: घनी छाया वाले वृक्ष—यह अर्थ ही उपयुक्त रहेगा। एक टीकाकार ने लिखा है—'पूर्वापरदिग्भागे अपि सवितरि येषु छाया न परिवर्तते ते छायातरव उच्यन्ते'। अर्थात् जिन वृक्षों में सूर्य की छाया नहीं पड़ती है, वे छायातरु होते हैं। स्निग्ध—√स्निह्+क्त। चिकने आनन्ददायक, रमणीय, गहन। मल्लि० ने 'स्निग्ध' का अर्थ सान्द्र (धना) लिया है। छायाप्रधानास्तरवश्छाया तरव: शाकपार्थिवादिवत् मध्यमपदलोपि समास है। इस प्रकार 'छायातरव:' से नमेरु वृक्षों का अर्थ लिया है। इसका 'घने छाया देने वाले वृक्ष' यह अर्थ करना अच्छा है। स्निग्ध का अर्थ रम्य, सुन्दर भी लिया जा सकता है; इस प्रकार यह छाया का विशेषण है। एक टीकाकार 'छायातरव:' की इस प्रकार व्याख्या करता है—'पूर्वापरदिग्भागेऽपि सवितरि येषां छाया न परिवर्त्तते ते छायातरव उच्यन्ते'।

1707 **स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे (पू० 62.1.4.14)** स्निग्ध+सु+भिन्न+सु+अञ्जन+ङस्+आभा+ङि; बहुव्रीहि, विशेषण, सप्तमी, एकवचन, भग्नस्निग्धाञ्जनशिलासन्निभे (प्रदीप); स्निग्धश्चतद् भिन्नं विदारितं यदञ्जनं तद्वद् भाति (चरित्र०); स्निग्धं मसृणभिन्नं मर्दितं च यदञ्जनं कज्जलं तस्य आभा इव आभा यस्य, तस्मिन् (संजी०); स्निग्धं अरुणं चिक्कणं भिन्नं मर्दितं किंवा स्निग्धेन तैलादिना भिन्नं मिश्रीकृतं यदञ्जनं कज्जलं तद्वदाभा छविर्यस्य तादृशे, अतिस्निग्धश्यामे इत्यर्थ। नायिकागतचिन्तत्वात् पूर्वानुभूतकज्जलमेव दृष्टान्तयति स्म (सुबोधा); स्निग्धं भिन्नं च यत् अञ्जनं, तस्य आभा इव आभा तस्य, तस्मिन्। त्वयि का विशेषण है। स्निग्ध—चिकना, चमकीला। भिन्न—मसला हुआ, मला हुआ, चूरा किया हुआ। अञ्जन—आँखों में काजल लगाने की प्रथा समस्त पूर्वी देशों में पाई जाती है। बादल की पीसे हुए सुरमे तथा चिकने काजल से समानता दिखाई गई है।

1708 **स्निग्धवेणीसवर्णे (पू० 18.2.8.34)** स्निग्धवेणी+ङस्+सवर्ण+ङि; तत्पुरुष, विशेषण, सप्तमी, एकवचन; श्यामत्वात् चिक्कणवेणिकादृशे (चरित्र०); मसृणकेशबन्धछायै: (संजी०); श्यामवर्ण इत्यर्थ:, वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ इति यादव: (संजी०); सर्ववेणीसवर्णे; सर्ववेणी नाम मेचकरुचि: कश्चित् पदार्थ: सर्पदृशाकार:। नीलालके मेघचये मेचके स्तनचूचुके। मण्डले कृष्णसर्पाणां सर्पवेणी निगद्यते।। 'इति दिवाकर:। कामिनी केशबन्धविशेषो वा तत्समानच्छाये। सर्पवेणीति कृष्णभुजंगभोगमण्डलमिति केचित् (विद्युल्लता); स्निग्धवेणीसवर्णे चिक्कणकेशविन्यासविशेषसमाननीलवर्णेत्वयि (सुबोधा); गिरे: स्तनाकारतां तर्कयन् स्वनारीवेणीं स्मृतवानिति वेण्या दृष्टान्तयति, तद्वेण्याश्च शापसमये अरूक्षत्वात् स्निग्धेति विशेषणम्। विरहित्वाद्वा तामेव पश्यतीति कार्ष्ण्ये वेणीमेव दृष्टान्तयति, तथाच "सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे" इति। अन्यच्च "पश्यामि तामित इत: पुरतश्च पश्चादन्तर्बहि: परित एव च वर्तमानामि" ति। स्निग्धश्चासौ वेणीसवर्णश्चेति **केचित्** (सुबोधा); स्निग्धा चासौ वेणी। तया सवर्ण:। तस्मिन् चिकने, चमकीले बालों के समान काले-काले रंग वाला। स्निग्ध—चिकनी, अत: चमकीली। सर्पवेणी०—कोष में सर्पवेणी का अर्थ यह दिया है—

नीलालके मेघचये मेचके स्तनचूचुके।

मण्डले कृष्णसर्पाणां सर्पवेणी निगद्यते।।

अत: इसका अर्थ 'काले बाल के समान रंग वाले' होगा। दक्षिणावर्त 'रंग और बन्धन में काले सर्प के समान' ऐसा अर्थ करते हैं। तैलचिक्कणा या वेणी केशपाश: तस्या: समान: वर्ण: यस्य स:, तस्मिन् (ब० व्री०) सारोद्धा०, सुमतिविजय तथा सरस्वतीतीर्थ के अनुसार 'स्निग्ध' का अर्थ 'कान्तिमत्' है।

1709 **स्निग्धवैदूर्यनालैः (उ० 15.2.8.28)** स्निग्ध+जस्+वैदूर्य+जस्+नाल+भिस्; कर्मधारय; विशेषण, तृतीया: बहुवचन; स्निग्धानि द्युतिमन्ति वैदूर्याणि विदूररत्नमयानि नालानि येषां तैः (चरित्र०); विदूरेभावा वैदूर्याः, 'विराञ्च' इति 'ञ्च' प्रत्ययः, वैदूर्याणां विकारः वैदूर्याणि, विकारार्थे अण्प्रत्ययः, स्निग्धानि वैदूर्याणि नालानि येषां तैः (संजी०); स्निग्धैः वैडूर्यमणिभिरेव नालो गन्धो येषां तैः (पंचिका); स्निग्धं चिक्कणं वैदूर्यवत् प्रवालमणिवत् नालं येषां तादृशैः (सुबोधा); 'स्निग्ध' पाठ में नालों की चिकनाहट और चमक का अर्थ निकलता है। ये वैदूर्यमणि के तो थे ही। अतः अत्यधिक चिकने और चमकीले भी थे। दीर्घ–पा०भे०। लम्बे, बड़े। इससे अतिशय चिकनाहट और चमक के भाव नहीं निकलते हैं। ये दोनों भाव कवि को अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। तुलना करें–मरकतशिला०। वैदूर्य–नीलम। भोज के मत में ये विदूर नामक पर्वत पर मेघों की गर्जन से उत्पन्न होते हैं–

अस्ति शैलो विदूराख्यः पर्यन्ते तत्र काचन।
महीं रत्नाकरीभूता वैदूर्य तत्र जायते।।
मेघशब्देन जायन्ते तत्र रत्नवांकुराः।
क्रमात् परिणतास्ते स्युर्मणयो राजपूजिताः।।

CENTRAL LIBRARY J.N. VYAS UNIVERSITY JODHPUR

मल्लिनाथ ने भी कु० स० 1.24 की टीका में लिखा है–

अविदूरे विदूरस्य गिरेस्तुङ्गरोधसः।
काकतालीयसीमान्ते मणीनामाकरो भवेत्।। इति वुद्धः।

श्री पाठक लिखते हैं कि ये 'वालवाय' नामक पर्वत से आते हैं और विदूर या विडूर नामक नगर में संस्कृत किये जाते हैं। क्षीरस्वामी ने अ०को० 2.9.93 की टीका में इसका पर्यायवाची वालवायज दिया भी है। कु०स० 1.24 में कालिदास इन्हें 'विदूर पर्वत' से ही उत्पन्न मानते हैं (सुधीर०)। विदूर अथवा विडूर मणि विदूर या विडूर पर्वत से प्राप्त होती है। इसलिए इसका नाम वैदूर्य (वैडूर्य) पड़ गया। विदूर नाम का पर्वत लंका-द्वीप में बताया जाता है। वालवायज विदूर पर्वत का नामान्तर प्रतीत होता है। देखिये–कुमा०सं० 1.24 'विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयैव।'

'स्निग्धानि वैदूर्याणि नालानि येषान्तैः।' पूर्णसरस्वती आदि 'दीर्घवैदूर्यनालैः' पाठ मानते हैं। प्राचीनतम होने एवं स्वाभाविक अर्थ देने के कारण 'स्निग्ध' पाठ उत्कृष्टतर है। कृतकनालों में दीर्घता-अदीर्घता से क्या लाभ-हानि? 'स्निग्धता' वैदूर्यमणि की प्राकृतिक विशेषता है। इस विशेषण से भी 'उदात्त' प्रकाशित होता है। 'वैदूर्य' शब्द 'विदूर' से 'ञ्य' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। 'वैदूर्य' से 'अण्' करके 'वैदूर्य विकार' का अर्थ यहाँ लिया गया है। विदूर पर्वत को 'वैदूर्यमणि' का उत्पत्ति-स्थान माना गया है। मार्कण्डेयपुराण के रूपान्तर के प्रसंग से एफ०ई० पार्जिटर ने विदूर-पर्वत को 'सतपुड़ा' ठहराया है। "विदूराञ्ञ्यः (4.3-34)" पर पतञ्जलि ने लिखा है कि वैदूर्यमणि की खान वालवाय पर्वत में थीं, जहाँ से लाकर वैकटिक, जो विदूर के रहने वाले थे, इसे काटते-बींधते थे। इसी से उसे वैदूर्य कहते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह मत है–"सम्भव है कि दक्षिण का बीदर विदूर हो।" परन्तु पतञ्जलि के मत से काशिकाकार सहमत नहीं हैं–'विदूरशब्दाद् ञ्यः प्रत्ययो भवति ततः प्रभवतीत्येतस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। विदूरात् प्रभवति वैदूर्यो मणिः। ननु च वालवायादसौ प्रभवति न विदूरात् तत्र तु संस्क्रियते, एवं तर्हि–वालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा। न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत्।"

1710 **स्नेहव्यक्तिः (पू० 12.4.19.38)** स्नेह+ङस्+व्यक्ति+सु; संज्ञा, प्रथमा, एकवचन; प्रेमाविष्करणम् (प्रदीप); प्रेमप्रादुर्भावः (चरित्र); प्रेमाविर्भावः (संजी०); प्रेमप्रकाशनम्, स्निग्धवर्णोदयश्च (विद्युल्लता); वृष्टिसंजातमनोहरा-

कारत्वं भवति; अन्य: सखापि वाष्पं नयनजलं मुञ्चति तस्य स्नेहव्यक्तिः प्रेमाभिव्यक्तता भवति (सुबोधा)। "स्नेहतैलादिकप्रेम्णोरिति" ध्वनि: (सुबोधा)।

1711 **स्नेहान्** (उ० 51.3.12.24) स्नेह+शस्, संज्ञा, द्वितीया, बहुवचन; प्रीति: (संजी०) प्रेमाणि। अयं भावः, स्नेह: संयोगे कदाचित् स्फुटतां कदाचित् अस्फुटतां प्राप्नोति। विरहे तु स्नेह: सततं मनस्यासक्तत्वाद् वर्तते, किन्तु स्नेहकार्यं न भवति। अतएव स्नेहपात्रस्य दर्शनेन स्नेह: सम्पद्यते इति। स्नेहप्रेम्णो: पर्यायत्वेन राशीभवन्तीति सिद्धे प्रेमग्रहणं साक्षाच्छब्देन कीर्तनादुक्तिपोषालङ्कारसूचनार्थम्। स्नेह: प्रियत्वमात्रम्, अतिशयित: स्नेह: प्रेमेति च वदन्ति (सुबोधा०); केचित्तु विरह एव व्यापद् विपत्तिर्येषां ते स्नेहा अभोग्या सन्त: प्रेमराशीभवन्तीत्याहु:। केचित्तु विरह एव व्यापद् यस्य तस्य जनस्य, ते स्नेहा इति व्याचक्षते। केचित्तु विरह एव व्यापद् विपत्तिर्येषां जनानां ते जना विरहिण: इति व्याचक्षते (सुबोधा०); प्रेम की भावनाओं। लक्षणा से इसे स्नेहीजन का भाव भी लिया जा सकता है। उस अवस्था में इसका अर्थ होगा—'परम आसक्त, साधुव्रत, प्रेमीजन, भी प्रेमपथ से विचलित हो जाते हैं।

1712 **स्पर्शक्लिष्टाम्** (उ० 31.3.14.28) स्पर्श+टा+क्लिष्ट+टाप्+अम्; तृतीया तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया एकवचन; स्पर्शने सक्लेशाम्; परस्परव्यतिषक्तकेशविश्लेषणार्थ हस्तस्पर्शे कृते केशमूलेषु सव्यथामित्यर्थ: (प्रदीप:); स्पर्शस्य त्वगिन्द्रियस्य क्लिष्टां बाधिकाम् (चरित्र०); स्पर्शे सति मूलकेशेषु सव्यथामित्यर्थ: (संजी०); स्पर्शेक्लिष्टां परुषाम् (पंचिका); अङ्गसङ्गे क्लिष्टां क्लेशदायिनीम् किंवा स्पर्शेन घर्षणेन क्लिष्टां क्षीणां, (सुबोधा); स्पर्शे क्लिष्टाम्। √क्लिश्+क्त। छूने में दु:खदायी, क्योंकि वह कठिन और विषम थी। इससे यक्षपत्नी की अतिशय कोमलता प्रदर्शित की गई है। जब कोई सहेली यक्ष-पत्नी की 'एकवेणी जटा' को छूती थी, तो उसे बालों की जड़ों में बड़ी वेदना हुआ करती थी, क्योंकि सब बाल एक ही वेणी के रूप में थे। इसलिए कहीं से भी छूते ही वे खींचे से जाकर पीड़ा देते थे। इससे यह अर्थ निकलता है कि बार-बार मुख पर से सरकाने व छूते रहने से बाल क्लिष्ट हो गये थे, अर्थात् दब से गये थे एवं वे दृढ़ हो गये थे। इस प्रकार अर्थ करने से 'कठिनविषमाम्' विशेषण भी ठीक बैठ जाता है। हमें यह तृतीया तत्पु० वाला अर्थ अधिक अच्छा लगता है।

छूने पर कष्ट होने लगता है। बाल रूखे और खुरदुरे हो चले हैं। न तो केशसंस्कार होता है न तैलादि डाला जाता है। आठ महीनों में वे जटा की तरह सख्त और कड़े हो उठे हैं। एक ही जूड़े से सारे बाल बँधे हुए हैं। मल्लिनाथ का कहना है कि छूने पर नीचे के बालों के अन्दर दर्द होने लगता है। इसलिए एकवेणी स्पर्शक्लिष्टा है—"स्पर्शे सति मूलकेशेषु सव्यथामित्यर्थ:"। शारदारञ्जन का साहित्यसंस्कार विहीन विवेचक "स्पर्शेन क्लिष्टा पीडिता" विग्रह करके सारी साहित्यिक मधुरता विनष्ट कर देता है। उनका कहना है कि वह बार-बार लटों को गालों से हटाकर जूड़े को दबाती रहती थी। इस कसने-दबाने के कारण बालों के जूड़े को तकलीफ होती थी। भरतसेन ने दो अर्थ किये हैं—पहला है 'छू जाने से दु:ख देने वाली' और दूसरा है, 'छू-रगड़ जाने से बालों के झड़ने के कारण क्षीण हो उठी हुई। पर इसमें साहित्य की आत्मा एवं कालिदास की कल्पना के चित्र का अभाव है। वस्तुत: कवि का अभिप्राय यह है कि फूलों की माला की तरह सुकुमार अङ्गों में काँटे की तरह तेज पीड़ा की अनुभूति कराने वाले रूखे बालों के स्पर्श से क्लेश पाने वाली साध्वी को देखना। पूर्णसरस्वती इसे साध्वी प्रोषितपतिका यक्षी का विशेषण मानते हैं—"स्पर्श क्लिष्टां कुसुमदामकोमलेष्टासङ्गे कण्टकवत्प्रचण्डतोदवेदनासम्पाकदकेन तस्या: स्पर्शेन म्लानीकृताम्।"

1713 **स्फटिकफलका** (उ० 18.1.3.7) स्फटिक+सु+फलका+सु; बहुव्रीहि, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; स्फटिकमयीनिवासफलका यस्या:। स्फटिकफलकोपादानं मयूरस्य शीतप्रियत्वापेक्षया कृतम् (प्रदीप); स्फटिकमयं

फलकं यस्याः सा (चरित्र०); स्फटिकं स्फटिकमयं फलकं पीठं यस्या सा (संजी०); स्फटिकमयं फलकं पीठं यस्याः सा (पंचिका); स्फटिकस्य फलकम् आधारभूतं चतुरस्रखण्डं यस्यास्तादृशी। फलकं वर्म शस्त्राग्रं यष्टेरुपरि पीठिकेति शर्वः (सुबोधा); फल का तख्ता, छत्ता। बैठने का स्थान। श्री पाठक ने इसका अर्थ 'डण्डा' (stand) किया है। यह ठीक नहीं। यह 'वास-यष्टिः' का विशेषण है; अर्थात् ऐसी यष्टि, जिस पर बैठने का फट्टा बिल्लौर का बना हुआ था। फलक शब्द का कोश भरतमल्लिक ने दे रखा है। यहाँ पीठिका अर्थ ग्राह्य है। पाये के ऊपर छोटी सी स्फटिक की 'चौकी' या 'पिढ़िया' अर्थात् 'पटरी' है। उसी को 'फलक' कहा गया है। उसी पर मयूर बैठा करता था। 'पाया' नीचे की ओर तो भूनिविष्ट है और ऊपर इसी 'फलक' में लगा है। 'स्फटिक' का आशय बिल्लौर पत्थर से है। स्फटिक की पटियाँ ही यहाँ पीठिका का काम दे रही हैं। समासविग्रह स्फटिकस्य शिला स्फटिकशिला। स्फटिकशिला फलकं यस्याः सा स्फटिकफलका। "समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेति वक्तव्यम्।" इति वार्तिकेन शिलालोपः समासश्च।"

1714 **स्फुटजललवस्यन्दिनः (उ० 9.4.11.87)** स्फुट+सु+जल+ङस्+लव+शस्+स्यन्द+णिनि+जस्; विशेषण; प्रथमा; बहुवचन; स्फुटान् जललवान् स्यन्दिनः (चरित्र०); उल्बणाम्बुकणस्राविणः (संजी०); प्रकटतोयकणमुचः (पंचिका); प्रव्यक्ततोयबिन्दुस्राविणः (सुबोधा); स्फुटान् जललवान् स्यन्दते इति। स्फुट—साफ-साफ, अलग-अलग। अतः मोटी-मोटी। चन्द्रमा की किरणों से चन्द्रकान्त मणियों से पानी निकलने लगता है। देखो—शिशुपालवध 3.44; 4.58; कु० स० 8.67; उ० रा० 6.12 आदि। 'जलानां लवा जललवाः। स्फुटाश्च ते जललवाश्च स्फुटजललवाः। तान् स्यन्दन्त इत्येवं शीलाः स्फुटजललवस्यन्दिनः; ताच्छील्यार्थकणिनियोगात्'। यहाँ स्फुट शब्द उल्बण के अर्थ में आया है—"स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुल्बणम्" (अमरकोश)। णिनि—प्रत्यय के कारण चन्द्रकान्त मणियों का निरन्तर स्यन्दन करते रहने का शील व्यक्त होता है। विशेष्यगत बहुवचन के द्वारा अत्यायत सुरतजन्य श्रम की प्रबलता ध्वनित होती है; क्योंकि स्वतः शीतल रात्रिसमय के द्वारा भी न दूर होने वाली अंगग्लानि चन्द्रकान्त की जलधाराओं की समुच्छ्रित हिमशीतलता से दूर की जा रही है।

1715 **स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः (पू० 32.2.7.21)** स्फुटितकमलामोदमैत्री+टा+कषाय+सु; तत्पुरुष, विशेषण, प्रथमा, एकवचन; वातानुधावनेन विकसितकमलपरिमलसम्पर्कसुरभिः। 'रागद्रव्ये कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे' इति यादवः; स्फुटितानां विकसितानां कमलानां वारिजानां आमोदो जनमनोहरो गन्धः तस्य मैत्री सम्पर्कः तेन कषायः सुरभिः सुगन्धिः। 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे सुरभौ लौहिते त्रिषु' इति मेदिनीकार; (चरित्र०); स्फुटितानां विकसितानां कमलानां आमोदेन परमिलेन सह या मैत्री संसर्गः तेन कषायः सुरभिः; 'रागद्रव्येकषायोऽस्त्रीनिर्यासे सौरभे रसे' इति यादवः, अन्यत्र विमर्दगन्धिरित्यर्थः, 'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे। आमोदः सोऽतिनिर्हारि' रित्यमरः (संजी०); स्फुटितं ईषददलितसुखम्; तदानीं परिमलस्य बाहुल्यात्। मैत्री संश्लेषातिशयः कषायः सुरभिः (विद्युल्लता); स्फुटितं विकसितं यत् कमलं पद्मं तस्य य आमोदोऽति-निर्हारी गन्धस्तेन सह या मैत्री अन्योन्यानुकुलभाषोऽतिसम्पर्कस्तेनकषायः सुरभिः शोभनो वा "सुगन्धौ च विमिश्रे च शोभने च कषायवागि" ति **शर्वः**। प्रियतमोऽपि विकचपद्मामोदसम्पर्केण कषायः पद्मवत् सुगन्ध इत्यर्थः। सत्पुरुषलक्षणमिदं, तथा च सामुद्रिके 'स हि स्वभावाच् शुभपुष्पगन्ध' इति। किंवा स्फुटिता प्रव्यक्तीभूता कमला सम्पत्तिर्यस्य आमोदस्य गन्धद्रव्यस्य मैत्र्या सम्पर्केण कषायः सुगन्धिलोहितवर्णो वा

"कषायो रसभेदे स्यादङ्गरागे विलेपने।
निर्यासे च कषायोऽस्त्री सुरभौ लोहितेऽन्यवदि"ति।। विश्वः।

किंवा स्फुटितकमलः प्रव्यक्तलक्ष्मीकः सानन्दत्वादामोदमैत्रीकषायश्च निर्हारि–विलेपनादि गन्धसम्पर्कात् सुरभिश्च। कर्मधारयः (सुबोधा); स्फुटितानां कमलानां आमोद इति स्फुटितकमलामोदः। तेन या मैत्री, तया कषायः इति। मैत्री–यहाँ पर इसका अर्थ सम्पर्क है, मित्रता नहीं।

1716 **स्फुरितरुचिना (पू० 15.4.19.45)** स्फुरित+सु+रुचि+टा; बहुव्रीहि; विशेषण, तृतीया, एकवचन; देदीप्यमानदीप्तिकेन (चरित्र०); उज्जवलकान्तिना (संजी०); शुद्धश्यामले वपुषि शबलवर्णस्य परभागलाभात् विभक्तोल्लसितलावण्येन (विद्युल्लता); सञ्चलितदीप्तिना धनुःखण्डेन (सुबोधा); स्फुरिता रुचिः यस्य तेन। चमकीला, जाज्वल्यमान।

1717 **स्म (द्विवारं प्रयुक्तम् पू० 28.2.10.41; 40.4.16.51)**

च–शब्द एवार्थे। च–शब्द समुच्च्ये (सुबोधा 40); मा च भूः के स्थान में मल्लि० आदि ने 'मा स्म भूः' पाठ दिया है; किंतु 'च' वाला पाठ उचित प्रतीत होता है; क्योंकि इस श्लोक में 'दर्शय' या 'भूः' दो क्रिया–शब्दों के संयोजक 'च' की आवश्यकता है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग उन्नीस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष काव्यों में इसका प्रयोग इस प्रकार है–रघु० (11), कुमार० (4), शाकु० (2);

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1718 **स्मरसि (उ० 24.4.20.46)** स्मृ+लट्; मध्यम पुरुष; एकवचन, तिङन्त; उत्कण्ठसि इत्यर्थः (प्रदीप); ध्यायसि, यस्मात् त्वं तस्य अतीवप्रिया (पंचिका); ध्यायसि, नामगुणोरशरणं कुरुष्वेत्यर्थ इत्याहुः (सुबोधा)।

1719 **स्मरामि (उ० 16.4.19.52)** चिन्तयामि। तमेव देशान्तरगतं स्मरामि, सदृशवस्तुदर्शनेन पूर्वानुभूतस्य हि स्मृतिर्जायते (सुबोधा); नीले और कनककदलीवेष्टित क्रीडाशैल के समान चमकती हुई बिजली वाले नीले मेघ को देखकर यक्ष क्रीडाशैल की याद करने लगता है। अतः यहाँ स्मरण अलंकार है। विद्युद्गर्भ मेघ को देखकर यक्ष को अपने वासगृह के क्रीडाशैल का स्मरण हो जाना स्वाभाविक ही है; क्योंकि क्रीडाशैल ऊँचे और मेघ भी ऊँचा; क्रीडाशैल नीलमों से काला और मेघ अपने स्वाभाविक रंग से काला तथा क्रीडाशैल कनक–कदलियों से चमचमाता है, तो मेघ भी तडिच्छटा (बिजली के प्रकाश) से स्फुरित है। इस तरह क्रीडाशैल–जैसी वस्तु। मेघ के अनुभव से क्रीडा–शैल की याद आ जाने पर यहाँ स्मरणालंकार है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग कुमार० में एक बार (4.8) हुआ है।

1720 **स्याः (पू० 61.2.8.52)** लिङ्; मध्यमपुरुष; एकवचन; तिङन्त; भवेः (चरित्र०); भवेः (सुबोधा)।

1721 **स्यात्** (अष्टवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 8.4.16.50; 42.4.23.38; 54.4.19.37; 59.3.17.30; 64.3.15.51; उ० 21.4.15.43; 36.1.7.14; 47.2.12.32)** अव्यय; आख्यातप्रतिरूपमव्ययमिदम्। यद्यर्थेवर्तते। तथा श्रीरामायणे प्रयोगश्च–'पठन्द्विजो वागृषभत्वमीयात् स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् इति (प्रदीप); सा सततं विरहवेदनात् अनिद्राभवति, दैवाद् यदि सुप्ता स्यादित्यर्थ (36 प्रदीप); स्यादिति आख्यातप्रतिरूपकमव्ययम् (चरित्र 21); निवसेत् इत्यर्थः (संजी० 21); प्रार्थनायां लिङ्, भवेत् (सुबोधा 8); भविष्यति (सुबोधा 54); भवेत् (सुबोधा 64); तादृशी भवेत् (सुबोधा 36); भवेत् (सुबोधा)। विद्युल्लता इस पद में यक्ष के मन में अपनी प्रिया के जीवित होने के सम्बन्ध में संशय की सत्ता का अनुमान करती है। यह उचित नहीं, क्योंकि पू०मे० 9 में यक्ष अपनी पत्नी को निश्चित रूप से जीवित बताता है।

(कथं) स्यात्–मल्लिनाथ का अर्थ 'न स्याद् एव' (हो ही नहीं सकता)–उचित नहीं। इसमें 'अतः' पद का अध्याहार करना पड़ता है, जो सर्वथा अनावश्यक है। साथ ही कैसे हो सके' अर्थ स्वाभाविक, सीधा और दुर्लभप्रार्थनम्' की व्याख्या करने वाला है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पैंतीस वार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—शाकु० (8), कुमार० (6), रघु० (5), विक्रम० (5), मालवि० (3)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1722 स्युः (पू० 57.4.16.57) अस्+लिङ्; प्रथमपुरुष; वहुवचन, तिङन्त; भवन्ति (संजी०); भवन्ति (सुवोधा);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो वार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में एक वार (1.64) हुआ है।

1723 स्रस्तगङ्गादुकूलाम् (पू० 66.1.5.13) स्रस्त+सु+गङ्गा+सु+दुकूल+टाप्+अम्; विशेषण; द्वितीया, एकवचन; वहुव्रीहि; दुकूलं शुक्लवस्त्रेऽपि इति यादवः। इदमुभयत्र योज्यम् (प्रदीप); स्रस्तं भ्रष्टं गंगा एव दुकूलं विश्रवद्वस्त्रं यस्यः ताम् (चरित्र०), गङ्गादुकूलं शुभ्रवस्त्रमिव इति उपमितिसमासः; 'दुकूलं सूक्ष्मवस्त्रेस्यात् उत्तरीये सितांकुशे' इति शब्दार्णवः; अन्यत्र तु गङ्गेव दुकूलम्, तत् स्रस्तं यस्याः तां तथोक्ताम् (संजी०); स्रस्ता प्रभ्रश्यन्ती, गङ्गैव अलकनन्दाख्यैव अथच गङ्गेव दुकूलं पट्टवस्त्रं यस्याः, अधोभागस्थितगङ्गत्वात्। स्रस्तेति वर्तमाने कर्तरि क्तः (सुवोधा); स्रस्तं गङ्गादुकूलं यस्याः, ताम्। गंगादुकूलम्—अलका के पक्ष में—गङ्गारूपी रेशमी वस्त्र, अथवा—गंगा दुकूलमिव, रेशमी वस्त्र के समान गंगा—ये दो विग्रह और अर्थ होंगे। प्रणयिनी के पक्ष में—गंगा इव दुकूलम्—गंगा के समान सफेद रेशमी साड़ी—अर्थ होगा।

1724 स्रोतसाम् (पू०13.4.23.49) स्रोतस्+आम्, संज्ञा, षष्ठी एकवचन; पर्वतोद्भूतानामिति शेषः। परलघुग्रह स्तोतोग्रहणं च पास्त्रीयस्य पश्यत्वाय। अत्र वाहेट—"उपलास्फालनक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्याः" इति (प्रदीप); सरित्प्रवाहाम् (चरित्र०); अगाधतया शश्वदविच्छिन्नप्रसाराणां महानदीप्रवाहाणाम्। अत एव तरुकुञ्जशिलाकुञ्जाद्यभिघहनेन '(विद्युल्लता); नदीप्रवाहादीनाम् (सुवोधा), स्रोतसामित्यलकागमन-मार्गापेक्षयोक्तम्, अतएव "हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददान" इत्यत्र स्रोतसा मानससरसा न व्यभिचारः। मानसस्यालकायां स्थितेः, स्रोतसामिति प्रयोवादो वा (सुवोधा)।

1725 स्रोतसि (पू० 45.3.16.34) स्रोत्+ङि; संज्ञा; सप्तमी, एकवचन; प्रवाहे (चरित्र०); प्रवाहे (संजी०); पारिप्लवे वारिप्रवाहे छायाया अपि तारल्यसिद्धेमेचकचपलजलभरशवलत्ववुद्धिसम्भवादुत्प्रेक्षायामारणीयत्वं द्योत्यते (विद्युल्लता); प्रवाहे (सुवोधा);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन वार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो वार (1.78; 16.11) हुआ है।

1726 स्रोतोमूर्त्या (पू० 48.4.13.51) स्रोतस्+ङस्+मूर्ति+टा; तत्पुरुष, संज्ञा, तृतीया, एकवचन; चर्मण्वती जलमूर्त्या (प्रदीप); चर्मण्वती नदी प्रवाहरूपेण (चरित्र०); प्रवाहरूपेण (संजी०); जलप्रवाहरूपेण (विद्युल्लता); प्रवाहरूपेण (सुबोधा); स्रोतसः मूर्तिः, तया। नदी के रूप में। इस नदी का नाम चर्मण्वती है। इसे अब चम्बल कहते हैं।

1727 स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम् (पू० 45.2.2.64) स्रोतम्+आम्+रन्ध्र+सुप्+ध्वनित+सु+सुभग+अम्; तत्पुरुष, विशेषण, द्वितीया, एकवचन; स्रोतसां रन्ध्रं स्रोतोरन्ध्रम् इति जलप्रणाली विवक्षितः। स्रोतोरन्ध्रसम्मुर्च्छज्जलध्वनित-सुभगमित्यर्थः। दन्तिभिः सरन्ध्रेण करेण पीयमानः वायुः जलप्रणालनिस्सरत् प्रवाह इव शब्दायत इत्यर्थः। अनेन मान्द्यमुक्तम् (प्रदीप); स्रोतसः इन्द्रियभूतायाः शुण्डायाः रन्ध्रं ध्वनितं ध्वनिस्तेन सुभगम् (चरित्र०); स्रोतः शब्देन; इन्द्रियवाचिना तद्विशेषो ग्रहणं लक्ष्यते; स्रोतोऽम्वुवेगिन्द्रिययोरित्यमरः स्रोतोरन्ध्रेषु नासाग्रकुहरेषु यद् ध्वनितं शब्दस्तेन सुभग यथा तथा (संजी०); स्रोतसो नासाया रन्ध्रस्य विवरस्य ध्वनितेन शब्देन सुभगेन यथा स्यात्तया (सुबोधा); स्रोतसां रन्ध्राणि, तेषु ध्वनितं, तेन सुभग यथा तथा। स्रोतस्—नाक। इसे 'सूँड' के

अर्थ में भी लिया जा सकता है; वल्लभ और सारो० इसे 'सूँड' का पर्यायवाची बताते हैं और अपनी पुष्टि में शिशुपाल वध 18.49 उपस्थित करते हैं। ध्वनित—√ध्वन् (शब्द करना)+क्त। मल्लि० ने 'स्रोत' का अर्थ 'नासाग्र' किया है, परन्तु अमरकोष 'स्रोत इन्द्रिये निम्नगारये' के अनुसार 'स्रोत' का अर्थ इन्द्रिय है। प्रकृत में घ्राणेन्द्रिय ही विवक्षित है।

1728 **स्वकुशलमयीम् (पू० 4.2.5.26)** स्व+ङस्+कुशल+मयट्+ङीप्+अम्; विशेषण, द्वितीया एकवचन; तपात्ययस्य सन्निधानत्वेन निजनिधनशङ्कया सापि मरिष्यतीति स्वप्रवृत्तिम् (चरित्र०); स्वक्षेमप्रधानाम् (संजी०) अत्र कुशलशब्देन प्रियतमा पुनः समागमोत्सवहेतुभूतमेतावतो मासान् प्राणसन्धारणमेवोच्यते, 'क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जतुर्न्नु लाभवान्', इत्युक्तवत्; उपरि च 'अव्यापन्नः कुशलम्' इत्यव्यापत्तिमात्रस्य प्रतिपादनात् (विद्युल्लता); स्वात्मकल्याणात्मिकाम् (सुबोधा)।

स्वस्य कुशलं तेन व्याप्ता, ताम्। पतिव्रताओं का जीवन पति के जीवन के पीछे चलता है। मनु ने लिखा है—'मृते म्रियते या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।' वियोगिनियों के लिए पति का समाचार संगम के बराबर ही सुखदायी होता है। देखो उ०मे० 40 ।

1729 **स्वजलकणिकादोषम् (उ० 8.2.6.33)**स्व+ङस्+जल+आम्+कणिका+भिस्+दोष+अम्; तत्पुरुष; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; सलिलकणिकास्पर्शदूषणम् जलस्पर्शेन चित्राणि विनश्यन्ति इत्यभिप्रायः (प्रदीप०); सलिलस्य कणिकाः लवास्ताभिः दोषं नाशरूपम् (चरित्र०); स्वजलकणिकाभिर्जलकणैः दोषं स्फोटनम् (संजी०); नवजलकणैः नाशम् (पंचिका); स्वजलकणिकाभिरात्मीयसूक्ष्मतोयविन्दुभिः। नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्येति क्वचित् पाठः (सुबोधा); सलिलकणिकादोष० सलिलकणिका का पाठान्तर 'स्वजलकणिका' है। इसका अर्थ 'अपने जल की बूँदों से' है। दोनों के अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं । मल्लि० ने 'दोषम् का अर्थ 'स्फोटन' अर्थात् चित्र के कागज का जल की बूँदों के पड़ने से 'फूलकर खराब होना' दिया है।

1730 **स्वजलकणिकाशीतलेन (उ० 37.3.1.11)** स्व+ङस्+जल+ङस+कणिका+भिस्+शीतल+टा; तत्पुरुष; विशेषण, तृतीया, एकवचन; स्वजलस्य कणिकाभिबिन्दुभिः शीतलेन (चरित्र); स्वजलकणिकाभिः जलबिन्दुभिः शीतलेन (संजी०); निजोदकबिन्दुमिः तुषारेण (पंचिका); निजतोयजललवशिशिरेण, स्वजलकणिकेत्यादिना यथा जलकणिकाशीतलाल्पवातेन, (सुबोधा); स्वल्पाः कणा कणिकाः। [कर्णातः—'√कण् गतौ' (भ्वादि०) धातो पचादित्वात् अच्। ततोऽल्पार्थे कन्। स्त्रियां टाप्। अथवा, क्वुन्-प्रत्यययोगात् कणतेः। उद्वा कणतेरच्। कणाः सन्त्यासामिति ठन्। "अत इनिठनौ" (5.2.115)।] "कणिका सूक्ष्मवस्तुनि। अग्निमन्थे"—इति अनेकार्थसंग्रहः। 'प्रायेण बहुवचनान्तो' ऽयमिति-अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी। स्वस्य जलं स्वजलम् स्वजलस्य कणिका। स्वजलकणिकाः। ताभिः शीतलः स्वजलकणिकाशीतलः तेन।' इससे महारानियों की तरह का उसका प्रबोधन सूचित होता है। भोज ने लिखा हे—"मृदुभिर्मदनैः पादे शीतलैर्व्यजनैस्तनौ। श्रुतौ च मधुरैर्गीतैर्निद्रातो बोधयेत् प्रभुम्।।"

1731 **स्वप्नजः (उ० 30.3.12.36)** स्वप्न+ङि+जन्+ड+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; स्वप्नावस्थाजन्यः, साक्षात्सम्भोगासम्भवादिति भावः (संजी०); निद्रासम्भवोऽपि।

1732 **स्वप्नलब्धे (उ० 36.3.18.38)** स्वप्न+ङि+लब्ध+ङि; विशेषण, तत्पुरुष, सप्तमी, एकवचन; स्वप्नासादिते सति (पंचिका); निद्रामिलिते; (सुबोधा)।

1733 **स्वप्नसन्दर्शनेषु (उ० 45.2.9.47)** स्वप्न+आम्+सन्दर्शन+सुप्; तत्पुरुष, संज्ञा, सप्तमी, बहुवचन; सुप्तस्य विज्ञानं स्वप्नः, 'स्वप्नः सुप्तस्यविज्ञानम्' इति विश्वः; सन्दर्शनं संवित्, 'दर्शनं समये द्रष्टौ स्वप्नेऽक्ष्णिसंविदि' इति शब्दार्णवे; स्वप्नसन्दर्शनानि स्वप्नज्ञानानि, चूतवृक्षादिवत् सामान्यविशेषभावेन सहप्रयोगः तेषु (संजी०);

स्वप्ने (पंचिका)। स्वप्ना: एव संदर्शनानि, तेषु। स्वप्न—सोते समय जो देखा और स्मरण किया जाता है संदर्शन—ज्ञान: अत: स्वप्नकालीन अनुभव। 'सुप्तस्य विज्ञानम्'' स्वप्न: विश्व के इस प्रमाण से स्वप्न का अर्थ हुआ सोते हुए पुरुष को होने वाला ज्ञान और सन्दर्शन का अर्थ भी—'दर्शनं समये शास्त्रे दृष्टौ स्वप्नेऽक्षिण संविदि' इस शब्दार्णव के अनुसार संवित्='ज्ञान' है। इस तरह पुनरुक्ति सी लगती है, किन्तु स्वप्न विशेष ज्ञान और सन्दर्शन सामान्य ज्ञान होने से। 'आम्रवृक्ष' की तरह विशेष और सामान्य के साथ-साथ होने में कोई पुनरुक्ति नहीं होती। स्वप्नसन्दर्शन विरहकाल में मनोविनोद के चार साधनों में से तीसरा साधन है। भावार्थ यह है कि यक्ष सपने में अपनी प्रिया को देख पाता, तो प्रगाढ़ आलिङ्गन के लिए शून्य में निज बाहुओं फैला देता। "स्वपो नन्" (3.3.18) स्वप्न: स्वापे प्रसुप्तस्य विज्ञाने दर्शने पुमान्" स्वप्ने सन्दर्शनम्, स्वप्नसन्दर्शनम्, तेषु। मल्लिनाथ ने इसका अर्थ और तरह से किया है। उनके अनुसार स्वप्नसन्दर्शन का अर्थ 'स्वप्नज्ञान' है। जैसे हम वृक्षवाचक 'आम्र' के साथ भी 'वृक्ष' पद लगाकर 'आम्रवृक्ष:' कह दिया करते हैं। वैसे ही ज्ञानवाचक स्वप्न के साथ भी यहाँ 'सन्दर्शन' पद लगाकर कवि ने 'स्वप्नसन्दर्शन' कह दिया है। वस्तुत: यहाँ पर 'स्वप्न' शब्द अवस्थाविशेष-मात्र का द्योतक है। 'दर्शन' शब्द में कवि ने 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग सम्यक्तता प्रतिपादित करने के लिए किया है। वैसे तो उसे प्रत्यक्ष-दर्शन हो नहीं पाता। अनेकानेक स्थलों पर अपूर्ण सादृश्य का ही उत्प्रेक्षित दर्शन हो पाता है। सुषुप्ति में 'दर्शन' का प्रश्न ही नहीं उठता। केवल स्वप्न में समग्र-दर्शन होता है। अत: उसे कवि सन्दर्शन कहता है। विषयान्तर चिन्ता के अभाव में बार-बार मन उसी का, सातत्यवासित होने के नाते, रूप सामने ला रखता है, पर प्रत्येक स्वप्नसन्दर्शन आशुविनाशी होता है। इसी से कवि ने बहुवचन का प्रयोग किया है। पूर्णसरस्वती का कथन है—स्वप्नसन्दर्शनेषु स्वप्नावस्थोपपादितेषु सम्यग्-दर्शनेषु। सम्यगिति सादृश्यस्यापूर्णत्वाद् आलेख्यदर्शनस्य विहतत्वाच्च स्वप्ने तु न तथा। दर्शनसुखमत्र तावत् समग्रमुपलभ्यते इति व्यज्यते। बहुवचनेन विषयान्तरचिन्ताभावान्मनस: 'सातत्यवादिताया: स्वप्नोन्मेषप्रमोषस्तडित इव तस्या: क्षणे क्षणे दृष्टत्वं नष्टत्वं च, ततश्च स्वस्य वारं वारं व्याकुलत्वम्, तेन च द्रष्टृणामतिकरुणार्द्रताजनकत्वं च द्योत्यते।"

1734 स्वप्ने (उ० 50.4.25.41) निद्रादशायां (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग विक्रम० में एक बार (2.10) हुआ हैं।

1735 स्वयम् (उ० 25.4.17.44) अव्यय; आत्म—(प्रदीप); आत्मना (संजी०); आत्मनापि (सुबोधा); स्वयमपि कृतां का पाठान्तर 'स्वयमधिकृतां' है, जिसका अर्थ—'अपने द्वारा अपनाई गई' है। यह अर्थ स्वयमपि कृता पाठ के अर्थ से भिन्न नहीं।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग वत्तीस वार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शेष ग्रन्थों में इस प्रकार है—रघु० (18), कुमार० (8), विक्रम० (3), शाकु० (1), मालवि० (1)

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोश:'।

1736 स्वर्गिणाम् (पू० 31.3.11.46) स्वर्गिन्+आम्; संज्ञा,षष्ठी, बहुवचन; अयमभिप्राय: स्वर्गिण: स्वपुण्यफले सकलस्वर्गोपभोगे स्वल्पावशिष्टे सति अस्मात् फलोपभोगात् पुण्यानि क्षीयन्ते, सकलस्वर्गोभोगोऽपि दुर्लभ इति मत्वा शेषैस्वकीयै: पुण्यैर्भूमौ स्वपुण्यानुरूपं स्वर्गैकखण्डं यदि कुर्युस्तदिव विराजमानमित्यर्थ: ननु 'सर्ववर्णा स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखं, तत: परिवृत्यौ कर्मफलशेषेण जातीं रूपं वर्ण ववलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते' इति आपस्तम्बवचनात् प्राणिन: कर्मशेषयुक्ता एव जायन्त इति प्रतीयते। तस्मात् अर्थ: किमिति उपेक्षित इति। एतत्पक्षाश्रयणे विशालाया: समुत्कर्षो न स्यात्, कर्मशेषयोगेन जन

सर्वप्राणिसाधारणत्वात् इत्यलं विस्तरेण (प्रदीप); स्वर्गप्राप्तानाम् (चरित्र०); स्वर्गवतां जनानाम् (संजी०); कर्मदेवानाम् (विद्युल्लता); स्वर्गभुजाम् (सुबोधा)।

1737 **स्वल्पीभूते (पू० 31.3.9.38)**स्वल्प+च्वि+भूत+ङि; विशेषण, सप्तमी, एकवचन; उज्जयिन्याः स्वर्गसाम्यं पौराणां देवसाधर्म्यं चाभिप्रेत्याह स्वल्पीभूत इति (प्रदीप); क्षीणे सति (चरित्र०); अत्यल्पावशिष्टे सति इत्यर्थः (संजी०); भोगेन क्षीणप्राये (विद्युल्लता); स्तोकावशिष्टे, उपभोगात् क्षयिणि सति (सुबोधा)।

वेदान्तदर्शन से अनुसार पुण्यात्माएँ अपने सुकर्मों का फल स्वर्ग में भोगकर पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेती हैं। देखो गीता० 9–2.21–

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।
ते तम् भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।।

मुण्डकोपनिषत् 1.2.10 के–

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।। में भी यह भाव है। इस सम्बन्ध में देखिये 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति। और देखिये–विक्रम० II ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति।

1738 **स्वागतम् (पू० 4.4.15.57)** सु+आगतम्+अम्; संज्ञा, द्वितीया एकवचन; शोभनं आगतं आगमनम्। अनेन स्वागतशब्दो विवक्षितः (प्रदीप); स्वागतम् (चरित्र०); शोभनं आगतम् स्वागतम्। स्वागतवचनम्; कुशलागमनम् (संजी०); 'सखेः भवता सुखेनागतम्' इति वा, 'भवतः शोभनमागमनम्' इति वा स्वागतवचनम् (विद्युल्लता), कुशलप्रश्नम् (सुबोधा); सुखेनागतमागमनम् (सुबोधा); स्वगतं क्षेमं शोभनागमनं कुशलप्रश्नश्चेति वृद्धाः।

सपद्युपस्थिते मित्रे कुशलेनागतं त्वया।
इति यत् प्रश्नवचनं तत् स्वागतं समुदाहृतम्।। इति वलः (सुबोधा)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग ग्यारह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है–विक्रम० (6), मालवि० (2), कुमार० (1), शाकु० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोशः'।

1739 **स्वागतीकृत्य (पू० 23.3.14.41)** स्वागत+च्वि+कृ+क्त्वा; अव्यय; अनेन कुशलप्रश्नो विवक्षितः (प्रदीपः); स्वागतं भो मेघ केकया इति सम्भाष्य (चरित्र०); स्वागतवचनीकृत्य (संजी०); स्वागतशब्दं कृत्वा (विद्युल्लता); निजवाणीः स्वागतीकृत्य सुखेनागतमिति प्रश्नवचनीकृत्य (सुबोधा); अन्यस्यापि चिरेण बन्धुदर्शनादानन्दाश्रुपातः स्यात् स्वागतमिति प्रश्नवाक्यं स्यादिति सजलनयनैरिति स्वागतीकृत्य केका इति चोक्तम्। मयूराः किल मेघदर्शनाज्जातहर्षा अश्रूणि मुञ्चन्ति मत्ता नन्दन्ति चेति स्वभावाख्यानम् (सुबोधा)।

न स्वागतम् अस्वागतम्। अस्वागतं स्वागतं सम्पद्यमानं कृत्वा इति स्वागतीकृत्य। भाव यह है कि मोर अपने कूजन के शब्दों को तुम्हारे स्वागत के पद बनायेंगें। इसी प्रकार के भाव के लिये देखो–रघु० 2.9; मृच्छ० 5.23; टें-टें की वाणी को स्वागत के शब्द बनाकर। देखिये–मृच्छ० V.23 'सह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः और देखिये–रघु० II.1 विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य। उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः।।

1740 **स्वाङ्गभङ्गाय (पू० 57.1.3.21)** स्वाङ्ग+आम्+भङ्ग+ङे; तत्पुरुष; संज्ञा, चतुर्थी, एकवचन; स्वशरीरभङ्गाय (प्रदीप); निजगात्रविनाशाय (चरित्र०); भवतोऽतिदूरत्वात् स्वाङ्भङ्गातिरिक्तं फलं नास्ति लङ्घनस्य इत्यर्थः (संजी०); अशक्यप्रवृत्तौ प्रस्तरपतनेन विशीर्णशरीरतारूपं फलं प्राप्तुम्; न पुनः फलान्तरायेति भावः (विद्युल्लता); निजावयवभञ्जनमात्रफलाय (सुबोधा);

मल्लिनाथ लिखते हैं कि मेघ के ऊँचा होने से शरभ उस तक नहीं पहुँच सकते। अत: उछल-कूद में ही उसका शरीर टूट लेता है। वे अपना सिर आप ही फोड़ लेते हैं, परन्तु कवि का अभिप्राय: यह नहीं। कवि तो ओलों के द्वारा उनके शरीर को तुड़वाता है। स्वांगभंगाय का ही स्पष्टीकरण के वा न स्यु: परिभव पद आदि भाग में किया गया है । स्वांगभंग न शरभों का इष्ट है, न उद्दिष्ट और न उसका अपना किया हुआ। इसी में कवि के भाव का सौन्दर्य विशेष झलकता मालूम पड़ता है।

1741 **स्वादु (पू० 25.3.13.45)** स्वादु+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; स्वादयुक्तं मधुरम् (चरित्र०); मधुरम् (संजी०); मधुररसम्, पीयूषातिशायिनोऽधरामृतस्य विद्यमानत्वाद्रसनीयं च (विद्युल्लता); स्वादयुक्तं माधुर्ययुक्तम्। स्वादु युक्तमिति पाठे स्वादु मधुरं, युक्तं पाने योग्यम्, उभयत्र तुल्यम् (सुबोधा)।

1742 **स्वाधिकारात् (पू० 1.1.3.18)** स्व+ङस्+अधिकार+ङसि; संज्ञा+पंचमी+एकवचन; षष्ठी तत्पुरुष: स्वस्य अधिकारात् स्थानात् (प्रदीप); आत्मीयेऽधिकारो व्यापारस्तडागरक्षणलक्षणस्तस्मितन् (चरित्र०); स्वनियोगात् (संजीवनी); जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् (वार्तिक 1.4.24) इत्यपादाने पंचमी (प्रदीप, संजीवनी); स्वेन आत्मना अङ्गीकृते अधिकारे कार्यधुरायां निधिपालनादौ। अत्रापि विशेषानभिधानं पूर्ववद्रसानुपयोगात्। अथवा स्वे स्वीये यक्षराजपदे (विद्युल्लता); स्वास्मिन्नात्मीये अधिकारे कनककमलरक्षारूपे (सुबोधा); स्वाधिकारप्रमत्त—अपने कर्तव्य से प्रमाद करने वाले। कुछ एक टीकाकारों के अनुसार यक्ष का यह काम था कि वह प्रतिदिन प्रात: कुबेर के लिए अभिनव पुष्पों को शिवजी की पूजा के निमित्त लाया करे। एक दिन आने वाले प्रात:काल अपनी कान्ता का संग छोड़ने की अनिच्छा से वह रात के समय में ही कमल की कलियों को ले आया। अगले दिन प्रात: जब कुबेर इन्हें शिवजी पर चढ़ा रहा था, तो एक भ्रमर ने, जो किसी कली में छिपा हुआ था, उसकी अँगुलियों में डंक मारा। इससे क्रुद्ध होकर उसने यक्ष को शाप दिया—तू अपनी कान्ता से—जिसके कारण तूने अपने कर्तव्य से प्रमाद किया है—एक साल भर पृथक् रहेगा।" कुछ टीकाकार कहते हैं कि यह यक्ष कुबेर के उद्यान का रक्षक था। एक दिन वह अपना स्थान छोड़कर कहीं चला गया। इतने में इन्द्र के हाथी ने उद्यान में घुसकर वहाँ की फूलों की क्यारियों को रौंद डाला।

1743 **स्वाम् (उ० 19.4.21.44)** स्व+टाप्+अम्, सर्वनाम, द्वितीया एकवचन; आत्मीयाम् (संजी०);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में पाँच बार (2.61; 2.70; 6.73; 11.57; 11.67), शाकु० में दो बार (1.19; 571.5), कुमार० (3.36) तथा विक्रम० (80.23) में एक-एक बार हुआ है।

1744 **हंसद्वारम् (पू० 60.2.7.17)** हंस+आम्+द्वार+अम्; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; हंसानां मानसाख्यसरोगमनद्वारम्; (प्रदीप); हंसाना मानसाख्यसरोगमनद्वारम् (चरित्र०); हंसाना द्वारं हंसद्वारम्; मानसप्रस्थायिनो हंसा क्रौंचरन्ध्रेण संचरन्ते इति आगम: (संजी०); हंसानां मानससरोवरगमनवर्त्म हंसानां तत् परिचितं तत एवागन्तव्यम् एतदर्थमेव मया प्राक् हंसा भवत: सहाया उक्ता इति भाव: (सुबोधा); हिमालय से कैलास की ओर जाने वाला यह मार्ग किसी पहाड़ी दर्रे का नाम होना चाहिए। सम्भवत: त्रिपुलेख दर्रे का यह प्राचीन नाम था, जो इस समय भी कैलास आने-जाने का प्रधान मार्ग है। भारत से प्रतिवर्ष तिब्बत की ओर उड़कर जाने वाले हंसों का मार्ग होने के कारण इसे हंसद्वार कहा गया है। ठीक इसी प्रकार भारत से मध्य एशिया की ओर उड़ान भरने वाले हंस जाति के पक्षियों का दूसरा मार्ग प्राचीन भारतीय भूगोल में हंसमार्ग कहा गया (भीष्म पर्व 19.68), जो कश्मीर के दरद प्रान्त का उत्तरी भाग वर्तमान 'हुंजा' है। मानसरोवर जाने के लिए हंसों का द्वार। इसे परशुराम ने खोजा मालूम पड़ता है।

1745 हंसश्रेणीरचितरशना (उ० 3.2.5.24) हंस+आम्+श्रेणी+भिस्+रचित+जस्+रशना+जस्; तत्पुरुष, विशेषण, प्रथमा, बहुवचन; हंसश्रेणीभिरचितरशना:; नित्यं हंसपरिवेष्टिता इत्यर्थ: (संजी०)

हंसानां श्रेण्य:। ताभि: रचिता: रशना: यासां ता:। रशना—तगड़ी। अत: घिरावट, व्याप्ति। देखिये—विक्रमो० IV.24 'तरङ्गभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरशना:' पूर्वमेघ 2.8 'विहग—श्रेणीकाञ्चींगुणाया:' और ऋतु० III.24.

1746 हंसा: (उ० 15.4.20.61) चक्राऽङ्का:। हंस।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (16.33) तथा मालवि० (2.12) में एक-एक बार हुआ है।

1747 हन्त (उ० 43.4.14.40) अव्यय; हन्त विषादे (प्रदीप); हन्त इति खेदे (चरित्र०); विषादेन 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयो:' इत्यमर: (संजी०); कष्टम् (पंचिका); खेदे (सुबोधा); खेद है। यह अव्यय हर्ष वाक्यारम्भ और अनुकम्पा में भी प्रयुक्त होता है। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयो:' इत्यमर:। देखिये—'हा, हन्त! हन्त!! नलिनीं गज उज्जहार।' हन्तेति कष्टम्, एकस्थसादृश्याभावे हि दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकस्थधृतिं लभ इति भाव: (अभिनवगुप्त)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग अठारह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—शाकु० (7), विक्रम० (6), मालवि० (3), रघु० (1)।

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोश'।

1748 हर (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 7.2.10.16; 39.3.11.37)** हृ+लोट्; मध्यम पुरुष, एकवचन; तिङन्त; प्रापय (चरित्र०); दूरीकुरु (चरित्र 39); नय; सन्देशहरणेन आवयो: सन्तापं नुद इत्यर्थ: (संजी० 7); निवर्त्तय, त्वमेव तत्स्थाने भव इत्यर्थ: (संजी० 39); हरिष्यसि प्रापयिष्यसि (सुबोधा 7); हरेत्याशंसायां भविष्यति गी। हेतुसमोऽयमर्थान्तरन्यास:। यदाह—

"अन्यतो दृष्टसम्बन्धस्याभीष्टे विनियोगत:।
प्रसन्नप्रणयावेदि सतां हेतुसमं मतम्।।" इति।। (सुबोधा)

अपनेष्यसि (सुबोधा 33)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग विक्रम० में एक बार (2.20) हुआ है।

1749 हरति (द्विवारं प्रयुक्तम्) **(पू० 14.1.3.3; 32.3.10.34)** हृ+लट्; प्रथमपुरुष, एकवचन; तिङन्त, नुदति (संजी०); अपनयति, शैत्यादिगुणयोगात्। प्रियोऽप्यूरुसंवाहनादिना रतावसाने खेदमपनयतीत्युत्प्रेक्षितम् (सुबोधा 32)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पाँच बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग विक्रम० में दो बार (3.6; 128.15) तथा रघु० में एक बार (5.69); हुआ है।

1750 हरशशिरुचा (पू० 47.3.11.36) हर+ङस्+शशि+ङस्+सच्+टा; तत्पुरुष; संज्ञा: तृतीया, एकवचन; हरस्य महादेवस्य शशिरुक् चूडाचन्द्रज्योत्स्ना (चरित्र०); हरशिरश्चन्द्रिकया (संजी०); शिवशिर:स्थितचन्द्रवीप्त्या (सुबोधा)।

1751 हरितकपिशम् (पू० 21.1.3.5) हरित+सु+कपिश+अम्, समाहारद्वन्द्व विशेषण, द्वितीया एकवचन; हरित: पलाशवर्ण: कपिश: स्वर्णाभ: (प्रदीप:); हरितं पालाशवर्णं कपिशं कृष्णपीतं च; पालाशो हरितो हरित इति; श्याव: स्यात् कपिशो धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते इति चामर:, श्यामवर्ण इति यावत्; वर्णो वर्णेन इति समास:

(संजी०); नवपर्णवर्णं श्याववर्णं च। 'पालाशो हरितो हरित्'। 'श्यावः स्यात् कपिशः' इत्यमरः'। अत्र हेतुरसमग्रसञ्जातकिञ्जल्कत्वम् (विद्युल्लता); पालाशापिङ्गलम् एतादृशनीपादिकम् त्वदागमनचिह्नम्, अतएव सूचयिष्यन्तीत्युक्तम् (सुबोधा)।

1752 हर्त्तुम् (पू० 42.3.18.26) हृ+ तुमुन्; अव्यय; दूरीकर्त्तुम् (चरित्र०); शमयितुम्, नलिन्याश्च भर्त्तु भानुदेशान्तरे नलिन्यन्तरगमनात् खण्डितात्वमित्याशयः (संजी०); करप्रमार्जनेन अपनेतुम् (विद्युल्लता); अपनेतुम् (सुबोधा)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० (15.64) तथा विक्रम० (4.2) में एक-एक बार हुआ है।

1753 हर्म्यस्थलानि (उ० 5.1.5.11) हर्म्य+अम्+स्थल+शस्: तत्पुरुष, संज्ञा, द्वितीया, बहुवचन; सौधतलानि (पंचिका); सोधाहस्थानानि (सुबोधा); भवनों की छतें। देखो ऋ०सं० 1.3, वहाँ गरमी में हर्म्यतलों पर मधुपान बताया है। संगीत के साहचर्य तथा अलका में हर समय हर ऋतु की सत्ता के कारण इसका अर्थ भवनों के कमरे करना उचित होगा। यहाँ 'स्थल' के भी दो अर्थ किये जा सकते हैं—1. (महलों के) भूमि भाग फर्श अथवा 2. (महलों की) अटारियाँ (Terraces)। इनमें से दूसरा अर्थ ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि ऊँची-ऊँची अटारियों पर ही तारागण का प्रतिबिम्ब पड़ना स्वाभाविक है। धनियों के भवन को अमरकोश के अनुसार हर्म्य कहते थे। सतमंजिले मकानों की संज्ञा मानसार (25.29) के अनुसार 'हर्म्यकान्त', 'पुण्डरीक', 'श्रीकान्त' आदि थी। यहाँ 'हर्म्यस्थल' 'हर्म्यतल' के अर्थ में आया प्रतीत होता है। नीचे की फर्श से अभिप्राय नहीं होना चाहिए। ज्योतिश्छाया का ग्रहण सप्ततलभवन में सबसे ऊपरी फर्श ही कर सकेगी। सतमंजिले की ऊपरी खुली छत पर यक्ष उत्तम स्त्रियों की 'गोष्ठी' का सेवन किया करते थे। यह 'गोष्ठी' पान, सङ्गीतदि की थी। इसका रिवाज भी शुङ्गकाल में अत्यधिक हो चला था।

1754 हर्म्येषु (पू० 35.3.7.39) हर्म्य+सुप्; संज्ञा, सप्तमी, बहुवचन; धनिकभवनेषु (संजी०) गिरिशिखरवदभ्रलिहत्वाद् विश्रमौचित्यम् बहुवचनेन विविधवृत्तान्तकान्ततया तत्र तत्र रसानुरोधेनविहर्त्तव्यमिति च व्यज्यते (विद्युल्लता); रमणीयगृहेषु (सुबोधा);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में (16.18) तथा ऋतु० (1.9) में एक-एक बार हुआ है।

1755 हलभृतः (पू० 62.4.13.69) हलभृत+ङस; संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; नीलाम्बरस्य। अस्यापि सद्यः कृत्य द्विरदरदनच्छेदगौरस्य इत्यादि योज्यम् (प्रदीप); हलं सीरं विभर्त्तीति हलभृतो बलभद्रस्येव (चरित्र०); बलभद्रस्य (संजी०); बलभ्रदस्य (सुबोधा) हलधारी। बलराम का शरीर गोरा था। वे नीले वस्त्र पहनते थे। अतः यह उपमा दी गई है। इससे बलराम के विशालकाय होने की भी ध्वनि निकलती है। इस प्रकार के बलराम के वर्णन के लिए देखो किरातार्जुनीय 4.38 तथा गीतगोविन्द 1.8—वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभम्।

1756 हस्तन्यस्तम् (उ० 23.3.8.45) हस्त+ङि+न्यस्त+सु; तत्पुरुष, विशेषण; प्रथमा, एकवचन; हस्ते वामकरे न्यस्तं स्थापितं (चरित्र०); हस्ते न्यन्तं हस्तन्यस्तम्, एतेन चिन्ता व्यज्यते (संजी०); करविद्धितम् (पंचिका); पाणौ, न्यस्तम् समर्पितम् (सुबोधा); शोक आदि की अवस्था में चिन्ताग्रस्त स्त्रियाँ हाथ पर सिर रखकर विचारमग्न हुआ करती है। देखो—'अनसूये, पश्य, तावत् वामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी भर्तृगतया चिन्तया।' शाकु० 4; 'हस्ते न्यस्तम् हस्तन्यस्तम्।' कवि ने बायाँ या दाँहिने का वाचक शब्द इसलिए नहीं डाला कि विरहिणी सुविधानुसार कभी इस हाथ की हथेली पर मुख को रख देती है, कभी उस पर। शाकुन्तल में उत्प्रेक्षा का तत्त्व न होने से सत्य का व्यंजन यों किया गया है—"वामहस्तोपहितवदना।" मल्लिनाथ का कथन समीचीन है कि यह विरहव्यथाजन्य चिन्ता का व्यञ्जक है—"एतेन चिन्ता व्यज्यते।"

यहाँ पर कवि ने 'चिन्ता' व्यभिचारि-भाव के अनुभाव को प्रस्तुत करके उसकी सुमधुर व्यञ्जना करायी है। तुलनार्थ एक दूसरी सुमधुर चिन्ताव्यञ्जक अनुभावों से परिपूर्ण रचना को लें–

"अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापकेलीपरिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव स्मरनपतिलीला यौवराज्याभिषेकम्।।

1757 **हस्तप्राप्यस्तबकनमित:** (उ० 14.4.16.42) हस्त+टा+प्राप्य+जस्+स्तवक+भिस्+नमित+सु; तत्पुरुष; विशेषण; प्रथमा; एकवचन; हस्तेन प्राप्तुं शक्याश्च ते स्तवका: गुच्छा: तैर्नमित: (चरित्र०); हस्तेन प्राप्यै: हस्तावचयै: स्तवकै: गुच्छै: नमित:, 'स्याद्गुच्छकस्तु स्तबक:' इत्यमर: (संजी०); बालत्वात् च करग्राहयै: गुच्छै: नम्रीभूत: (पंचिका); हस्तप्राप्येन स्तवकेन गुच्छेन नमितो नम्रतां प्रापित:; चिह्नध्वनिता रम्यत्वेन प्रोत्साहनमिदम् (सुबोधा); प्राप्य–प्र+√आप्+ण्यत्–पहुँच में। नमित–√नम्+णिच्+क्त–झुकाया हुआ। झुकाने का प्रयोजक कर्ता 'स्तवक' है। छोटा पेड़ होने पर भी उस पर इतने फूल हैं कि वह झुका पड़ता है। इसी से यह समझा जा सकता है कि वृक्ष यक्षपत्नी ने सप्रेम पाला है तथा इसी गुण के कारण उसे अन्य वृक्षों से पृथक् किया जा सकता है।

1758 **हस्तसंवाहनानाम्** (उ० 35.3.14.38) हस्त+टा+संवाहन+आम् तत्पुरुष; संज्ञा, षष्ठी, बहुवचन; हस्ताम्यां सुखमर्दनानाम्। संवाहनं मर्दनं स्यादित्यमर: (प्रदीप); करमर्दनानाम् (चरित्र०); हस्तेन मर्दनानाम् 'संवाहनं मर्दनं स्यादिति अमर: (संजी०); खेदापनयनाय करमर्दनानां, हस्तसंवाहनाद्यैरिति पाठे करमर्दनादिभि: समुचित: समवेत: सङ्गत: हस्तसंवाहनादिभिरिति पाठे च समुचित: समवेत: हस्तसंवाहनं कुर्यात् श्रमापनुतये तत इति कामशास्त्रम् (सुबोधा); हस्तेन संवाहनानाम्। हाथों से दवाना। रतिक्रीडा के पश्चात् स्त्री के चरण दवाने से उसकी थकान तो दूर होती ही है, साथ ही पुन: राग जागृत हो जाता है और वह रतिक्रीडा के लिए तैयार हो जाती है। स्त्रियों के पैर दवाने का वर्णन साहित्य में अन्यत्र भी हुआ है। देखो शाकु 3.19 देखिये अभि०शा० III 18–'अङ्केनिधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।'' हस्तेन संवाहनम्, हस्तसंवाहनम्। तेषाम्।' संवाहन का अर्थ दवाना है–"संवाहनं मर्दनं स्यात्"–(अमरकोश)। 'कामसूत्र का कथन भरतसेन ने उद्धृत करके हस्तसंवाहन का उपयोग बता रखा है। थकावट को दूर कर देने के लिए इसका विधान किया गया है। पूर्णसरस्वती का कथन है–"प्रतिसम्भोगावसानं तदाश्वासनपरतया स्वेन नियतकृत्यत्वेन अनुष्ठीयमानत्वात् समुचितत्वोक्ति:। हस्तसंवाहनानां कोमलतया करतलेनैव मुष्टिगृहीतेन श्रमशमनाय सुखसम्मर्दनानाम्"। विशेष उद्देश्य तो पौन:पुन्यसिद्धि है।

1759 **हस्ते** (उ० 2.1.11.) हाथ में सनाल कमल लिए हुए स्त्रियों का अङ्कन कुषाण और गुप्तकला में मिलता है, जिससे विदित होता है कि यह उस युग की प्रिय प्रथा थी।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग छह बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में दो वार (5.57; 16.87), विक्रम० में दो बार (56.4; 170.4) तथा मालवि० में एक वार (220.1) हुआ है।

1760 **हारयिष्यन्** (पू० 4.2.6.27) ह+णिच्+स्य+शतृ+सु; प्रथमा एकवचन; प्रापयितुम् (चरित्र०) प्रापयिष्यन्, 'लृट् शेषे च' इति चकारात् क्रियोपपदात् लृट् प्रत्यय:। हृक्रोशन्यतस्यामिति कर्मसंज्ञायां विकल्पात्पक्षे कर्तरि तृतीया (संजी०); नाययिष्यन्, तत्सकाशं प्रतीत्यर्थात् (विद्युल्लता); नाययिष्यन् प्रस्थापयिष्यन् (सुबोधा); हारयिष्यन्निति तुमर्थे स्यतृ, हारयितुमित्यर्थ:। तुमर्थाभावेऽपि न क्षति: (सुबोधा)।

√ह+णिचृ+स्य (भविष्यत्)+शतृ+पु० प्रथमा एकव०। भिजवाने वाला। अत: भिजवाने का इच्छुक।

1761 **हारान्** (पू० 34.1.1.1) हार+शस्; संज्ञा, द्वितीया, बहुवचन; मुक्तावली। (संजी०)

1762 हारै: (उ० 11.3.12.46)

स्वनामाख्यातैर्युक्ताकलापालङ्कारैः। छिन्नसूत्रैरिति विशेषणमित्याहु: (सुबोधा०)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग ऋतु० में दो बार (3.20; 4.2) हुआ है।

1763 हालाम् (पू० 52.1.2.2) हाला+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; सुराम्; 'सुरा हलिप्रिया हाला' इत्यमर; अभिप्रयुक्तं देशभाषापदं इत्यत्र सूत्रे 'हाला' इति देशभाषापदम्; अतीतकविप्रयोगात् साधु, इति उदाजहार वामन: (संजी०); मदिराम् (विद्युल्लता); मदिरां हालाया रेवत्याश्च त्याग (सुबोधा); बलराम को एक गहरे शराबी के रूप में चित्रित किया गया है। आरम्भ में हाला पद प्राकृत का था। अब संस्कृत में भी आता है।

1764 हि (अष्टवारं प्रयुक्तम्) (पू०5.4.17.52; 9.3.13.48; 20.4.20.45; 29.4.14.48; 46.4.17.61; 56.4.15.73; उ० 24.4.23.49; 53.4.21.139) अव्यय; तथाहि (संजी०); यस्मात् (सुबोधा); यत: (चरित्र 20); यत: (चरित्र 29); कारणात्; यत: (चरित्र 46); यत: (चरित्र 56); साक्षाद् (संजी० 46); अतोहिमाचलस्य दावानल: त्वया शमयितव्य इति भाव: (संजी० 56); यस्मात्कारणात् (संजी० 24); यस्मात् (संजी० 53); यस्मात् (पंचिका 53); हि शब्दप्रसिद्धौ वा (विद्युल्लता 5); यस्मात् (सुबोधा 5); हि इत्यर्थान्तरन्यासद्योतने (सुबोधा 5); यस्मात् (सुबोधा 9); हि शब्दप्रसिद्धौ (विद्युल्लता 20); हिशब्द; प्रसिद्धौ; रसवित्सु प्रसिद्धोऽयमर्थ: इत्यर्थ: रसपरिवाहत्वाद् विलासानाम्; तथा रघुवंशे –'तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्य:। प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगारचेष्टा विविधा बभूवु:।।' इति। शाकुन्तले च–' दर्भाङ्कुरेण चरण: क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा। आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।।' इति (विद्युल्लता 29); हि शब्द: प्रसिद्धौ (विद्युल्लता 46); हि शब्द: प्रसिद्धौ (विद्युल्लता 56); यस्मात् (सुधा 46); यस्मात् (सुबोधा० 51); यस्मात् (सुबोधा० 53)।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग दो सौ एक बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों में इसका प्रयोग इस प्रकार है—रघु० (73), शाकु० (65), विक्रम० (24), मालवि० (23), कुमार० (6), ऋतु० (2)।

विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोश:'।

1765 हित्वा (त्रिवारं प्रयुक्तम्) (पू० 52.1.1.1; 63.1.1.1; उ० 31.1.7.12) हा+क्त्वा: अव्यय; यद्यपि प्रकृत्या पुण्यं कुरुक्षेत्रं तथापि यस्मिन्प्रदेशे युद्धमासीत् तं नरशिर: कपालादि दूषितं प्राप्य कथमशुद्धो भविष्यामीत्याशङ्क्य आह हित्वा इति (प्रदीप); भुजगवलयोत्सारणं देव्यास्त्रासाभावाय (प्रदीप 63); त्यक्त्वा (चरित्र 63); त्यक्त्वा; दुस्त्यजामपि इति भाव: (संजी० 61); गौर्याभीरुत्वावात् त्यक्त्वा (संजी० 63); त्यक्त्वा (संजी० 31); अपास्य (पंचिका 31); त्यक्त्वा (विद्युल्लता); 52, त्यक्त्वा (सुबोधा 52); त्यक्त्वा। भुजगस्य भयङ्करत्वात् तद्वलवता हस्तेन विलासिनीहस्तग्रहणमनुचितमिति भुजगवलयं हित्वेत्युक्तम् (सुबोधा 63); त्यक्त्वा दूरीकृत्य (सुबोधा 31); √हा (छोड़ना)+क्त्वा (सुधीर०) छोड़कर, हटाकर, निकाल कर। विरह से पहले केश-संस्कार के लिए उसमें माला गूँथी जाती थी। चलते समय वर्ष भर तक केशसंस्कार न करने का विधान करते हुए (तुलना करो—न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न च वेणीं प्रमोचयेत्—हारीतस्मृति) यक्ष ने प्रतीक रूप से फूलों की माला केशों से खोल दी थी और उन्हें अकेला ही बाँध दिया था। (31)

एक बार भ्रमण करते हुए बलराम ने नैमिषारण्य में ऋषियों के साथ यज्ञ करते हुए सूत का, जिसने उनका सत्कार नहीं किया था, कुशा के अग्रभाग से वध कर दिया था। अत: उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगा। इसके प्रायश्चित रूप ऋषियों ने उन्हें तीर्थों की यात्रा करते हुए भारतवर्ष की प्रदक्षिणा करने को कहा।

सम्भवत: बलराम ने प्रायश्चितस्वरूप मदिरा-सेवन छोड़ दिया और तीर्थों की यात्रा करते हुए किए गये पाप से निर्मुक्त होने के लिए उन्होनें सरस्वती नदी में स्नान किया, क्योंकि कहा जाता है कि सरस्वती का जल पवित्र है।

विरहिणी होने के कारण यक्षपत्नी के लिए बालों में पुष्पों या पुष्पमालाओं का पिरोना निषिद्ध है। देखिये—'न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न च वेणी प्रमोचयेत्'। विचार-साम्य के लिए देखिये शिशु० XIV. 'तत्र नित्यविहितोपहूतिषु प्रोषितेषु पतिषु द्युयोषितझम्। गुम्फिता: शिरसि वेणयोऽभवन् न प्रफुल्लसुरपादपस्रज:।।' (31); 'हित्वा' पद √ओहाक् त्यागे धातु से क्त्वा-प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होगा। इस पद का वैचित्र्य पूर्णसरस्वती ने बहुत ही अच्छे ढंग से स्पष्ट किया है—"हित्वा न पुन: अपनीय तद्गतेन कौतुकेन सह तृणवद् दूरतस्त्यक्त्वेत्यर्थ:।" (31)

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग सात बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में तीन बार (14.87; 15.59; 16.22) तथा शाकु० में एक बार (204.1) हुआ है।

1766 **हिमांशो: (उ० 28.2.8.41)** हिंमाशु+ङस्, संज्ञा, षष्ठी, एकवचन; चन्द्रमस: (पंचिका); चन्द्रस्य, कृष्ण चतुर्दश्यां हि प्राची भूते चन्द्रकला दृश्यते (सुबोधा); ठण्डी किरणों वाला चन्द्रमा। यहाँ पर ध्वनि है—जिस प्रकार चन्द्रमा शीतल है और सबको ठण्डक पहुँचाता हैं, रस प्रदान करता है, ताप हरण करता है, उसी प्रकार यक्षपत्नी भी सहानुभूति का कारण है, वैसे ही यक्षपत्नी भी सहानुभूति के योग्य है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पाँच बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में तीन बार (5.16; 6.47; 14.80) तथा शाकु० में एक बार (1.20) हुआ है।

1767 **हुतवहमुखे (पू० 46.4.14.55)** हुतवह+ङस्+मुख+ङि; तत्पुरुष, संज्ञा, सप्तमी, एकवचन हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेज इति स्कन्दस्य अग्निमुखोत्पत्तिरित्युक्तम् (प्रदीप); अग्निमुखे (चरित्र०); वहतीति वह:, पचाद्यच्, हुतस्य वहो हुतवहोवह्नि: तस्य मुखे (संजी०); मुखग्रहणं तु शुद्धत्वसूचनार्थम्;

तदुक्तं शम्भुरहस्ये—'गवां पश्चात् द्विजस्यांघ्रि: योगिनां हृत्कवेर्वच:। परं शुचितमं विद्यान्मुखं स्त्रीवह्निवाजिनाम्।। इति (संजी०); देव्यादिभिर्धारणाक्षमतया विमुक्तत्वादग्निनैव धारणात्तत एव च रूपसामग्र्यसम्पत्ते: (विद्युल्लता); हुतवहास्याग्नेर्मुखे (सुबोधा); वहतीति वह:। हुतस्य वह: इति हुतवह:, अग्नि। आग में जो आहुति डाली जाती है, वह उसे ही परमाणु रूप में परिणत कर सूक्ष्मतम बनाकर ब्रह्माण्ड में फैलने योग्य बना देती है। अत: उसे देवताओं का मुख कहा गया है। अग्नि से कुमार के जन्म की कथा कुमारसम्भव के 9वें और 10वें सर्ग में दी हुई है। तारकासुर के नाश के लिए देवताओं ने प्रयत्न करके शिव और पार्वती का विवाह, सङ्गम करा दिया। परन्तु बालक होने में देर हो गई। अत: देवताओं ने कबूतर के रूप में अग्नि को शिव के पास भेजा। अग्नि ने शिव के वीर्य को अपने मुख में धारण कर लिया। परन्तु उसे सहन न कर सका। उसने उस वीर्य को गङ्गा में और गङ्गा ने सरकण्डों में फेंक दिया। वहाँ स्कन्द का जन्म हुआ। जब कुमार का जन्म हुआ, तब छह कृत्तिकाओं ने आकर उसे पाला। अत: इसे कार्तिकेय और षाण्मातुर कहा जाता है। शरकण्डों से जन्म के कारण इसे 'शरवणभव' (देखो पद्य० 49) भी कहते हैं। एक अन्य कथा के अनुसार गङ्गा द्वारा शरों में फेंके गये शिव के वीर्य को छह कृत्तिकाओं ने खा लिया। उनसे छह लड़के उत्पन्न हुए। इन सबको इकट्ठा करके छह मुखों और बारह हाथों वाला एक बालक बना दिया गया। महाभारत (वन पर्व अ० 225) के अनुसार स्वाहा की इच्छा अग्नि से रतिसुख भोगने की हुई। उसने सप्तर्षियों में से एक की पत्नी का रूप धारण किया और अग्नि से रमण किया। अग्नि के स्कन्न वीर्य को उसने हाथ पर ले लिया और सरकण्डों (=शरस्तम्ब) से व्याप्त श्वेत पर्वत पर काञ्चन कुण्ड में रख दिया।

इस प्रकार छह प्रतिपदाओं को छह ऋषि-पत्नियों के रूप में किया। अरुन्धती का रूप धारण करने में वह असमर्थ रही। काञ्चनकुण्ड में स्थापित अग्नि के शुक्र से स्कन्द का जन्म हुआ। वह सातवें दिन पूर्ण विकसित अंशों वाला हो गया। इसे ही इन्द्र की सेनाओं का सेनापित बनाया गया। इस प्रकार इस बालक ने सात दिन की आयु में ही तारकासुर का वध कर दिया था।

श्री साधुराम ने सरकण्डों से स्कन्द के जन्म की तुलना ग्रीक और रोमन पौराणिक कथा—लैडन नदी के किनारे पान (Pan) देवता की सीरिंक्स (Syrinx—बांसुरी) के जन्म से की है। परन्तु इन दोनों कथाओं में तुलना का कोई मुख्य आधार नहीं है। वहाँ तो भावना, कथा आदि सभी में महान् अन्तर और वैषम्य है।

इससे पवित्रता का भाव प्रकट होता है। शम्भुरहस्य में 'गौ का पिछला आधा भाग, ब्राह्मण के पैर, योगियों का मन, कवियों के शब्द, स्त्रियों ,घोड़ों तथा अग्नि का मुख सर्वथा पवित्र समझे गये हैं।' कार्तिकेय के कई नामों में से एक नाम 'अग्निभूः' (अग्नि से उत्पन्न हुआ) है। इसी प्रकार पूर्वमेघ श्लोक 46 में 'पावकेः' यह पद कार्तिकेय के लिए आया है। कार्तिकेय के अन्य नाम 'शरजन्मा, शरवणभवः (कानों के जंगल में पैदा हुआ) इत्यादि हैं। देखिये रघु० III.23 'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथाः, पूर्वमेघ श्लोक 47 'आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा'।........ इसे कृत्तिकाओं से उत्पन्न होने के कारण 'कार्त्तिकेय', इन्द्र की सेना का सेनापति बनने से 'सेनानी' और अग्नि से जन्म होने के कारण 'अग्निभूः' या 'पावकिः' भी करते हैं। शिवजी के इस पुत्र को मोर पर सवारी करने वाला बताया गया है; देखिये—पू०मे० श्लोक 46 धौतापाङ्गहरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः। इस सम्बन्ध में रघु० II.75 श्लोक देखें—'सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्'।

1768 हृतम् (पू० 31.4.16.51) हृ+क्त+सु; विशेषण, प्रथमा एकवचन; आनीतम् (चरित्रः) आनीतम् (संजी०); कृतमिति पाठः, उपस्थापितम् (विद्युल्लता), आनीतम् (सुबोधा); कवि का यह भाव है कि उज्जयिनी इतनी विशाल, समृद्ध, पुण्य और सुखमय थी कि उसे स्वर्ग का एक भाग मानना ही उचित है। स्वल्पीभूते से 'एकम्' तक के भाग का सार यह है कि कुछ आत्मायें अपने पुण्यों के कारण स्वर्ग में गई। वहाँ अभी उनके कर्मों के फलों का भोग समाप्त नहीं हुआ था। वे मर्त्यलोक में आ गई। उनके पुण्यों का फल तो उन्हें मिलना ही था। अतः पृथिवी पर भी स्वर्ग के एक भाग की रचना करनी पड़ी। वह भाग ही यह उज्जयिनी है।

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग पाँच बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग रघु० में चार बार (7.35; 8.67; 14.20; 17.33) हुआ है।

1769 हृत्वा (पू० 44.2.6.19) हृ+क्त्वा, अव्यय; आदाय, आक्षिप्य च (विद्युल्लता), गृहीत्वा अर्थात् पीत्वा अथच आकृष्य (सुबोधा)।

हटाकर, खींचकर। नीत्वा—(पा०भे०)—लेकर अर्थात् अपने वश में करके, छीनकर। अन्त में भाव दोनों का एक ही हो जाता है। परन्तु हृत्वा में कामिजनोचित धृष्टता, उग्रता और बलात्कार का भाव तुरन्त झलक जाता है, नीत्वा में ही। 'हृत्वा नीलं वसनं' और 'लम्बमानस्य' में मेघ प्रेयसी के प्रति अपने अनुराग का प्रदर्शन करता है तथा 'विवृतजघनां' में उसके नग्न सौंदर्य की झाँकी लेता है। इस पद्य में कवि ने काम मनोविज्ञान के दो प्रमुख अङ्गों का चित्रण किया है। विरही यक्ष के लिए ऐसा वर्णन करना अस्वाभाविक नहीं। जो इस चित्रण को हीन कहकर इसे कालिदास का नहीं मानते, वे अन्यत्र कालिदास के इसी प्रकार के सम्भोग-शृङ्गार के चित्रण की उपेक्षा कर देते हैं।

1770 हृदयनिहितारम्भम् (उ० 26.3.7.41) हृदय+ङि+निहित+सु+आरम्भ+अम्; बहुव्रीहि; संज्ञा; द्वितीया,

एकवचन; हृदये निहित: आरम्भो यस्य तम् (चरित्र०); हृदये निहितो मनसि संकल्पित आरम्भ उपक्रमो यस्य तम् अथवा हृदये निहिता आरम्भाश्चुम्बनादयो व्यापारा: यस्मिंस्तम् (संजी०); मनोरथरचितम् मत्संगमम् (पंचिका); आरोपित आरभ: प्रक्रमो यस्य (सुबोधा)।

हृदये निहिता: आरम्भा: यस्मिन् तत्। जिसके आरम्भ=कर्म मन में कल्पित किये गये थे। संभोग में कर्म, चुम्बन, आलिंगन, अंगमर्दन आदि हैं। मन में यह विचारती हुई कि मेरा पति यह-यह कर्म कर रहा है। मल्लिनाथ ने आरम्भ का अर्थ 'उपक्रम' प्रारम्भ भी किया है। यह उचित नहीं; क्योंकि इससे यह ध्वनि निकलती है कि आरम्भ मानसिक था, शेष कर्म कायिक जो सर्वथा श्रसम्भव और कल्पनातीत था। यक्षपत्नी अपने मन में पति के कल्पित सहवास-सुख से प्रारम्भ का स्वाद लेकर मन बहलाया करती थी, अथवा मल्लि० के अनुसार यहाँ आरम्भ का अर्थ कार्य भी लिया जा सकता है, जिसका अभिप्राय यह है कि वह अपने पति के साथ चुम्बन, आलिङ्गन आदि कार्य वाले रतिसुख का स्वाद ले रही थी। इसमें कवि ने दश काम-दशाओं में से तीसरी काम दशा—संकल्पावस्था—का उल्लेख किया है। संकल्प के लिए देखिये— "संकल्पो नाथ विषयो मनोरथ उदाहृत: "अर्थात् मन में पतिविषयक कल्पना को संकल्प कहते हैं। काम की दश दशायें ये हैं—'दृङ्मन:सङ्गसङ्कल्पा जागर: कृशताऽरति: ह्रीत्यागोन्माद मूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश।।'

1771 **हृदयनिहितै:** (द्विवारं प्रयुक्तम्) (उ० 19.1.3.7; 38.2.9.25) हृदय+ङि+निहित+भिस्; तत्पुरुष; विशेषण; तृतीया, बहुवचन; हृदयस्थापितै: (चरत्रि); मनसिनिहितै: (चरित्र 38); अविस्मृतैरित्यर्थ: (संजी० 10); मनसि स्थापितै: (संजी० 38); चित्तस्थापितै: (पंचिका 19); चेतसि गृहीत्त्वा (पंचिका 30); हृदये मनसि निहितै: संस्थापितै:। हृदयनिहितैरित्यनेन यद्यल्लक्षणमुक्तं तत् स्मर्तव्यं, न विस्मर्तव्यमिति सूचितम्। हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा इति यथा अन्यो वैयाकरणादिर्हृदिस्थैर्लक्षणै: सूत्रैर्लक्ष्यं लक्ष्यतीत्युक्तिश्लेष: (सुबोधा); मनसि—हृदये, निहितात् अर्पितात्, मनसि निहितादित्यनेन तेन यद्युदुक्तं तन्मनसि यत्नेन धृतं तत् प्रियत्वात् न विस्मृतमिति सूचितम् (सुबोधा); निहित—नि+√धा+क्त 'हृदयनिहिताद्'—इति स्वहृदयनिहितं सावधानत्वं द्योत्यते। ननु चान्य: कश्चिदेवंविधव्यवहार विदग्धबुद्धि: कथन्न नियुक्त इत्याह—ममैवात्र किमपि कौशलं विजृम्भते (वक्रोक्तिजीवित); मनसि निहितात्—पा०भे० "न तु लेखार्पितात्। अनेन मम निसृष्टार्थताम् आप्ततांञ्चावगम्य मन्मुखे तेन दत्तो मया चावधानेन हृदयनिक्षिप्त इति द्योत्यते"। (विद्यु०)

1772 **हृदयम्** (पू० 9.4.17.56) हृदय+अम्; संज्ञा, द्वितीया, एकवचन; जीवितम्; हृदयं जीविते चित्ते वक्षस्याकूतहृद्ययोरिति शब्दार्णवे (संजी०); मनसोऽधिष्ठानभूतं हृत् पुण्डरीकम् (विद्युल्लता);

कालिदास की कृतियों में प्रस्तुत पद का प्रयोग उनतीस बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त इसका प्रयोग शेष ग्रन्थों में इस प्रकार है—शाकु० (7), विक्रम० (7), रघु० (6), मालवि० (4), ऋतु० (4);

विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत सम्पादक की कृति 'कालिदास पदकोश:'।

1773 **हेमाम्भोजप्रसवि** (पू० 65.1.1.9) हेमाम्भोज+आम्+प्रसवि+अम्; तत्पुरुष; विशेषण, द्वितीया, एकवचन; प्रसवो जननं पुष्पं वा तदस्यास्ति प्रसवि। प्रसवो जननानुज्ञापुत्रेषुफलपुष्पयो: इति यादव: (प्रदीप); हेम्नो जातानामम्भोजानां प्रसवो जननम् (चरित्र०); प्रसवो जननानुज्ञा पत्रेषु फलपुष्पयो' इति यादव: (चरित्र); हेमाम्भोजानां प्रसवि जनकम्; 'जिदृक्षि' इत्यादिना इनिप्रत्यय: (संजी०); स्वर्णपद्मजनकं। हेमाम्भोजं प्रसेतुं शीलं यस्य तत्तथा, शीलार्थे इन्; किंवा हेमाम्भोजप्रसववत् अस्त्यर्थे इन। हेमाम्बुजदर्शनेनालकाप्रवेशाय मङ्गलं ध्वनितम् उक्तञ्च—"प्रवेशे निर्गमे चैव मङ्गलामङ्गले समे 'इति (सुबोधा); हेमाम्भोजानां प्रसवि। प्रसूते इति प्रसवि प्र+√सू (उत्पन्न करना)+णिनि। मानसरोवर में सुनहरी कमल पाये जाते हैं। ऐसा कवियों में प्रसिद्ध है। श्री स्वेन हेदिन अपने ग्रन्थ 'ए नाइट ऑन मानसरोवर' में इस विषय में लिखते हैं कि सुवर्ण कमलों के दृश्य कभी-कभी जीवन में एकाध बार प्रात:काल की बेला में दिखाई पड़ते है। "Phenomena like these

are fleeting guests on earth, they come and go in the early morning hours. They are only seen once in a lifetime. They are like a greeting from a better world; a flesh from the island of phoenix."

महाभारत वनपर्व अ० 153 में कुबेर-सरोवर के वर्णन में सुवर्ण कमलों की सत्ता बताई गई है—

जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः।
वैदूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोरमैः।। 6.7।।

उ०मे० 16 में वर्णित वापी में भी इसी प्रकार के कमल हैं। वहाँ इस वापी को मानस के समीप ही बताया गया है। कुबेर का उद्यान भी वहीं है। अतः मानसरोवर ही कुबेर का सरोवर प्रतीत होता है। कुबेर सरोवर की रक्षा 'राक्षस' करते हैं। देखो० महा० वन० अ० 153.1। ये राक्षस देवयोनि ही हैं। अ०को० 1.1.11; तथा वै०ऐ० पृ० 189 सं 585। तुलना करो अन्ये अ०वे० 14.2.7—प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः।। महा० वनपर्व में कुबेर-सरोवर गन्धमादन पर्वत पर है। अतः गन्धमादन कैलास का ही एक स्थल प्रतीत होता है। देखो पू०मे० 64 में क्रीडाशैल पर टिप्पणी।

1774 **हैमम् (पू० 33.2.6.10)** हैम+सु; विशेषण, प्रथमा, एकवचन; सौवर्णम् (चरित्र०); सौवर्णम् (संजी०); सुनहरी। इसमें ताल वृक्षों के सुनहरी फूलों की ओर संकेत प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पद का प्रयोग कालिदास की कृतियों में तीन बार हुआ है। मेघदूत के अतिरिक्त रघु० में इसका प्रयोग दो बार (6.15; 16.7) हुआ है।

1775 **हैमैः (उ० 15.2.5.19)** हेम+अण्+भिस्; विशेषण; तृतीया; बहुवचन; हेम्न इमानि हैमानि तैः (चरित्र०); सौवर्ण्यैः (संजी०); सौवर्ण्यैः (पंचिका); हेमशब्दो रजतादि (पंचिका); सौवर्णैः (सुबोधा); सोने के। सुवर्ण कमलों का वर्णन साहित्य में बहुत आया है। इसी ग्रन्थ में पद्य 64 में 'हेमाम्भोज' तथा 78 में कनककमल ध्यान देने योग्य हैं। इसी प्रकार के कमल कुबेर-सरोवर में थे।

जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः।
वैदूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोरमैः।।महा० वन० 153,6.7.

1776 **ह्रीमूढानाम् (उ० 7.4.14.54)** ह्री+टा+मूढ+आम्; तत्पुरुष; विशेषण, षष्ठी, बहुवचन; लज्जाविमनस्कानाम् (प्रदीप); लज्जामुग्धानाम् यक्षाङ्गनानाम् (चरित्र०); लज्जाविधुराणाम् (संजी०); लज्जाव्याकुलत्वात् तासाम् (पंचिका); ह्रिया लज्जया मूढानां मूर्खाणां कार्याकार्यानभिज्ञानां यक्षस्त्रीणां (सुबोधा); ह्रिया मूढाः। तासाम्। लज्जा स्त्रियों का स्वाभाविक गुण है। अपने प्रेमी में अनुरक्त होती हुई भी वे लज्जा से परिव्याप्त रहती हैं। देखो माल० 4.8; चाणक्यनीति 1.17 आदि। मूढ—√मुह्+क्त। तुलना करो—(शिशुपालवध 3.45)—

रतौ ह्रिया यत्र निशाम्य दीपाञ्जालं गताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः।
बिभ्युर्विडालेक्षणभीषणाभ्यो वैदूर्यकुड्मेषु शशिद्युतिभ्यः।।

दुराव—छिपाव और सभ्यता की लक्ष्मण रेखाओं के मिट जाने पर लाज से यक्षाङ्गनायें किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठती हैं। इसीलिये वे फेंकती हैं रत्नप्रदीप पर; पर पता नहीं उस मनोदशा में वह पड़ता कहाँ है? गलत जगह पर उस मुट्ठी भर चूर्ण के पड़ने के कारण अथवा रोशनी के न बुझने की वजह से अथवा सारी कोशिश बेकार जाने की वजह से लाज के मारे गड़ी जा रही हैं। मोहपरवश हैं। बुद्धि कुछ काम करती नहीं दिखाई देती। 'मूढ़' शब्द की व्युत्पत्ति ही है—'मुह्यतिस्म'—'√मुह् वैचित्र्ये' (दिवादिः)। ततौ "गत्यर्था—(3.4.72) इति क्तः (रामाश्रमी)"। फिर है भी मूढ़ बालार्थक 'मूढ़स्तन्त्रितबालयोः' (विश्वप्रकाश)। रत्न-प्रदीपों पर मुट्ठी भर चूर्ण फेंकना बालता नहीं तो और क्या है?

●●●

परिशिष्ट: रामगिरि पर प्रस्तुत लेखक की खोज का सारांश

कालिदास के पूर्व यद्यपि किसी कवि ने रामगिरि का उल्लेख नहीं किया, किन्तु कालिदास के परवर्त्ती जैनकवि रविश्रेणाचार्य (पउमचरिअ 40:16–17), जिनसेन (हरिवंशपुराण 46.18) तथा उग्रादित्य (कल्याणकारक, शोलापुर, 1940) ने इसका वर्णन किया है। मेघदूत के अनुकरण पर रचित जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय (46) में 'रामगिरि' को 'रामशैल' कहा गया है—

> भूयश्चानुस्मर सिधिधुषः कार्यसिद्ध्यै प्रयत्य
> प्रायेणेष्टां महति विधुरे देवताऽनुस्मृतिर्नः।
> सिद्धिक्षेत्रं शरणमथवा गच्छ तं **रामशैलं**
> वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।।

यह श्लोक मेघदूत के प्रथम श्लोक का पादपूरणार्थ समस्यामूलक पद्य है—

> कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः
> शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः।
> यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
> स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।।

इस पर्वत की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वद्गण विशद अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण रखते हुए भी प्रत्यभिज्ञानात्मक मतैक्य स्थापित नहीं कर सके हैं।

भगवान् श्रीराम तथा भगवती जानकी का रामगिरि से सम्बन्ध उनके वनवास के समय रहा होगा। इसी पर वे सघन वृक्षों की छाया में आश्रम बना कर रहे होंगे, किन्तु वाल्मीकि रामायण आदि किसी भी रामकथात्मक ग्रन्थ में रामगिरि पर राम का निवास वर्णित नहीं है।

रामगिरि अर्थात् चित्रकूट—चित्रकूट पर राम के निवास की चर्चा विगत पृष्ठों में की गयी है। महाकवि के काव्य के अनेक टीकाकार रामगिरि को चित्रकूट का ही उपलक्षक मानते हैं—

(क) रामगिरिः चित्रकूटः न तु ऋष्यमूकः। तत्र सीतायाः वासाभावात् (वल्लभदेव);

(ख) रामेण दाशरथिना उपलक्षितो गिरिः चित्रकूटः पर्वतः (चरित्रवर्धन);

(ग) रामगिरिः तत्रस्थाश्रमवनेषु चित्रकूटपर्वततपोवनेषु (मेघराजसाधु);

(घ) रामगिरेः चित्रकूटस्य आश्रमेषु (मल्लिनाथ);

(ङ) रामगिर्याश्रमेषु चित्रकूटनामगिरितपोवनेषु (सुमतिविजय)।

टीकाकारों के सुस्पष्ट उल्लेख और रामायण के प्रमाण के बावजूद चित्रकूट को बाँदा ज़िले में सिद्ध करने की बद्धमूल परम्परा के कारण आधुनिक विद्वान् दिग्भ्रमित हुए हैं तथा उनका यह तर्क रहा है कि चित्रकूट (बाँदा ज़िले का) तो विपरीत दिशा में सुदूर उत्तर में है। वह रामगिरि कैसे हो सकता है। यदि ये विद्वान् दण्डकारण्यक चित्रकूट की स्थितिं का सही ज्ञान प्राप्त कर पाते, तो गतानुगतिक टीकाकारों के मत के खण्डन का साहस न कर पाते और रामगिरि पर विवाद न होता। विगत विवेचन से यह स्पष्ट है कि रामायण के अरण्यकाण्ड में वर्णित चित्रकूट बस्तर का चित्रकूट है (बाँदा के चित्रकूट से उसकी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए) जिसकी शाखा दक्षिण बस्तर तक है। यह दक्षिणी शाखा भी रामायणयुग में चित्रकूट के नाम से जानी जाती रही होगी। कालिदास के रामगिरि की यही उपलक्षक है। इसके प्रत्यभिज्ञान के पूर्व रामगिरि-विषयक अन्य प्रकल्पनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। जिन पर आधुनिक विद्वानों की अधिक आस्था है—

(क) रामगिरि विदर्भ, का रामटेक है (विल्सन, नंदगिरकर, राय देवी प्रसाद, मिराशी, क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, वासुदेवशरण अग्रवाल, भगवतशरण उपाध्याय आदि)।

(ख) रामगिरि दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़) का रामगढ़ है (गणपति जानकीराम दुबे, हरप्रसाद शास्त्री, एम० वेंकटरमैय्या, पार्जीटर, वी०के० परांजपे प्रभृति)।

उपर्युक्त मतों की वहुप्रसिद्धि के बावजूद इनमें एक दोष स्पष्टत: प्रतीत होता है कि दोनों ही पक्षधरों ने विदर्भ तथा दक्षिण कोसल को रामगिरि सिद्ध करने के लिए दण्डकारण्य के अन्तर्गत परिगणित किया है; क्योंकि इन-इन क्षेत्रों को दण्डकारण्य स्वीकार किए बिना रामगिरि सिद्ध नहीं हो सकता था। तथ्यों से यह सुप्रमाणित है कि रामगिरि दण्डकारण्य के ही अन्तर्गत था—

(क) **रामगिरि: दण्डकान्तप्रसिद्धः** (स्थिरदेव);

(ख) **रामगिरि: दण्डकारण्यं तस्य आश्रमा: रामगिर्याश्रमा: तेषु** (लक्ष्मीनिवास);

(ग) **रामगिरि: दण्डकारण्ये प्रसिद्धः तस्य आश्रमेषु रामगिरौ वसतिं कृतवान्** (सारोद्धारिणी)।

प्रमाणों से यह सुस्थापित है (द्रष्टव्य—3.3) कि विदर्भ या दक्षिणी कोसल कभी दण्डकारण्य के अन्तर्गत नहीं थे। नाट्यशास्त्र (14.59-61) व मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत प्रस्तुत दक्षिणापथ के जनपदों में कोसल, महाराष्ट्र, विदर्भ व दण्डक की पृथक्-पृथक् सत्ता निर्विवाद है—

महेन्द्रो मलय: सह्यो मेकल: पलर्पिंज़र:।
एतेषु ते श्रिता देशा: स ज्ञेयो दक्षिणापथ:।।
कोशलास्तोशलाश्चैव कलिङ्गा यवनोऽशला:।
द्रविड़ान्ध्रा महाराष्ट्रा वैष्णा वै वनवासजा:।।
दक्षिणस्य समुद्रे तु तथा विन्ध्यस्य चान्तरे।
ये देशास्तेषु युञ्जीत दाक्षिणात्यां तु नित्यश:।।
X X X
आभीरा: सह वैशिक्या आढक्या शबराश्च ये।
पुलिन्दा विन्ध्यमौलेया वैदर्भा दण्डकै: सह।।

दण्डकारण्य में रामगिरि—दण्डकारण्य की सीमा सुपरिभाषित है (द्रष्टव्य 3.4) तथा इसी के अन्तर्गत रामगिरि अवस्थिति है। बहुत पहले पुस्तक लेखक ने महाकवि कालिदास की जन्मस्थिति पर पुनर्विचार (मेधा, रायपुर 1973, पृ० 81-100) करते हुए कोरापुट ज़िले (उड़ीसा) के रामगिरि को मेघदूत में वर्णित रामगिरि स्वीकार किया था; किन्तु अब पुष्ट प्रमाणों के कारण वह मत त्याज्य है तथा सम्प्रति लेखक का अभिमत है कि ....

रामगिरि भद्राचलम तालुक में—भद्राचलम से 44 मील दक्षिण-पूर्व में रामगिरि नामक पर्वत तथा ग्राम है। पर्वत में श्रीराम का अति प्राचीन मन्दिर है। यहाँ के देवता राम को कोलस (सौख्यपूर्ण) कहा जाता है। यह पर्वत धार्मिकों के आकर्षण का केन्द्र है तथा यहाँ के लोगों की यह मान्यता है कि श्रीराम ने सीतासहित यहाँ निवास किया था। (द्रव्टव्य, प्रस्तुत प्रवन्ध, 3.23)। कालिदास के मेघदूत में वर्णित रामगिरि यही है। इस मत के समर्थन में अधोलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(क) शिवपुराण (वम्बई, निर्णयसागर, 1908, पृ० 241) के सैंतीसवें अध्याय के अनुसार "रामगिरि गोदावरी नदी के तट पर था, जहाँ पर अगस्त्य की आज्ञा से श्रीराम ने शंकर की मूर्ति स्थापित की थी।" विवेच्य रामगिरि भी गोदावरी के तट पर अवस्थित है। गोदावरी इसके दक्षिण पाद का प्रक्षालन करती है।

(ख) रविषेणाचार्य ने अपने ग्रन्थ पउमचरिअ (रचना 634 ई०) में लिखा है कि रामगिरि का प्राचीन नाम वंशगिरि था तथा राम की वसति के कारण उसका नाम रामगिरि पड़ गया—

रामेण यस्मात्परमाणि तस्मिन्
जैनानि वेश्मानि विधायितानि।
निर्नष्ट वंशाद्रिव च: स तस्मा–
द्रविप्रभो: रामगिरि: प्रसिद्ध:।।

(पउमचरिअ 40.45)

इस रामगिरि में सम्प्रति जैनसंस्कृति के अवशेष भी बिखरे हुए हैं।

(ग) आन्ध्रप्रदेश के विजगापट्टम जिले के रामतीर्थ ग्राम की 'दुर्गपंचगुफा' की भित्ति पर एक अभिलेख उत्कीर्णित है (A Report on South Indian Epigraphy, 1918, Appendix B, No., 831, P. 133)। यह अभिलेख परवर्ती पूर्वी चालुक्य वंश का है तथा चालुक्यनृपति विमलादित्य (1011 ई०–1022 ई०) के काल में लिखा गया था। अभिलेख के अनुसार देशीगण के त्रिकालयोगी सिद्दनान्तदेव जैनसाधु तथा विमलादित्य के गुरु थे और वे अत्यधिक भक्तिभाव से इसी रामगिरि में आए थे। अभिलेख की एक पंक्ति में रामगिरि को 'रामकोण्डा' भी कहा गया है। 'कोण्डा' तेलुगु शब्द है, जो गिरि का ही पर्याय है। इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि रामगिरि गोदावरी के तट पर अवस्थित आधुनिक रामगिरि ही है। मिराशी ने रामटेक को रामगिरि सिद्ध करने पर जिस यादव-शिखालेख का प्रमाण दिया था (JIH, Vo. 24, No. 1, April 1964, pp. 131-64) वह तेरहवीं शताब्दी का था। उससे प्राचीनतर शिलालेख (ग्यारहवीं शताब्दी) की अवाप्ति से उनका प्रमाण अपुष्ट हो जाता है।

(घ) राष्ट्रकूट अमोघवर्ष के समकालिक (तेरहवीं शताब्दी) उग्रादित्याचार्य ने 'कल्याणकारक' (शोलापुर, 1940) नामक अपना ग्रन्थ इसी रामगिरि पर रचा था—

वेंगीशत्रिकलिंगदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कट:
प्रोद्यद्वृक्षलतावितानानिरतै: सिद्धैश्च विद्याधरै:।
सर्वे मन्दिरकन्दरोपमगुहाचैत्यालयालंकृते
रम्ये रामगिराविदं विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम्।

(उपसंहार)

वेंगी तथा त्रिकलिंग दण्डकारण्य अर्थात् प्राचीन बस्तर के सीमावर्ती जनपद थे, जिनका उल्लेख अनेकश: बस्तर के नागवंशी अभिलेखों में हुआ है (द्रष्टव्य—आदिवासी सामन्तवाद, दिल्ली, 1989, प्रस्तुत लेखक)। वेंगी गोदावरी के दक्षिणी तट के देश का वाचक है तथा त्रिकलिंग गोदावरी के पूर्वोत्तर क्षेत्र का आख्यापक है। विवेच्य रामगिरि वेंगी तथा त्रिकलिंग के मध्य भाग में अवस्थित है तथा उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ की रचना यहीं पर की थी।

(ङ) रामनाथ नन्द ने **जयपुरराजवंश्यावली** (मद्रास, 1943) में रामगिरि को शबरी नदी के तट पर अवस्थित बतलाया है—

अहो महाभाग्यमदृष्टमश्रुतं
यथा च सौराष्ट्र भुवो महाप्रभो।
निशम्यतां रामगिरिप्रदेशतो
दिशि प्रतीच्यां शबरीनदीतटे।।

आज भी इस रामगिरि की पश्चिमी दिशा में शबरी नदी का प्रवाह है।

(च) रामगिरि की उपर्युक्त ऐतिहासिकता की पुष्टि बस्तर में प्रचलित आदिवासी लोक-गीतों से भी होती है, जिनमें रामगिरि का अनेकश: उल्लेख हुआ है। "कोर्क दहियाकरसना' के साथ गाए जाने वाले अधस्तन मुरिया लोकगीत में कृषकजीवन तथा कृषि की विविध पद्धतियों की प्रकल्पना है। इसमें यह कहा गया है कि दण्डकवन

में 'रामो' (रामगिरि) नामक पर्वत है—

दण्डपेण्डोय पेण्डोय रामो रामो
कोर्क पेहची वायकोम साँगो।
मिया वाय वाय पेहचतोरोम साँगों
कोर्क हाह वायकोम साँगो।।

(दण्डक वन में राम पहाड़ी रामगिरि
संगी, वहाँ हम वृक्ष काटने चलें।
तुम्हारे आने के पूर्व हमने काट डाला
संगी! अब कटे हुए वृक्षों को फैलाएँगे, साथ-साथ।)

(छ) बस्तर में प्राचीन काल से ही गिरिप्रकल्पक अभिधानों की परम्परा रही है। नलयुग (द्रष्टव्य—हीरालाल शुक्ल, प्राचीन बस्तर, नागपुर, 1976) के अभिलेखीय नाम कदम्बगिरि से लेकर आधुनिक लिंगागिरि (वीजापुर तहसील); सामगिरि (दन्तेवाड़ा तहसील), प्रतापगिरि (दन्तेवाड़ा तहसील), जैतागिरि (जगदलपुर तहसील) आदि अभिधानों को इस परम्परा में परिगणित किया जा सकता है। इस दृष्टि से रामगिरि अभिधान चौथी शताब्दी (नलयुग) से पूर्व का प्रतीत होता है तथा परवर्ती नाम उसी के सादृश्य पर विकसित हुए प्रतीत होते हैं।

(ज) रामगिरि को रामगिरि स्वीकार कर लेने पर प्राचीन टीकाकारों का यह मत भी सही प्रतीत होता है कि रामगिरि चित्रकूट है; क्योंकि चित्रकूट की ही शृंखला इस रामगिरि तक चली गयी है और बहुत सम्भव है कि रामायण-काल में चित्रकूट ही इसका अभिधान रहा हो।

(झ) सीतासहित राम ने पंचवटी तथा जनस्थान में चिरकाल तक निवास किया था। इस रामगिरि से पंचवटी की दूरी मात्र बासठ मील है। अतएव यहाँ 'जनकतनया' का निवास सम्भव है। इतर विद्वानों द्वारा प्रकल्पित या प्रत्यभिज्ञात 'रामगिरि' में यह वैशिष्ट्य नहीं मिलता।

(ञ) सम्प्रति इस रामगिरि को मेघदूत में वर्णित रामगिरि से समीकृत मानना चाहिए। मेघदूत में वर्णित रामगिरि-विषयक अधस्तन सभी विशेषताएँ इसमें मिलती हैं—

(i) जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु (1)
(ii) रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु (1)
(iii) आश्रमेषु (1)
(iv) तुङ्गं शैलम् (12)
(v) अद्रेः शृङ्गंहरति पवनः (14)
(vi) आश्लिष्टसानुम् (2)
(vii) धातुराग (102)
(viii) स्निग्धच्छायातरुषु (1)
(ix) स्थानादस्मात्सरसनिचुलात् (14)
(x) प्रतनुषु नदीवीचिषु (101)
(xi) सिद्धिक्षेत्र (जैनकवियों द्वारा वर्णित)।

इस प्रकार मेघदूत में वर्णित रामगिरि वर्तमान रामगिरि से भिन्न नहीं है। जो आन्ध्रप्रदेश के खम्मम जिले के भद्राचलम तालुक में स्थित है।

• • •

Part-II
Information Theoretical Data on Meghadūta

In this Part, Numbers in round brackets at the end of an entry is a reference to the serial number of phrases of the first part, so that the readers may find various forms of a word (with सुबन्त और तिङन्त) in the first part of the dictionary.

अ

-अल्पभासम् (उ. 20.3.41)
-अल्पाभि- (पू. 42.4.46)
-अल्पाभ्यसूयः (पू. 42.4.47)
अल्पाल्प- (उ. 20.3.39)
-अल्पी- (पू. 31.3.35)
-अल्पीभूते (पू. 31.3.39)
अव (13 वारम्) "अव—" पू. 18.3.55; 49.1.6; उ. 39.3.41; 48.1.9; "—अव—" पू. 14.4.50; 23.4.58; 30.3.44; 34.4.47; 38.1.12; उ. 9.2.35; 30.4.48; 47.2.14; 53.1.4
-अवकाशाम् (उ. 30.4.70)
-अवधूतैः (पू. 38.1.16)
अवनि- (उ. 27.4.49)
-अवलम्बाः (उ. 9.2.42)
-अवलेपान् (पू. 14.4.57)
-अवसितम् (उ. 53.1.8)
-अवस्थया (पू. 30.3.51)
-अवस्थासु (उ. 47.2.18)
-अवस्येत् (पू. 23.4.62)
-अवशेषाः (पू. 34.4.51)
अवि (8 वारम्) "अवि—" पू. 9.2.21; 9.2.31; 25.2.18; 37.4.40; उ. 40.3.36; 41.2.22; 51.2.20; "—अवि—" उ. 38.1.7
अविरत- (उ. 41.2.23)
अविरतोत्- (उ. 41.2.24)
अविहत- (पू. 9.2.32)
अव्या- (2 वारम्) पू. 9.2.22; उ. 40.3.37
-अशोक (उ. 17.1.2)
अश्रु- (2 वारम्) उ. 41.2.14; 45.4.63
-अंशोः (उ. 28.2.40)
असकल- (उ. 23.3.51)
असित- (उ. 51.2.13)
-असूयः (पू. 42.4.92)
-अस्त- (उ. 32.1.4)
अस्तङ्गमित- (पू. 1.2.27); प्रतिहतः (चरित्र.); अस्तङ्गमितमित्येकं पदम् (प्रदीप); 'द्वितीया' इतियोगविभागात् समासः (संजी.)
अस्तम् (2 वारम्) "अस्तम्—" पू. 1.2.24; "—अस्तम्—" उ. 23.3.43; अस्तमिति मकारान्तमव्ययमिदम् (प्रदीप, संजीवनी)
-अस्ता- (उ. 32.1.14)
-अस्ताभरणम् (उ. 32.1.15)
-अस्य (पू. 13.3.39)
-अस्यन्ती (उ. 26.2.17)
-अस्तम् (पू. 42.3.19)
-अस्त्रेण (उ. 41.2.12)
-अहम् (उ. 10.1.23)

आ

आ (94 वारम्) उपसर्ग; आ—पू. 2.3.51; 8.1.2; 8.2.27; 10.3.43; 11.3.29; 12.1.1; 12.1.9; 12.3.31; 15.3.37; 16.1.2; 16.3.56; 17.1.2; 18.2.21; 20.2.29; 21.3.31; 22.3.26; 24.2.32; 24.3.43; 26.1.2; 33.4.36; 37.1.7; 37.4.33; 38.4.48; 48.1.1; 49.3.31; 49.1.2; उ. 4.1.1; 5.1.6; 5.3.29; 5.4.54; 7.2.32; 8.2.24; 12.4.52; 15.4.43; 24.1.1; 26.3.48; 28.1.1; 30.2.19; 30.4.40; 34.3.48; 38.2.27; 39.1.2; 44.1.2; 44.3.30; 45.1.2; 46.3.27; 52.1.1; —आ—पू. 1.4.60; 3.1.7; 3.3.28; 3.4.41; 4.1.2; 4.1.10; 4.4.54; 4.4.60; 5.4.47; 6.1.7; 9.2.19; 10.3.22; 22.4.45; 23.3.36; 24.2.21; 29.2.47; 32.2.13; 36.1.8; 39.2.32; 40.2.9; 42.4.29; 44.4.40; 46.2.20; 48.3.32; 48.3.39; 39.1.7; 39.4.76; उ. 10.3.41; 10.4.68; 14.4.43; 14.4.45; 24.1.12; 13.1.7; 17.2.12; 26.3.36; 27.1.3; 31.4.40; 32.1.5; 34.2.24; 37.2.17; 40.2.19; 40.3.34; 40.4.50; 42.1.2; 45.1.25; 47.2.24; 53.2.16
आकाश- (उ. 45.1.8)
आकाशप्र- (उ. 45.1.9)
आकाशप्रणि- (उ. 45.1.10)
आकाशप्रणिहित- (उ. 45.1.11)

आकुल- (पू. 24.2.36)
आकुलग्राम- (पू. 24.2.37)
आकुला- (उ. 24.1.19)
-आख्यम् (2 वारम्) पू. 2.6.1.6; उ. 10.3.45
-आख्येयम् (उ. 42.1.6)
आगण्ड- (उ. 30.2.22)
-आगतम् (पू. 4.4.58)
-आगती- (पू. 23.3.42)
-आगतीकृत्य (पू. 23.3.43)
-आजहार (पू. 4.4.64)
-आतपम् (उ. 47.2.31)
आत्म- (2 वारम्) पू. 50.3.52; उ. 49.3.30
-आत्मा (3 वारम्) पू. 43.2.10; 46.1.12; उ. 32.4.54
आत्माभि- (उ. 49.3.33)
-आदरम् (पू. 36.1.12)
-आदित्यम् (पू. 46.4.49)
-आदिष्ट- (उ. 14.4.53)
-आदिष्टा- (उ. 14.4.54)
-आदिष्टाभरण- (उ. 14.4.55)
-आदिष्टाभरणरुचयः (उ. 14.4.56)
-आदेश- (उ. 13.1.17)
-आदेशदक्षम् (उ. 13.1.18)
-आदेशात् (2 वारम्) उ. 34.2.28; 53.2.20
-आधान- (2 वारम्) पू. 3.1.13; 10.3.32; पू. 3.1.13; उत्पादन (संज्ञी.)
-आधानक्षण- (पू. 10.3.33)
-आधानक्षणपरि- (पू. 10.3.34)
-आधानक्षणपरिचयात् (पू. 10.3.35)
-आधानहेतोः (पू. 3.1.14)
आधि- (उ. 28.1.4)
आनन- (उ. 42.2.18)
आननस्पर्श- (उ. 42.2.21)
आनन्द- (उ. 4.1.5)
आनन्दोत्- (उ. 4.1.6)
-आपणीयाः (पू. 5.2.33)
-आपन्नः (उ. 40.3.41)
-आपन्नाम् (पू. 9.2.26)
-आपाराम् (उ. 27.1.10)
-आपि (पू. 47.2.17)
-आप्त- (पू. 44.1.10)
-आप्तवानीर- (पू. 44.1.16)
-आप्तवानीरशारवम् (पू. 44.1.7)
-आप्ते (पू. 17.4.69)
-आप्य (4 वारं प्रयुक्तम्) पू. 31.1.12; 38.3.40; उ. 7.3.44; 14.4.36
-आप्यस्तबक (उ. 14.4.46)
-आप्यस्तबकनमितः (उ. 14.4.47)
आबद्ध- (पू. 10.3.46)
-आभरण- (उ. 14.4.60)
-आभरणम् (उ. 32.1.16)
-आभरणरुचयः (उ. 14.4.61)
-आभाप्यम् (उ. 40.4.54)
-आभोगात् (उ. 31.4.44)
-आमोद- (पू. 32.2.26)
-आमोदमैत्री- (पू. 32.2.27)
-आमोदमैत्रीकषायः (पू. 32.2.28)
आम्र- (पू. 17.2.44)
-आम्रैः (पू. 18.1.18)
-आरम्भम् (उ. 26.3.47)
-आरम्भे (पू. 39.3.36)
-आरम्भैः (पू. 24.2.25)
-आर्त्ताः (पू. 5.4.51)
आर्द्र- (2 वारम्) पू. 39.3.41; उ. 32.4.52
आर्द्रनाग- (पू. 39.3.45)
आर्द्रनागाजिन- (पू. 39.3.46)
आर्द्रान्तर- (उ. 32.4.55)
-आर्द्रैः (पू. 46.2.30)
-आलम्बन- (पू. 4.1.20) धारण (चरित्र.)
-आलम्बनार्थी (पू. 4.1.21)
-आलम्बेथाः (पू. 48.3.36)
-आलम्भजाम् (पू. 48.3.47)
-आलापाः (उ. 10.4.72)
-आलिङ्गनानाम् (उ. 9.1.23)
-आलिङ्गितानि (पू. 22.4.67)

-आलुम्पन्ति (उ. 9.4.80)
-आलोके (2 वारम्) पू. 3.3.32; 40.2.13; पू. 3.3.32 दर्शने (चरित्र. संजी.) 'आलोके दर्शने धातौ भेरीपटहमानकावित्यमरः' (चरित्र.)
-आवर्त्त- (पू. 29.2.53)
-आवर्त्तकानाम् (पू. 6.1.11)
-आवर्त्तनाभेः (पू. 29.2.54)
आविः- (पू. 21.2.10)
आविर्भूत- (पू. 21.2.14)
आविर्भूतप्रथम- (पू. 21.2.15)
-आवृत्तः (पू. 42.4.33)
आशा- (पू. 9.3.41)
-आशाम् (पू. 28.1.10)
-आश्रम- (उ. 40.2.29)
-आश्रमस्थः (उ. 40.2.30)
-आश्रमेषु (पू. 1.4.63) अत एवैकत्रानवस्थानं सूचितमा श्रमेष्विति बहुवचनेन (मल्लि.) मुनिगृहाः (चरित्र.)
आश्लिष्ट- (पू. 2.3.54) आलिङ्गित (चरित्र.), आक्रान्त (संजी.)
-आश्लेष- (2 वारम्) पू. 3.4.49; उ. 45.1.35; आलिङ्गन (चरित्र., सजी.)
-आश्लेषप्र- (पू. 3.4.50)
-आश्लेषप्रणयिनि (पू. 3.4.51)
-आश्लेषहेतोः (उ. 45.1.36)
-आश्वस्ताम् (उ. 37.2.21)
-आस- (उ. 13.3.38)
-आसन्ने (पू. 40.1.6)
-आसन्नौ (उ. 17.2.16)
-आसयोग्यम् (उ. 13.3.49)
आसार- (पू. 17.1.19)
आसारप्र- (पू. 17.1.10)
आसारप्रशमित- (पू. 17.1.11)
आसारप्रशमितवन- (पू. 17.1.12)
आसारप्रशमितवनोप- (पू. 17.1.13)
-आसारैः (पू. 46.2.24)
-आसैः (पू. 38.1.3)
-आस्ते (उ. 18.4.61)
-आस्य (उ. 36.2.16)
-आस्वादः (पू. 44.4.44)

इ

इच्छा- (उ. 28.3.48)
-इच्छाम् (पू. 39.3.44)
-इत- (पू. 41.4.46)
-इतस्य- (पू. 30.1.18)
-इतार्थ- (पू. 41.4.56)
-इतार्थकृत्याः (पू. 41.4.57)
इत्थम्- (उ. 33.2.13)
-इत्य (2 वारम्) पू. 12.3.32; उ. 5.1.7.
इन्द्र (3 वारम्) इन्द्र—उ. 16.1.7; इन्द्र—पू. 49.4.43; उ. 1.1.8.
-इन्द्रचापम् (उ. 1.1.12)
-इन्द्रनीलम् (पू. 49.4.50)
इष्ट- (उ. 4.2.27)
इष्टसम्- (उ. 4.2.31)
इष्टसंयोग- (उ. 4.2.32)

ई

-ईक्षणा (उ. 21.2.21)
-ईक्षणीयः (उ. 16.2.17)
-ईक्षणीयम् (पू. 2.4.63)
-ईक्षणीयाम् (पू. 18.3.44)
-ईक्षणे (उ. 43.1.6)
-ईक्षमाणः (पू. 22.1.13)
-ईक्षया (पू. 17.3.54)
-ईक्षितानि (पू. 43.4.48)
-ईक्षिष्यन्ते (2 वारम्) पू. 8.2.19; 49.3.25
-ईक्षेत (पू. 8.3.46)
-ईक्ष्य (3 वारम्) उ. 15.4.59; 16.4.37; 39.2.31
-ईक्ष्यम् (पू. 15.1.18)
-ईक्ष्यमाणः (पू. 36.1.14)
ईप्सित- (उ. 53.4.44)

ईप्सितार्थ- (उ. 53.4.47)
-ईरणा- (उ. 7.4.59)
-ईशानाम्- (उ. 4.4.62)
-ईश्वरस्य (पू. 36.2.21)
-ईश्वराणाम् (पू. 7.3.38)

उ

-उक्तम् (उ. 53.4.37)
-उचित: (उ. 35.3.32)
-उचित- (उ. 54.1.5)
-उचितप्र- (उ. 54.1.13)
-उचितप्रार्थना- (उ. 54.1.14)
-उचितप्रार्थनावर्त्तिन: (उ. 54.1.15)
-उच्छून- (उ. 23.1.21)
-उच्छूननेत्रम् (उ. 23.1.22)
-उच्छ्वसित- (3 वारम्) पू. 45.1.35; उ. 7.1.13; 39.2.27
-उच्छ्वसितवसुधा- (पू. 45.1.36)
-उच्छ्वसिलवसुधागन्ध- (पू. 45.1.37)
-उच्छ्वसितवसुधागन्धसम्- (पू. 45.1.38)
-उच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्क- (पू. 45.1.39)
-उच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्य: (पू. 45.1.40)
-उच्छ्वसितशिथिलम् (उ. 7.1.24)
-उच्छ्वसितहृदया (उ. 39.2.28)
-उच्छ्वासम् (उ. 41.3.40)
-उच्छ्वासित- (उ. 9.1.18)
-उच्छ्वासिता (उ. 9.1.19)
-उच्छ्वासितालिङ्गनानाम् (उ. 9.1.20)
-उच्छ्वासिना (उ. 41.3.50)
उष्ण- (उ. 41.3.35)
-उष्णा (उ. 6.2.16)
उष्णोत्- (उ. 41.3.38)
-उषितानाम् (उ. 38.6.39)
उत् (49 वारम्) उत्—पू. 11.1.8; 14.1.9; 14.3.34; 23.1.1; 26.4.63; 33.3.31; 34.2.16; 48.1.12; 50.1.2; उ. 3.1.2; 8.2.37; 10.2.28; 25.1.1; 25.2.36; 27.4.46; 31.1.23; 37.1.2; 39.1.10; 39.2.15; 41.2.32; 42.4.39; 43.3.25; 49.1.8; —उत्—पू. 7.4.41; 14.2.13; 16.3.46; 19.2.20; 22.4.35; 26.3.39; 28.2.13; 40.4.38; 45.1.4; 50.2.28; उ. 3.3.33; 4.1.3; 7.1.3; 9.1.5; 11.1.2; 14.2.17; 20.4.65; 22.3.23; 23.1.6; 30.4.45; 32.2.23; 39.2.17; 41.2.20; 41.3.36; 41.3.43; 52.2.33
उत्कण्ठ- (उ. 39.2.20)
-उत्कण्ठम् (उ. 41.2.31)
उत्कण्ठा- (उ. 42.4.44)
-उत्कण्ठा: (उ. 3.3.37)
-उत्कण्ठाम् (उ. 22.3.27)
उत्कण्ठावि- (उ. 42.4.45)
उत्कण्ठाविरचित- (उ. 42.4.46)
उत्कण्ठोत्- (उ. 39.2.21)
उत्कण्ठोच्छ्वसित- (उ. 39.2.22)
-उत्कम्पात् (उ. 11.1.6)
-उत्कम्पानि (पू. 22.4.39)
-उत्कषण- (पू. 16.3.52)
-उत्कषणसुरभि (पू. 16.3.53)
-उत्का: (पू. 11.2.27)
-उत्क्षेपात् (पू. 50.2.32)
-उत्खात- (उ. 52.2.48)
-उत्खातकूटात् (उ. 52.2.49)
उत्तम- (उ. 5.2.23)
उत्तमस्त्री- (उ. 5.2.26)
उत्तर- (पू. 28.1.9)
-उत्थम् (उ. 4.1.10)
-उत्पलानाम् (पू. 27.3.36)
-उत्पीड- (उ. 30.4.61)
-उत्पीडरुद्ध- (उ. 30.4.62)
-उत्पीडरुद्धाव- (उ. 30.4.63)
-उत्पीडरुद्धावकाशम् (उ. 30.4.64)
-उत्सङ्ग- (पू. 28.2.25)
-उत्सङ्गप्र- (पू. 28.2.26)
-उत्सङ्गप्रणय- (पू. 28.2.27)

-उपहार: (पू. 35.2.38)
उपरि- (2 वारम्) पू. 50.2.33; उ. 34.3.52
उपरिवि- (पू. 50.2.40)
उपरिविलसत्- (पू. 50.2.41)
उपरिविलसत्कृष्ण- (पू. 50.2.42)
उपरिविलसत्कृष्णसार- (पू. 50.2.43)
उपरिविलसत्कृष्णसारप्र- (पू. 50.2.44)
-उपान्तः (पू. 18.1.6)
उपान्त (2 वारम्) उपान्त—उ. 16.4.43; —उपान्त—पू. 25.3.34
-उपान्तस्तनित- (पू. 25.3.35)
-उपान्तस्तनितसु- (पू. 25.3.36)
-उपान्तस्तनितसुभगम् (पू. 25.3.37)
उपान्तस्फुरित- (उ. 16.4.44)
-उपान्ते (उ. 19.2.16)
-उपेत- (पू. 41.4.53)
-उपेतार्थ- (पू. 41.4.54)
-उपेतार्थकृत्याः (पू. 41.4.55)
उल्लंघित- (पू. 48.1.15)

ऊ

-ऊढ- (2 वारम्) पू. 26.2.27; उ. 18.2.20
-ऊढपुष्पैः- (पू. 26.2.31)
-ऊढवंशः (उ. 18.2.39)
-ऊढवंशप्र- (उ. 18.2.40)
-ऊढवंशप्रकाशैः (उ. 18.2.41)
-ऊर्मि- (पू. 25.4.58)
-ऊष्माभिः (उ. 47.4.50)

ऋ

-ऋता (पू. 5.4.48)

ए

एक (4 वारम्) एक—पू. 9.1.14; उ. 31.4.48; 48.3.27; —एक—उ. 28.1.16
-एकपार्श्वाम् (उ. 28.1.27)
-एति (पू. 37.2.21)
-एष्टव्यैः (उ. 6.3.19)

ओ

-ओष्ठम् (उ. 23.2.34)
-ओष्ठी (उ. 21.1.9)

क्

कः—(पू. 1.1.1.) सर्वनम, पुँ.; किम्+सु;
ककुभ- (पू. 23.2.17)
-कच्छम् (पू. 21.2.23)
कट- (पू. 38.4.62)
कठिन- (उ. 31.4.45)
-कण- (पू. 48.2.22)
-कणभयात् (पू. 48.2.26)
-कणिका- (2 वारम्) उ. 8.2.29; 37.1.7
-कणिकादोषम् (उ. 8.2.36)
-कणिकाशीतलेन (उ. 37.1.14)
-कणैः (पू. 27.2.22)
-कण्ठः (उ. 18.4.70)
-कण्ठ- (5 वारम्) कण्ठ—पू. 3.4.40; 36.1.2; 36.4.43; 50.1.7; —कण्ठ—उ. 39.2.16; कण्ठ—
कण्ठच्युत- (उ. 36.4.48)
कण्ठच्युतभुज- (उ. 36.4.49)
कण्ठच्युतभुजलता- (उ. 36.4.50)
-कण्ठम् (उ.41.2.21)
कण्ठा (3 वारम्) कण्ठा—पू. 3.4.45; —कण्ठा—उ. 22.3.24; 42.4.40.
-कण्ठाम् (उ. 22.3.24)
-कण्ठावि- (उ. 42.4.48)
-कण्ठाविरचित- (उ. 42.4.49)
-कण्ठाविरचितपदम् (उ. 42.4.50)
कण्ठाश्लेष- (पू. 3.4.46)
कण्ठाश्लेषप्र- (पू. 3.4.47)

-कण्ठितेन (उ. 41.2.33) कृदन्त
-कण्ठैः (उ. 10.1.26)
-कण्ठोत्- (उ. 39.2.24)
-कण्ठोच्छ्वसित- (उ. 39.2.25)
-कण्ठोच्छ्वसितहृदया (उ. 39.2.26)
कति- (पू. 2.1.3)
कतिपय- (पू. 24.4.77)
कतिपयदिन- (पू. 24.4.81)
कतिपयदिनस्थायि- (पू. 24.4.82)
कथम्- (3 वारम्) पू. 3.1.3; उ. 25.3.38; 36.3.39
-कथा- (पू. 31.1.6)
-कथाकोविद- (पू. 31.1.14)
-कथाकोविदग्राम- (पू. 31.1.15)
-कथाकोविदग्रामवृद्धान् (पू. 31.1.16)
-कथाम् (उ. 22.1.5)
-कथिते (उ. 20.2.20) कृदन्त
-कदली- (2 वारम्) उ. 16.2.14; 35.4.44
-कदलीवेष्टन- (उ. 16.2.22)
-कदलीवेष्टनप्र- (उ. 16.2.23)
-कदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः (उ. 16.2.24)
-कदलीस्तम्भ- (उ. 35.4.54)
-कदलीस्तम्भगौरः (उ. 35.4.55)
कनक- (5 वारम्) पू. 2.2.25; 40.2.25; उ. 6.3.21; 11.2.17; 16.2.13; पू. 2.2.25; हेम (चरित्र.)
कनककदली- (उ. 16.2.18)
कनककदलीवेष्टन- (उ. 16.2.19)
कनककदलीवेष्टनप्र- (उ. 16.2.20)
कनकनि- (पू. 40.3.29)
कनकनिकष- (पू. 40.3.30)
कनकवलय- (पू. 2.2.31) कनकस्य हेम्नो वलयानि कङ्कणानि (चरित्र.); कनकस्य वलयः कटकं (संजी.)
कनकवलयभ्रंश- (पू. 2.2.32)
कनकवलयभ्रंशरिक्त- (पू. 2.2.33)
कनकवलयभ्रंशरिक्तप्र- (पू. 2.2.34)
कनकसिकता- (उ. 6.3.27)
कनकसिकतामुष्टि- (उ. 6.3.28)
कनकसिकतामुष्टिनि- (उ. 6.3.29)
कनकसिकतामुष्टिनिक्षेप- (उ. 6.3.30)
-कपिशम् (पू. 21.1.14)
कमल (3 वारम्) कमल—पू. 42.3.21; —कमल— पू. 32.2.12; उ. 13.3.36
-कमलनि- (उ. 13.3.44)
-कमलन्यास- (उ. 13.3.45)
-कमलन्यासयोग्यम् (उ. 13.3.46)
-कमलम् (उ. 2.1.3)
-कमला- (पू. 32.2.22)
-कमलामोद- (पू. 32.2.23)
-कमलामोदमैत्री- (पू. 32.2.24)
-कमलामोदमैत्रीकषायः (पू. 32.2.25)
-कमलिनीम् (उ. 29.4.47)
-कमलैः (2 वारम्) उ. 11.2.18; 15.2.22
-कम्पात् (उ. 11.1.3)
-कम्पानि (पू. 22.4.36)
-करः (पू. 15.1.5)
कर (6 वारम्) कर—पू. 42.4.35; 44.1.5; उ. 35.1.4; —कर—पू. 38.4.53; 50.3.88; उ. 14.1.5
-करणैः (पू. 5.2.27)
-करश्रीः (पू. 50.3.49)
-करश्रीमुषाम् (पू. 50.3.50)
-करश्रेणि- (पू. 38.4.59)
-करश्रेणिदीर्घान् (पू. 38.4.60)
-करहय- (उ. 14.1.11)
-करहयस्पर्धिनः (उ. 14.1.12)
करुणा- (उ. 32.4.49)
-करेषु (उ. 7.2.25)
कर्ण (2 वारम्) कर्ण—उ. 11.2.20; —कर्ण—पू. 27.3.35
कर्णवि- (उ. 11.2.23)
-कर्णोत्पलानाम् (पू. 27.3.64)
-कर्त्तुम् (2 वारम्) पू. 43.4.41; उ. 40.1.9
-कलत्रः (पू. 41.2.22)
कलभ- (उ. 20.1.3)
-कलम् (3 वारम्) पू. 25.2.17; 32.1.6; 37.4.39
-कलहात् (उ. 4.3.42)

कला- (उ. 28.2.33)
-कलापा: (उ. 3.3.43)
कलामात्र- (उ. 28.2.36)
कल्प- (2 वारम्) उ. 5.3.36; 13.4.61
कल्पवृक्ष- (उ. 5.3.40)
कल्पवृक्षप्र- (उ. 5.3.41)
-कल्पान् (उ. 13.2.30)
कल्पित- (पू. 4.3.38) दत्त (चरित्र.); अनुष्ठित (संजी.)
-कल्पौ (उ. 41.4.55)
-कष- (पू. 40.3.27)
-कषण- (पू. 16.3.47) कृदन्त
-कषणसुरभि (पू. 16.3.54)
-कषस्निग्धया (पू. 40.3.34)
-कषाय: (पू. 32.2.16)
कस्याम्- (पू. 41.1.2)
-काङ्क्षन्तीम् (उ. 30.4.41) कृदन्त
काञ्चनी- (उ. 18.2.8)
काञ्चनीवास- (उ. 18.1.11)
-काञ्ची- (पू. 29.1.17)
-काञ्चीगुणाया: (पू. 29.1.36)
कानन- (2 वारम्) पू. 18.1.17; 45.4.88
कान्त- (उ. 39.4.46)
कान्ता- (पू. 1.1.4) संज्ञा, स्त्री.; कामि+क्त+टाप्; वल्लभा (चरित्र.)
-कान्ता: (उ. 9.4.92)
-कान्तावि- (पू. 1.1.8)
कान्ताविरह- (पू. 1.1.9)
-कान्ते (उ. 23.4.63)
काम- (2 वारम्) पू. 5.4.46; 6.2.20
कामा (3 वारम्) कामा—पू. 5.4.49; —कामा पू. 6.4.47; उ. 25.2.28
कामि- (उ. 12.3.45)
-कार: (पू. 32.4.55)
-कार- (पू. 35.1.15)
-कारधूपै: (35.1.22)??
-कारात् (पू. 1.1.16)
काल- (पू. 23.2.14)
-काश- (उ. 45.1.3)
-काशप्र- (उ. 45.1.13)
-काशप्रणि- (उ. 45.1.14)
-काशप्रणिहित- (उ. 45.1.15)
-काशप्रणिहितभुजाम् (उ. 45.1.16)
-काशाम् (उ. 30.4.49)
-काशै: (उ. 18.2.23)
किम् (4 वारम्) 14.1.5; 16.4.60; 44.1.2; उ. 39.4.58
-किसलय: (उ. 17.1.5)
किसलय (3 वारम्) किसलय—उ. 46.1.3; —किसलय—पू. 11.3.33; उ. 30.1.5
-किसलयक्लेशिना (उ. 30.1.9)
-किसलयच्छेद- (पू. 11.3.39)
-किसलयच्छेदपाथेयवन्त: (पू. 11.3.40)
-किसलयेषु (उ. 45.4.61)
-कुञ्ज- (पू. 20.2.14)
-कुञ्जप्रति- (पू. 20.2.22)
-कुञ्जप्रतिहत- (पू. 20.2.23)
-कुञ्जप्रतिहतरयम् (पू. 20.2.24)
-कुञ्जे (पू. 19.1.7)
कुटज- (पू. 4.3.35)
कुन्द (3 वारम्) कुन्द—पू. 50.3.83; —कुन्द—उ. 21.1.7; 52.4.81
कुन्दक्षेप- (पू. 50.3.91)
कुन्दक्षेपानु- (पू. 50.3.92)
कुन्दक्षेपानुग- (पू. 50.3.93)
कुन्दक्षेपानुगमधु- (पू. 50.3.94)
कुन्दक्षेपानुगमधुकर- (पू. 50.3.95)
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्री- (पू. 50.3.96)
-कुन्दप्र- (उ. 52.4.89)
-कुन्दप्रसव- (उ. 52.4.90)
-कुन्दप्रसवशिथिलम् (उ. 52.4.91)
-कुन्दानु- (उ. 2.1.13)
-कुन्दानुविद्धम् (उ. 2.1.14)
-कुपिताम् (उ. 44.1.7)
कुमुद- (पू. 43.3.30)
कुमुदवि- (पू. 43.3.34)

कुरवक- (उ. 17.2.17)
-कुरवकम् (उ. 2.3.34)
-कुर्वन् (2 वारम्) पू. 32.1.2; 50.4.56
-कुल- (पू. 24.2.33)
-कुलग्राम- (पू. 24.2.39)
-कुलग्रामचैत्याः- (पू. 24.2.40)
-कुला (उ. 24.1.13)
कुवलय (3 वारम्) कुवलय—पू. 47.2.14; 36.3.34; —कुवलय—उ. 34.4.63
कुवलयदल- (पू. 47.2.18)
कुवलयदलप्र- (पू. 47.2.19)
कुवलयरजः- (पू. 36.3.37)
-कुवलयश्री- (उ. 34.4.67)
-कुवलयश्रीतुलाम् (उ. 34.4.70)
कुसुम (4 वारम्) कुसुम—पू. 9.3.44; 35.3.41; उ. 4.2.21; —कुसुम—उ. 35.2.94
-कुसुमरचितानि (उ. 5.2.21)
कुसुमशर- (उ. 4.2.24)
-कुसुमैः (पू. 4.3.36)
-कुशलमयीम् (पू. 4.2.25) क्षेमप्रधानाम् (संजी.)
-कुशलैः (उ. 52.3.59) क्षेम (संजी.)
-कूटः (पू. 17.2.45)
-कूटात् (उ. 52.2.35)
-कूलः (2 वारम्) पू. 10.1.7; 32.3.43
कृत (3 वारम्) कृत—उ. 15.3.32; —कृत—पू. 17.3.52; 46.1.11
कृतक- (उ. 14.3.28)
-कृतात्मा (पू. 46.1.18)
-कृताप- (पू. 17.3.62)
-कृतापेक्षया (पू. 17.3.63)
-कृति- (4 वारम्) पू. 5.4.54; 6.2.15; 43.2.14; उ. 8.4.55
-कृतिकृपणाः (पू. 5.4.58)
-कृतिनिपुणाः- (उ. 8.4.71)
-कृतिपुरुषम् (पू. 6.2.19)
-कृतिसु- (पू. 43.2.20)
-कृतिसुभगः (पू. 43.2.21)
-कृत्य (पू. 23.3.38)
-कृत्यम् (उ. 53.1.11)
-कृत्याः (पू. 41.4.48)
-कृपणाः (पू. 5.4.55)
कृषि- (पू. 16.1.5)
-कृष्टम् (उ. 15.3.38)
-कृष्ण- (पू. 50.2.36)
-कृष्णसार- (पू. 50.2.77)
-कृष्णसारप्र- (पू. 50.2.78)
-कृष्णसारप्रभाणाम् (पू. 50.2.79)
केका- (उ. 3.3.32)
केकात्- (उ. 3.3.35)
केश- (पू. 35.1.13)
केशसम्- (पू. 35.1.17)
केशसंस्कार- (पू. 35.1.18)
-कैलासात् (पू. 11.3.30)
-कोविद- (पू. 31.1.7)
-कोविदग्राम- (पू. 31.1.17)
-कोविदग्रामवृद्धान् (पू. 31.1.18)
-कोष्ठः (पू. 2.2.30)
कौतुक- (पू. 3.1.6); कुतुक—(चरित्र.); अभिलाषा (संजी.); मनोरथ (प्रदीप)
कौतुका- (पू. 3.1.10)
कौतुकाधान- (पू. 3.1.11) कुतकानां आधानम् (चरित्र.) अभिलाषोत्पादन (संजी.)
-कौतूहलानाम् (पू. 50.4.61)
-क्रमेण (उ. 48.4.38)
-क्रमेथाः (उ. 37.4.51) तिङन्त
-क्रान्तः (उ. 43.3.26) कृदन्त
-क्रिया (उ. 53.4.46)
-क्रीडन्ते (उ. 6.4.43) तिङन्त;
क्रीडा (4 वारम्) क्रीडा—उ. 16.2.10; 20.2.16; —क्रीडा—पू. 2.4.59; 36.4.42; पू. 2.4.59; विदारण—(चरित्र.); केलि (संजी.)
-क्रीडानिरत- (पू. 36.4.55)
-क्रीडानिरतयुवति- (पू. 36.4.56)
-क्रीडानिरतयुवतिस्नान- (पू. 36.4.57)

-क्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः (पू. 36.4.58)
-क्रीडापरि- (पू. 2.4.70)
-क्रीडापरिणत- (पू. 2.4.71)
-क्रीडापरिणतगज- (पू. 2.4.73)
-क्रीडापरिणतगजप्र- (पू. 2.4.74)
-क्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम् (पू. 2.4.75)
-क्रोध- (पू. 7.2.19)
-क्रोधवि- (पू. 7.2.29)
-क्रोधविश्लेषितस्य (पू. 7.2.30)
-क्रोश- (उ. 54.2.27)
-क्रोशबुद्ध्या (उ. 54.2.31)
-क्लवाः (पू. 40.4.54)
क्लान्त (2 वारम्) क्लान्त—पू. 38.2.28; —क्लान्त—पू. 27.3.34
-क्लान्तकर्ण- (पू. 27.3.62)
-क्लान्तकर्णोत्पलानाम् (पू. 27.3.63)
-क्लिष्ट- (उ. 23.4.62) कृदन्त
-क्लिष्टकान्तेः (उ. 23.4.73)
-क्लिष्टाम् (उ. 31.3.27) कृदन्त
-क्लेशिना (उ. 30.1.6)
क्व- (उ. 43.4.42)
क्वणित- (पू. 38.1.7)
क्षण (2 वारम्) क्षण—पू. 27.4.68; —क्षण—पू. 10.3.24.
क्षणपरि- (2 वारम्) क्षणपरि—पू. 24.4.71; —क्षणपरि—पू. 10.3.19
-क्षणपरिचयात् (पू. 10.3.40)
-क्षय्य- (उ. 10.1.2)
-क्षय्यान्तर- (उ. 10.1.12)
-क्षय्यान्तर्भवन- (उ. 10.1.13)
-क्षय्यान्तर्भवननि- (उ. 10.1.14)
-क्षय्यान्र्भवननिधयः (उ. 10.1.15)
क्षाम- (उ. 19.3.25)
-क्षामाम् (उ. 28.1.3)
-क्षिपत्सु (उ. 7.2.33)
-क्षिपन्तीम् (उ. 30.1.11)
-क्षिप्य (उ. 25.1.10)
-क्षिप्येत (उ. 47.1.2)
-क्षीर- (उ. 46.2.14)
-क्षीरस्रुति- (उ. 46.2.20)
-क्षीरस्रुतिसुरभयः- (उ. 46.2.21)
-क्षेप- (2 वारम्) पू. 50.3.84; उ. 6.3.25
-क्षेपगूढैः (उ. 6.3.41)
-क्षेपम् (पू. 23.2.15)
क्षेपात् (पू. 50.2.29)
क्षेपानु- (पू. 50.3.98)
क्षेपानुग- (पू. 50.3.99)
क्षेपानुगमधु- (पू. 50.3.100)
क्षेपानुगमधुकर- (पू. 50.3.101)
-क्षेपानुगमधुकरश्री- (पू. 50.3.102)
-क्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम् (पू. 50.3.103)
-क्षोभ- (पू. 29.1.2)
-क्षोभस्तनित- (पू. 29.1.16)
-क्षोभस्तनितविह- (पू. 29.1.17)
-क्षोभस्तनितविहग- (पू. 29.1.18)
-क्षोभस्तनितविहगश्रेणि- (पू. 29.1.19)
-क्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्ची- (पू. 29.1.20)
-क्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः (पू. 29.1.21)
-क्षोभात् (उ. 34.4.60) कृदन्त

ख्

ख- (उ. 20.4.42)
-खचित- (पू. 38.2.19)
-खचितवलिभिः (पू. 38.2.26)
-खण्डम् (पू. 15.2.29)
खद्योत- (उ. 20.4.48)
खद्योताली- (उ. 20.4.49)
खद्योतालीवि- (उ. 20.4.50)
खद्योतालीविलसित- (उ. 20.4.51)
-खात- (उ. 52.2.34)
-खातकूटात् (उ. 52.2.50)
खिन्न- (पू. 41.2.19)
खिन्नवि- (पू. 41.2.23)
खिन्नविद्युत्- (पू. 41.2.24)

-खेदम् (पू. 35.3.45)
-ख्यम् (2 वारम्) पू. 26.1.3; उ. 10.3.42
-ख्याते (उ. 39.1.3)
-ख्याम् (उ. 19.4.46)
-ख्येयम् (उ. 42.1.3)

ग्

-ग- (2 वारम्) पू. 29.1.5; 50.3.86
गगन- (पू. 49.3.27)
-गङ्गा- (पू. 46.2.28)
-गङ्गाजल- (पू. 46.2.34)
-गङ्गाजलार्द्रैः (पू. 46.2.35)
-गज- (2 वारम्) पू. 2.4.61; 20.1.4; 2.4.61—गज
-गजप्र- (पू. 2.4.82)
-गजप्रेक्षणीयम् (पू. 2.4.83)
-गजमदैः (पू. 20.1.8)
-गणनया (पू. 22.2.19)
-गणना- (पू. 9.1.5)
-गणनातत्- (पू. 9.1.11)
-गणनातत्पराम् (पू. 9.1.12)
-गणयन् (2 वारम्) पू. 5.3.39; उ. 48.1.5
-गणितम् (उ. 49.3.24)
गण्ड (3 वारम्) गण्ड—पू. 27.3.29; उ. 31.4.39; —गण्ड—30.2.20
-गण्डलम्बम् (उ. 30.2.24)
गण्डस्वेद- (पू. 27.3.37)
गण्डस्वेदाप- (पू. 27.3.38)
गण्डस्वेदापनयन- (पू.. 27.3.39)
गण्डस्वेदापनयनरुजा- (पू. 27.3.40)
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्त- (पू. 27.3.41)
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्ण- (पू. 27.3.42)
गण्डा- (उ. 31.4.42)
-गत- (उ. 15.4.48)
-गतम् (3 वारम्) पू. 4.4.55; 17.2.36; उ. 38.2.38
-गतयः (पू. 49.3.28)
-गतशुचः (उ. 15.4.55)
गतिः- (3 वारम्) पू. 9.2.30; 16.4.66; 19.2.23
-गति (उ. 11.1.1)
-गतिना (उ. 8.1.7)
-गती- (पू. 23.3.37)
-गतीकृत्य (पू. 23.3.44)
-गत्या (उ. 35.2.22)
गत्युत्- (उ. 11.1.4)
-गन्ध- (पू. 45.1.7)
-गन्धसम्- (पू. 45.1.50)
-गन्धसम्पर्क- (पू. 45.1.51)
-गन्धसम्पर्करभ्यः (पू. 45.1.52)
-गमधु- (पू. 50.3.109)
-गमधुकर- (पू. 50.3.110)
-गमधुकरश्री- (पू. 50.3.111)
-गमधुकरश्रीमुषाम् (पू. 50.3.112)
-गमम् (उ. 44.4.40)
-गमात् (उ. 39.4.56)
-गमे (उ. 18.4.65)
-गन्तून् (पू. 33.4.37)
-गन्धः (पू. 10.2.19)
-गन्धिभिः (पू. 36.3.36)
-गम- (2 वारम्) उ. 2.4.43; 9.3.47
-गमजम् (उ. 2.4.50)
-गमना (उ. 21.3.35)
-गमवि- (उ. 9.3.68)
-गमविशदैः (उ. 9.3.69)
-गमित- (पू. 1.2.28)
-गमितमहिमा (पू. 1.2.29)
-गम्यम् (उ. 24.2.32)
-गम्भीर- (2 वारम्) उ. 1.2.26; 5.4.47
-गम्भीरघोषम् (उ. 1.2.30)
-गम्भीरध्वनिषु (उ. 5.4.51)
-गर्भः (उ. 37.3.30)
गर्भ- (पू. 10.3.21)
गर्भा- (पू. 10.3.27)
गर्भाधान- (पू. 10.3.28)
गर्भाधानक्षण- (पू. 10.3.29)

गर्भाधानक्षणपरि- (पू. 10.3.30)
-गलित- (उ. 31.2.16)
-गलितशुचा (उ. 31.2.20)
-गश्रेणी- (पू. 29.1.31)
-गश्रेणीकाञ्ची- (पू. 29.1.32)
-गश्रेणीकाञ्चीगुणाया: (पू. 29.1.33)
गाढ- (4 वारम्) उ. 22.3.22; 36.4.58; 41.1.7; 47.4.49
गाढोत्- (उ. 22.3.25)
गाढोप- (उ. 36.4.61)
-गातु- (उ. 25.2.27)
-गातुकामा (उ. 25.2.31)
-गायद्भि: (उ. 10.2.29)
-गार- (उ. 8.4.53)
-गारानु- (उ. 8.4.66)
-गारानुकृति- (उ. 8.4.67)
-गारानुकृतिनिपुणा: (उ. 8.4.68)
-गारिभि: (पू. 26.3.40)
-गिरि: (पू. 33.3.28)
-गिरि- (2 वारम्) पू. 1.4.59; उ. 40.2.18
-गिर्या- (2 वारम्) पू. 1.4.65; उ. 40.2.26
-गिर्याश्रम- (उ. 40.2.27)
-गिर्याश्रमस्थ: (उ. 40.2.28)
-गिर्याश्रमेषु (पू. 1.4.66)
-गीताय (उ. 1.2.17)
-गीर्णै: (पू. 35.1.3)
-गुटिकान् (पू. 34.1.4)
-गुणम् (पू. 49.4.37)
-गुणाया: (पू. 29.1.8)
-गुणे (पू. 6.4.42)
-गुरुणा (पू. 1.1.7) विशेषण, पुं.; दुर्भरेण (मल्लि.); दुस्तरेण (मल्लि.); दुर्वहेण (चरित्र.); 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णव: (मल्लि.)
-गुरुभि: (2 वारम्) पू. 47.4.44; उ. 29.3.37
गुरुतर- (उ. 27.2.23)
-गुरो: (पू. 36.2.20)
-गूढम् (उ. 36.4.60)
-गूढै: (उ. 6.3.26)
गृह- (पू. 24.2.26)
गृहबलि- (पू. 24.2.29)
-गृहान्- (उ. 14.1.5)
-गृहीत- (पू. 8.1.9)
-गृहीतालक- (पू. 8.1.15)
-गृहीतालकान्ता: (पू. 8.1.16)
-गेहिन्या (उ. 16.3.29)
गो- (पू. 15.4.46)
-गोत्र- (उ. 25.2.14)
-गोत्राङ्कम् (उ. 25.2.18)
गोप- (पू. 15.4.49) कृदन्त
-गौर: (उ. 35.4.43)
-ग्रन्थि (उ. 36.4.47)
-ग्रहण- (2 वारम्) पू. 22.1.3; 47.4.43; कृदन्त
-ग्रहणगुरुभि: (पू. 47.4.47)
-ग्रहणचतुरान् (पू. 22.1.10)
-ग्राम- (2 वारम्) पू. 24.2.34; 31.1.8
-ग्रामचैत्या: (पू. 24.2.41)
-ग्रामवृद्धान् (पू. 31.1.19)
-ग्लानिम् (2 वारम्) पू. 32.3.37, उ. 9.2.25

घ्

-घोषम् (उ. 1.2.27)
-घ्राय (पू. 21.3.32)

च्

चकित- (3 वारम्) पू. 14.2.18; उ. 21.2.18; 43.1.3
-चकितम् (पू. 14.2.19)
चकितहरिणी- (2 वारम्) उ. 21.2.22; 43.1.7
चकितहरिणीप्र- (2 वारम्) उ. 21.2.23; 43.1.8
-चकितै: (पू. 28.3.48)
चक्र- (उ. 48.4.36)
चक्रनेमि- (उ. 48.4.39)
चटुल- (2 वारम्) पू. 43.4.43; उ. 47.3.35
चटुलशफर- (पू. 43.4.49)

छ्

-छद्मना (उ. 17.4.44)
छन्न- (पू. 18.1.1) कृदन्त
छन्नोप- (पू. 18.1.4)
-छविः (पू. 36.1.3)
-छायम् (उ. 19.3.26)
छाया (8 वारम्) छाया—पू. 27.4.65; 43.2.9; —छाया—पू. 1.4.52; 15.1.2; 24.1.2; उ. 5.2.13; पू. 38.2.18; —छाया—पू. 30.2.22; 1.4.52—अनातपः (चरित्र.); नमेरु [वृक्षः] (संजीवनी)
-छायाकुसुम- (उ. 5.2.19)
-छायाकुसुमरचितानि (उ. 5.2.20)
-छायारवचित- (पू. 38.2.24)
-छायारवचितवलिभिः (पू. 38.2.26)
-छायातरुषु (पू. 1.4.56) छायाप्रचुरास्तरवः (प्रदीप); अनातपप्रधानास्तरवः (चरित्र.) नमेरु वृक्षा येषु तेषु, छायावृक्षो नमेरुः स्यात् इति च शब्दार्णवे (मल्लि.)
-छायाम् (उ. 43.2.17)
-छायावि- (पू. 15.1.10)
-छायाव्यति- (पू. 15.1.11)
-छायाव्यतिकरः (पू. 15.1.12)
-छायोप- (पू. 24.1.10)
-छायोपवन- (पू. 24.1.11)
-छायोपवनवृतयः (पू. 24.1.12)
-छिन्न (उ. 11.3.33) कृदन्त
-छिन्नसूत्रैः (उ. 11.3.44)
-छेद- (पू. 11.3.34)
-छेदपाथेयवन्तः (पू. 11.3.41)
-छेदैः (2 वारम्) पू. 19.4.54; उ. 11.2.15

ज्

-जः (उ. 30.3.35)
-जघनाम् (पू. 44.4.47)
जन- (पू. 16.2.33)
जनक- (पू. 1.3.36)
जनकतनया- (पू. 1.3.41) सीता (चरित्र., संजी.)
जनकतनयास्नान- (पू. 1.3.42)
जनकतनयास्नानपुण्य- (पू. 1.3.43)
जनपद- (पू. 16.2.37)
जनपदवधू- (पू. 16.2.38)
-जनिताम् (उ. 9.2.29)
जम् (2 वारम्) —जम्—पू. 12.4.43; —जम्—उ. 2.4.44
-जम्बू (2 वारम्) जम्बू—पू. 20.2.13; —जम्बू—पू. 24.3.50
जम्बूकुञ्ज- (पू. 20.2.18)
जम्बूकुञ्जप्रति- (पू. 20.2.19)
जम्बूकुञ्जप्रतिहत- (पू. 20.2.20)
-जम्बूवन- (पू. 24.3.71)
-जम्बूवनान्ताः (पू. 24.3.72)
जल (13 वारम्) जल—पू. 13.2.27; 21.4.38; 37.1.3; 48.2.21; उ. 8.3.45; 36.1.3; 54.3.34; —जल—पू. 23.3.30; 27.2.21; 46.2.29; उ. 8.2.28; 9.4.82; 37.1.6
जलकण- (पू. 48.2.24)
जलकणिका- (2 वारम्) उ. 8.2.37; 37.1.12
-जलकणिकादोपम् (उ. 8.2.35)
-जलकणिकाशीतलेन (उ. 37.1.13)
-जलकणैः (पू. 27.2.25)
-जलनयनैः (पू. 23.3.34)
-जलमयम् (उ. 32.3.42)
जललव (2 वारम्) जललव—पू. 21.4.41; —जललव—उ. 9.4.88
-जललवस्यन्दिनः (उ. 9.4.89)
-जलार्द्रैः (पू. 46.2.36)
-जवा (पू. 39.2.17)
-जवापुष्प- (पू. 39.2.27)
-जवापुष्परक्ताम् (पू. 39.2.28)
-जहार (पू. 4.4.61)
-जात् (उ. 4.2.23)
-जातानि (पू. 27.1.9)
-जायाम् (पू. 9.2.39)

त्

थ्

द्

दत्त (2 वारम्) "दत्त–" पू. 35.2.29; "–दत्त–" उ. 26.2.24
दत्तनृत्य- (पू. 35.2.33)
दत्तनृत्योप- (पू. 35.2.34)
-दत्तपुष्पैः (उ. 26.2.28)
-दय- (उ. 45.1.24)
-दया- (उ. 45.1.32)
-दयाश्लेष- (उ. 45.1.33)
-दयाश्लेषहेतोः (उ. 45.1.34)
दयिता- (पू. 4.1.8) कान्ता (चरित्र.)
दयिताजीवित- (पू. 4.1.13)
दयिताजीविता- (पू. 4.1.14)
-दयिताजीवितालम्बन (पू. 4.1.15)
-दरम् (पू. 36.1.9)
-दर्शनेषु (उ. 45.2.45)
दर्शित- (पू. 29.2.46)
दर्शिता- (पू. 29.2.50)
दर्शितावर्त्त- (पू. 29.2.51)
-दल- (पू. 47.2.15)
-दलप्र- (पू. 47.2.21)
-दलप्रापि (पू. 47.2.22)
-दश- (उ. 14.3.33)
-दशना (उ. 21.1.4)
दशपुर- (पू. 50.4.58)
दशपुरवधू- (पू.50.4.62)
दशपुरवधूनेत्र- (पू. 50.4.63)
-दशमुखम् (उ. 14.3.37)
-दातुम् (पू. 49.1.3)
-दानात् (2 वारम्) पू. 27.4.66; उ. 51.1.6
-दाम (पू. 28.3.46)
-दामस्फुरित- (पू. 28.3.56)
-दामस्फुरितचकितैः (पू. 28.3.57)
-दामानि (पू. 26.4.64)
-दाय (पू. 20.2.30)
-दारु- (उ. 46.1.7)
-दारुद्रुमाणाम् (उ. 46.1.11)
दिङ्- (पू. 14.4.41)
दिन (2 वारम्) "दिन–" उ. 14.1.4; "–दिन–" पू. 24.4.78
दिनकर- (उ. 14.1.8)
दिनकरहय- (उ. 14.1.9)
-दिनस्थायि- (पू. 24.4.84)
-दिनस्थायिहंसाः (पू. 24.4.85)
दिवस (3 वारम्) "दिवस–" पू. 9.1.4; उ. 18.4.63; "–दिवस–" उ. 26.1.5
दिवसगणना- (पू. 9.1.8)
दिवसगणनातत्- (पू. 9.1.9)
दिवसवि- (उ. 18.4.66)
-दिवसस्थापितस्य (उ. 26.1.12)
-दिवसे (2 वारम्) पू. 2.3.49; उ. 31.1.5; पू. 2.3.49—दिने (पंचिका)
-दिशन्तः (पू. 22.2.22)
-दिशसि (उ. 53.3.31)
-दिष्ट- (उ. 14.4.44)
-दिष्टा- (उ. 14.4.57)
-दिष्टाभरण- (उ. 14.4.58)
-दिष्टाभरणरुचयः (उ. 14.4.59)
-दिष्टाम् (पू. 31.2.22)
-दीपान् (उ. 7.3.48)
दीर्घ- (उ. 40.1.7)
-दीर्घान् (पू. 38.4.55)
दीर्घी- (पू. 32.1.1)
दुः- (उ. 47.3.38)
दुःख- (उ. 32.2.34)
-दुःखेन (उ. 32.3.35)
दुर्लभ- (उ. 47.3.42)
दुर्लभप्र- (उ. 47.3.43)
-दुहितरम् (पू. 33.1.3)
दूर- (4 वारम्) पू. 3.4.58 दूर; 6.3.33; 49.2.18; उ. 41.3.51
दूरसम्- (पू. 3.4.61)
दूरी- (उ. 22.2.12)
-दृश्यः (उ. 42.3.36)
दृष्ट- (2 वारम्) पू. 14.2.12; 39.4.66

ध्

-निषण्ण- (उ. 28.1.22)
-निषण्णैक- (उ. 28.1.23)
-निषण्णैकपार्श्वाम् (उ. 28.1.24)
-निष्यन्द- (पू. 45.1.20)
-निष्यन्दोत्- (पू. 45.1.21)
-निष्यन्दोच्छ्वसित- (पू. 45.1.22)
-निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधा- (पू. 45.1.23)
-निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्ध- (पू. 45.1.24)
-निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्- (पू. 45.1.25)
-निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्क- (पू. 45.1.26)
-निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्य: (पू. 45.1.27)
-निहित- (2 वारम्) उ. 26.3.42; 45.1.20
-निहितभुजम्- (उ. 45.1.21)
-निहिता- (उ. 26.3.43)
-निहितारम्भम् (उ. 26.3.44)
-निहितै : (2 वारम्) उ. 19.1.8; 38.2.26
नीचै:- (पू. 26.1.1)
नीचैरा- (पू. 26.1.4)
नीड- (पू. 24.2.20)
नीडा- (पू. 24.2.23)
नील- (उ. 18.4.69)
-नीलम् (पू. 49.4.44)
-नीलै: (उ. 16.1.8)
नीवि- (उ. 7.1.1)
नीविबन्ध- (उ. 7.1.6)
नीविबन्धोत्- (उ. 7.1.7)
नीविबन्धोच्छ्वसित- (उ. 7.1.8)
नृत्य (2 वारम्) "नृत्य–" पू. 39.3.31; "–नृत्य–" पू. 35.2.30
नृत्या- (पू. 39.3.34)
-नृत्योप- (पू. 35.2.36)
-नृत्योपहार: (पू. 35.2.37)
-नेत्र- (पू. 50.4.60)
-नेत्रकौतूहलानाम् (पू. 50.4.67)
-नेत्रम् (उ. 23.1.8)
-नेमि- (उ. 48.4.37)
-नेमिक्रमेण (उ. 48.4.41)

-नोदा: (उ. 26.4.61)
-नोदाम् (उ. 27.2.28)
-न्यस्त- (उ. 32.1.11)
-न्यस्तम् (उ. 23.3.46)
-न्यस्ता- (उ. 32.1.12)
-न्यस्ताभरणम् (उ. 32.1.13)
-न्यस्यन्ती (उ. 26.2.20)
-न्यास- (उ. 13.3.47)
-न्यासयोग्यम् (उ. 13.3.48)
-न्यासै: (पू. 38.1.6)

प्

-प- (पू. 15.4.47)
पक्व- (उ. 21.1.6)
पक्वविम्ब- (उ. 21.1.10)
पक्वविम्बाधर- (उ. 21.1.11)
पक्ष्म- (पू. 50.2.27)
पक्ष्मोत्- (पू. 50.2.30)
पञ्जर- (उ. 24.3.41)
पटहताम्- (पू. 37.3.27)
पटु- (पू. 5.2.26)
-पणि- (पू. 34.3.29)
-पणिरचितान् (पू. 34.3.33)
पण्य- (पू. 26.3.34)
पण्यस्त्री- (पू. 26.3.41)
पण्यस्त्रीरति- (पू. 26.3.42)
पण्यस्त्रीरतिपरि- (पू. 26.3.43)
पण्यस्त्रीरतिपरिमल- (पू. 26.3.44)
पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्- (पू. 26.3.45)
-पत (पू. 14.3.35)
-पतति (उ. 24.1.6)
-पतन्ति (उ. 8.4.75)
-पति- (7 वारम्) पू. 7.2.18; 12.2.16; 40.2.15; उ. 10.2.32; 12.1.4; 14.1.4; 14.2.14
-पतिक्रोध- (पू. 7.2.26)
-पतिक्रोधवि- (पू. 7.2.27)

-पतिक्रोधविश्लेषितस्य (पू. 7.2.28)
-पतिगृहान् (उ. 14.1.8)
-पतितम् (उ. 44.2.18)
-पतिताम् (उ. 20.3.31)
-पतितैः (उ. 11.1.8)
-पतिधनुः- (उ. 14.2.20)
-पतिधनुश्चारुणा (उ. 14.2.21)
-पतिपथे (पू. 40.2.19)
-पतिपदैः (पू. 12.2.20)
-पतियशः (उ. 10.2.36)
-पतिसखम् (उ. 12.1.8)
-पतेः (पू. 39.3.39)
-पत्तिः (उ. 4.3.50)
-पत्नीम् (पू. 9.1.15)
-पत्य (पू. 29.3.69)
पत्र- (2 वारम्) उ. 11.2.14; 14.1.1
-पत्स्यते (पू. 15.3.38)
-पत्स्यन्ते (2 वारम्) पू. 11.4.43; 24.4.75
पथिक- (पू. 8.2.21)
-पथे (पू. 40.2.16)
-पद- (3 वारम्) पू. 16.2.34; 38.3.34; उ. 12.2.19
-पदज्यम् (उ. 12.2.33)
-पदम् (2 वारम्) उ. 25.2.21; 42.4.43
-पदवधू- (पू. 16.2.40)
-पदवधूलोचनैः (पू. 16.2.41)
-पदवीम् (पू. 8.1.6)
-पदसुखान् (पू. 38.3.38)
-पदाम् (उ. 40.4.58)
-पदैः (2 वारम्) पू. 12.2.17; 35.1.6
-पद्माः (उ. 3.2.29)
-पद्मौ (उ. 19.2.21)
-पन्नः (उ. 40.3.35)
-पन्नाम् (पू. 9.2.20)
पयः- (पू. 7.1.8)
पर- (पू. 8.4.57)
-परम् (पू. 19.2.35)
पराधीन- (पू. 8.4.60)
-पराम् (पू. 9.1.7)
परि (18 वारम्) परि—पू. 13.4.45; 14.4.45; 18.1.7; 22.2.18; 24.3.46; 45.4.85; 48.4.53; 50.1.6; उ. 22.1.3; 49.4.39; —परि—पू. 2.4.59; 5.3.38; 10.3.25; 17.2.35; 26.3.37; 27.4.69; उ. 11.3.31; 35.2.15
-परिगणयन् (पू. 5.3.42)
-परिगतम् (पू. 17.2.42)
-परिचयात् (पू. 10.3.41)
परिचित- (पू. 50.1.12)
परिचितभ्रू- (पू. 50.1.13)
परिचितभ्रूलता- (पू. 50.1.14)
परिचितभ्रूलतावि- (पू. 50.1.15)
-परिचितः (पू. 27.4.73)
-परिचितम् (उ. 35.2.19)
परिणत (4 वारम्) परिणत—पू. 18.1.11; 24.3.53; 49.4.43; —परिणत—पू. 2.4.75—तिर्यक् दन्त प्रहारवान् गजः। 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलधरः (प्रदीप); मत्तगजः (प्रदीप); परिणतस्तिर्यग्दन्तप्रहारः। 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः'। (चरित्र.); तिर्यग्दन्तप्रहारः। 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजो परिणतो मतः' इति हलायुधः (संजी.); मत्तगजः (चरित्र.) परिणतग्रहणेनैव सिद्धे पुनर्गजग्रहणं करिकलभवत् ज्ञेयम् (चरित्र.)
-परिणतगज- (पू. 2.4.76)
-परिणतगजप्र- (पू.2.4.77)
-परिणतगजप्रेक्षणीयम् (पू. 2.4.79)
परिणतफल- (2 वारम्) पू. 18.1.12; 24.3.54
परिणतफलश्याम- (पू. 24.3.55)
परिणतफलश्यामजम्बू- (पू. 24.3.56)
परिणतफलश्यामजम्बूवन- (पू. 24.3.57)
परिणतशरत्- (उ. 49.4.44)
-परिमल- (पू. 26.3.56)
-परिमलोद्- (पू. 26.3.57)
-परिमलोद्गारिभिः (पू. 26.3.58)
परिमित- (उ. 22.1.6)
-परिसर- (उ. 11.3.39)

-परिसरच्छिन्न- (उ. 11.3.40)
-परिसरच्छिन्नसूत्रैः (उ. 11.3.41)
-पर्क- (पू. 45.1.9)
-पर्करम्यः (पू. 45.1.55)
-पर्कात् (पू. 26.2.20)
-पर्णैः (पू. 30.2.35)
पवन- (2 वारम्) पू. 8.1.15; उ. 39.1.5
पशु- (पू. 39.3.38)
-पश्यामि (2 वारम्) 23.1.2; उ. 43.3.26
-पा (उ. 3.1.23)
-पाट्य (पू. 33.3.32)
-पाणौ (उ. 49.1.12)
-पाण्डुः (पू. 18.4.66)
पाण्डु- (2 वारम्) पू. 24.1.1; 30.2.21
पाण्डुच्छाया- (पू. 24.1.6)
पाण्डुच्छायोप- (पू. 24.1.7)
पाण्डुच्छायोपवन- (पू. 24.1.8)
-पातः (पू. 5.1.13)
-पात- (उ. 20.1.8)
-पातम् (उ. 43.1.14)
-पातहेतोः (उ. 20.1.15)
-पाति (पू. 9.4.51)
पात्री- (पू. 50.4.55)
-पाथेयवन्तः (पू. 11.3.35)
पाद (4 वारम्) पाद—पू. 38.1.1; उ. 3.1.12; —पाद—पू. 35.4.52; उ. 17.3.29
पादनि- (पू. 38.1.4)
-पादराग- (पू. 35.4.62)
-पादरागाङ्कितेषु (पू. 35.4.63)
-पादाभि- (उ. 17.3.35)
-पादाभिलाषी (उ. 17.3.36)
-पादे (पू. 19.3.48)
-पादैः (उ. 9.3.72)
-पाद्यः (पू. 30.4.63)
-पाद्य (उ. 8.2.38)
-पाराम् (उ. 27.1.4)
-पारावतायाम् (पू. 41.1.9)
-पार्श्वाम् (उ. 28.1.17)
-पाशे (उ. 2.3.31)
-पीड- (उ. 30.4.46)
-पीडरुद्ध- (उ. 30.4.65)
-पीडरुद्धाव- (उ. 30.4.66)
-पीडरुद्धावकाशाम् (उ. 30.4.67)
-पुटान् (उ. 46.1.14)
-पुण्य- (पू. 1.3.39) पवित्र (चरित्र. संजी.); पावन (संजी.)
-पुण्योदकेषु (पू. 1.3.50) पाव
पुत्र- (पू. 47.2.11)
-पुरुषम् (पू. 6.2.16)
पुष्कर- (पू. 6.1.6)
पुष्करा- (पू. 6.1.9)
पुष्प (5 वारम्) पुष्प—पू. 27.4.74; 46.1.9; 46.2.19; उ. 13.2.20; —पुष्प—पू. 39.2.18
पुष्पमेघी- (पू. 46.1.13)
पुष्पमेघीकृत- (पू. 46.1.14)
-पुष्परक्तम् (पू. 39.2.29)
-पुष्पलावी- (पू. 27.4.77)
-पुष्पाः (उ. 3.1.16)
पुष्पा- (पू. 46.2.22)
-पुष्पैः (3 वारम्) पू. 26.2.28; उ. 11.1.12; 26.2.25
पुष्पोद्- (उ. 13.2.23)
पूर्व- (4 वारम्) पू. 31.2.20; उ. 29.2.19; 40.4.49; 46.4.39
-पूर्वम् (पू. 45.3.79)
पूर्वा- (उ. 40.4.52)
पूर्वोद्- (पू. 31.2.23)
-पृच्छस्व (पू. 12.1.2)
-पेयम् (पू. 13.2.32)
पौर- (पू. 28.3.60)
प्र (81 वारम्) "प्र—" पू. 1.1.10; 4.2.28; 5.2.29; 5.2.32; 5.4.53; 6.2.14; 8.2.18; 9.4.53; 11.1.4; 15.1.17; 15.2.25; 17.4.68; 26.2.26; 28.1.6; 29.4.75; 31.1.1; 32.4.52; 38.3.39; 42.2.10; 43.1.6; 43.2.13; 43.3.25; 44.1.9;

44.3.30; 49.2.21; 49.3.24; उ. 1.2.19; 3.4.65; 4.3.40; 7.3.43; 14.2.26; 15.4.58; 16.4.36; 23.1.3; 29.4.50; 36.3.22; 37.4.50; 38.3.38; 41.1.3; 43.2.28; 44.1.5; 46.2.24; 53.3.30; 53.4.40; "—प्र—" पू. 2.1.9; 2.2.39; 2.4.63; 3.4.43; 4.4.44; 9.4.58; 13.1.6; 17.1.4; 18.3.43; 28.2.15; 30.1.3; 34.2.18; 43.4.47; 47.2.16; 50.2.38; उ. 2.2.18; 4.3.47; 5.3.38; 6.4.48; 7.3.47; 7.4.58; 12.3.27; 14.4.35; 16.2.16; 18.2.19; 18.2.22; 21.2.20; 29.1.11; 34.1.4; 43.1.5; 45.1.4; 47.3.40; 50.2.21; 52.3.57; 52.4.82; 54.1.6; 54.4.58

-प्रकाशैः (उ. 18.2.44)

प्रकृति- (3 वारम्) पू. 5.4.56; 6.2.17; 43.2.17

प्रकृतिसु- (पू. 43.2.18)

-प्रकोष्ठः (पू. 2.2.45) कूर्पराधोभागः (चरित्र.) कूर्पराधः प्रदेशः 'कक्षान्तरे प्रकोष्ठ कूर्पराधः' इति शाश्वतः (संजी.)

प्रणय (4 वारम्) "प्रणय—" पू. 29.4.78; उ. 4.3.43; 44.1.8; "—प्रणय—" पू. 28.2.34

-प्रणयवि- (पू. 28.2.35)

-प्रणयविमुखः (पू. 28.2.36)

-प्रणयिवि (पू. 3.4.54); प्रार्थयमाने प्रियजने (प्रदीप); अर्थिनि (संजी.)

-प्रणि- (उ. 45.1.7)

-प्रणिहित- (उ. 45.1.18)

-प्रणिहितभुजम् (उ. 45.1.19)

-प्रतनु- (पू. 30.1.13)

-प्रतनुसलिला (पू. 30.1.14)

प्रति (18 वारम्) "प्रति—" पू. 4.1.1; 4.3.32; 8.2.24; 23.4.46; 39.2.15; 42.4.28; 46.4.48; उ. 3.4.50; 10.1.22; 14.3.32; 14.4.42; 17.2.11; 33.4.40; 34.2.23; 37.2.16; 53.2.15; 53.4.36; "—प्रति—" पू. 20.2.15

प्रतिदश- (उ. 14.3.35)

प्रतिनव- (पू. 39.2.20)

प्रतिनवजवा- (पू. 39.2.21)

प्रतिनवजवापुष्प- (पू. 39.2.22)

प्रतिहत (2 वारम्) "प्रतिहत—" उ. 3.4.55; "—प्रतिहत—" पू. 20.2.25

प्रतिहततमः- (उ. 3.4.56)

प्रतिहततमोवृत्ति- (उ. 3.4.57)

-प्रतिहतरयम् (पू. 20..2.26)

प्रत्या- (7 वारम्) पू. 4.1.4; 42.4.31; उ. 14.4.48; 17.2.14; 34.2.26; 37.2.19; 53.2.18

प्रत्यादिष्ट- (उ. 14.4.49)

प्रत्यादिष्टा- (उ. 14.4.50)

प्रत्यादिष्टाभरण- (उ. 14.4.51)

प्रत्युद्- (पू. 23.4.49)

प्रथम (6 वारम्) "प्रथम—" पू. 2.3.47; 17.3.50; उ. 20.2.19; 33.2.16; 52.1.5; "—प्रथम—" पू. 21.2.12; पू. 2.3.47—प्रवर, प्रख्यात (चरित्र.); आद्य (लक्ष्मीनिवास), प्रधान (लक्ष्मीनिवास)

-प्रथममुकुलाः (पू. 21.2.19)

प्रथमवि- (2 वारम्) उ. 33.2.19; 52.1.11

प्रथमविरह- (उ. 52.1.12)

प्रथमविरहोद्- (उ. 52.1.13)

प्रथमविरहोदग्र- (उ. 52.1.14)

प्रथमसु- (पू. 17.3.55)

प्रथमसुकृत- (पू. 17.3.56)

प्रथमसुकृताप- (पू. 17.3.57)

प्रथित- (पू. 25.1.3)

प्रथितविदिशा- (पू. 25.1.6)

-प्रदीपान् (उ. 7.3.51)

प्रबल- (उ. 23.1.9)

प्रबलरुदित- (उ. 23.1.10)

प्रबलरुदितोत्- (उ. 23.1.11)

प्रबलरुदितोच्छून- (उ. 23.1.12)

-प्रबुद्धा (उ. 50.2.25)

-प्रभाणाम् (पू. 50.2.82)

-प्रमुख- (पू. 4.4.50) प्रधान (प्रदीप); श्रेष्ठ (चरित्र.)

-प्रमुखवचनम् (पू. 4.4.51)

-प्रयाण- (पू. 13.1.14)

-प्रयाणानु- (पू. 13.1.15)

-प्रयाणानुरूपम् (पू. 13.1.16)
-प्रयुक्त: (पू. 2.1.20)
-प्रयोग- (उ. 4.3.55)
-प्रयोग:- (उ. 54.4.62)
-प्रयोगे- (पू. 9.4.62)
-प्रयोगोप- (उ. 4.3.56)
-प्रयोगोपपत्ति: (उ. 4.3.57)
-प्ररोहान् (पू. 34.2.25)
-प्रविष्टान् (उ. 29.1.18)
-प्रशमित- (पू. 17.1.20)
-प्रशमितवन- (पू. 17.1.21)
-प्रशमितवनोप- (पू. 17.1.22)
-प्रशमितवनोपप्लवम् (पू. 17.1.23)
-प्रसरम् (उ. 34.1.15)
-प्रसव- (2 वारम्) उ. 2.2.24; 52.4.92
-प्रसवरजसा (उ. 2.2.25)
-प्रसवशिथिलम् (उ. 52.4.93)
-प्रसूतम् (उ. 5.3.45)
प्रहत- (उ. 1.2.22)
-प्रहित- (2 वारम्) उ. 12.3.42; 32.3.72
-प्रहितकुशलै: (उ. 52.3.73)
-प्रहितनयनै: (उ. 12.3.43)
प्राची- (उ. 28.2.28)
प्रात:- (उ. 52.4.80)
प्रात: कुन्द- (उ. 52.4.85)
प्रात: कुन्दप्र- (उ. 52.4.86)
प्रात:कुन्दप्रसव- (उ. 52.4.87)
-प्रापि (पू. 47.2.23)
प्राप्त- (पू. 44.1.13)
प्राप्तवानीर- (पू. 44.1.14)
-प्राप्य- (उ. 14.4.43)
-प्राप्यस्तबक- (उ. 14.4.44)
-प्राप्यस्तबकनमित: (उ. 14.4.45)
-प्रार्थनम् (उ. 47.3.47)
प्रार्थना (2 वारम्) "प्रार्थना-" पू. 32.4.56; "-प्रार्थना-" उ. 54.1.16
प्रार्थनाचाटु- (पू. 32.4.57)
-प्रार्थनावर्त्तिन: (उ. 54.1.17)
-प्रार्थिता: (उ. 6.4.55)
प्रालेय- (पू. 42.3.18)
प्रिय- (3 वारम्) पू. 12.1.4; 22.4.40; 33.1.2
प्रियतम- (उ. 9.1.3)
प्रियतमभुज- (उ. 9.1.9)
प्रियतमभुजोत्- (उ. 9.1.10)
प्रियतमभुजोच्छ्वासित- (उ. 9.1.11)
प्रियतमभुजोच्छ्वासिता- (उ. 9.1.12)
प्रियसह- (पू. 22.4.47)
प्रियसहचरी- (पू. 22.4.48)
प्रियसहचरीसम्- (पू. 22.4.49)
प्रियसहचरीसम्भ्रम- (पू. 22.4.50)
प्रियसहचरीसम्भ्रमा- (पू. 22.4.51)
-प्रिया- (पू. 23.1.8)
-प्रियार्थम (पू. 23.1.12)
प्रीति- (2 वारम्) पू. 4.4.43; 16.2.30; स्नेह (चरित्र.)
प्रीतिप्र- (पू. 4.4.47)
प्रीतिप्रमुख- (पू. 4.4.47) प्रीतिपूर्वक (संजी.)
-प्रीत्या (2 वारम्) पू. 35.2.24; उ. 29.2.20
-प्रेक्षणा (उ. 21.2.27)
-प्रेक्षणीय: (उ. 16.2.27)
-प्रेक्षणीयम् (पू. 2.4.84) दर्शनीयम् (संजी.); प्रेक्षितुं योग्यो रमणीय: (चरित्र.)
-प्रेक्षणीयाम् (पू. 18.3.54)
-प्रेक्षणे (उ. 43.1.12)
-प्रेक्षितानि (पू. 43.4.63)
प्रेम- (उ. 51.4.45)
प्रेमराशी- (उ. 51.4.48)
-प्रेम्णा (पू. 47.2.12)
-प्रेरणा (उ. 7.4.65)
प्रौढ (2 वारम्) "प्रौढ;-" पू. 26.2.29; "-प्रौढ़-" उ. 18.2.35
-प्रौढवंश- (उ. 18.2.36)
-प्रौढवंशप्र- (उ. 18.2.37)

-प्रौढवंशप्रकाशैः (उ. 18.2.38)
-प्लवम् (पू. 17.1.8)

फ्

-फल- (3 वारम्) पू. 18.1.19; 24.3.48; उ. 7.4.57
-फलकाः (उ. 18.1.6)
-फलद्योतिभिः (पू. 18.1.16)
-फलप्र- (उ. 7.4.63)
-फलप्रेरणा- (उ. 7.4.64)
-फलम् (2 वारम्) पू. 16.1.6; उ. 5.3.54
-फलश्याम- (पू. 24.3.64)
-फलश्यामजम्बू- (पू. 24.3.65)
-फलश्यामजम्बूवन- (पू. 24.3.66)
-फलश्यामजम्बूवनान्ताः (पू. 24.3.67)
-फले (पू. 31.3.42)

ब्

बद्ध (3 वारम्) वद्ध—उ. 10.4.67; —वद्ध—पू. 10.3.44; उ. 15.1.6
-बद्धमालाः (पू. 10.3.48)
-बद्धसोपान- (उ. 15.1.16)
-बद्धसोपानमार्गा (उ. 15.1.17)
बद्धा- (उ. 10.4.70)
-बन्धः (पू. 9.3.42)
-बन्ध- (उ. 7.1.2)
-बन्धुः (पू. 6.3.34)
बन्धु- (2 वारम्) पू. 35.2.23; उ. 53.1.10
-बन्धोत्- (उ. 7.1.10)
-बन्धोच्छ्वसित- (उ. 7.1.11)
-बन्धोच्छ्वसितशिथिलम् (उ. 7.1.12)
-बन्ध्याम् (पू. 11.1.14)
बर्ह- (उ. 43.2.21)
-बल- (उ. 23.1.4)
-बलरुदित- (उ. 23.1.14)
-बलरुदितोत्- (उ. 23.1.15)
-बलरुदितोच्छून- (उ. 23.1.16)
-बलरुदितोच्छूननेत्रम् (उ. 23.1.17)
-बला- (4 वारम्) पू. 1.1.7; उ. 13.4.56; उ. 32.1.18; 38.4.46
-बलामण्डनम् (उ. 13.4.60)
-बलावि- (पू. 1.1.15)
-बलाविप्र- (पू. 1.1.16)
-बलाविप्रयुक्तः (पू. 1.1.17)
-बलावेणि- (उ. 38.4.54)
-बलावेणिमोक्ष- (उ. 38.4.55)
-बलावेणिमोक्षोत्सुकानि (उ. 38.4.56)
-बलि- (2 वारम्) पू. 24.2.27; 37.3.26
-बलिपटहताम् (पू. 37.3.30)
-बलिभुजाम् (पू. 24.2.31)
बाल- (उ. 2.1.6)
बालकुन्द- (उ. 2.1.10)
बालकुन्दानु- (उ. 2.1.11)
बाह्य- (पू. 7.4.40)
बाह्योद्- (पू. 7.4.49)
बाह्योद्यान- (पू. 7.4.50)
बाह्योद्यानस्थित- (पू. 7.4.51)
बाह्योद्यानस्थिरहर- (पू. 7.4.52)
बाह्योद्यानस्थितहरशिरः- (पू. 7.4.52)
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका- (पू. 7.4.54)
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौत- (पू. 7.4.55)
-बुध- (उ. 10.3.47)
-बुधवनिता- (उ. 10.3.57)
-बुधवनितावार- (उ. 10.3.58)
-बुधवनितावारमुख्या- (उ. 10.3.59)
-बुधवनितावारमुख्यासहायाः (उ. 10.3.60)
-बुद्धा (उ. 50.2.22)
-बुद्ध्या (उ. 54.2.28)

भ्

भक्ति- (पू. 19.4.53)
-भक्तिः (पू. 39.4.67)
-भग (पू. 30.3.40)
-भगः (पू. 43.2.16)
भगम् (6 वारम्) "—भगम्" पू. 10.4.52; 11.2.21 25.3.28; 29.2.42; 45.2.60; "—भगम्—" उ. 33.3.30
-भगम्मन्य- (उ. 33.3.36)
-भगम्मन्यभावः (उ. 33.3.37)
-भगैः (उ. 18.3.49)
-भङ्ग- (उ. 12.3.26)
-भङ्गप्र- (उ. 12.3.39)
-भङ्गप्रहित- (उ. 12.3.40)
-भङ्गप्रहितनयनैः (उ. 12.3.41)
-भङ्गम् (पू. 25.4.49)
-भयात् (पू. 48.2.23)
-भरण- (उ. 14.4.46)
-भरणम् (उ. 32.1.6)
-भरणरुचयः (उ. 14.4.62)
-भवति (2 वारम्) पू. 11.1.5; 15.2.26
भवन (5 वारम्) "भवन—" पू. 35.2.26; 41.1.5; उ. 3.3.38; 10.1.4; 20.3.30
-भवननि- (उ. 10.1.19)
-भवननिधयः (उ. 10.1.20)
-भवनपतिताम् (उ. 20.3.34)
-भवन्ति- (उ. 51.4.47)
-भवम् (पू. 48.1.7)
-भाणाम् (पू. 50.2.39)
-भारात् (उ. 21.3.32)
-भारेषु (उ. 43.2.22)
भाव- (उ. 24.2.31)
-भावः (उ. 33.3.32)
-भावात् (पू. 49.2.19)
-भाव्य (उ. 39.2.34)
-भासम् (उ. 20.3.38)
-भास्वत्- (उ. 3.3.42)
-भास्वत्कलापाः (उ. 3.3.46)
-भाष्यम् (उ. 40.4.51)
भिन्न- (उ. 23.2.31)
भिन्नवर्ण- (उ. 23.2.35)
भिन्नवर्णाधर- (उ. 23.2.36)
-भिन्नैः (पू. 24.1.18)
-भुक्त- (पू. 19.1.6)
-भुक्तकुञ्जे (पू. 19.1.17)
भुज (3 वारम्) "भुज—" पू. 39.1.3; "—भुज—" उ. 9.1.4; 36.4.45
भुजग- (उ. 49.1.5)
भुजतरु- (पू. 39.1.6)
-भुजम् (उ. 45.1.7)
-भुजलता- (उ. 36.4.55)
-भुजलताग्रन्थि (उ. 36.4.56)
-भुजाम् (पू. 24.2.28)
-भुजोत्- (उ. 9.1.14)
-भुजोच्छ्वासित- (उ. 9.1.15)
-भुजोच्छ्वासिता- (उ. 9.1.66)
-भुजोच्छ्वासितालिंगनानाम् (उ. 9.1.17)
-भुवः (उ. 1.3.35)
भुवन (2 वारम्) "भुवन—" पू. 6.1.3; "—भुवन—" पू. 36.2.19
-भुवनगुरोः (पू. 36.2.23)
-भूत- (2 वारम्) पू. 21.2.11; 30.1.2
-भूतप्र- (पू. 30.1.10)
-भूतप्रतनु- (पू. 30.1.11)
-भूतप्रतनुसलिला- (पू. 30.1.12)
-भूतप्रथम- (पू. 21.2.17)
-भूतप्रथममुकुलाः (पू. 21.2.18)
-भूताः (पू. 22.2.16)
-भूताम् (उ. 33.2.14)
-भूते (2 वारम्) पू. 31.3.36; उ. 22.2.13
-भूमीः (उ. 8.1.13)
भूयः (2 वारम्) "भूयः—" उ. 25.4.41; "—भूयः" उ. 25.4.42

म्

-मधुकरश्री- (पू. 50.3.47)
-मधुकरश्रीमुषाम् (पू. 50.3.48)
-मधुकरश्रेणि- (पू. 38.4.57)
मधुर- (उ. 24.3.37)
-मध्य- (पू. 49.4.42)
-मध्ये (उ. 18.1.2)
-मध्येन्द्र- (पू. 49.4.48)
-मध्येन्द्रनीलम् (पू. 49.4.49)
मन्द (2 वारम्) मन्द—उ. 47.2.22; —मन्द—उ. 47.2.23
मन्दमन्द- (उ. 47.2.26)
मन्दमन्दा- (उ. 47.2.27)
-मन्दा- (उ. 47.2.29)
-मन्दातपम् (उ. 47.2.30)
मन्दार (2 वारम्) मन्दार—उ. 11.1.11; 14.4.50
-मन्दारवृक्ष: (उ. 14.4.54)
मन्द्र- (उ. 38.4.41)
-मन्द्राणाम् (पू. 37.4.34)
-मन्य- (उ. 33.3.31)
-मन्यभाव: (उ. 33.3.38)
-मयूख- (पू. 34.2.17)
-मयूखप्र- (पू. 34.2.23)
-मयूखप्ररोहान् (पू. 34.2.24)
-मर- (2 वारम्) पू. 18.3.41; उ. 6.4.47
मरकत- (2 वारम्) पू. 34.2.13; उ. 15.1.4
मरकतशिला- (उ. 15.1.9)
मरकतशिलाबद्ध- (उ. 15.1.10)
मरकतशिलाबद्धसोपान- (उ. 15.1.11)
-मरप्र (उए. 6.4.53)
-मरप्रार्थिता: (उ. 6.4.54)
-मरमिथुन- (पू. 18.3.49)
-मरमिथुनप्र- (पू. 18.3.50)
-मरमिथुनप्रेक्षणीयाम् (पू. 18.3.51)
-मरुताम् (पू. 5.1.4)
-मल- (पू. 26.3.38)
मलिन- (उ. 25.1.5)
-मलोद्- (पू. 26.3.59)
-मलोद्गारिभि: (पू. 26.3.60)
-महतीम् (उ. 28.4.57)
-महिमा (पू. 1.2.26) सामर्थ्यम् (मल्लि.); दूरविलोकन श्रवणादिशक्ति: (चरित्र.)
-मात्र- (उ. 28.2.34)
-मात्रम् (उ. 36.2.26)
-मात्रशेषाम् (उ. 28.2.38)
माधवी- (उ. 17.2.20)
-मान- (उ. 8.1.11)
मानस- (पू. 11.2.26)
-मानाग्र- (उ.8.1.21)
-मानाग्रभूमी: (उ. 8.1.22)
-मार्ग: (2 वारम्) पू. 48.2.29; उ. 41.4.62
-मार्ग- (उ. 29.1.10)
-मार्गप्र- (उ. 29.1.16)
-मार्गप्रविष्टान् (उ. 29.1.17)
-मार्गा (उ. 15.1.8)
-माला: (पू. 10.3.45)
-मित- (उ. 22.1.4)
-मितकथाम् (उ. 22.1.8)
-मिथुन- (पू. 18.3.42)
-मिथुनप्र- (पू. 18.3.52)
-मिथुनप्रेक्षणीयाम् (पू. 18.3.53)
मीन- (उ. 34.4.59)
-मुकुला: (पू. 21.2.13)
मुक्त- (2 वारम्) पू. 44.2.24; 48.2.28
मुक्तरोध:- (पू. 44.2.27)
मुक्ता- (4 वारम्) पू. 49.4.36; उ. 11.3.27; 35.2.1 45.4.57
-मुख: (4 वारम्) पू. 14.3.38; 17.4.74; 28.2.1 उ. 36.2.21
-मुख- (पू. 4.4.45)
-मुखम् (3 वारम्) उ. 7.3.40; 14.3.34; 29.2.2
-मुखर: (पू. 40.4.41)
-मुखरा: (उ. 3.1.5)
-मुखवचनम् (पू. 4.4.52)
-मुखानाम् (पू. 27.4.76)
-मुखी (उ. 39.1.11)

-मुखीभिः (पू. 14.1.10)
-मुखे (पू. 46.4.53)
-मुखेन (उ. 42.4.55)
-मुख्या- (उ. 10.3.50)
-मुख्यासहाया: (उ. 10.3.66)
मुग्ध- (पू. 14.2.21)
मुग्धसिद्ध- (पू. 14.2.24)
-मुचः (2 वारम्) पू. 21.4.40; उ. 8.3.46
-मुरजा: (उ. 1.2.21)
-मुषाम् (पू. 50.3.90)
-मुष्टिः (उ. 7.4.67)
-मुष्टि- (उ. 6.3.23)
-मुष्टिनि- (उ. 6.3.36)
-मुष्टिनिक्षेप- (उ. 6.3.37)
-मुष्टिनिक्षेपगूढैः (उ. 6.3.38)
-मूढानाम् (उ. 7.4.53)
-मूर्त्या (पू. 48.4.50)
-मूले (उ. 28.2.29)
मृग- (उ. 34.3.56)
-मृत- (उ. 29.1.4)
-मृतशिशिरान् (उ. 39.1.8)
मेघ- (पू. 3.3.27) मेघ
मेघा- (पू. 3.3.30)
-मेघी- (पू. 46.1.10)
-मेघीकृत- (पू. 46.1.6)
-मेघीकृतात्मा (पू. 46.1.17)
-मेय- (उ. 20.4.66)
-मेयहष्टिम् (उ. 20.4.67)
-मैत्री- (पू. 32.2.15)
-मैत्रीकषाय: (पू. 32.2.31)
-मोक्ष- (उ. 38.4.48)
-मोक्षोत्सुकानि (उ. 38.4.59)
-मोक्ष्यन्ते (पू. 38.4.49)
मोघी- (पू. 43.4.40)
-मोघैः (उ. 12.3.49)
-मोद- (पू. 32.2.14)
-मोदमैत्री (पू. 32.2.29)
-मोदमैत्रीकषाय: (पू. 32.2.30)

य्

यक्ष- (पू. 7.3.37)
-यत- (पू. 46.1.4) कृदन्त
-यतवसतिम् (पू. 46.1.8)
-यत्नम् (पू. 16.1.3)
यद्- (उ. 8.1.9) सर्वनाम
यद्वि- (उ. 8.1.14)
यद्विमान- (उ. 8.1.15)
यद्विमानाग्र- (उ. 8.1.16)
-यमित (उ. 31.3.30) कृदन्त
-यमितनखेन (उ. 31.3.34)
-यशः (उ. 10.2.33)
-यष्टिः (उ. 18.1.10)
-यातः (पू. 23.4.48)
-यान- (2 वारम्) पू. 7.4.42; 13.1.7
-यानम् (पू. 36.3.3)
-यानस्थित- (पू. 7.4.64)
-यानस्थितहर- (पू. 7.4.65)
-यानस्थितहरशिरः- (पू. 7.4.66)
-यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका- (पू. 7.4.67)
-यानस्थितिहरशिरश्चन्द्रिकाधौत- (पू. 7.4.68)
-यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या (पू. 7.4.69)
-यानानाम् (पू. 27.2.18)
-यानानु- (पू. 13.1.17)
-यानानुरूपम् (पू. 13.1.18)
याम- (उ. 36.2.25)
-यामा (2 वारम्) उ. 47.1.8; 47.1.11
-युक्तः (पू. 2.1.10) कृदन्त
-युक्ता (पू. 40.3.47) कृदन्त
-युगे (उ. 14.3.39)
-युज्य (पू. 13.4.52)
युवति (2 वारम्) युवति—उ. 21.4.44; —युवति—पू. 36.4.45
युवतिवि- (उ. 21.4.47)
-युवतिस्नान- (पू. 36.4.66)
-युवतिस्नानतिक्तैः- (पू. 36.4.67)
यूथिका- (पू. 27.2.26)

-योगः (2 वारम्) कृदन्त; उ. 27.1.17; 54.4.59
-योग- (3 वारम्) उ. 4.2.29; 4.3.48; 47.4.58
-योगम् (पू. 12.3.29)
-योगव्यथाभिः (उ. 47.4.65)
-योगसाध्यात् (उ. 4.2.36)
-योगे (पू. 9.4.59) कृदन्त
-योगेन (उ. 19.3.32)
-योगोप- (उ. 4.3.58)
-योगोपपत्तिः (उ. 4.3.59)
-योग्यम् (उ. 13.3.39) कृदन्त
योधा- (उ. 14.3.29)

र्

रक्त- (2 वारम्) उ. 10.1.25; 17.1.1
-रक्तम् (पू. 39.2.19) कृदन्त
रक्षा- (पू. 46.3.37)
रघु- (पू. 12.2.15)
रघुपति- (पू. 12.2.18)
रचित (4 वारम्) कृदन्त; रचित—उ. 16.1.3; —रचित—उ. 3.2.20; 25.2.20; 42.4.42
-रचितपदम् (2 वारम्) उ. 25.2.24; 42.4.53
-रचितरशनाः (उ. 3.2.27)
-रचितान् (पू. 34.3.30)
-रचितानि (उ. 5.2.15)
-रचिताम् (पू. 19.4.58)
-रजः- (पू. 36.3.35)
-रजसा (उ. 2.2.20)
-रजोगन्धिभिः (पू. 36.3.39)
-रत- (4 वारम्) कृदन्त; पू. 32.3.36; 36.4.44; उ. 9.2.28; 41.2.19
-रतग्लानिम् (पू. 32.3.40)
-रतजनिताम् (उ. 9.2.32)
-रतयुवति- (पू. 36.4.63)
[illegible] (पू. 36.4.64)
[illegible] (पू. 36.4.65)

रति (2 वारम्) कृदन्त; रति—उ. 5.3.33; —रति—पू. 26.3.36
-रतिपरि- (पू. 26.3.52)
-रतिपरिमल- (पू. 26.3.53)
-रतिपरिमलोद्- (पू. 26.3.54)
-रतिपरिमलोद्गारिभिः (पू. 26.3.55)
-रतैः (उ. 28.3.49)
-रतोत्- (उ. 41.2.29)
-रतोत्कण्ठम् (उ. 41.2.30)
रत्न- (3 वारम्) पू. 15.1.1; 38.2.17; उ. 7.3.46
रत्नच्छाया- (2 वारम्) पू. 15.1.6; 38.2.21
रत्नच्छायारवचित- (पू. 38.2.22)
रत्नच्छायावि- (पू. 15.1.7)
रत्नच्छायाव्यति- (पू. 15.1.8)
रत्नप्र- (उ. 7.3.49)
-रन्ध्र- (पू. 45.2.57)
-रन्ध्रध्वनित- (पू. 45.2.65)
-रन्ध्रध्वनितसु- (पू. 45.2.66)
-रन्ध्रध्वनितसुभगम् (पू. 45.2.67)
रमण- (2 वारम्) पू. 40.1.2; उ. 26.4.53
रमणवि- (उ. 26.4.56)
-रम्भः (उ. 12.4.53)
-रम्भम् (उ. 26.3.37)
-रम्भे (पू. 39.3.33)
-रम्भैः (पू. 24.2.22)
रम्य- (उ. 20.2.22)
-रम्यः (पू. 45.1.10)
-रम्याः (उ. 3.4.54)
-रयम् (पू. 20.2.17)
रस (3 वारम्) रस—पू. 29.3.61; —रस—पू. 14.3.30; उ. 35.4.43
-रसकदली- (उ. 35.4.51)
-रसकदलीस्तम्भ- (उ. 35.4.52)
-रसकदलीस्तम्भगौरः (उ. 35.4.53)
-रसाः (उ. 51.4.41)
-रसाभि- (पू. 29.3.64)
-रशनाः (2 वारम्) पू. 38.1.8; उ. 3.2.21

-रह- (11 वारम्) कृदन्त; पू. 1.1.6; 8.3.35; 12.4.42; 30.3.43; उ. 24.2.25; 26.1.4; 28.1.8; 28.4.56; 31.1.4; 49.3.23; 52.1.7
-रहगणितम् (उ. 49.3.27)
-रहगुरुणा (पू. 1.1.13)
-रहजम् (पू. 12.4.49)
-रहतनु (उ. 24.2.29)
-रहदिवस- (उ. 26.1.10)
-रहदिवसस्थापितस्य (उ. 26.1.11)
-रहदिवसे (उ. 31.1.8)
-रहमहतीम् (उ. 28.4.60)
-रहवि- (पू. 8.3.41)
-रहविधुराम् (पू. 8.3.42)
-रहशयने (उ. 28.1.12)
-रहाव- (पू. 30.3.49)
-रहावस्थया (पू. 30.3.50)
-रहे (2 वारम्) उ. 51.1.29; 33.2.18
-रहेषु (उ. 26.4.56)
-रहोद्- (उ. 52.1.20)
-रहोदग्र- (उ. 52.1.21)
-रहोदग्रशोकाम् (उ. 52.1.22)
-राग- (पू. 35.4.53)
-रागम् (उ. 13.3.33)
-रागैः (उ. 44.1.12)
-रागाङ्कितेषु (पू. 35.4.64)
-राजः (पू. 33.1.6)
राज- (3 वारम्) पू. 3.2.23; 11.4.47; 25.1.9
-राजस्य (पू. 3.2.24)
-राध्य (पू. 48.1.2)
-राशी- (उ. 51.4.46)
-राशीभवन्ति (उ. 51.4.50)
राम- (2 वारम्) पू. 1.4.58; उ. 40.2.17; पू. 1.4.58—दाशरथि (चरित्र.)
रामगिरि- (2 वारम्) पू. 1.4.62; उ. 40.2.22; पू. 1.4.62; चित्रकूट (चरित्र., संजी.)
रामगिर्या- (2 वारम्) पू. 1.4.63; उ. 40.2.23
रामगिर्याश्रम- (उ. 40.2.24)
-रिक्त- (पू. 2.2.28) शून्या (चरित्र., संजी.)
-रिक्तप्र- (पू. 2.2.43)
-रिक्तप्रकोष्ठः (पू. 2.2.44)
-रुचयः (उ. 14.4.47)
-रुचा (पू. 47.3.34)
-रुचिना (पू. 15.4.44)
-रुजा- (पू. 27.3.33)
-रुजाक्लान्त- (पू. 27.3.59)
-रुजाक्लान्तकर्ण- (पू. 27.3.60)
-रुजाक्लान्तकर्णोत्पलानाम् (पू. 27.3.61)
-रुदित- (उ. 23.1.5)
-रुदितोत्- (उ. 23.1.18)
-रुदितोच्छून- (उ. 23.1.19)
-रुदितोच्छूननेत्रम् (उ. 23.1.20)
-रुधि (पू. 42.4.36)
रुद्ध (4 वारम्) "रुद्ध—" पू. 40.2.8; उ. 34.1.54; "—रुद्ध—" उ. 30.4.47
रुद्धा- (पू. 40.2.11)
रुद्धाप- (उ. 34.1.6)
रुद्धापाङ्ग- (उ. 34.1.7)
रुद्धापाङ्गप्र- (उ. 34.1.8)
-रुद्धाव- (उ. 30.4.68)
-रुद्धावकाशाम् (उ. 30.4.69)
-रुह- (2 वारम्) पू. 30.2.25; उ. 35.1.5
-रुहतरु- (पू. 30.2.31)
-रुहतरुभ्रंशिभिः (पू. 30.2.32)
-रुहपदैः (उ. 35.1.8)
-रुहाम् (उ. 6.2.10)
-रुह्य (पू. 16.3.51)
-रुढम् (पू. 8.1.3)
-रूढे (पू. 18.2.22)
-रूढैः (पू. 21.1.8)
-रूपम् (2 वारम्) पू. 6.2.21; 13.1.9
-रूपाम् (उ. 22.4.41)
-रोध- (उ. 9.3.45)
-रोधः (पू. 44.2.25)
-रोधाप- (उ. 9.3.61)

-रोधापगम- (उ. 9.3.62)
-रोधापगमवि- (उ. 9.3.63)
-रोधापगमविशदैः (उ. 9.3.64)
-रोधोनितम्बम् (पू. 44.2.29)
-रोहान् (पू. 34.2.19)

ल्

-लक्षणाम् (पू. 25.1.5)
-लक्ष्यन्ते (पू. 34.4.38)
-लक्ष्येषु (उ. 12.3.46)
-लग्ना (उ. 50.1.8)
लघु (2 वारम्) "लघु—" पू. 16.4.65; "—लघु" पू. 13.4.46
-लङ्घित- (पू. 48.1.13)
-लङ्घिताध्वा (पू. 48.1.17)
-लता- (2 वारम्) पू. 50.1.9; उ. 36.4.46
-लताग्रन्थि (उ. 36.4.57)
-लतावि- (पू. 50.1.24)
-लताविभ्रमाणाम् (पू. 50.1.25)
लब्ध- (2 वारम्) पू. 6.4.46; उ. 36.1.8
लब्धनिद्रा- (उ. 36.1.11)
-लब्धे (उ. 36.3.37)
-लभ- (2 वारम्) उ. 40.4.56; 47.3.39
-लभप्र- (उ. 47.3.45)
-लभप्रार्थनम् (उ. 47.3.46)
-लभवि- (उ. 40.4.62)
-लभविपदाम् (उ. 40.4.63)
लम्ब- (उ. 23.3.54)
-लम्बन- (पू. 4.1.11)
-लम्बनार्थी (पू. 4.1.22)
-लम्बम् (उ. 30.2.21)
-लम्बाः (उ. 9.2.36)
-लम्बे (उ. 48.1.10)
-लम्बेथाः (पू. 48.3.33)
-लम्भजाम् (पू. 48.3.40)
ललित- (2 वारम्) पू. 35.4.50; उ. 1.1.4
ललितवनिता- (पू. 35.4.55)
ललितवनितापाद- (पू. 35.4.56)
ललितवनितापादराग- (पू. 35.4.57)
-लव- (2 वारम्) पू. 21.4.39; उ. 9.4.83
-लवमुचः (पू. 21.4.43)
-लवस्यन्दिनः (उ. 9.4.90)
-लसत्- (पू. 50.2.35)
-लसत्कृष्ण- (पू. 50.2.73)
-लसत्कृष्णसार- (पू. 50.2.74)
-लसत्कृष्णसारप्र- (पू. 50.2.75)
-लसत्कृष्णसारप्रभाणाम् (पू. 50.2.76)
-लसनात् (पू. 41.2.15)
-लसित- (उ. 20.4.46)
-लसितनिभाम् (उ. 20.4.62)
लाक्षा- (उ. 13.3.32)
-लापाः (उ. 10.4.69)
-लावी- (पू. 27.4.75)
-लावीमुखानाम् (पू. 27.4.79)
-लाषम् (उ. 49.3.32)
-लाषी (उ. 17.3.31)
-लास- (पू. 16.1.11)
-लासम् (उ. 34.2.36)
लासान् (2 वारम्) "—लासान्" उ. 43.3.36; "—लासान्—" पू. 16.1.24
-लासानभि- (पू. 16.1.25)
-लासानभिज्ञैः (पू. 16.1.26)
लिखित- (उ. 19.2.17)
-लिख्य (उ. 44.1.3)
-लिङ्गनानाम् (उ. 9.1.8)
-लिङ्गितानि (पू. 22.4.46)
-लिङ्ग्यः (पू. 12.1.10)
-लिङ्ग्यन्ते (उ. 46.3.28)
-लिह- (उ. 1.3.39)
-लिहाग्राः (उ. 1.3.43)
-लीनः (पू. 39.1.11)
लीला- (2 वारम्) पू. 38.1.11; उ. 2.1.2
लीलाव- (पू. 38.1.14)

-लुप्यते (उ. 44.3.31)
-लुम्पन्ति (उ. 9.4.77)
-लेखा- (पू. 47.1.2)
-लेखावलयि (पू. 47.1.6)
-लेख्यानाम् (उ. 8.2.25)
-लेपान् (पू. 14.4.51)
-लेशाः (उ. 45.4.64)
-लोके (3 वारम्) पू. 3.3.29; 40.2.10; उ. 24.1.2
-लोचनैः (पू. 16.2.36)
लोध्र- (उ. 2.2.17)
लोध्रप्र- (उ. 2.2.21)
लोध्रप्रसव- (उ. 2.2.22)
-लोभात् (उ. 42.2.20)
लोल- (पू. 28.4.63)
लोलाप- (पू. 28.4.66)

व्

वक्त्र- (उ. 43.2.16)
-वचनम् (2 वारम्) पू. 4.4.46; 29.4.71; वचनम् (प्रदीप, चरित्र., संजी.)
-वचनाम् (उ. 24.3.38)
-वचनैः (उ. 37.4.47)
-वचोभिः (उ. 52.3.76)
वत्स- (पू. 33.1.5)
वदन- (उ. 17.4.40)
वदनात्- (पू. 42.3.22)
-वधू- (3 वारम्) पू. 16.2.35; 19.1.5; 50.4.59
-वधूनेत्र- (पू. 50.4.65)
-वधूनेत्रकौतूहलानाम् (पू. 50.4.66)
-वधूभुक्त- (पू. 19.1.15)
-वधूभुक्तकुंजे (पू. 19.1.16)
-वधूलोचनैः (पू. 16.2.42)
वन (7 वारम्) "वन—" पू. 19.1.3; 20.1.3; 27.1.6; "—वन—" पू. 17.1.6; 24.1.4; 24.3.51; 48.1.6
-वनम् (3 वारम्) पू. 33.2.13; 39.1.5; उ. 10.4.75
वनगज- (पू. 20.1.6)
वनचर- (पू. 19.1.8)
वनचरवधू- (पू. 19.1.9)
वनचरवधूभुक्त- (पू. 19.1.10)
वननदी- (पू. 27.1.10)
वननदीतीर- (पू. 27.1.11)
-वनभवम् (पू. 48.1.10)
-वनवृतयः (पू. 24.1.15)
-वनान्ताः (पू. 24.3.73)
-वनिता- (3 वारम्) पू. 35.4.51; उ. 10.3.48; 12.4.56
-वनिताः (2 वारम्) पू. 8.2.22; उ. 1.1.5
-वनितापाद- (पू. 35.4.59)
-वनितापादराग- (पू. 35.4.60)
-वनितापादरागाङ्कितेषु (पू. 35.4.61)
-वनितावार- (उ. 10.3.61)
-वनितावारमुख्या- (उ. 10.3.62)
-वनितावारमुख्यासहायाः (उ. 10.3.63)
-वनितावि- (उ. 12.4.62)
-वनिताविभ्रमैः (उ. 12.4.63)
-वनोप- (पू. 17.1.27)
-वनोपप्लवम् (पू. 17.1.28)
-वपुः (पू. 35.1.9)
-वपुषौ (उ. 19.2.18)
वप्र- (पू. 2.4.57) तट (चरित्र.); 'वप्रो रोधसि केदारे प्राकारे पितरि स्मृतः'।
वप्रक्रीडा- (पू. 2.4.64) तटाघातक्रीडा (प्रदीप); तटविदारणं (चरित्र.), उत्खातकेलि (संजी.), 'उत्खातकेलिशृङ्गाद्यैः वप्रक्रीडा निगद्यते' इति शब्दार्णवे।
वप्रक्रीडापरि- (पू. 2.4.65) तट
वप्रक्रीडापरिणत- (पू. 2.4.66)
वप्रक्रीडापरिणतगज- (पू. 2.4.67)
वप्रक्रीडापरिणतगजप्र- (पू. 2.4.69)
-वर्ज्यं (पू. 49.3.32)
वर्ण (2 वारम्) "वर्ण—" पू. 49.1.10; "—वर्ण—" उ. 23.2.32
-वर्णाधर- (उ. 23.2.38)

-वर्णाधरोष्ठम् (उ. 23.2.39)
-वर्णे (पू 18.2.31)
-वर्त्त- (पू. 29.2.48)
-वर्त्तकानाम् (पू. 6.1.8)
-वर्त्तन- (पू. 43.4.46)
-वर्त्तनप्र- (पू. 43.4.61)
-वर्त्तनप्रेक्षितानि (पू. 43.4.62)
-वर्त्तनाभेः (पू. 29.2.55)
-वर्त्तिनः (उ. 54.1.8)
-वर्त्ती (उ. 41.3.52)
वर्ष- (2 वारम्) पू. 1.2.30; 38.3.42; संवत्सर (प्रदीप, चरित्र., संजी.)
वर्षाग्र- (पू. 38.3.45)
-वलभौ (पू. 41.1.6)
-वलय (2 वारम्) पू. 2.2.26; उ. 18.3.47; पू. 2.2.26; कङ्कणानि (चरित्र.) कटकम् 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः (संजी.)
-वलयभ्रंश- (पू. 2.2.36)
-वलयभ्रंशरिक्त- (पू. 2.2.37)
-वलयभ्रंशरिक्तप्र- (पू. 2.2.38)
-वलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः (पू. 2.2.39)
-वलयसु (उ. 18.3.53)
-वलयसुभगैः (उ. 18.3.54)
-वलयि (पू. 47.1.3)
वलि- (उ. 24.1.10)
-वलिभिः (पू. 38.2.20)
वलिवि- (उ. 24.1.14)
वलिव्या- (उ. 24.1.15)
वल्मीक- (पू. 15.2.22)
-वंश- (उ. 18.2.21)
-वंशप्र- (उ. 18.2.42)
-वंशप्रकाशैः (उ. 18.2.43)
-वशात् (पू. 6.3.29)
-वसतयः (उ. 15.3.33)
-वसतिम् (2 वारम्) पू. 40.1.3; 46.1.5
-वसनम् (पू. 44.2.22)
-वसने (उ. 25.1.6)
-वसुधा- (पू. 45.1.6)
-वसुधागन्ध- (पू. 45.1.46)
-वसुधागन्धसम्- (पू. 45.1.47)
-वसुधागन्धसम्पर्क- (पू. 45.1.48)
-वसुधागन्धसम्पर्करम्यः (पू. 45.1.49)
-वसेः (पू. 26.1.9)
-वह- (पू. 46.4.52)
-वहमुखे (पू. 46.4.56)
-वात- (उ. 27.4.53)
-वातः (पू. 32.4.48)
-वाताः (उ. 46.3.35)
-वातायन- (उ. 27.4.59)
-वातापनस्थः (उ. 27.4.60)
-वानीर (पू. 44.1.11)
-वानीरशाखम् (पू. 44.1.18)
वान्त- (पू. 20.1.10)
वाम- (उ. 17.3.28)
वामपाद- (उ. 17.3.32)
वामपादाभि- (उ. 17.3.33)
-वार- (उ. 10.3.49)
-वारमुख्या- (उ. 10.3.64)
-वारमुख्यासहायाः (उ. 10.3.65)
वारित- (उ. 6.2.15)
वाल- (उ. 14.4.49)
वालमन्दार- (उ. 14.4.52)
-वाष्पः (पू. 3.2.17); अश्रु (चरित्र.) पानीय (चरित्र), अश्रु (संजी.)
-वास- (उ. 18.1.9)
-वासयष्टिः (उ. 18.1.13)
-वाहनानाम् (उ. 35.3.36)
-वाहम् (2 वारम्) पू. 49.2.22; उ. 38.1.13
वि (101 वारम्) "वि—" पू. 4.4.59; 6.3.27; 8.3.34; 9.4.57; 17.4.73; 19.3.50; 19.4.57; 22.1.12; 23.4.57; 26.1.12; 27.1.1; 28.3.44; 29.4.81; 30.3.42; 30.3.52; 34.3.28; 36.1.13; 37.2.14; 40.4.53; 43.3.31; 44.4.45; 44.4.52; 48.3.31; उ. 1.1.1; 1.4.51; 4.3.46; 7.4.56; 9.4.75;

-वृत- (पू. 44.4.46)
-वृत: (उ. 17.2.18)
-वृतजघनाम् (पू. 44.4.50)
-वृतय: (पू. 24.1.5)
-वृत्त: (2 वारम्) पू. 42.4.30; उ. 52.2.52
-वृत्तम् (उ. 29.2.28)
-वृत्ता: (उ. 46.2.25)
-वृत्ति: (2 वारम्) पू. 8.4.59; उ. 32.4.50
वृत्ति (2 वारम्) —वृत्ति—उ. 3.4.53; —वृत्ति—पू. 3.3.37; वर्त्तनमित्यर्थ: (चरित्र.) व्यापार: (संजी.)
-वृत्तिम् (पू. 4.2.29)
-वृत्तिरभ्या: (उ. 3.4.64)
-वृद्धान् (पू. 31.1.9)
-वृष- (उ. 52.2.32)
-वृषोत्- (उ. 52.2.45)
-वृषोत्खात- (उ. 52.2.46)
-वृषोत्खातकूटात् (उ. 52.2.47)
-वृष्टि: (पू. 20.1.11)
-वेक्ष्याव: (उ. 49.4.37)
-वेग- (पू. 39.4.53)
-वेगस्तिमित- (पू. 39.4.63)
-वेगस्तिमितनयनम् (पू. 39.4.64)
-वेणि- (उ. 38.4.47)
-वेणिमोक्ष- (उ. 38.4.57)
-वेणिमोक्षोत्सुकानि (उ. 38.4.58)
वेणी (2 वारम्) वेणी—पू. 30.1.1; —वेणी—पू. 18.2.29
वेणीभूत- (पू. 30.1.7)
वेणीभूतप्र- (पू. 30.1.7)
वेणीभूतप्रतनु- (पू. 30.1.8)
-वेणीम् (उ. 31.4.49)
-वेणीस- (पू. 18.2.35)
-वेणीसवर्णे (पू. 18.2.36)
-वेशम् (पू. 43.2.26)
-वेश्माभि: (पू. 26.4.68)
-वेषस्य (पू. 15.4.48)
-वेष्टन- (उ. 16.2.15)
-वेष्टनप्र- (उ. 16.2.25)
-वेष्टनप्रेक्षणीय: (उ. 16.2.26)
-वेष्टनीयाम् (उ. 31.2.24)
-वैदूर्य- (उ. 15.2.25)
-वैदूर्यनालै: (उ. 15.2.29)
वैभ्राज- (उ. 10.3.40)
वैभ्राजा- (उ. 10.3.43)
-व्यक्ति: (पू. 12.4.39)
-व्यक्ति (उ. 23.3.50)
-व्यति- (पू. 15.1.13)
-व्यतिकर: (पू. 15.1.14)
-व्यथाभि: (उ. 47.4.59)
व्यप- (उ. 15.4.50)
व्यपगत- (उ. 15.4.51)
व्यव- (2 वारम्) पू. 23.4.60; उ. 53.1.6
व्या (7 वारम्) व्या—पू. 4.4.62; 48.3.34; उ. 9.4.78; —व्या—पू. 9.2.24; उ. 27.1.8; 24.1.17; 40.3.39
-व्याकुला (उ. 24.1.18)
-व्यापन्न: (उ. 40.3.40)
-व्यापन्नाम् (पू. 9.2.25)
-व्यापाराम् (उ. 27.1.9)
व्योम- (पू. 46.2.27)
व्योमगङ्गा- (पू. 46.2.31)
व्योमगङ्गाजल- (पू. 46.2.32)
-व्रण- (उ. 14.4.65)
-व्रणाङ्कै: (उ. 14.4.72)

श्

शङ्का- (उ. 8.3.41)
शङ्ख- (2 वारम्) पू. 34.1.7; उ. 19.2.20
-शदानि (पू. 43.3.32)
-शदै: (उ. 9.3.49)
-शफर- (पू. 43.4.44)
-शफरोद्- (पू. 43.4.54)
-शफरोद्वर्त्तन- (पू. 43.4.55)
-शफरोद्वर्त्तनप्र- (पू. 43.4.56)

-शफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि (पू. 43.4.57)
शब्द (2 वारम्) "शब्द–" उ. 42.1.1; "–शब्द–" उ. 53.3.27
शब्दा- (उ. 42.1.4)
-शमित- (पू. 17.1.5)
-शमितवन- (पू. 17.1.24)
-शमितवनोप- (पू. 17.1.25)
-शमितवनोपप्लवम् (पू. 17.1.26)
-शयनात् (उ. 49.1.6)
-शयनाम् (उ. 27.4.50)
-शयने (उ. 28.1.9)
शय्या- (उ. 32.2.22)
शय्योत्- (उ. 32.2.25)
शर (2 वारम्) "शर–" पू. 48.1.5; "–शर–" उ. 4.2.22
-शरच्चन्द्रिकासु (उ. 49.4.48)
-शरजात् (उ. 4.2.26)
-शरणम् (उ. 47.4.54)
-शरत्- (उ. 49.4.41)
-शरवण- (पू. 48.1.8)
-शशि- (2 वारम्) पू. 46.3.41; 47.3.33
-शशिभृता (पू. 46.3.45)
-शशिरुचा (पू. 47.3.37)
शष्प- (पू. 34.2.10)
-शाखम् (पू. 44.1.12)
शान्त- (पू. 39.4.51)
शान्तोद्- (पू. 39.4.56)
शान्तोद्वेग- (पू. 39.4.57)
शान्तोद्वेगस्तिमित- (पू. 39.4.58)
शाप- (उ. 49.1.1)
शार्ङ्ग- (उ. 49.1.11)
-शिखरः (उ. 16.1.4)
शिखरि- (उ. 21.1.3)
-शिखिनः (उ. 33.3.39)
-शिखिभिः (पू. 35.2.27)
शिञ्जा- (उ. 18.3.46)
शिञ्जावलय- (उ. 18.3.50)
शिञ्जावलयसु- (उ. 18.3.51)
-शिथिलम् (2 वारम्) उ. 7.1.5; 52.4.84
शिप्रा- (पू. 32.4.47)
-शिरः- (पू. 7.4.45)
-शिरश्चन्द्रिका- (पू. 7.4.79)
-शिरश्चन्द्रिकाधौत- (पू. 7.4.80)
-शिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या (पू. 7.4.81)
शिला (2 वारम्) "शिला–" पू. 26.4.67; "–शिला–" उ. 15.1.5
-शिलाबद्ध- (उ. 15.1.13)
-शिलाबद्धसोपान- (उ. 15.1.14)
-शिलाबद्धसोपानमार्गा (उ. 15.1.15)
-शिलीन्ध्राम् (पू. 11.1.12)
-शिलीम् (पू. 11.1.9)
शिशिर- (उ. 22.4.35)
-शिशिरतया (उ. 23.2.29)
-शिशिरान् (उ. 29.1.5)
-शिशिरैः (उ. 6.1.3)
शीघ्र- (उ. 20.1.6)
शीघ्रसम्- (उ. 20.1.10)
शीघ्रसम्पात- (उ. 20.1.11)
-शीतलेन (उ. 37.1.8)
-शीर्णाम् (पू. 19.3.51)
-शुक्तीः (पू. 34.1.8)
शुक्ल- (पू. 23.3.23)
शुक्लाप- (पू. 23.3.26)
-शुचः (उ. 15.4.49)
-शुचम् (उ. 27.2.24)
-शुचा (उ. 31.2.17)
शुद्ध- (उ.. 30.2.13)
-शून- (उ. 23.1.7)
-शूननेत्रम् (उ. 23.1.23)
-शून्यम् (उ. 34.1.19)
शेष- (पू. 18.4.63)
-शेषम् (पू. 41.3.36)
शेषवि- (पू. 18.4.67)
शेषविस्तार- (पू. 18.4.68)

ष्

स्

-संस्थे (पू. 3.4.21.63); स्विते (प्रदीप); स्थिति (संजी.)
स (19 वारम्) स—पू. 10.2.18; 14.3.29; 22.4.34; 23.3.29; 25.4.47; 36.1.7; उ. 1.1.7; 1.1.13; 8.1.3; 12.3.24; 27.1.1; 29.1.41; 35.4.42; 41.2.11; 50.2.17; 50.3.26; 52.3.54; —स—पू. 18.2.30; उ. 37.3.38.
-सकल- (उ. 23.3.49)
-सकलव्यक्ति (उ. 23.3.53)
-सकृत् (3 वारम्) उ. 31.3.36; 32.2.32; 50.3.34
-सखम् (2 वारम्) पू. 12.1.5; उ. 12.1.5
-सङ्ग- (पू. 28.2.14)
-सङ्गप्र- (पू. 28.2.30)
-सङ्गप्रणय- (पू. 28.2.31)
-सङ्गप्रणयवि- (पू. 28.2.32)
-सङ्गप्रणयविमुख: (पू. 28.2.33)
-सङ्गे (2 वारम्) उ. 25.1.2; 32.2.24
सजल- (पू. 23.3.32)
-सण्ण:- (उ. 20.2.26)
-सण्ण- (उ. 28.1.15)
-सण्णैक- (उ. 28.1.25)
-सण्णैकपार्श्वाम् (उ. 28.1.26)
सतत- (उ. 8.1.6)
-सदृशम् (पू. 9.3.45)
सद्य:- (पू. 9.4.50)
-सनाथे (उ. 37.3.42)
-सन्दर्शनेषु (उ. 45.2.48)
सन्देश- (पू. 5.2.22)
-सन्देशै: (2 वारम्) उ. 27.3.39; 38.2.20
सन्ध्या- (पू. 37.3.25)
सन्ध्याबलि- (पू. 37.3.28)
सन्नि- (6 वारम्) पू. 5.1.14; 29.3.70; उ. 15.3.39; 28.1.18; 29.2.29; 32.1.7
सन्निषण्ण- (उ. 28.1.19)
सन्निषण्णैक- (उ. 28.1.20)
-सन्ने (4 वारम्) पू. 4.1.3; 24.3.44; 43.1.7; उ. 34.3.49
-सन्नौ (उ. 17.2.13)
सन्त्यस्त- (उ. 32.1.8)
सन्त्यस्ता- (उ. 32.1.9)
सभ्रू- (2 वारम्) पू. 25.4.50; उ. 12.3.30
सभ्रूभङ्ग- (उ. 12.3.31)
सभ्रूभङ्गप्र- (उ. 12.3.32)
सभ्रूभङ्गप्रहित- (उ. 12.3.33)
सम् (46 वारम्) "सम—" पू. 5.1.11; 5.2.19; 7.1.1; 7.2.12; 8.3.31; 11.4.42; 12.3.28; 13.2.20; 17.3.65; 24.4.74; 29.2.37; 29.3.67; 32.1.2; 34.4.37; 43.4.55; 46.4.51; उ. 1.2.16; 6.4.42; 14.3.18; 15.3.36; 26.3.29; 28.1.13; 29.2.26; 33.1.6; 35.3.21; 35.3.24; 39.2.33; 39.4.55; 41.3.41; 41.4.54; 44.4.39; 47.1.1; 54.3.41; "—सम—" पू. 3.4.59; 22.4.43; 26.2.19; 35.1.14; 45.1.8; उ. 4.2.28; 9.3.44; 20.1.7; 27.3.35; 30.3.26; 35.3.35; 38.2.16; 45.2.44
समधिकतर- (उ. 41.3.45)
समधिकतरोत्- (उ. 41.3.46)
-समये (पू. 22.3.30)
-समीपम् (उ. 38.2.31)
-सम्पर्क- (पू. 45.1.53)
-सम्पर्करम्य: (पू. 45.1.54)
-सम्पर्कात् (पू. 26.2.23)
-सम्पात- (उ. 20.1.13)
-सम्पातहेतो: (उ. 20.1.14)
सम्भृत- (2 वारम्) उ. 33.1.9; 54.3.44
सम्भोग- (उ. 35.3.27)
-सम्भ्रम- (पू. 22.4.62)
-सम्भ्रमा- (पू. 22.4.63)
-सम्भ्रमालिंगितानि (पू. 22.4.64)
-संयोग- (उ. 4.2.34)
-संयोगसाध्यात् (उ. 4.2.35)
-संरोध- (उ. 9.3.56)
-संरोधाप- (उ. 9.3.57)
-संरोधापगम- (उ. 9.3.58)

-सिकतामुष्टिनि- (उ. 6.3.33)
-सिकतामुष्टिनिक्षेप- (उ. 6.3.34)
-सिकतामुष्टिनिक्षेपगूढै: (उ. 6.3.35)
सित- (उ. 5.1.3)
-सितम् (उ. 53.1.5)
सिद्ध (2 वारम्) "सिद्ध—" पू. 48.2.18; "—सिद्ध—" पू. 14.2.22
-सिद्धाङ्गनाभि: (पू. 14.2.26)
सीर- (पू. 16.3.45)
सीरोत्- (पू. 16.3.49)
सीरोत्कषण- (पू. 16.3.50)
सु (18 वारम्) "सु—" पू. 23.3.35; 30.3.39; 31.3.34; 31.3.40; 32.3.35; 41.4.41; उ. 9.2.27; 33.3.29; 40.4.55; "—सु—" पू. 4.4.53; 10.4.51; 11.2.20; 17.3.51; 25.3.27; 29.2.41; 43.2.15; 45.2.59; उ. 18.3.48
-सुकृत- (पू. 17.3.59)
-सुकृताप- (पू. 17.3.60)
-सुकृतापेक्षया (पू. 17.3.61)
-सुखा (36.1.10)
-सुखान् (पू. 38.3.35)
सुचरित- (पू. 31.3.43)
सुप्त- (पू. 41.1.8)
-सुभग: (पू. 43.2.22)
सुभगम् (6 वारम्) "—सुभगम्" पू. 10.4.55; 11.2.24; 25.3.43; 29.2.45; 45.2.70; "सुभगम्—" उ. 33.3.33
सुभगम्मन्य- (उ. 33.3.34)
-सुभगै: (उ. 18.3.55)
सुर- (उ. 14.2.13)
सुरत- (2 वारम्) पू. 32.3.38; उ. 9.2.30
सुरपति- (उ. 14.2.17)
सुरपतिधनु:- (उ. 14.2.18)
-सुरभय: (उ. 46.2.16)
सुरभि (2 वारम्) "—सुरभि" पू. 16.3.48; "सुरभि—" पू. 48.3.37
सुरभितनया- (2 वारम्) पू. 48.3.41; 48.3.42
-सुरभिम् (पू. 21.3.28)
-सुरभिषु (पू. 35.3.42)
-सुरभौ (पू. 23.2.18)
सुलभ- (उ. 40.4.59)
सुलभवि- (उ. 40.4.60)
सुहृत्- (उ. 39.4.49)
सुहृदुप- (उ. 39.4.52)
सूचि- (2 वारम्) पू. 24.1.17; 40.2.20
-सूतम् (उ. 5.3.39)
-सूत्रै: (उ. 11.3.34)
सूर्य- (उ. 19.4.37)
सेन्द्र- (उ. 1.1.10)
-सेवन्ते (उ. 5.3.30)
सोत्- (पू. 22.4.37)
-सोपान- (उ. 15.1.7)
-सोपानमार्गा (उ. 15.1.18)
सौध- (2 वारम्) पू. 28.2.12; उ. 27.4.52
सौधवात- (उ. 27.4.56)
सौधवातायन- (उ. 27.4.57)
सौधोत्- (पू. 28.2.19)
सौधोत्सङ्ग- (पू. 28.2.20)
सौधोत्सङ्गप्र- (पू. 28.2.21)
सौधोत्सङ्गप्रणय- (पू. 28.2.22)
सौधोत्सङ्गप्रणयवि- (पू. 28.2.23)
स्खलित- (पू. 29.2.40)
स्खलितसु- (पू. 29.2.43)
स्तन- (उ. 11.3.30)
स्तनपरि- (उ. 11.3.35)
स्तनपरिसर- (उ. 11.3.36)
स्तनपरिसरच्छिन्न- (उ. 11.3.37)
स्तनित (6 वारम्) "स्तनित—" पू. 22.3.29; उ. 36.2.19; 37.4.43; "—स्तनित—" पू. 25.3.26; 29.1.3; 40.4.40
-स्तनितमुखर: (पू. 40.4.49)
स्तनितवि- (उ. 36.2.22)
-स्तनितविह- (पू. 29.1.22)
-स्तनितविहग- (पू. 29.1.23)

-स्पर्शलोभात् (उ. 42.2.23)
-स्पृष्टम् (उ. 46.4.40)
-स्पृष्टा (उ. 8.3.42)
स्फटिक- (उ. 18.1.5)
स्फुट- (उ. 9.4.81)
स्फुटजल- (उ. 9.4.85)
स्फुटजललव- (उ. 9.4.86)
स्फुटित- (पू. 32.2.11)
स्फुटितकमल- (पू. 32.2.17)
स्फुटितकमला- (पू. 32.2.18)
स्फुटितकमलामोद- (उ. 32.2.19)
स्फुटितकमलामोदमैत्री- (पू. 32.2.0)
स्फुरित (3 वारम्) "स्फुरित—" पू. 15.4.43; "—स्फुरित—" पू. 28.3.47; उ. 16.4.41
-स्फुरितचकितैः (पू. 28.3.58)
-स्फुरिततडितम् (उ. 16.4.48)
-स्मरन्ती (उ. 25.4.49)
-स्मृत- (उ. 34.2.33)
-स्मृतभ्रू- (उ. 34.2.41)
-स्मृतभ्रूवि- (उ. 34.2.42)
-स्मृतभ्रूविलासम् (उ. 34.2.43)
-स्यन्द- (पू. 45.1.3)
-स्यन्दोत्- (पू. 45.1.28)
-स्यन्दोच्छ्वसित- (पू. 45.1.29)
-स्यन्दोच्छ्वसितवसुधा- (पू. 45.1.30)
-स्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्ध- (पू. 45.1.31)
-स्यन्दोच्छ्वसितसुधागन्धसम्- (पू. 45.1.32)
-स्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्क- (पू. 45.1.33)
-स्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः (पू. 45.1.34)
-स्यन्दिनः (उ. 9.4.84)
-स्येत् (पू. 23.4.59)
-स्तुति- (उ. 46.2.15)
-स्तुतिसुरभयः (उ. 46.2.22)
स्रोतः- (2 वारम्) पू. 45.2.56; 48.4.49
स्रोतोरन्ध्र- (पू. 45.2.61)
स्रोतोरन्ध्रध्वनित- (पू. 45.2.62)
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसु- (पू. 45.2.63)

स्व- (4 वारम्) पू. 1.1.14; 4.2.24; उ. 8.2.27; 37.1.5; आत्मीय (चरित्र.); स्व (संजी.)
स्वजल- (2 वारम्) उ. 8.2.31; 37.1.9
स्वजलकणिका- (2 वारम्) उ. 8.2.32; 37.1.10
स्वप्न- (3 वारम्) उ. 30.3.34; 36.3.36; 45.2.43
स्वप्नसम्- (उ. 45.2.46)
-स्वरम् (उ. 50.2.18)
स्वल्पी- (पू. 31.3.31)
स्वा- (2 वारम्) पू. 4.4.56; 23.3.39
स्वागती- (पू. 23.3.40)
-स्वादः (पू. 44.4.41)
-स्वादयन्ती (ए. 26.3.49)
स्वाधि- (पू. 1.1.17)
-स्वित् (पू. 14.1.6)
-स्वेद- (पू. 27.3.30)
-स्वेदाप- (पू. 27.3.44)
-स्वेदापनयन- (पू. 27.3.45)
-स्वेदापनयनरुजा- (पू. 27.3.46)
-स्वेदापनयनरुजाक्लान्त- (पू. 27.3.47)
-स्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्ण- (पू. 27.3.48)
-स्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानाम् (पू. 27.3.49)

ह्

हंस- (उ. 3.2.18)
हंसश्रेणी- (उ. 3.2.22)
हंसश्रेणीरचित- (उ. 3.2.23)
-हंसाः (2 वारम्) पू. 11.4.48; 24.4.80
-हत- (4 वारम्) पू. 9.2.29; 20.2.16; उ. 1.2.20; 3.4.51
-हतगतिः (पू. 9.2.36)
-हततमः (उ. 3.4.59)
-हततमोवृत्ति- (उ. 3.4.60)
-हततमोवृत्तिरम्याः (उ. 3.4.61)
-हतमुरजाः (उ. 1.2.24)
-हतरयम् (पू. 20.2.27)
-हतेषु (उ. 5.4.55)

Part-III
Rediscovering Kālidāsa

Rediscovering Kālidāsa

For a while Kālidāsa rediscovered himself almost every day. He had to; he was an actor. In the 4th century A.D. repertory system, he might be expected to perform in three different plays on three consecutive days. We have been rediscovered him ever since.

The study of Kālidāsa has been in turmoil since the mid-1970s. Scholars are redefining what he wrote, how he wrote it, what it meant in his own time, and what it means to us. Lines are being redrawn, even now; old stories are being told with new twists; our collective image of Kālidāsa as a person and as a poet is disintegrating and reforming. This book is a product and a chronicle of that crisis, in which I have played some part. We can trace this crisis of images of Kālidāsa back to the middle of the sixth century.

Observing changes in Kālidāsa's image from the mid-sixth century to the late twentieth century alters your perspective on the progress, geography, and substance of criticism. The important questions, the questions that matter beyond the intellectual enclosure of Kālidāsa specialists, do not concern the meaning of particular words or the motives of particular characters; they concern the blunt fact of his cultural dominance. When did people decide that Kālidāsa was the greatest Indian poet and dramatist? Who did the deciding? What prejudices and convictions might have influenced their decision? On what evidence, by what reasoning, did they justify their verdict. How did they persuade others? How did they discredit rival claimants? And once Kālidāsa's hegemony was achieved, how was it maintained? These questions may seem abstract, but they quickly translate into simple issues of writing this part of the book.

The issue of the value accorded to Kālidāsa's works cannot be disentangled from the values of the people have found within those seven works. Unsurprisingly, different periods have interpreted Kālidāsa in different ways. But how did one prevailing interpretation give way to another? When and why did people stop answering one question and start asking another. Kālidāsa provides the best specimen in Sanskrit, one of the best specimens in any language, for investigating the mechanisms of cultural renown.

Questions like these cannot be answered by critical interpretations of his work. Which works are considered Kālidāsa's in any given period, how they are edited, what kinds of commentary they generate, whether they are translated, into what languages, how often they are quoted, how they are spelled, how they are visually represented—cumulatively, such decisions define what "Kālidāsa" means in and to any given period. And the balance of power between these activities shifts. Sometimes the theatre dominates,

and when people think of Kālidāsa they involuntarily recall a great performance of his play; but at other times people disparage the theatre and value Kālidāsa as a Mahākavi (the great poet). So the history of Kālidāsa's evolving reputation must incorporate the annals of criticism, the theatre and many other disciplines. The subject is so big that it has no name. We need a name for it, and so I will chisten it "Kālidāsotics". It embraces everything that a society does in the name—variously spelled-of Kālidāsa.

But in order to interpret what a society does in the name of Kālidāsa, you have to know what else that society does? You can hardly recount the history of the theatre, of commentories, morality, sex—without becoming entangled in the complex entirety of their host society, its economics, politics, ideology, its total social and material structure. And so a history of Kālidāsotics becomes, inevitably, a history of fifteen centuries of our culture.

If Kālidāsa has a singularity, it is because he has become a black hole. Light, insight, intelligence, matter—all pour ceaselessly into him, as critics are drawn into the densening vortex of his reputation; they add their own weight to his increasing mass. The light from other stars—other poets, other dramatists—is wrenched and bent as it passes by him on its own way to us. He wraps cultural space-time; he distorts our view of the universe around him. No literature, philosophy and thoughts are Kālidāsized. His mind is the horizon beyond which at present we do not see.

Within our culture, Kālidāsa is enormously powerful. But criticism, at its best, struggles to be free; like the press at its best, its function is to no doubt what we have been told; it is skeptical; it is suspicious of power. Sychophancy is no more admirable in literature than in politics.

The present study is an attempt to analyse Kālidāsa in a semiotic web. During the past fifty years, semiotics has registered a radical and widespread impact. Semiotics, a multi-disciplinary enterprise can be best defined as a science dedicated to the better understanding of our *Kosha*—bearing behaviour.

Here semiotics is being used for analysing the codes inherent in the texts of Kālidāsa; and the words and phrases which weave the characters and situations and permit the reader not only to "read" the text but also in between the lines.

Semiotics is the scientific study of signs in a broader aspect. In a way the science of signs is called semiotics. Three scientific branches of semiotics logically result from the introduction of the sign as a triadic relation concerning ground, object and interpretant : grammatical, speculative proper or critical logic and pure rhetorics (Pierce, Collected Papers, Vol. II, p. 228). Linguistic signs sustain three types of relations which define three dimensions of meaning. These dimensions in turn are objects of investigation by Syntactics, Stylistics and Pragmatics. The present semiotic web of Kālidāsa includes all these and their interrelations.

~ΠΡUΗ ·
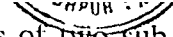
A semiotic structure in Kālidāsa writings consists of two sub-structures of opposition : of the plane of the signifier on which the signifiers stand in a relation of oposition to one another and of the plain of the signified, on which the signifieds stand in a relation to one another. Thus, semiotics of Kālidāsa may be defined as everything that can be taken as a sign.

It means interpreting the language of Kālidāsa within a socio-cultural context, in which the Indian culture itself is interpreted in semiotic terms. Kālidāsa looks at the person in a drama or narrative as an active agent in creating meaning out of his encounter with people and events of his experience. His task is to construct the system of meanings that represent his own model of social reality. This process takes place inside his own head; it is a cognitive process. But it takes place in contexts of social interaction, and there is no way it can take place except in these contexts.

Among literary texts of Kālidāsa, the basic action structure and logical cohesion of the three plays is accessible through the analysis of the written text. The effective construction of the dramatic world and its events is the result of the spectator's ability to impose order upon a dramatic content whose expression is in fact discontinuous and incomplete.

Innumerable attempts have been made by critics to explore and describe individual dramatic worlds and their inhabitants (say, the world of Shakuntalā), at least as they appear in written texts, but relatively little attention has been paid to their peculiar logical and ontological status. One of the tasks of a poetics of the drama is to explore the general world-creating principles of dramatic representation. The 'possible worlds' of the drama in dealing with fictional constructs, semioticians have made use in recent years of a conceptual framework borrowed from logical semantics, namely the so-called 'theory of possible worlds'.

The semioticians of the drama have recently shown greater interest in the dramatic discourse involving language as a mode of dramatic communication, context and deixi involving the types of contexts, deixis, deictic strategies and the segmentation of dramatic text.

The *Semiotica Indica* (1994) written by this author is devoted to the semiotic treatment of Kālidāsa's dramas. In accordance with the principles laid down by the semioticians with some necessary modifications the plays have been studied in *Semiotica Indica* both at macro and micro-level in the two volumes of the above mentioned book. In this book, an attempt has been made to draw a plan approach for the study of the three dramas, at the macro and micro levels, using semiotics of *mudrās*.

So obvious is the close correspondence between Kālidāsa and his words that the significance of the relationship has been generally overlooked by those who might be expected to be more concerned—Sanskrit scholars in relevant disciplines.

'*Kālidāsa-Kosha*' is a selection of lexical items (scattered in *Meghadūtam*), arranged in the alphabetical order, with information concerning them in different *ṭīkās*, and this selection of lexical items could be reproduced in rediscovering Kālidāsa. 'Rediscovering Kālidāsa' is a pragmatic approach in our conceptualization, research and practice. Only rarely was such an approach actually adopted by previous scholars. As an extension of this view-point, the present *Kosha* gives very short outlines in this field.

Although we are not yet to analyze the literary text of Kālidāsa into its most minute constituents, we are beginning to understand of the process of aesthetic-sign-production and sign-processing to attempt a clarification of some notions related to information theory and word-count mathematics, pragmatics, stylistics and non-verbal communication of Kālidāsa.

In this part of *Kālidāsa-Kosha*, we will deal with some of the burning questions posed by literature in our time. We have laid special stress on the part played by Kālidāsa in the literary process and his relationship with the intellectual life of society. While underlining the significance of socialist realism in this part of the *Kosha*, we have explored it both as an artistic method and as a trend demonstrating the wealth of its artistic potential.

This part provides an analysis of the component elements of poetic style, its aesthetic significance and its social function. We have explained here the progressive development of literature and art and criticised those theories which deny the existence of artistic progress in Kālidāsa.

3.1. Introducing Kālidāsa

3.1.1.The Life and Times of Kālidāsa

To every student of Sanskrit literature, it is a matter of keen regret that neither the poet nor Indian tradition should preserve any authentic information about him. Even a cursory study of his works creates a curiosity in the mind about the author and automatically raises the questions about his life, his parentage, his native place, his patrons and friends, the dates of his birth and death and his views on social, religious and political questions. But this curiosity is not satisfied by any internal or external evidence. To make matters worse, there lived not only one author by name of Kālidāsa, but at least three known to Rājashekhara, who wrote—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
श्रृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु।।

Aufrecht (Oxford Cat. Kālidāsa) enumerated fourteen authors whose lives and works came to be confounded and ascribed to the name of the greatest poet of India. The consequence has been, therefore, confusion worse confounded. He is made a toy of fortune, some regarding him as a Brāhman orphan, while others placing him upon a royal throne. Barring one or two traditions, others are simply absurd; but they show the popularity the poet enjoyed even in the remotest part of India. He has been also tossed between the eighth century B.C. to the eleventh century A.D. Rarely have geniuses suffered a strange fate as 'the brightest star in the poetical firmament of India'. Some of the traditions to be given below are now so historically increditable that they deserve no serious attention; but they show a tendency of human mind to group geniuses together.

Various anecdotes, whose truth we cannot yet determine, are told in India. According to the most widely believed tradition, Kālidāsa was an ornament of the mythical King Vikrama's court in the city of Ujjain—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासा:।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।

In the opinion of some, Kālidāsa was in the court of Bhōja Vikramāditya of Dhār who flourished in the ninth century and the well-known couplet laments the decline of learning after his death—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिता खण्डिता: सर्वे भोजराजे दिवंगते।।

According to the third tradition (Indian Antiquary 1878, 115), Kālidāsa was a Brāhman by caste whose parents simultaneously bitten by a serpent left this world before he was six years old and his wife's name was Kamalā. He was then brought up by a cowherd till he attained to his eighteenth year. He had, therefore, no education but was

brought up as a darling of nature. Bhīma Shukla, the king of Vārāṇasī had a daughter, Vāsantī, by name, who did not accept any body's hand unless he was well-versed in all arts and lores. The king also wanted to marry his daughter to a famous grammarian named Vararuci, but the princess considered herself too learned for this scholar. Vararuci, thus scorned, met the handsome cowherd by chance as he sat on a branch and began to saw it off. He brought this poor handsome and stupid boy to the Princess after impressing upon him that he must remain silent. So he stuttered only an odd word as he stood before the king, and Vararuci cleverly interpreted it as a wise saying. The youth gave no answer to question asked by the Princess, and Vararuci explained that he was above answering questions put by a girl. The youth was then married to the Princess, who soon discovered the deception. But the stupid youth paid tribute of flowers to the great goddess Kālī, until she rewarded him with a knowledge of grammar, logic and poetics (Ruben. 1954. 272)—the three branches of learning needed by a poet to help him write correctly, logically and poeticaly. The youth took the name of Kālidāsa, "slave of Kālī", as an expression of his gratitude. When he returned home his wife asked him whether he had attained something—अस्ति कश्चिद्वाग्विशेष : The poet thanked his wife and taking the first words of his wife's question, he then composed the poems of the Kumārasaṁbhava, the Meghadūta and the Raghuvaṁśa.

A fourth tradition says that Kālidāsa was an intimate friend of Kumāradāsa, the king of Ceylon. The king had a favourite woman. One day the king wrote the first line of a Śloka : कमलात्कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते on the wall of her mansion and offered a handsome reward to one who would complete the second line. The poet Kālidāsa happening to lodge at the same house, completed the sequel : बाले तव मुखाम्भोजात्कथमिन्दीवरद्वयम्. The courtezan then, with a hope to get the reward, murdered Kālidāsa and demanded the prize from the King. Of course the King detected the deception, for he was familiar with Kālidāsa's art.

A later tradition among the Pandits, void of any historical truth, makes Kālidāsa a contemporary of Daṇḍin and Bhavabhūti (Chiplunkar's Kavipañchaka). It is said that Bhavabhūti composed the Uttararāmacharita and read it out to Kālidāsa. The later spoke highly of the drama but suggested the omission of one anusvāra from the point of view of poetic beauty.[1] Once Bhavabhūti made a harsh remark on women[2] to which Kālidāsa returned a splendid rapartee.[3] Once the three poets were travelling together to visit the

---

1. Bhavabhūti had composed अविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्।
   Kālidāsa proposed अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्।
2. मधु तिप्ठति वाचि योपितां हृदि हालाहलमेव केवलम्।
3. अत ए[illegible]पीयतेऽधरो हृदयं मुप्टिभिरेव ताड्यते।

shrine of Shri Ranganātha near Shri Rangapuri in Southern India. Kālidāsa then recited a verse[1] in praise of the shrine; Bhavabhūti followed him and Daṇḍin brought up the rear.

A current story regarding Kālidāsa (QJMS, 1918, 277) is that once a poor and ignorant poet approached Kālidāsa and requested him to recommend him to the king to give him some money. Kālidāsa asked him to commit to memory some words of benediction.[2] The poor fellow went before the king and forgetting what he had committed to memory, uttered quite the reverse.[3] The king became highly incensed, but Kālidāsa saved the poor person by putting an auspicious construction over the man's words.[4]

Once a learned Pandit called Ḍamaruka challenged the Pandits to compose a verse the first words of which he puts before them :

अम्भोधिर्जलधिः पयोधिरुदधिर्वारांनिधिर्वारिधिः।

Only Kālidāsa was successful in accepting the challenge and composed the following verse fulfilling the conditions—

अम्बा कुप्यति तात मूर्ध्नि विधृता गङ्गेयमुत्सृज्यताम्।
विद्वन् षण्मुख सन्ततं मयि रता तस्या गतिः का वद।
कोप्याटोपवशाद्विवृद्धवदनः प्रत्युत्तरं दत्तवान्।।

—(Indian Antiquary 1874 : 115)

The foregoing remarks unfortunately help us very little in ascertaining his parentage, his personal life and other facts concerned with his writings. Is it true that Kālidāsa was poor and a cowherd? Similar tales of simpletons who were taught by the gracious gods have come down to us. Do the elements of social critical thinking in his works originate in his early poverty? These elements are in any case so carefully hidden that Indian commentators have not mentioned them, and presumably, therefore, did not notice them. One can thus not claim that the anecdote about Kālidāsa's early poverty rests on this social criticism. This would seem to indicate a certain genuineness, even though the details about the Princess and Vararuci are improbable for Vararuci is traditionally supposed to have lived much earlier than Kālidāsa. On the other hand, King Kumāradāsa of Ceylon is said to have ascended the throne in 515 A.D., and this seems to fit in with Kālidāsa's time, even though dates are often contradictory.

---

1. ऐन्द्री पाटलयत्यलक्तकरुचामंघ्रित्विपामङ्कुरैराशां,
   मौलिकिरीटरत्ननिकरैः पाशायुधीयामपि।
   पर्यङ्के पवमानतूलभरिते पारे कवेरात्मजं,
   मुद्रा काचनमुक्तिदानकुशला निद्राति जागर्त्ति वा।।
2. त्रिपीडापरिहारोऽस्तु।
3. त्रिपीडास्तु।
4. आसने विप्रपीडास्तु शिशुपीडा च भोजने।
   शयने दारपीडा च त्रिपीडास्तु दिने दिने।।

Presumably Kālidāsa was already well known in 473, for at that time a poet in Mandasor (which is near Kālidāsa's home) caused an inscription to be carved on the sun-temple, some of whose verses are modelled on Kālidāsa's (Winternitz, 3 : 44). If this were the case, Kālidāsa would have lived between Skandagupta's time (approximately 455-467) and Kumārdāsa's (515), but was already being imitated in 473.

Other indologists think that Kālidāsa had already lived under Samudragupta and (or) Chandragupta II (375-375, or 375-413), and that he praised the victories of these in his works and also that these two kings had taken the additional name Vikrama, at whose court Kālidāsa is traditionally supposed to have lived. These questions are still not settled and we must confine ourselves to the statement that Kālidāsa appears to have lived in the 4th century. Negative evidence also confirms this view, while Kālidāsa is imitated and quoted from Vatsabhaṭṭi (JRAS, 1984 : 186-7), there is no reference to his works or to him in any literary work or inscriptions before the 5th century A.D.

Ujjain is generally accepted as the place where he worked. Kālidāsa's graphic and accurate description of the Mālavā country and especially that of Mahākāleshvara at Ujjayinī and surrounding places has led scholars to believe that the poet must have been a resident of Mālavā. His description in the Pūrvamegha of the coquettish women of Dashapura shows his greater acquaintance with the city of Dashapura than with that of Ujjayinī. It appears, therefore, to be pretty certain that Dashapura in Western Mālavā was his native place.

Historically, Kālidāsa happens to be in the period of feudalism. It seems that from the 4th century onwards feudal ownership of land began to develop. But alongside this, marked elements of the old system (slave period) remained for a long time. Kālidāsa therefore pictures courts where there were many men and women slaves; in his 'Mālavikā' especially this theme is predominent. His Kings are still despots such as would have ruled in India during the Slave age. How the new feudal relationships affected Kālidāsa's court circles, we still cannot say. We do not yet know which strata amongst the peoples of northern India were decisive in bringing in the new age. It can at any rate be assumed that the beginnings of the new social order in Kālidāsa's surroundings must have been marked enough to provide the impetus for his optimistic, forward looking attitude to life.

3.1.2.Kālidāsa's Works

The reader must be now naturally anxious to know what wonderful creations this great poet has given to the world. It may appear at first sight that the order of sequence is reversed here. The works ought to be mentioned first and then the life of the poet should be described. But it appears more interesting to create a suspense in the mind of the reader to know the 'master spirits embalmed for eternity'. As has been observed above,

there lived many persons bearing the name Kālidāsa and their writings came to be palmed off upon the Great Poet. Twenty-seven works of different kinds are ascribed to Kālidāsa. Out of these the first seven are unanimously accepted as the works of the poet.

The *Ṛtusaṁhāra* is most probably the first poetic child. It is in six cantos corresponding to the six seasons of year into which the year is divided according to the Indian calender. It consists of about 143 stanzas. It describes very graphically the natural beauty of every season and the sentiments aroused by it. It shows the author's minute acquaintance with the flora and fauna of Western Mālavā, and an appreciation of natural beauty, but suffers largely from repetitions. It lacks in artistic unity. Erotic passion runs riot in this poem and shows the immaturity of the poet's art.

The *Meghadūta* is a matchless lyric that the poet comprehends the secret of love and manifests complete fusion of music, imagination and feeling. There are about 112 strophes in the poem, the number varying slightly in various handwritten copies available. All the strophes are in the same metre called 'Mandākrāntā'.

'Kumārasaṁbhava' deals with a legend of Shiva. Only the first part of this epic poem, which consists of eight cantos, has come down to us. The birth of the War God himself and his victory over the demons is not contained in this part, which only tells of the growing love of his parents, the god Shiva and the goddess Pārvatī. A latter poet composed a second part. Whether Kālidāsa himself left the poem unfinished or whether his second part was lost, is not yet clear. But even as a fragment this poem is worthy of high admiration.

The 'Raghuvaṁsha' similar in form but in content absolutely, different, is declared, by many Indians to be Kālidāsa's greatest work. The subject-matter is purāṇic-epic. It deals literally with the line. but primarily with the descendants of Raghu, an old mythical king of the city of Ayodhyā in the northern Ganges valley.

'Shakuntalā' is a drama of King Dushyanta's love for the hermit-girl Shakuntalā. Urvaśī's fate in love (Vikramōrvashīya) is similar to that of Shakuntalā. The poet deals ever and again with the theme of love and separation, again and again he brings about a happy reunion. In the drama of Mālavikāgnimitra, Kālidāsa sings of the love of a slave girl, for this she was during the time of drama, although originally a princess. Thus for this charming treatment of his favourite theme of love, Kālidāsa did not use a mythical, but rather a historical background, a court and events which took place about 500 years before his time.

Kālidāsa sang again and again of the pains of separation and the joys of love. But since he portrayed in his works the loves, despairs and happiness of truly different people, since he showed his lovers as lovable despite their faults, and made them genuinely, human and alive—for all these reasons he is to be accounted a great and warm-hearted

poet who for more than a thousand years has inspired all those who have learned to know his works. And his inspiration will not fade either in his homeland India or anywhere else where the human heart feels the impart of true art.

3.1.3.Kālidāsa's Personality

From a study of the works we can form a picture of Kālidāsa's personality. He must have been born and brought up in a feudal atmosphere congenial to the study of both sacred lore and secular sciences like *politics, erotics,* and *ethics.* His superstitious society did much more for the arts. The views expressed by Kālidāsa show clearly his attitude to the way his art clashed with feudal rationalism and the prosaic everyday life of the feudal society.

Feudal India of Kālidāsa was a progressive country in comparison with most of rest of the World, dominated by political reaction. It was in this that Indian people produced not only the secular science like dramaturgy, erotics, medicine, and metrics, but also the philosophical catecisms and law codes. On the literary side, it was left to the genius of Kālidāsa to become a prophet of the new synthesis in stimmering ideas of his age and to give a new status to Sanskrit language. If Sanskrit came to be recognised as a national language all over the country, it was in no small measure due to the grace and finish that Kālidāsa contributed to it. In his period Indian art and especially literature were in the very forefront of world culture.

It would obviously be a fruitless task to set up Kālidāsa "in order of greatness" or create a kind of ladder with different rungs for Kālidāsa according to the place he fills in the development of art. We could never prove, nor would we ever need to, who was 'greater' : Kālidāsa or Shakespeare, although this does not make it impossible or unnecessary to value differently the role and significance of Kālidāsa. We could never compare the value of the work of Kālidāsa with that of Shakespeare, while we can see obvious differences between the work of Kālidāsa and Shakespeare from the point of view of artistry and from that of their historical significance. "Conflict for Shakespeare is the essence of the play, and harmony is always superficial and precarious. While for Kālidāsa it is the harmony within the rhythm of life that is the essence of play and conflict is but a peripheral skirmish." (Joseph, T.F. Jordens, "Idyll and Reality in the Shakuntalā and the Tempest." Jadavapur Journal of Comparative Literature, Vol. 5, 1965, pp. 1-21). The fact of such comparisons, however, does make the work of Kālidāsa or of Shakespeare lose any of its own aesthetic value, it still has the power to attract the reader. Or we could cite another, more complex example of the same thing. There could we do doubting that Kālidāsa's contribution to Indian and world literature is more significant than that of, Bhavabhūti. Inspite of this, however, Bhavabhūti's works are still rightly considered

classics. On the other hand to compare Kālidāsa with Bhavabhūti could not lead to any serious conclusions on the superiority of either one or the other composer.

Comparison, however, is often not only possible, but even necessary, and this is a fact that will always be with us. It does not follow, though, that we should base our understanding of the concept of artistic progress on some idea of the superiority of the artists of one age or another over their precursors or their contemporaries, or adhere to these principles of 'greater' and 'lesser'.

The idea that the works of Kālidāsa will keep their aesthetic value for many ages to come is itself a proof of the progressive currents in Kālidāsa. There is a continuous process in his works where previous forms do not disappear completely. They still continue to exist, alongside the other forms which have evolved out of them. In contrast to the world of nature, not only his works continue to exist and to excite profound interest, but also they cannot be viewed as lower forms in comparison with the works of subsequent ages. Movement from lower to higher cannot be regarded as the criterion of artistic development.

The development or progress that takes place in the works of Kālidāsa is the Indian tradition or continuity. The interaction of tradition and innovation (पुराणमित्येव न साधु सर्वम् etc.) has not only shaped the historical evolution of his art, but also has significantly contributed to his aesthetic achievements. Briefly, it is the general idea of 'dharma' itself which is the undying core of Kālidāsa and Indian social tradition—धर्मो रक्षति रक्षितः।

Admitting the significance of tradition and continuity with the undying core of 'dharma', we should accept that 'dharma' in art of Kālidāsa is not something detached from its forward movement, but along with tradition it appears as one of the elements of movement, because it heralds the appearance of something new. We should not confuse Indian tradition with stagnation, as Indian sociologists do. But if tradition goes hand in hand with the appearance of new forms and processes (न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्), and this is a fact in Kālidāsa which could hardly be, but to doubt, then there is no justification to call that there is no progressive development in the art of Kālidāsa.

Of course, Indian art of one period is not isolated from that of others. To disregard the continuity between them, their harmony and the forward movement means to ignore the facts which it is impossible to doubt. Great works of art from any period do not comprise a hermetic aesthetic world, whether in their origins or in their active life.

Kālidāsa's artistic progress may be seen as a process in which the study of life through images, grows broader and more complex and where new facets of reality are assimilated into the human imagination.

Artistic discoveries are to be made not only in spheres that are completely uncharted, but also in those fields that have already been more or less assimilated by artists. Kālidāsa is often quoted in this context, as a writer who while using the themes and plots of Epics

and Purāṇas created new characters of unusual power, far greater in value than all those upon which they were based.

Another important feature of the works of Kālidāsa is that they are the best examples of comic traditions in folk culture and rose to the level of the greatest literature of the age, impregnating it with their strength. Without understanding this fact, we can understand neither the literature nor the culture of Gupta age.

Significant in the works of Kālidāsa is the depiction of character with a gradual development from the earth to the heaven. He develops his character through the ordeals of duties and obligations and not through rights and privileges. He strikes harmony among different aims of life. He believes in the growth of integrated personality. The high value which Kālidāsa placed on the faculty of reason does not prevent him from depicting burning passions of Rāvaṇa (Raghuvaṁsha, X) and the stormy of development of action. In the best of his works female characters are successfully depicted.

Kālidāsa found his plots and heroes mainly in the world of classical history and mythology. There is no doubting, however, the vital link between his works and the time he lived in. In India Kālidāsa arose against the background of a worsening crisis for feudal society, in an age of absolutism determined to subjugate both art and literature to its influence, a time when ideas and social or political movements were developing, opposed to both feudalism and absolutism. The historical and artistic meaning of the best works of Kālidāsa lies in the lofty examples, he gave us of human behaviour, in his criticism of spiritual and moral collapse and his condemnation of all kinds of particularism from general principles in the life of men and his call to social activity—dharma.

Kālidāsa is a representative of ancient Indian culture and a great upholder of social moral values, in the light of which he leads man to perfection. He is a great lover of humanity and to him, man is the best creation of the creator and so, men on earth are happier than gods in heaven. His works are not only made for people and to fulfil their spiritual and aesthetic needs, but they are created to a perfect man and society, so that what is human in man may prevail over what is base and cruel within us. The objective meaning of his greatest artistic achievements is the defence of man and his rights, the defence of social justice and the true flowering of the individual's creative powers.

This orientation determined his art to move forward along progressive lines. And whenever, for whatever reason, his art abandoned the study of great human and social problems it came to a period of crisis and degradation. The evolution of Kālidāsa's literature is determined not by those who would dehumanise it, nor by those who support the idea of empty experiments in form, but by Indologists who are closely linked with this Great Tradition and seek to contribute something active to the transformation of society and to the development of the ideal man of Kālidāsa.

3.1.4. Methodology of Analysis

The very emergence of literary semantics, as well as semantic philosophy as a whole, is largely due to the need of traditional ideology for the study of Kālidāsa capable of replacing the traditional school of subjective idealism, which has become defunct in this age of technologies, and proved incapable of answering questions posed by new scientific cognition. Analysis was needed which would be able to serve beneath the banner of science without breaking with idealism—the dominant world-view of the then feudal society.

In this analysis of literary semantics we proceed from the principle that subjectivism is the dominant tendency in all contemporary Sanskrit scholars of India. This does not mean that objective idealism has lost its significance in modern India, but that it reveals an increasingly marked tendency towards subjectivism.

This characterization is fully borne out by an analysis of the trend in literary criticism in modern Indologists. This trend has acquired a different import with the entry of capitalism into the state of intellectual imperialism in India.

The main task of the present book is to discern in each system the determinations themselves, the actual crystallisation pervading the whole literary generi of Kālidāsa. One such motif in the literary semantics is the fact that language is also an object of literary study, to the premise that it is its only object of study. On the basis of this theoretical principle attention is being paid predominantly to the possibility of using procedures of linguistic analysis in the study of Kālidāsa. This has created the basis for the extensive use of logical and mathematical apparatus in different fields of literary criticism.

The second methodological task of the present study is to show how and to what purpose the literary semantics relates to scientific cognition. The present stage in the development of scientific research is characterized by the intensive adoption of the exact methods of research of natural sciences and mathematics by the humanities. The emergence of such new special scientific disciplines as semiotics, information theory etc. has stimulated scholars to apply these principles and methods in their literary studies. Exact methods of research enables us to attain important theoretical results. A number of attempts have been made here to apply semiotic and structural principles and methods in the analysis of Kālidāsa's art.

The literary semantics of Kālidāsa, which is based on the methodological principles of semantic idealism, is characterized by a view of art as language, not from some aspect or other, but as a whole, from the point of view of its essence. This literary interpretation of Kālidāsa's language leads to a situation where as a rule literary semantics practically functions as a semantic philosophy of art.

The fortunes of the semiotic enterprise during the present decade have been especially high in the field of literary studies, above all with regard to poetry and the narrative. Theatre and drama, meanwhile have received considerably less attention. Theatrical performance which is governed by the denotation-connotation dialectic : the set, the actor's body, his movements, and speech and is determined by constantly shifting network of primary and secondary meanings, has hitherto been not the subject of interest of Sanskrit critics. Sanskrit theatre as the complex of phenomena associates with the performer—audience transaction. Reduction of written or dramatic text of Kālidāsa varies from Director to Director, from Kāshī to Kerala. Signifiers or sign vehicles are also presented in many ways using diverse techniques in the theatre. This is already known by experience that techniques as adopted by Delhites or as adopted by Keralites, go beyond 'narrative' representation and the semantic units are strictly predetermined. As such, Kālidāsian theatrical performances should be independently handled for semiotic study. The present study is an effort also in this direction.

3.2. Syntactics
(Information Theory and Wordcount Mathematics)

3.2.1 Syntactics deals with combination of signs without regard for their specific significations or their relation to the behaviour in which they occur (Morris, 197).

The importance of statistical studies in any branch of science, humanities or social science, cannot be under-estimated. It is sometimes impossible to proceed further in study without atleast, a fair statistical picture of the data on which one is working. The need for statistical studies is all the more felt, particularly, in creative works, where one's abstract design is bound to mislead for want of proper numerical calculations. Kālidāsa's works are not an exception to it.

The statistical study of the language of Kālidāsa can be conducted in two ways. We may analyse the sample of occurrences according to their grammatical and lexical parts; and thus obtain the overall contribution of the two components to the language structure. In doing this, the mutual arrangement of the two parts is, disturbed. Alternatively, we would like to preserve the linear arrangement while performing a counting experiment.

The description of Kālidāsian language requires that the two components, lexical and grammatical, are shown in their linear arrangement in regard to one another. This will lead to the concept of the surface of separation, or the interface, between the lexical and the grammatical part, as to characteristic property of the language. As a two dimensional concepts, it replaces, at this stage of enquiry, the concept of the dividing point or line which is implied in the determination of overall proportions obtained for the two components, total and classified according to word-occurrence.

The objects or occasions shown by a particular word are by no means identical; there will be variations, sometimes quite considerable ones, between these objects or occasions which the use of the word enables us to disregard or to neglect as irrelevant. This is the very essence of the use of concepts or word-engrams. The greater the range of such variations, the often will there be occasion for the use of particular word, and the frequency of occurrence can, therefore, serve as a measure of the importance which the denoted objects have for our word picture.

In order to have a scientific understanding of the language structure of Kālidāsa, the stylo-statistical analysis is done in the following lines. This picture has been framed on the basis of word-counting, i.e., by counting of the occurrences of particular word in all the texts of Kālidāsa. The statistical condensation of this material is affected by grouping words, according to the same number of occurrences in one class, which leads to the frequency distribution of words, used once, twice, three times and so on.

The following table gives an idea of word-occurrence required for expressing the wealth of thought in the works written by Kālidāsa.

Table-1

Sr. No.	*Sanskrit-Text*	*No. of Sanskrit Words*
1.	Ṛtusaṁhāra	1319
2.	Meghadūta	1776
3.	Kumārasaṁbhava	4102
4.	Raghuvaṁsha	11102
5.	Shākuntala	4173
6.	Mālavikāgnimitra	2041
7.	Vikramōrvashīya	2330

Several parameters have been proposed for characterizing the stylistic analysis. Before giving some rather extensive studies of the relationships between different style variables, we shall make an inventory of variables implied in a sensible and convenient way for grouping the words in the present context.

Vocabulary Measures

There are three types of vocabulary measures that have caught the attention of quantitative stylistician : vocabulary variability, the use of exceptional words and key words.

Vocabulary variability relates to a particular author's size of active vocabulary or to his ability or willingness not to repeat words but rather seek synonyms. Of course, it might also be regarded as a measure of non-redundancy.

The class of exceptional words may include infrequent words, neologism, technical words, or words of other foreign origin used to handle situations, or to refer to significates, so infrequently as not to be covered by ready words. It will be of interest to mention here that we have combined the vocabulary of active words and exceptional words in the present graphic analysis.

The term key-words refers to the specific word that an author uses at an unusual frequency; but we have also listed under the title key-words those words which are repeated more than once. As the active vocabulary of Kālidāsa is very extensive, we have confined ourselves to the listing of key words only. By presenting the stylo-statistical data on Kālidāsa, one of our objectives has been to attract the attention of the scholars of other disciplines to this field.

The following table summarizes the complete vocabulary of Kālidāsa.

Table-2

Language	*Total occurrences of words*	*Total No. of vocabulary*	*Percentage of words on total occurrences*	*Percentage of words on total vocabulary*
Sanskrit	27,175	21,569	74.28	84.25
Prakrit	9,360	4,035	25.72	15.75
Total	36,535	25,604	100	100

From the above table it is obvious that the ratio of Prakrit words in the total vocabulary of Kālidāsa is significantly less than that of Sanskrit words, which comprise nearly 85% of the total vocabulary.

The relevant data regarding Sanskirt words may be seen in the table given below :

Table-3
(Sanskrit Vocabulary)

	Active and ready words (non-frequent)	*Key words (frequent)*	*Total*
No. of words	17,433	4,126	21,569
Total no. of occurrences	17,443	9,732	27,175
Percentage	100	42.75	78.3

The traditional grammar is still alive in modern stylistics. It has provided the framework for categorizing and counting words in the studies of stylistic structure. The following table presents the stylistic analysis in terms of part of speech of the key-words of Kālidāsa :

Table-4
(Parts of Speech)

Sr. No.	*Parts of Speech*	*No. of Words*	*Percentage*
1.	Noun	1,924	46.50
2.	Adjective	657	16.20
3.	Verb	623	15.25
4.	Participle	558	13.25
5.	Indeclinable	185	4.50
6.	Pronoun	106	2.55
7.	Vocative	73	1.75
	Total	4,126	100

The table shows a marked preference for the Noun so far as the parts of speech are concerned. The list of the key words categorized in the above table is given below in a hierarchical order :

List of the (Most Frequent) Key-Words of Kālidāsa

Frequency Category No.	*Serial No.*	*Words (Pada)*	*Frequency of occurrence*
(1)	(2)	(3)	(4)
1	1	इव	794
2	2	अपि	654
3	3	च	641
4	4	न	612
5	5	इति	543
6	6	सः	431
7	7	एव	410
8	8	तत्	300
9	9-10	Two words of equal frequency ते, हि	223
10	11	मे	182
11	12-13	Two words of equal frequency किम्, तम्	178
12	14	ततः	176
13	15	तस्य	170
14	16	सा	155
15	17	यत्	144
16	18	अथ	138
17	19	खलु	134
18	20	इदम्	121
19	21	तथा	120
20	22	कथम्	112
21	23	त्वम्	109
22	24-25	Two words of equal frequency तव, माम्	106

(1)	(2)	(3)	(4)
23	26-27	Two words of equal frequency एवम्, तावत्	102
24	28	तेन	101
25	29	पुनः	100
26	30	ताम्	96
27	31	अहम्	92
28	32	अस्मि	90
29	33	मया	89
30	34	अस्य	86
31	35	मम	85
32	36	इयम्	80
33	37-38	Two words of equal frequency त्वया, यथा	78
34	39	वा	75
35	40	विलोक्य	73
36	41	तस्याः	70
37	42	तु	69
38	43-45	Three words of equal frequency तत्र, यः, सह	66
39	46	अवलोक्य	65
40	47	प्रविशति	64
41	48	इतः	63
42	49-50	Two words of equal frequency नाम, प्रविश्य	60
43	51	त्वाम्	59
44	52-54	Three words of equal frequency किल, तस्मिन्, देवः	58
45	55	भवान्	57
46	56	अभूत्	56
47	57	अयम्	55

(1)	(2)	(3)	(4)
48	58-60	Three words of equal frequency आत्मगतम्, इदानीम्, एतत्	54
49	61-62	Two words of equal frequency एषः, सखे	53
50	63	अत्र	52
51	64	बभूव	51
52	65-67	Three words of equal frequency मनः, मा, सर्वे	50
53	68-69	Two words of equal frequency अस्याः, आसीत्	48
54	70	राजा	47
55	71-73	Three words of equal frequency असि, नु, यदि	46
56	74-75	Two words of equal frequency असौ, आत्मानम्	45
57	76-80	Five words of equal frequency अलम्, एनम्, कुतः, तौ, यावत्	43
58	81-83	Three words of equal frequency त्वयि, ननु, परिक्रम्य	42
59	84	पश्य	41
60	85	अतः	40
61	86	सस्मितम्	39
62	87-89	Three words of equal frequency अहो, पश्चात्, यत्र	38
63	90-91	Three words of equal frequency एनाम्, पितुः, वः	37
64	93-95	Three words of equal frequency निष्क्रान्तः, प्रति, स्वगतम्	36
65	96-100	Five words of equal frequency अस्मिन्, नेपथ्ये, प्रकाशम्, वपुः, स्यात्	35

(1)	(2)	(3)	(4)
66	101-104	Four words of equal frequency कः, कृत्वा, दृष्ट्वा, परम्	34
67	105-107	Three words of equal frequency आत्मनः, उपेत्य, स्वयम्	33
68	108	किञ्चित्	32
69	109-114	Six words of equal frequency अये, करोति, क्व, राजानम्, वयस्य, सहर्षम्	31
70	115-122	Eight words of equal frequency अद्य, अनेन, इमाम् निष्क्रान्ता, मयि, यस्य, वत्से, स्थितः	30
71	123-126	Four words of equal frequency आज्ञापयति, नः, हृदयम्, अस्ति	29
72	127-132	Six words of equal frequency आहर, उभौ, चकार, देवी, पुरः, वयम्	28
73	133-137	Five words of equal frequency अभवत्, आदाय, भवतु, भूयः, सद्यः	27
74	138-142	Five words of equal frequency जनः, पदम्, प्रथमम्, भर्तु, ययौ,	26
75	143-145	Three words of equal frequency भवति, येन, सम्प्रति	25
76	146-149	Four words of equal frequency अथवा, नूनम्, भव, सहसा	24
77	150-152	Three words of equal frequency यतः, रामः, सर्वम्	23
78	153-156	Four words of equal frequency चेत्, प्रिये, भगवन्, शकुन्तलम्	22
79	157-165	Nine words of equal frequency अर्हसि, उर्वशी, एषा, क्वचित्, अनान्तिकम् तथापि, धनुः, पूर्वम्, बभौ	21
80	166-173	Eight words of equal frequency आशु, चिरम्, तपः, देव, पथि, मुखम्, विचिन्त्य, साधु	20

(1)	(2)	(3)	(4)
81	174-185	Twelve words having similar frequency अर्हति, अस्तु, एकः, गुहः, गृहीत्वा, तस्मै, फलम्, भवतः, या, श्रियम्, सुन्दरि, स्म	19
82	186-195	Ten words of equal frequency उवाच, कर्णम्, कृतम्, गुरोः, दत्त्वा, प्रजानाम्, मालविका, यम्, शकुन्तला, हन्त	18
83	196-218	Twenty three words of equal frequency अमी, अस्त्रम्, आयुष्मन्, आयुष्यमान्, इच्छामि, उच्चैः, केवलम्, गता, तैः, दृश्यते, नाटयति, पुरस्तात्, प्रजाः, प्रपेदे, भविष्यति, राघवः, विना, विहाय, श्रुत्वा, सताम्, समम्, सम्यक्, साक्षात्	17
84	219-236	Eighteen words of equal frequency अपवार्य, अवेक्ष्य, उत्थाप्य, कथञ्चित्, काले, कुमारः, गतः, गत्वा, ददर्श, देव्या, निष्क्रान्ताः, मुनिः, रघुः, रथम्, राजन्, वचः, श्रूयताम्, स्वम्।	16
85	237-257	Twenty-one words of equal frequency अयि, इत्थम्, उपगम्य, उभे, एत्य, कस्य, चक्षुः, तस्मात्, तपस्विनः, देवि, प्राक्, प्रियम्, प्रियाम्, भवेत्, मुहुः, यशः, राज्ञः, विदूषक, स्त्रियः, स्थिता, हस्तम्।	15
86	258-274	Seventeen words अन्यत्, इच्छति, कदाचित्, गतम्, चेतः, तिष्ठति, दिशः, नवम्, पत्युः, पयः, पिता, प्राप्य, प्रियायाः, भोः, वत्स, सपदि, सार्धम्।	14
87	275-300	Twenty-six words अकरोत्, अन्यथा, आर्ये, उपसृत्य, उभयोः, एकम्, कश्चित्, कान्तम्, कुरु, क्षणम्, तदा, ताः, तेषाम्, नृपः, पुत्रम्, पुरा, प्रतस्थे, बभूवुः, भद्रे, भुवः, मन्ये, वर्तते, विधिवत्, सविस्मयम्, स्थितम्, विहस्य।	13
88	301-332	Thirty-two words अर्थम्, अवतीर्य, अस्माभिः, आहुः, ऋते, एते, करेण, गाम्, तस्थौ, तेजः, निनाय, निःश्वस्य, पतिः, पार्थिवः, भगवान्, भवता, भवन्तम्, मद्वचनात्, मध्ये, मनसः, मन्यते, मुनेः, रघोः, रूपयित्वा, विधिना, विवेश, वीक्ष्य, शब्दः, सत्यम्, ससम्भ्रमम्ः, स्थाने, हस्तम्।	12

(1)	(2)	(3)	(4)
89	333-361	Twenty-nine words अग्रतः, अङ्कम्, अन्तः, अवेहि, अस्मात्, आकर्ण्य, इमम्, इह, उपरि, कर्त्तुम्, का, कृती, गच्छ, गुणैः, जनस्य, जयति, दृष्टिम्, धिक्, पश्यामि, प्रणिपत्य, प्राप, प्रिया, प्रेक्ष्य, बाला, रामम्, शरीरम्, सर्वाः, स्थित्वा, स्वागतम्।	11
90	362-403	Forty-two words अपाम्, अमुम्, अम्भः, आक्षमम्, उत, उपपन्नम्, उर्वशीम्, ऊर्ध्वम्, एहि, कुमारम्, गते, गुरुणा, चक्रे, चन्द्रः, जगाम, जहार, तस्याम्, तान्, तिष्ठ, ददौ, दर्शनम्, दूरम्, दृष्टः, नार्यः, निशम्य, निष्क्रम्य, नृपतिः, परिक्रामति, पश्यति, पश्यन्, पादयोः, भगवति, भवती, भवन्ति, मधु, यदा, राज्ञा, लक्ष्यते, विजयताम्, सखी, स्त्रीणाम्, स्वाम्।	10
91	404-459	Fifty-six words अनया, अन्तरम्, अवैमि, अस्माकम्, अस्मै, अस्याम्, आत्मनि, आददे, आसाम्, इन्दोः, ईश्वरः, उपस्थितः, उभयम्, उर्वीम्, कुर्वन्ति, गच्छामि, चिराय, जयतु, जलम्, तदीयम्, तासाम्, ददाति, दिवम्, दिष्ट्या, दुःखम्, दृष्टा, द्रष्टुम्, द्वितीयम्, नक्तम्, नाट्येन, निशि, पृच्छामि, प्रभृति, प्रातः, वबन्ध, विभान्ति, भृशम्, मातले, मार्गेम्, मुनयः, मेने, यथोक्तम्, योषिताम्, राज्ञाम्, रूपयति, वद, विदितम्, विदूषकम्, विषादम्, शरैः, श्रीः, सख्याः, सति, सन्, सुखम्, हरेः।	9
92	460-532	Seventy-three words अङ्गनानाम्, अङ्गम्, अन्ते, अपश्यत्, अर्घ्यम्, अवहितः, आज्ञाम्, आत्मना, आदेशय, आननम्, ईप्सितम्, उत्थितः, उषसि, ऋषिः, कच्चित्, कञ्चुकी, करम्, कामः, कुलम्, केन, क्रियताम्, चित्रम्, जयसेने, जातः, तत्रभवती, तनुम्, तन्वी, तपोवनम्, ददृशे, दुष्यन्तः, नयनयोः, निष्क्रान्ते, परिक्रामन्ति, परिजनः, पुरम्, पुण्यम्, प्रतिभाति, प्रत्यग्रहीत्, प्रयाति, प्रयुक्तम्, प्रस्थिता, प्रायः, बहुशः, भरतः, भर्ता, भेजे, मत्वा, मनसा, मनसि, मरुतम्, मातुः, मुहूर्तम्, मूर्ध्नि, ययुः, याति, युगपत्, युवा, रजः, रतिः, राज्यम्, रूपम्, लक्ष्मीः, वने, वयः, वाचयति, व्योम, श्रुणु , श्रुतम्, श्रोतुम्, सती, सप्रणामम्, सुतः, स्वस्ति।	8

(1)	(2)	(3)	(4)
93	533-670	One hundred thirty-eight words अग्निः, अग्निम्, अङ्गना, अत्रभवती, अधः, अधिकृत्य, अधिगम्य, अनन्तरम्, अनुगृहीतः, अनुष्ठितम्, अन्यः, अन्यत्र, अन्या, अभिवादये, अमुना, अर्थः, अवलम्ब्य, अवलोकयतः, अवलोकयामि, आः, आत्मा, आदत्ते, आभाति, आरोप्य, आश्रित्य, आसन्, आसाद्य, ईशः, उक्त्वा, उच्यते, उद्दिश्य, एतावत्, एषाम्, करोमि, कर्णे, कर्म, कल्याणि, कष्टम्, काकुत्स्थः, कुसुमम्, कृतवान्, गन्तुम्, गात्रम्, गुणाः, गौतम, चिरात्, चेतसि, जातम्, जातु, जीवितम्, तत्रभवतः, तदनु, तपसः, दिशम्, दृष्टम्, देवम्, द्वयम्, द्वयोः, धनुषि, धुरम्, निर्वर्ण्य, निवेश्य, निष्क्रान्तौ, पतति, पदवीम्, पपात, परितः, परिव्राजिका, पातुम्, पुरस्कृत्य, पुरीम्, पुरुषम्, पुष्यति, प्रणम्य, प्रभुः, प्रमदा, प्रयान्ति, प्राञ्जलिः, बभाषे, बहुधा, वाष्पम्, भगवती, भयम्, भर्त्रा, भवितव्यम्, भुवम्, भुवि, भूः, भेतव्यम्, मघोनः, मणिः, मदनः, मदनस्य, महत्, माधव्य, मालविकाम्, मिथः, मूर्ध्ना, यस्मिन्, रथे, रत्नम्, रहः, रामस्य, लज्जाम्, लता, लोकः, लोचने, वचनम्, वधूः, वरः, वरम्, वशो, वाचम्, विभाति, विष्णोः, वृथा, शङ्के, शरणम्, शरम्, शशंस, शश्वत्, सखा, सखीम्, सख्या, सत्वरम्, सदृष्टिक्षेपम्, सनिःश्वासम्, सरस्वती, सरोषम्, सर्वः, सासूयम्, सीताम्, सुतराम्, सूत, सौम्य, स्मरामि, स्मृत्वा, हित्वा।	7
94	671-804	One hundred thirty-four words अग्ने, अजः, अतितराम्, अद्रेः, अधुना, अमोघम्, अर्धोक्ते, आबभाषे, आयुषः, इरावती, ईश्वरेण, उत्तिष्ठति, उत्सृज्य, उपविशन्ति, उपविश्य, उपविष्टौ, उपस्थितम्, एका, कथमपि, कन्या, कामिनः, कारणम्, कार्यम्, कालः, किमपि, क्षणमात्रम्, क्षितिः, गङ्गा, गति, गतिम्, गुरुम्, चक्षुषा, चापम्, चारु, च्युतम्, छायया, जाने, तपस्विनाम्, तमः, तस्यै, ताभिः, ताभ्याम्, दम्पती, दृष्टिः, द्विषाम्, धर्मः, ध्रुवम्, नवः, नाम्ना, निगृह्य, निद्राम्, निवेदयामि, नृपतेः, नृपस्य, नृपाणाम्, पदानि, परस्परम्, परिक्रामतः, परिगृहय, परिवृत्य, पवनः, पादम्, पित्र्यम्, पुत्रः, प्रचक्रमे, प्रतिगृह्य, प्रतिनिवृत्य, प्रतीतः, प्रत्यपद्यत, प्रयोगम्, प्रसादम्, प्राप्ता, प्रियेषु, बलवत्, बहु, ब्रूहि, भवत्यः, भूपतेः, भूमेः, भोः, मणिम्, मदीयम्, मधुः, मधुरम्, मयूखैः, महीम्, मातलिः, मानसम्, मार्गे, मुखे, यतिष्ये, यथाक्रमम्, याम्, युक्तम्,	6

(1)	(2)	(3)	(4)
		रघूणाम्, रराज, राघवम्, लक्ष्मणः, लताम्, लेभे, वक्तुम्, वपुषा, वसतिम्, वहति, वाचा, विधिः, विभाव्य, विलासिनीनाम्, विससर्ज, विसृज्य, वृत्तम्, वेत्रवति, शम्भोः, शेषम्, संवृत्तः, सकृत्, सदृशम्,सन्तः, समक्षम्, सम्पदः, सर्वतः, सर्वत्र, सर्वथा, सीता, सुताम्, सुराः, सूचयित्वा, सूतः, स्नेहात्, स्पर्शम्, हरन्ति, हस्ते, हृदये, हृदि।	
95	805-1031	Two hundred twenty-seven words अङ्के, अङ्गैः, अचिरात्, अजयत्, अंतःपुरम्, अतीत्य, अत्यन्तम्, अत्रभवतोः, अन्तरा, अन्यतः, अन्यम्, अन्वगात्, अपरा, अपहाय, अप्सरसः, अभिनन्द्यः, अमंस्त, अमन्यत, अर्पितम्, अवस्थाम्, अवाप्य, असकृत्, आज्ञा, आदिश्य, आधाय, आयुः, आरुरोह, आरुह्य, आलोक्य, आश्रितः, आस, आस्ताम्, आस्ते, उच्चताम्, उदधेः, उद्यम्य, उपेयिवान्, उमा, ऊचुः, एकतः, एभिः, ऐच्छत्, कण्ठे, कण्वः,कथा, कथ्यताम्, कल्पते, कामस्य, कालम्, किमुत, कियत्, कुर्वन्, कुलपतेः, कुलस्य, कुसुमानि, कुसुमैः, कृतः, कृताः, गच्छति गृहे, गृह्णाति, गृह्यताम्, चकासे, चक्रुः, चरणम्, चरितम्, चित्तम्, चित्रलेखा, चेतसा, छाया, जगत्, जगतः, जगाद, जग्राह, जघान, जनम्, तत्क्षणम्, तदानीम्, तनयम्, तनयाम्, तपस्विभिः, तरुण्यः, तानि, तूष्णीम्, तेजसा, तेभ्यः, तेषुं, ददृशुः, दर्शनेन, दर्शयति, दहति, दिवः, दूरात्, देवस्य, देवाय, देवीम्, द्विधा, द्वे, धनुर्भृतः, धर्मम्, धाम, धारिणी, धेनुः, नवैः, नारदः, निमित्तम्, निशासु, नौ, पत्त्रिणा, पथा, पदान्तरे, पपौ, परवान्, परस्परेण, परिष्वज्य, परेषाम्, पावनम्, पितृणाम्, पित्रा, पुंसाम्, पृथक्, प्रजासु, प्रथमः, प्रभवति, प्रमृज्य, प्रविष्टा, प्रवेशय, प्रसभम्, प्रसाद, प्रायेण, प्रियया, प्रियाः, प्रीतः, प्रीतिम्, बत, बध्नाति, बलात्, बाणैः, भयात्, भवते, भवन्तः, भाति, भावस्, भीरु, भूतानाम्, भूमिः, भूयिष्ठम्, भो भोः, मनांसि, मनोहरम्, मन्दम्, मरुतः, महतः, महति, महर्षेः, महिमा, मार्गः, मिथ्या, मूर्खेन, मुखैः, मृगैः, मृग्यते, मृदु, मेघः, मोहात्, मौद्गल्य, ययाचे, यास्यति, यैः, योगम्, योषितः, यौवनम्, रथः, रविः, रवेः, रात्रिः, रूपयन्ति, लक्ष्म्या, लातव्य, वनम्, वयसि, वल्कलम्, ववन्दे, वसु, वह्निः, वासः, विज्ञापयति, विदितः, विदुः, विमानम्, विलोचनानि, वीर्यम्, वृत्तिम्, वेत्सि, व्रजति, व्रतम्, शतशः, शशाङ्क, शशास, शशिनः, शिरसि, शोभाम्, संलक्ष्यते, संवृत्तम्,	5

(1)	(2)	(3)	(4)
		सखीभ्याम्, सदा, सम्भाव्य, सरः, सविषादम्, सानुजः, सायम्, सावेगम्, सुरद्विषाम्, सुषुवे, सेना, सृष्टिः, सोढुम्, स्तनेषु, स्तोकम्, स्मितम्, स्वः, स्वसुः, स्वेषु, हरति, हरिः, हिमांशोः, हृतम्।	
96	1032-1404	Three hundred seventy-three words अग्रयायी, अङ्गुरीयकम्, अङ्गे, अजस्य, अञ्जलिम्, अतिक्रम्य, अतिष्ठत, अत्रभवतीम्, अत्रभवान्, अधरम्, अधिकम्, अध्युवास, असङ्गः, अनयोः, अनु, अन्तिकम्, अपनीय, अपरः, अपातयत्, अपोहितुम्, अप्सरसाम्, अभिधीयताम्, अमात्यः, अम्ब, अयोध्याम्, अर्णवः, अलक्ष्यत, अवतार्य, अवलोकयति, अवश्यम्, अवसरः, अवाप, अवितथम्, अवेक्षते, अशून्यम्, अशेषम्, असंशयम्, असूत, अस्मान्, आकाशम्, आकाशे, आदिष्टः, आद्यम्, आपः, आयुधम्, आरम्भः, आर्तवम्, आवर्जितम्, आवर्ज्य, आवाम्, आश्रमपदम्, आश्लिष्य, आसनम्, आस्पदम्, इमौ, इयत्तया, इष्टे, उत्थातुम्, उत्सुकः, उदन्वान्, उन्मुखः, उपगतः, उपगता, उपविष्टः, उपवेशयति, उपस्थिता, ऋद्धम्, ऋषीन्, एताः, एतावता, एति, कण्वस्य, कतिचित्, कथय, कथयति, कथयिष्यामि, कन्याम्, करः, करभोरु, कर्तव्यम्, कवेः, काचित्, कान्तिम्, काम्, कामिनाम्, कामिनी, कुतूहलम्, कुमारी, कुले, कुशः, कृशानोः, केवलाम्, कोपः, कौमुदी, क्रमात्, क्रिया, क्षणात्, क्षण, क्षणेन, खम्, खेदम्, गगनम्, गङ्गाम्, गजः, गणदासः, गणदासम्, गर्भः, गुणानाम्, गुरवे, गूढम्, गौरी, चक्रवर्तिनतम्, चन्द्रम्, चरणयोः, चरणौ, चेटी, चेष्टितम्, छायाम्, जलद, जलानि, जायाम्, ज्वलति, ततान, तत्रभवत्याः, तत्रभवान्, तथाविधम्, तथाहि, तदनन्तरम्, तदा भृति, तदीयाम्, तनुत्यजाम्, तपोभिः, तप्तम्, तर्हि, तात, तिर्यक्, तुङ्गम्, तेजसः, दक्षिणम्, दक्षिणेन, ददति, दधाति, दधानः, दर्शयन्, दातुम्, दाशरथिः, दासः, दिदेश, दिलीपः, दिवसः, दिवा, दिवौकसः, दिवौकसाम्, दिशि, दीर्घम्, दुरासदः, दुष्यन्तस्य, दुहितरम्, दृप्तः, देवाः, देवानाम्, देवेन, देहम्, द्याम्, द्वन्द्वम्, द्वये, द्विजः, द्विपेन्द्रः, द्वौ, धनुषः, धीरः, धुरि, धुरिः, नमः, नवेन, नागः, नामाक्षराणि, नित्यम्, निपुणिका, नियोगात्, निरूप्य, नीचैः, नृपाः, नेपथ्याभिमुखम्, पङ्कजम्, पत्नी, पदेपदे, परः, परिजनम्, परिणेतुः, परिवारः, परिव्राजिकाम्, प्रदोषे, प्रपन्ने, प्रसवः, प्रभाते, प्रभुत्वम्, प्रभाः, प्रमाणम्, प्रसूतिः, प्रापय, प्रवर्तते, प्रवासिनाम्, प्रविशतः, प्रविष्टः, प्रवृद्धः, प्रवेशकः,	4

(1)	(2)	(3)	(4)
		प्रसन्न, प्रसह्य, प्रियः, प्रियतमा, प्रीत्या, प्रेम, फलेन, बकुलावलिका, बभ्रुः, बलम्, बाणः, बाणम्, बाहुः, बाहू, बिभिदे, बिभेद, बिभ्रतः, बीजम्, भवतीनाम्, भवत्यौ, भवन्तौ, भवामि, भानोः, भवः, भावी, भिन्नम्, भुवा, भूत्वा, भ्रातुः, मतः, मदीयैः, मनोरथः, मनोरथानाम्, मन्मथ, मरुद्भिः, महिमानम्, मही, महोदधेः, मातरम्, मारीचः, मारुतः, मुखानि, मेदिनी, मेदिनीम्, मेना, मैथिलः, यदपि, यद्यपि, यस्मात्, यस्याः, याचितः, यान्ति, यूयम्, रक्ष, रक्षसा, रक्षसाम्, रक्ष्यम्, रघुम्, रजोभिः, रतिम्, रथी, रम्भोरु, रहसि, राक्षसः, राजधानीम्, रात्रौ, रामाय, रिपून्, रेणुः, रेमे, रोचते, रोदिति, लक्ष्मीम्, लक्ष्यम्, लब्धम्, लेखम्, लोकस्य, वदन्ति, वधूनाम्, वधूम्, वनात्, वनिता, वन्यः, वर्तमानस्य, वसतिः, वसन्, वसुन्धरा, वाक्यम्, वाम्, वामम्, वायुः, वासवः, विदधे, विदित्वा, विद्धि, विधाता, विधाय, विधिम्, विभक्तम्, विभक्तः, विलोकयन्, विवादः, विश्वम्, विरुधाम्, वृषा, वृष्टिः, वृष्टिम्, वेद, वेलाम्, शक्यम्, शरासनम्, शरीरम्, शस्त्रम्, शान्तम्, शान्तिम्, शापात्, शासनम्, शासनात्, शिरोभिः, शिरीरुहैः, शुशुभे, शृङ्गम्, शेषः, श्रियः, सखीनाम्, सखीभिः, सख्यौ, सङ्गतम्, सदयम्, सन्दधे, सपरिवारा, समये, समरे, सम्भावितः, सम्भाव्यते, सरसः, सरांसि, सरित्, सरितः, सर्वान्, सलिलम्, सवितर्कम्, सव्रीडम्, सशरम्, साधयामः, सायकम्, सारम्, साशङ्कम्, सार्द्धम्, सिन्धुः, सिषेवे, सुप्तम्, सुरगजः, सेनापतिः, सूर्यम्, स्थिताः, स्फुरति, स्मरः, स्मरस्य, स्रष्टुः, हत्वा, हन्तव्यः, हरः, हरस्य, हस्तौ।	
97	1405-2131	Seven hundred twenty-seven words अक्षिणोत्, अक्ष्णाम्, अक्ष्णोः, अगमत्, अगात्, अग्नौ, अग्रजेन, अग्रहीत्, अग्र्याम्, अङ्गानि, अङ्गुल्ल्या, अङ्गेषु, अचलः, अजेन, अत्रभवत्याः, अदर्शयत्, अदृश्यत्, अद्भिः, अद्रिः, अधिज्यम्, अधिपतिः, अनुपपन्नम्, अध्वनि, अनङ्ग, अनुग्रह, अनुज्ञातम्, अनुत्ज्ञाम्, अन्तम्, अन्तरात्मा, अन्तर्गतम्, अन्त्यम्, अन्यस्मिन्, अन्वगच्छत्, अन्वभूत्, अपटीक्षेपेण, अपश्यताम्, अप्सु, अब्रवीत्, अभविष्यत्, अभिख्याम्, अभितः, अभितापितः, अभिनीय, अभिलाषम्, अभिहितः, अभिहिता, अभूताम्, अभ्यनन्दत्, अभ्रवृन्दम्, अमृतम्, अम्बु, अम्भसाम्, अम्भसि, अरीणाम्, अरुन्धती, अर्थिनः, अर्थे, अर्पयति, अर्हन्ति, अलकैः, अवकाशम्,	3

(1)	(2)	(3)	(4)
		अवतरत:, अवतीर्ण:, अवदद्, अवधूय, अवलम्वते, अवोचत्, अशोक:, अशोकम्, अश्रु, अश्रुभि:, अष्टाभि:, अस्यै, आकाशयानेन, आक्षिप्य, आखण्डलस्य, आघ्राय, आचकाङ्क्ष, आचख्यु:, आजौ, आज्ञया, आज्ञापयतु, आज्ञापयन्ति, आतपम्, आत्थ, आदधान:, आदिदेश, आदेशम्, आनय, आनर्च, आपु:, आप्नुहि, आभरणम्, आभरणानि, आमनन्ति, आमंत्र्य, आयुष्मन्तम्, आरात्, आरुढम्, आलोक्यते, आवयो:, आविरभूत्, आविष्कृतम्, आवेद्य, आशिष:, आशिषम्, आश्रमवासिन:, आश्रमे, आश्वास्य, आससाद, आस्थाय, आहितम्, आहूयताम्, इच्छन्, इच्छसि, इतस्तत:, इन्दु:, इन्द्र:, इरावतीम्, इषुभि:, इष्टम्, ईदृशम्, उक्तम्, उच्छ्वसितम्, उत्तरकोसलानाम्, उत्तरम्, उत्तरेण, उत्तिष्ठ, उत्थाप्य, उत्पश्यामि, उत्सव:, उदयात्, उदये, उदाहरन्ति, उद्यत:, उद्वहन्ती, उन्नमय्य, उपतस्थे, उपदेशम्, उपनतम्, उपपद्यते, उपयेमे, उपलभ्य, उपवनानि, उपान्तेषु, उपैति, उभाभ्याम्, उर:, उरसि, उष्णम्, ऊचिवान्, ऋत्विज:, ऋषय:, ऋषिम्, ऋषीणाम्, ऋषे:, एकपदे, एकरथेन, एकवीर:, एकेन, एकैकम्, ऐन्द्रम्, कण्वेन, कतम:, कथ्यते, कम्, करिष्यामि, करिष्ये, कर्मण, कर्मसु, कलशम्, कल्प:, कल्पितम्, कवि:, कस्यचित्, कांक्षितम्, कातर:, कातरम्, कान्तया, कान्ता, कामी, कार्या, कुमारस्य, कुमुद्वती, कुरबकम्, कुरुत:, कुरुते, किन्तु, कुर्यात्, कुर्याम्, कुलव्रतम्, कुलिशम्, कुशम्, कृतापराधान्, कृतार्थताम्, कृति:, के, केनचित्, क्रमेण, क्रिया, क्षमस्व, क्षमा, क्षिते:, क्षितौ, क्षेत्रम्, खे, गगनात्, गच्छसि, गजान्, गणै:, गता:, गभस्तिभि:, गवाक्षा:, गात्राणि, गिरा, गिरि:, गुरुषु, गुरूणि, गृहीत:, गोत्रभिद्, गौतमी, घनै:, चकमे, चण्डि, चण्डी, चतूर:, चन्दनम्, चन्द्रपादै:, चन्द्रमा:, चरन्ति, चरितुम्, चातकै:, चान्द्रमसी, चिन्तयति, चिरस्य, चेरु:, चोदित:, छत्रम्, जग्मु:, जननी, जनयति, जना:, जन्तु:, जयम्, ज्ञातम्, ततार, तत्रभवता, तथाविध:, तदीयै:, तनुभि:, तनोति, तन्वीम्, तपति, तपसा, तपसे, तपस्वी, तपात्यये, तपोधनानाम्, तरसा, तर्क:, तर्कयामि, तापसी, ताभ्य:, तिरोदधे, तिष्ठतु, तिसृभि:, तीर्ण:, तुभ्यम्, तुलाम्, तुल्य:, तूर्णम्, तृप्तिम्, तोयम्, त्यज, त्रियामा, त्वदीयम्, दक्षिण:, दधु:, दधौ, दन्तिन:, दयालु:, दवाग्नि, दशाम्, दिक्षु, दिनान्ते, दिने-दिने, दिवसा:, दीप:, दुश्चरम्, दुहितु:, दुहित्रा, दूरे, देव्यै, देशम्, द्वारे, द्वितीया,	

(1)	(2)	(3)	(4)
		द्विषताम्, धनुषा, धन्विनः, धरित्रीम्, धातुः, धातोः, धात्रा, धीवरम्, धूमः, धृते, ध्रियते, नखैः, नद्यः, नभः, नभसा, नभस्वान्, नय, नरपतिः, नलिनीम्, नवे, नहि, नागैः, नान्द्यन्ते, निचखान, निदधे, निदेशे, निधाय, निन्ये, नियोगम्, निरीक्ष्य, निर्दयम्, निर्वर्त्य, निर्वर्तते, निर्वर्तयामास, निवेदितम्, निवेशयामास, निशितैः, निशीथे, निषीदति, निहितम्, नीतः, नीता, नीत्वा, नीवीम्, नृत्यम्, नृपेण, नेता, नेतुम्, न्यवर्तत, न्यवेदयत्, न्यस्तम्, पट्टः, पतत्रिणः, पतन्ति, पत्रम्, पथः, पदैः, पन्थाः, पन्थानम्, पयसाम्, पयोधरैः, परमार्थतः, परमेष्ठिनः, पराम्, परिक्रामितकेन, परिग्रहात्, परिहरति, प्रदक्षिणीकृत्य, प्रदोषाः, प्रपन्नः, प्रपेदिरे, प्रबभूव, प्रभावात्, प्रभुता, प्रभो, प्रमदाजनानाम्, प्रसूतः, प्रसूतिम्, प्रस्तावना, प्रस्थानम्, प्रस्थिताः, प्रहर्तुः, प्रहर्तुम्, प्रववृते, प्रवृत्तः, प्रवृत्ता, प्रवृत्तिः, प्रवेशम्, प्रसादः, प्रसिद्धैः, प्रापत्, प्राप्तः, प्रियंवदा, प्रियंवदे, प्रिय, प्रियतमाम् प्रियदर्शनः, प्रीतिः, प्रेषितः, प्रोवाच, फलानि, बन्धनम्, बन्धनात्, बभार, बलवान्, बलाकाः, बलैः, बहिः, बालः, बालकम्, बाल्यात्, बाहुभिः, बिभ्रत्, बुबुध, ब्रवीमि, ब्रह्म, भरतवाक्यम्, भर्तृषु, भर्तारम्, भवतीभ्याम्, भवत्योः, भवद्भिः, भवितुम्, भानुः, भानूमतः, भार्गवम्, भावि, भित्त्वा, भुजम्, भुजे, भूत्, भूपतिः, भूयात्, भोक्तुम्, भोगिनः, भो भोः, भ्रात्रा, मञ्जरी, मणिभिः, मणौ, मण्डनम्, मत्तः, मधुम्, मध्यगता, मध्यमम्, मनीषिणः, मनोभवस्य, मन्दमन्दम्, मन्यसे, मन्युः, महताम्, महर्षिः, महाराजः, महिम्ना, महीक्षिताम्, महेन्द्रस्य, महौजसः, मागधी, माता, माधवसेनः, मारिष, मासान्, मुक्तः, मुधा, मुनिभिः, मुनिम्, मुमोच, मुहूर्ते, मूर्ख, मूर्च्छति, मूर्त्तम्, मूर्ध्नः, मृगः, मृगाः, मृगाणाम्, मृगेषु, मृदुः, मैथिलीम्, मैथिलेयौ, यत्नः, यथाकामम्, यथाप्रदेशम्, यथावत्, यदृच्छया, यन्ता, यस्याम्, याः, युक्तरूपम्, युद्धम्, युधि, युवयोः, यूनाम्, योगात्, रजनी, रतेः, रत्नानि, रथवेगम्, रथस्य, रथारूढः, रथेन, रशना, राज्ञी, राज्ञे, राज्ये, रामेण, रूणद्धि, रूदती, रुरोध, रूपयन्ती, रूपस्य, रेजे, रैवतक, लक्ष्मणम्, लब्ध्वा, लभस्व, लभेत, लभ्यते, ललितम्, लोकपालानाम्, लोकम्, लोकान्, वंशः, वंशे, वक्षसि, वक्ष्यति, वचोभिः, वज्रम्, वदनम्, वनस्थलीः, वनानि, वनान्ते, वर, वर्धते, ववृषे, वव्रे, वशिनाम्, वसन्ती, वसाना, वसुधा, वसुधाम्, वस्तुषु, वहन्ती, वाग्मिः, वाजिनः, वायवः, वाष्पम्, वासांसि, विजयस्व,	

(1)	(2)	(3)	(4)
		विज्ञाप्यताम्, विद्यते, विधातुः, विषेः, विन्ध्यम्, विप्रयोगः, विभक्ता, विभोः, विमुच्य, विरराज, विलङ्ध्य, विलासिनीभिः, विलोचनम्, विलोचने, विवस्वतः, विवेद, विषम्, विषयैः, विसृजति, विसृष्टः, विस्मयम्, विस्मयात्, विस्मितम्, विस्मृतम्, वीक्षते, वीक्षमाणाः, वृतः, वृत्तिः, वृद्धिम्, वेदिम्, वेश्मसु, व्यतीयुः, व्यथाम्, व्याजहार, व्यापारम्, व्याप्य, व्योम्नि, व्रज, व्रजन्ति, व्रजसि, शंसति, शकुन्तलया, शकुन्तलायाः, शकयः, शमयितुम्, शयने, शरण्यम्, शरत्, शरव्यम्, शराः, शल्यम्, शशंसुः, शशिनम्, शशिना, शशिनि, शापः, शाङ्र्गरव, शार्ङ्गिणः, शासति, शासने, शिखिनाम्, शिखी, शिथिलम्, शिरः, शिरसा, शिरांसि, शिवः, शिशोः, शुचा, शुचि, शुचौ, शुद्धा, शुश्राव, शून्यम्, श्रुणोति, श्रुणोतु, श्रुण्वन्, श्यामः, श्रिया, श्रूयते, श्रेयांसि, श्रोतव्यम्, श्वसन्, संयति, संयमिनाम्, संशयम्, सकाशम्, सतः, सत्याम्, सद्मनि, सन्ततेः, सन्ति, सन्तु, सप्त, सबहुमानम्, समग्राम् समन्तात्, समर्थये, समादिदेश, समीपम्, समीपे, समुत्सुकाः, समेत्य, सम्पत्स्यते, सम्भावयति, सम्भावयामास, सम्भृतम्, सम्भ्रान्ताः, सरयूम्, सरस्वतीम्, सरिताम्, सर्वस्य, सर्वैः, सलिलैः, सविता, सवितुः, सविस्मयः, सशब्दम्, ससर्ज, सस्पृहम्, सहचरी, सहधर्मचारिणी, सागरम्, सादरम्, साधारणः, साधो, साध्वीम्, सानुमान्, साम्प्रतम्, सिंहः, सिन्धोः, सिषेविरे, सुखानि, सुतनु, सुतौ, सुदक्षिणा, सुदुःसहः, सुनन्दा, सुमेरोः, सुराणाम्, सुहृदः, सूनुः, सूर्ये, सेनान्यम्, सैनिकाः, सौभाग्यम्, सौमित्रिणा, सौहार्दम्, स्खलितम्, स्तनद्वयम्, स्तनमण्डलानि, स्तनैः, स्थली, स्थितस्य, स्थिताम्, स्थिरः, स्थिरधीः, स्मर, स्रोतसि, स्रोतोवहाम्, स्वनियोगम्, स्वरेण, स्वर्गाः, स्वेन, स्वैरम्, हंसाः, हंसैः, हन्ति, हर, हरिणा, हरिम्, हर्तुम्, हर्म्येषु, हविः, हविर्भुजाम्, हव्यम्, हसितम्, हस्तान्, हारैः, हिमालयः, हैमम्, ह्रिया।	
98	2132-4126	One thousand nine hundred ninety-five words of equal frequency अंशवः, अंशुकानि, अंशुभिः, अंशैः, अंसः, अंसेन, अकल्पत, अकस्मात्, अकारणम्, अगच्छत्, अगतिः, अगारम्, अग्निषु, अग्रजन्मा, अग्रपादम्, अग्रे, अङ्कितम्, अङ्कुशम्, अङ्गदम्, अङ्गनाभिः, अङ्गरागम्, अङ्गवान्, अङ्गुलीषु, अङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा, अङ्गेन, अचलम्, अजनि, अजम्,	2

(1)	(2)	(3)	(4)
		अजस्रम्, अञ्जनेन, अञ्जसा, अतिथिम्, अतिविस्तरेण, अत्यगात्, अत्यजत्, अत्यर्थम्, अत्रभवतः, अत्रिः, अत्रेः, अथो, अदः, अदत्वा, अदूरे, अदृष्ट्वा, अद्धा, अद्भुतम्, अद्यप्रभृति, अद्रिराजः, अद्रिषु, अधरोष्ठे, अधस्तात्, अधिकतरम्, अधिकारः, अधित्यकायाम्, अध्यासितुम्, अध्यास्त, अध्वानम्, अनवम्, अनघा, अनतिक्रमणीयम्, अनन्यदृष्टिः, अनपत्यता, अनयत्, अनातुरः, अनादृत्य, अनास्था, अनिन्दितात्मा, अनिलः, अनिलेन, अनिशम्, अनुगृह्यताम्, अनुजीवितः, अनुद्रुतः, अनुपदम्, अनुवन्धि, अनुभूय, अनुमतः, अनुमन्यसे, अनुमीयते, अनुमेने, अनुययुः, अनुरक्तम्, अनुरागम्, अनुरूपम्, अनुवाच्य, अनुष्ठितः, अनुष्ठिता, अनुष्ठेयम्, अनुसरन्, अनुस्मृत्य, अनेकम्, अनेकशः, अन्तःकरणैः, अन्तकः, अन्तरायः, अन्तरिक्षात्, अन्तरे, अन्तर्गतम्, अन्धकारम्, अन्यस्य, अन्याः, अन्यान्, अन्याम्, अन्ये, अन्येद्युः, अन्यैः, अन्योन्यलोलानि, अन्योन्यसंसक्तम्, अन्वक्, अन्वभुङ्क्त, अन्वभूताम्, अन्वमीयत, अन्वयम्, अन्वयुः, अन्वयुङ्क्त, अन्वये, अन्वास्य, अन्वितः, अन्वियेष, अन्विष्यति, अपः, अपदिश्य, अपरम्, अपराद्धः, अपराद्धम्, अपराम्, अपावर्तत, अपास्य, अपुष्यत्, अपूर्वः, अपेक्षते, अवलाः, अभवन्, अभाषत, अभिजग्मुः, अभितप्तम्, अभिनन्दामि, अभिनन्दितः, अभिनन्द्यते, अभिनवा, अभिप्रेतसिद्धिः, अभिभूय, अभिमतः, अभिमतम्, अभिमुखम्, अभिरुन्धन्ति, अभिलाषः, अभिवर्तते, अभिषिच्य, अभिषेकाय, अभिसन्धाय, अभिसारिकाः, अभिहितम्, अभीः, अभीषवः, अभ्यगच्छत्, अभ्यगात्, अभ्यर्च्य, अभ्यर्थये, अमदयत, अमन्यन्त, अमर्षणः, अमात्यपिशुनम्, अमात्यम्, अमात्यैः, अमूनाम्, अम्वरे, अम्वाभिः, अम्बुभिः, अम्बुराशिः, अम्बुवाहम्, अयः, अयाचत, अयोजयिष्यत्, अयोनिजाम्, अरमत, अर्कात्, अर्चिः, अर्चिषाम्, अर्थपतिम्, अर्थवान्, अर्थिता, अर्थित्वम्, अर्थिषु, आर्थी, अर्घ्याभिः, अर्धमार्गे, अर्धासनम्, अर्भकः, अर्हतः, अलकम्, अलकान्, अलकाम्, अलके, अलकेषु, अलक्तकाङ्क्षाम्, अलङ्क्रियते, अलञ्चकार, अवगच्छ, अवगतः, अवगमयितव्या, अवगम्यते, अवततार, अवतरतु, अवतस्थे, अवति, अवतीर्णा, अवतीर्णौ, अवधीरणाम्, अवध्यः, अवनिम्, अवरोधरक्षैः, अवर्णम्, अवलम्बिष्ये, अवलम्बे, अवलोकयन्, अवसानम्, अवसिते, अवस्थासदृशम्, अवस्थिता, अवहिंता, अवाकिरान्, अविकलम्,	

(1)	(2)	(3)	(4)

अविघ्नम्, अविनयम्, अविशत्, अव्यभिचारि, अशक्नुवत्यः,
अशनिः, अशोभत, अश्नुते, अश्रूणि, अश्वम्, अश्वान्, अष्टमूर्तिः,
असति, असमाप्य, असाम्प्रतम्, असूयया, अस्तमिता, अस्मद्,
अस्त्रैः, अहः, अहनि, अहानि, अह्नाय, आकम्पयन्, आकारम्,
आख्यया, आख्यातम्, आख्याय, आगतः, आगतम्, आगत्य,
आगमनप्रयोजनम्, आगमैः, अगावाक्षात्, आचख्यौ, आचचक्षे,
आचरेः, आचष्ट, आचारधूमग्रहणात्, आजगाम, आज्ञापय,
आततज्यम्, आतपत्रम्, आतपे, आत्तरति, आत्तशस्त्रः, आत्मजः,
आत्मजस्य, आत्मभुवः, आत्मभूः, आत्मसम्भवम्, आत्मीयम्,
आददानः, आददानाम्, आदधाति, आदधाना, आदधानाम्, आदातुम,
आदिशति, आदेशात्, आदौ, आद्यस्य, आद्या, आद्ये, आधत्त,
आनृण्यम्, आपगाः, आपद्यते, आपन्नसत्त्वा, आप्तवचनात्,
आप्तवाचः, आप्तैः, आभरणैः, आम्, आयतम्, आययौ, आयसम्,
आयातम्, आयाति, आरभते, आरम्भम्, आराध्य, आरोहति, आर्तस्य,
आर्द्राक्षतारोपणम्, आर्या, आलक्ष्यते, आलि, आलिङ्ग्य,
आलोकमार्गम्, आलोके, आवहति, आविशत्, आविष्कृतः, आवृत्य,
आवेगेन, आवेदयति, आशंसे, आशङ्कते, आशंशसे, आशाम्,
आशीः, आशुगः, आश्चर्यम्, आश्रमः, आश्रमरागः, आश्रमात्,
आश्रयन्ते, आसनपरिग्रहः, आसन्ने, आसवगन्धगर्भैः, आसीनम्,
आस्यताम्, आहर्तुम्, आहिताग्नेः, आहो, इक्ष्वाकुवंशप्रभवः,
इक्ष्वाकूणाम्, इच्छन्ति, इच्छाम्, इच्छामः, इतरः, इतरे, इत्थम्भूतः,
इन्दुम्, इन्दुमतीम्, इन्दुमौलिः, इन्द्रनीलैः, इन्द्रस्य, इमे, इयाय,
इयेष, ईक्षितम्, ईदृशी, ईप्सितः, ईशम्, ईश्वरम्, ईश्वराणान्,
ईषत्, उक्तवति, उक्तवन्तम्, उक्ते, उग्रम्, उच्चचार, उच्चारितः,
उच्चैस्तरम्, उच्छितम्, उच्छुपते, उत्कण्ठितः, उत्तमम्, उत्तरः,
उत्तिष्ठिन्ति, उत्तीर्य, उत्थितम्, उत्थितायाः, उत्पत्य, उत्पाट्य,
उत्सङ्गे, उत्सवम्, उत्ससर्ज, उत्सहते, उत्साहे, उत्सृज्यलीलागतिः,
उदङ्मुखः, उदन्वता, उदारवाचः, उदिते, उदितैः, उदीरयामास,
उदेति, उद्धर्तुम्, उद्यतम्, उद्ययुः, उद्थानपालिका, उन्नतैः,
उन्ममज्ज, उन्मील्य, उपतस्थिरे, उपादिश्य, उपदिश्यते, उपदेशात्,
उपनीतः, उपनीतम्, उपन्यस्तम्, उपरिष्टात्, उपरुरोध, उपलक्षणम्,
उपलप्स्ये, उपलब्धा, उपविशति, उपविष्टा, उपसर्पताम्, उपसर्पति,
उपसर्पन्, उपसर्पन्ति, उपस्थिताम्, उपस्थीयताम्, उपागतः,
उपाचरत्, उपात्तम्, उपाददे, उपान्तिकम्, उपायुङ्क्त, उपारूढः,

(1)	(2)	(3)	(4)
		उपालप्स्ये, उमाम्, उर्व्याम्, उशन्ति, उषितम, उष्णरश्मे:, उष्णै:, उरुकीर्ति, उस्त्रै:, ऊनम्, ऊरीकृत्व, ऊर्ध्वमुखै:, ऋतव:, ऋतु:, ऋत्विजाम्, एकधनुर्धर:, एकपङ्कजम्, एकातपत्रम्, एकान्ते, एतम्, एतानि, एतान्, एतौ, एषु, ऐक्षत, ओषधय:, ओषधीप्रस्थम्, ओषधीनाम्, ककुद्मान्, कटकम्, कठिनम्, कण्वाय, कतमस्मिन्, कथयसि, कथयामि, कथयाम्बभूव, कथा:, कथाम्, कथितम्, कदम्बै:, कदा, कनकासनस्थौ, कपिलेन, कपोलसंस्पर्शिशिख:, कपोले, कमनीयम्, कमलिनीम्, कम्पम्, कम्पेन, कयाचित्, करणम्, करणीयम्, करणै:, करि, करिणाम्, करी, करेणुभि:, कर्णेषु, कर्मण:, कर्मणा, कर्मभि:, कर्षन्, कलभ:, कलभाषिणि, कलम्, कलापचक्रेषु, कलापिनाम्, कल्याणी, कश्चन, कष्ट:, कष्टतरम्, कस्मात्, कस्मिन्, कस्याश्चित्, काकुत्स्थम्, काङ्क्षति, काञ्चनम्, कार्त्स्न्येन, काननम्, कान्त:, कान्ताम्, कान्ति:, कान्त्या, कामिनीनाम्, कामेन, कारणात्, कालस्य, कालिदासस्य, काश्चित्, किंस्वित्, किञ्चन, किम्पुन:, किम्पुरुषाङ्गनानाम्, किसलयम्, कीदृश:, कीर्तिम्, कुतूहलात्, कुपिता, कुप्यसि, कुबेरात्, कुमुद:, कुमुदम्, कुमुद्वतीम्, कुम्भयोने:, कुर्वता, कुर्वती, कुलराजधान्या:, कुलोचितम्, कुशलम्, कुशलवौ, कुशली, कुसुमशयनम्, कुसुमायुधस्य, कुसुमास्तरणे, कुसुमितासु, कूजद्भि:, कूजितम्, कूजितै:, कूलम्, कृच्छ्रम्, कृच्छ्रात्, कृतसन्धानम्, कृताञ्जलि:, कृताम्, कृतौ, कृत्यवित्, कृत्स्नस्य, कृपया, कृशानु:, कृशोदरि, केका:, केतकीनाम्, केनापि, केवला, केशपाश:, केशपाशम्, केशान्, कैलासनाथम्, कैश्चित्, कोकिलानाम्, कोटिश:, कौत्स:, क्रथकैशिकानाम्, क्रन्दन्ति, क्रमश:, क्रियते, क्रीडाशैले, क्रूरे, क्लान्तम्, क्षण:, क्षत:, क्षपा:, क्षमम्, क्षामम्, क्षिणोति, क्षितिप:, क्षितीश:, क्षितीशम्, क्षितीश्वर:, क्षिप्रम्, क्षौमम्, खेदात्, गच्छत:, गच्छत्सु, गच्छाम:, गच्छे:, गजस्य, गजा:, गजानाम्, गजै:, गणयति, गणा:, गतस्य, गतानाम्, गतिभेदम्, गतौ, गन्ध:, गन्धवत्, गम:, गमनाय, गमयित्वा, गमित:, गमिष्यति, गमिष्यामि, गम्यते, गर्जितै:, गलन्ती, गलितम्, गा:, गान्धर्वम्, गान्धर्वेण, गोपयामास, गायति, गिर:, गिरम्, गिरिम्, गिरिशेन, गिरौ, गीतम्, गीयते, गुण:, गुणम्, गुणान्, गुरव:, गुरुभ्य:, गुरुव्यथम्, गुरूणाम्, गुरौ, गुर्वर्थम्, गुर्वी, गृहाण, गृहाय, गृहीतम्, गृहीते, गेयम्, गेये, गोप्तरि, गोप्तारम्, गोप्तु:, गौरवम्, गौरीगुरो:, ग्रहणम्, गृहीतम्,	

(1)	(2)	(3)	(4)
		ग्रहीतुम्, ग्लपयति, घना:, घनानाम्, चकर्ष, चकाशे, चक्रन्द, चक्रवाक:, चक्षुष:, चक्षूंषि, चचार, चतस्र:, चतुरिके, चतुर्भि:, चन्दनेन, चन्द्रमसा, चमय:, चमू:, चमूनाम्, चरणेन, चरन्, चरितार्थम्, चरितार्था, चलम्, चातक:, चापलाय, चापेन, चामरै:, चारुणा, चारुता, चिच्छेद, चिताभस्मरज:, चित्ररथ:, चित्रलेखाम्, चित्रे, चिन्त्यताम्, चिरेण, चूताङ्कुरम्, चूते, चेतना, चेतस:, चेतांसि, च्युत:, च्युता, च्युतै:, छन्द:, छेत्तुम्, जगताम्, जघनेषु, जनता, जनयन्ति, जिनस्थानम्, जने, जन्म, जयन्तेन, जयश्रियम्, जयश्री:, जयोदाहरणम्, जरसा, जरा, जलदा:, जलार्थिन:, जहासि, जहु:, जाता, जाते, जानीते, जानीहि, जायापती, जालान्तरप्रेषितदृष्टि:, जितम्, जिष्णु:, जिह्य, जीवति, जीवन्, जीवलोक:, जीविता, जीवितेन, जुगोप, जैत्रम्, जैत्राभरणम्, ज्ञानम्, ज्ञानमयेन, ज्ञायते, ज्ञास्यसि, ज्या, ज्योतिषाम्, ज्योतींषि, ज्वलनम्, तटेषु, तत्रभवते, तत्रभवत्या, तत्त्वत:, तदङ्गम्, तदन्ते, तदाख्यया, तदाननम्, तदीया, तदीये, तद्वञ्चितवामनेत्रा, तद्विधानाम्, तनय:, तनया, तनु:, तनुताम्, तनूजाम्, तनूनि, तन्वंशुकम्, तपसि, तपस्यति, तपस्यन्तम्, तपस्विकन्यका:, तपोनिधि:, तपोनिधिम्, तपोनिधे:, तपोवनस्य, तपोवनात्, तपोवने, तपोवनेषु, तप:साधनम्, तमोभि:, तरव:, तरु:, तरूणाम्, तरो:, तले, तल्पम्, तस्तार, तस्थिवांसम्, तस्थु:, तांस्तान्, ताडयितुम्, ताडित:, तात:, ताप:, तापसीभ्याम्, तावता, तिथौ, तिलक:, तिलकम्, तिष्ठन्, तिस्र:, तीरे, तीर्थम्, तीर्थे, तुमुलम्, तुरङ्गम्, तुरङ्गै:, तुलयितुम्, तुल्यम्, तुषारै:, तृषा, तेजसाम्, तेजांसि, तोयभरावलम्बिन:, तोये, त्यजति, त्रय:, त्रयाणाम्, त्रितयम्, त्रिदिवे, त्रिभुवनगुरो:, त्रियामम्, त्रिषु, त्रितोतसस्त्रम्, त्वचम्, त्वत्त:, त्वदर्थम्, त्वरताम्, त्वरय, त्वरयति, त्वरया, त्वरा, त्वरितम्, त्वाष्ट्रा, त्वा, दक्षिणस्याम्, दक्षिणा, दक्षिणे, दग्धम्, दण्डकाष्ठम्, दण्डेन, दत्त:, दत्तम्, दधत्, दधत:, दधाना:, दधाना, दयिता, दयिताम्, दर्पात्, दर्भान्, दर्शय, दर्शयितुम्, दर्शयिष्यामि, दश, दशरथ:, दशसु, दशा, दाक्षिण्यम्, दारेषु, दाशरथी, दास्याम्, दिगन्तान्, दिनानि, दिवसस्य, दिवसेषु, दिवस्पते:, दिवि, दिव्या:, दिव्या, दीक्षितम्, दीवितमान्, दीयताम्, दीर्घयामा, दीर्घिका:, दु:खानि, दुकूलवासा:, दुनोति, दुरितम्, दुर्जय:, दुर्निमिते, दुर्लभ:, दुर्वासस:, दुष्यन्तेन, दूयते, दूरवर्ती, दूषणम्, दृश्यताम्, दृश्यन्ते, दृष्टिपातम्, दृष्टे, देवकार्यम्, देवता,	

(1)	(2)	(3)	(4)
		देव्याः, देशे, देहवद्धम्, दैन्यम, दैवम्, दैवस्य, दोर्भिः, दोर्भ्याम्, दोषः, दोहदम्, द्वयोः, द्रक्ष्यसि, द्रक्ष्यानः, द्रवराचम्, द्रुमः, द्रुमाः, द्रुमाणाम्, द्रुमैः, द्वन्द्वानि, द्वारम्, द्विजम्, द्वितीयाम्, द्वितीयेन, द्विपानाम्, द्विरेफः, धनदानुजः, धनुर्धरः, धनुर्भृताम्, धन्विनौ, धर्मारण्यम्, धातारम्, धीरताम्, धुन्वन, धूः, धेनुम्, ध्यात्वा, नदति, नदी, नदीम्, नदीमुखेन, ननन्द, ननन्वतुः, ननन्दुः, नन्दिनी, नन्दी, नम्रः, नयनविषयम्, नयनसलिलम्, नयनानि, नयने, नयनैः, नराणाम्, नलिन्याः, नवकर्णिकारम्, नवपल्लवसंस्तरे, नवयौवनानाम्, नवयौवनेन, नववधूः, नागरिकः, नागाः, नागेन, नाटकम्, नाटयन्ति, नाटयित्वा, नाट्यम्, नाथः, नाथम्, नाभिः, नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण, नामतः, नामधेयम्, नारायणम्, नारी, निकेतम्, निक्षिप्य, निग्रहात्, निजगाद, नितम्बम्, नितम्बिनीनाम्, निदाघकालः, निदेशम्, निद्रा, निधीयते, निनिन्द, निन्दाम्, निन्युः, निपतन्ती, निपतिता, निपत्य, निपुणिकाम्, निपेतुः, निबिडम्, निबोध, निम्नाभिमुखम्, नियन्तु, नियुक्तः, नियुक्ताः, नियुक्ता, निरीक्षते, निर्गत्य, निर्भिद्य, निर्ममः, निर्मातुम्, निर्वश्य, निर्वृतिम्, निवर्त्तयितुम्, निवर्त्तस्व, निवर्तितः, निवर्तिष्ये, निववृते, निवारयन्ती, निवृत्तः, निवेशयन्ति, निवेशयामि, निशाकरः, निश्चित्य, निश्वस्य, निषङ्गात्, निषण्णः, निषीद, निषेवते, निस्तीर्य, नीपम्, नीलकण्ठ, नुदति, नृपम्, नेतुः, नेत्रैः, नेत्रोत्सवः, नैशम्, न्यस्य, पङ्कजानाम्, पञ्चबाणः, पञ्चमम्, पञ्चाप्सरः, पतिंवरा, पतिगृहम्, पतिगृहे, पत्रोर्णम्, पदात्, पदातिम्, पदे, पदेषु, पद्मम्, पद्मा, पद्मिनीम्, पन्थानः, पपुः, पप्रच्छ, पयसि, पयोधराः, पयोमुचा, पयोमुचाम्, परतः, परन्तपः, परभृता, परमर्षयः, परवती, परस्परस्य, परस्मात्, पराङ्मुखी, परान्, परावर्तते, परिग्रहः, परिचारिका, परिचेतुम्, परिच्छिद्य, परिच्छेत्तुम्, परितापम्, परिभूय, परिरभ्य, परिवर्तते, परिषदः, परिष्वजन्ते, परिहासपूर्वम्, परीक्ष्य, परुषम्, परेण, परैः, प्रदक्षिणप्रक्रमणात, प्रदक्षिणार्चिः, प्रपन्ना, प्रफुल्लम्, प्रबलस्य, प्रबुद्धः, प्रबोधयति, प्रभवन्ति, प्रभवम्, प्रभवसि, प्रभा, प्रभाम्, प्रभावतः, प्रभुणा, प्रमत्तः, प्रमदवनमार्गम्, प्रमदाम्, प्रयतः, प्रयताम्, प्रयत्नात्, प्रयाणे, प्रयुक्ता, प्रयुज्य, प्रवर्तसे, प्रवालम्, प्रविशन्ति, प्रविशामि, प्रविष्टम्, प्रविष्टाम्, प्रवृत्तिम्, प्रवृद्धौ, प्रष्टव्यम्, प्रसन्ना, प्रसरति, प्रसवः, प्रसादात्, प्रसाधनम्, प्रसाधिकालम्बितम्, प्रसीदति, प्रसूय, प्रस्थानभिन्नाम्, प्रस्थाने, प्रस्थापयामास, प्रस्थितः,	

(1)	(2)	(3)	(4)

प्रस्थितम्, प्रस्थिते, प्रहरन्, प्रहर्ता, प्रहस्य, प्रहतम्, प्राणाः, प्राणिनाम्, प्राणैः, प्रादुरास, प्रान्तेषु, प्रापुः, प्राप्तम्, प्रायशः, प्रार्थना, प्रार्थयिता, प्रार्थितदुर्लभः, प्रावृषि, प्रियंवदाम्, प्रियसखम्, प्रियाप्रवृत्तिः, प्रियोदन्तम्, प्रोता, प्रेक्षिष्यन्ते, प्रेम्णा, प्रोत्कण्ठयन्ति, प्रोषितानाम्, फणी, फलस्य, फलाय, फलैः, बद्धम्, वद्धा, बद्धुम्, बिन्दिभिः, बन्धुकृत्यम्, बन्धुप्रीत्या, वन्धुम्, बबाध, बभासे, बभूवतुः, बलभित्सखः, बलवदस्वस्थशरीरा, बलाकिनी, बलानि, बले, बहवः, बहुगुणरमणीयः, बहुना, बहुमता, बहुमानः, बाढम्, बान्धवः, बालस्य, बालाम्, बाले, वाष्पः, बाह्वोः, बिभर्षि, बिभ्रति, बिभ्रती, बुद्धिः, बुद्धिम्, बुधैः, बुभुजे, बृहद्भिः, ब्रह्मणः, ब्रह्मणि, ब्रह्मिष्ठम्, ब्राह्मम्, ब्रूत, भक्तिः, भगवता, भगवत्या, भग्नम्, भजते, भजन्ते, भद्रम्, भरः, भरणात्, भरतम्, भरताग्रजः, भरतेन, भवत्, भवताम् भवने, भवान्या, भवावः, भवित्रीम्, भवसि, भवस्य, भवेयम्, भस्म्, भस्मसात्, भाव, भाविनम्, भाषितम्, भास्करः, भिन्नाः, भिन्नार्थम्, भिषजाम्, भुङ्क्ते, भुजङ्गाः, भुजान्तरम्, भुजेन, भुवनत्रयम्, भुवनस्य, भूतये, भूतलम्, भूभृताम्, भूयसा, भूर्जत्वचः, भूषयन्ति, भेजिरे, भेदम्, भैषीः, भेष्ट, भोक्तारम्, भोगेषु, भोज्याम्, भ्रमति, भ्रमरः, भ्रमरी, भ्रमरैः, भ्रष्टम्, भ्रातृजायाम्, भ्रुवोः, मघवतः, मघवा, मङ्गलम्, मति, मतिमताम्, मदनेन, मदपेक्षया, मदिरेक्षणे, मदीयाः, मद्विधानाम्, मधुकरः, मधुना, मधुमद्, मधुलिहाम्, मधुश्रीः, मधौ, मध्यः, मध्यमलोकपालः, मध्येन, मनस्विनीनाम्, मनीषिभिः, मनोज्ञः, मनोज्ञम्, मनोगतम्, मन्त्रवत्, मन्त्रिणः, मन्त्रिभिः, मन्दः, मन्दाकिन्याः, मन्दारपुष्पैः, मन्मथ, मयूरम्, मयूराः, मरुत्वान्, महत्या, महाक्रतोः, महात्मनाम्, महान्, महाब्राह्मण, महाभुजः, महारथः, महितम्, महीक्षितः, महीधरः, महीपतीनाम्, महीपतेः, महेश्वरः, माङ्गल्यम्, मातृकम्, माधवेन, माधुर्यम्, मानम्, मानसीम्, मानिनि, माया, मार्गवशात्, मार्गस्य, मालतीभिः, माहेन्द्रम्, मिथिलाम्, मिथुनम्, मिश्रकेशी, मिश्रविष्कम्भकः, मुक्तम्, मुक्ता, मुखमारुतेन, मुञ्चति, मुदम्, मुदितः, मुद्राम्, मुनिकन्यकाः, मुनीन्, मुमुचे, मुमूर्च्छ, मुहुर्मुहुः, मुहूर्तकर्णोत्पलताम्, मुहूर्तात्, मूढः, मूर्च्छन्ति, मूलम्, मृगम्, मृगया, मृगयाम्, मृगयाविहारी, मृगीम्, मृणावलयम्, मेघाः, मेनका, मेरोः, मेरौ, मैथिली, मोक्षः, मोहम्, मोहेन, मौनम्, मौर्वी, मौलिभिः, मौलेः, यक्षाः, यज्वभिः, यज्वा, यथादृष्टम्,

(1)	(2)	(3)	(4)
		यथानिर्दिष्टः, यथाप्रधानम्, यथाविधि, यथासुखम्, यथास्थानम्, यथोक्तव्यापारा, यदर्थम्, यमः, यवनी, यशसा, यशसे, यशोभिः, याचते, यानम्, यायात्, यासाम्, यास्यसि, यक्तः, युज्यते, युयुजे, युवतयः, युवानम्, युष्मासु, यूनः, यूना, येषाम्, येषु, योगिनः, योग्यम्, यौवने, रक्षणविधौ, रक्षति, रक्षांसि, रक्षिता, रक्षितुः, रघवे, रघुणा, रघुपतिः, रघुप्रवीरः, रघूद्वहः, रचितम्, रजःकणैः, रजसि, रजांसि, रणः, रणशिरसि, रतिविगलितबन्धे, रथवेगेन, रथाङ्गनामा, रथात्, रन्ध्रेषु, रमणीयः, रमते, रम्भे, रम्यम्, रश्मिषु, रसात्, रसातलात्, रागम्, रागात्, रागेण, राघवाय, राघवौ, राजनि, राजपथम्, राजहंसैः, राज्ञि, राज्येन, रामा, राशिः, रिपुः, रुचम्, रुजम्, रुद्धः, रूपविधानयत्नः, रेवाम्, रोधसि, रोषात्, लक्षितः, लघुः, लघु, लङ्काम्, लताः, लतामण्डपे, लतासु, लवणम्, लिङ्गैः, लेखा, लोकपालाः, लोकानाम्, लोके, लोकेन, लोचनाभ्याम्, लोचनैः, लोभात्, लोलः, वंश्याः, वक्तव्यम्, वक्त्रम्, वक्ष्यामि, वगाह्य, वचनीयम्, वचसा, वचांसि, वज्रिणः, वञ्चनाम्, वञ्चितः, वञ्चितम्, वत्सलत्वात्, वदताम्, वदति, वदनेषु, वधात्, वधाय, वधूमुखम्, वधूवरम्, वधूसमीपम्, वध्यः, वनदेवताः, वनद्विपानाम्, वनस्थलीम्, वनस्पतिम्, वनान्ताः, वनाय, वनिताम्, वनेषु, वन्दे, वन्येन, वन्यैः, वपुषः, वयसा, वयसाम्, वरतन्तुशिष्यः, वरतन्तुः, वरेण, वर्णाश्रमाणाम्, वर्णैः, वर्तसे, वर्त्म, वर्त्मनि, वर्धितः, वल्कलेन, वशम्, वशिनः, वसन्तः, वसन्तम्, वसन्ते, वसिष्ठस्य, वसुमतीम्, वस्तु, वस्तुनि, वह्निम्, वाचस्पतिः, वाच्यः, वाच्यम्, वाजिभिः, वातः, वातायनसन्निकर्षम्, वातैः, वादिनि, वानरैः, वामः, वामलोचना, वामेतरः, वामोरु, वायुम्, वायोः, वायौ, वारिणा, वार्तम्, वाल्मीकेः, वाहतक, वाहाः, विकृता, विकृष्यताम्, विक्रमम्, विघ्नैः, विचार्य, विचिन्वता, विचिन्वन्ति, विचेष्टितम्, विचेष्टितानि, विजज्ञे, विजयिनम्, विज्ञापय, विज्ञापितः, विडम्बना, वितत्य, वितानम्, विदधाति, विदुषाम्, विदूषकस्य, विदेहाधिपतेः, विद्याः, विद्या, विद्वान्, विद्विषः, विधत्ते, विधात्रा, विधुन्वन्, विनयात्, विनयेन, विनाशात्, विनिपातः, विनीतैः, विनीय, विनेता, विनेतुम्, विनेष्यन्, विनोदयामि, विन्ध्यस्य, विपश्चितः, विप्रः, विप्रकृष्टः, विप्रियम्, विबुधद्विषः, विभक्तः, विभान्ति, विभावरी, विभुः, विभूतिम्, विभूषयन्ति, विमानना, विमुखः, विरचितपदम्, विरम, विरमति, विरहिता, विरहे, विललाप,	

(1)	(2)	(3)	(4)

विलासिनः, विलासिनाम्, विलोकयतः, विलोकयति, विलोकयन्ति, विलोलनेत्रभ्रमरैः, विवक्षितम् विवक्षुः, विवव्रुः, विवशा, विविक्षुः, विवृत्य, विवृद्धिम्, विशति, विशाम्पतिः, विशेषान्, विश्राम्यतु, विश्वात्मने, विश्वासः, विषयः, विषयाः, विषयान्तराणि, विषयेषु, विषादः, विष्कम्भकः, विष्णुम्, विसृजतः, विसृष्टम्, विसृष्टाम्, विस्मयेन, विस्मिताः, विहङ्गः, विहङ्गैः, विहन्तुम्, विहर्तुम्, विह्वला, वीक्षितम्, वीरः, वीर, वृक्षसेचनम्, वृक्षस्य, वृणीष्व, वृतम्, वृत्तयः, वृत्तान्तः, वृद्धौ, वृषस्कन्धः, वेगात्, वेजिताः, वेदविदाम्, वेदिः, वेद्मि, वेधाः, वेपते, वेषः, वैतालिकौ, वैदर्भः, वैदर्भनिर्दिष्टतम्, वैदर्भम्, वैदेहसुताम्, वैदेहि, वैदेह्या, वैष्णवम्, वोढा, व्यक्तम्, व्यज्यन्ते, व्ययम्, व्यरोचत, व्यलोभयन्, व्यवसितः, व्यवसितम्, व्यवस्थाप्य, व्यवस्थितम्, व्यवस्यति, व्याजेन, व्यादिश्यते, व्यापारयामास, व्यापृतम्, व्याप्तान्तरा, व्याहरति, व्रजन्ती, व्रजन्त्या, व्रजेत्, व्रताय, शंस, शकुन्तले, शक्तः, शक्रम्, शङ्कसे, शङ्काम्, शच्याः, शठ, शतक्रतुम्, शतक्रतोः, शतमखम्, शत्रुः, शत्रुघ्नम्, शत्रुषु , शनैः, शमम्, शमयति, शमीम्, शम्भुः, शयनम्, शयनीयम्, शय्यागृहम्, शय्याम्, शरण्यः, शरत्कालः, शरदि, शरासनज्याम्, शरीरिणाम्, शर्वरी, शलाकाम्, शशाङ्कम्, शशाप, शशाम, शशी, शाखाः, शाखिनः, शापम्, शाङ्र्गरवशारद्वतमिश्राः, शासितुः, शास्त्रदृष्टम्, शिखरम्, शिखरिणाम्, शिखा, शिरीषपुष्पम्, शिरीषम्, शिलायाम्, शिवम्, शिवाः, शिशिरे, शिश्रिये, शीतम्, शुचः, शुचम्, शुद्धान्तम्, शुभे, शुश्रुवान्, शश्रूषया, शून्या, शूर्पणखा, शृङ्गे, शृणुमः, शेषान्, शेषेन्द्रियवृत्तिः, शैलम्, शोकः, शोकम्, शोचनीयम्, श्यामम्, श्यामिकया, श्रद्धा, श्रमेण, श्रुतः, श्रुतवान्, श्रुतस्य, श्रुतेः, श्रुतौ, श्रेयः, श्रेयसे, श्रोत्रसुखाः, श्लथम्, श्लाघ्यः, षट्, संयमी, संयुगे, संयोगम्, संरम्भम्, संवृत्ता, संस्थितिः, संहर, सांयुगीनम्, सकलम्, सकाशात्, सक्रोधम्, सखीजनः, सखेदम्, सख्यम्, सख्युः, सङ्गताः, सङ्गम, सङ्गमय्य, सङ्गमोत्सुकः, सचिवेषु, सज्जीभवन्तु, सञ्चारिणी, सततम्, सतीम्, सत्क्रियाम्, सत्यात्, सत्त्वानाम्, सत्त्वैः, सदारः, सन्ततिः, सन्ततिम्, सन्दर्शिता, सन्देशम्, सन्देहेन, सन्धिः, सन्ध्या, सन्नद्धम्, सन्निकृष्टम्, सन्निपात्य, सन्निवृत्तम्, सपत्नीकः, सपरितोषम्, सपर्यया, सपर्याम्, सप्तसप्तिः, सप्राभृतकम्, सबाह्यान्तःकरणः, सभ्रूभङ्गम्, समग्रः,

(1)	(2)	(3)	(4)
		समदा:, समधत्त, समन्तत:, समय:, समयम्,समस्पृशत्, समा:, समागत:, समागतम्, समाचिता:, समाचिता, समादिष्टा, समाने, समाश्वसिहि, समाससाद, समीक्ष्य, समीक्ष्यते, समीरण:, समीरणेन, समुत्सुक:, समुत्सुकत्वम्, समुद्र:, समुपागत:, समेतबन्धु:, सम्पत्स्यन्ते, सम्पाद्य, सम्प्राप्त:, सम्बन्धम्, सम्बन्धिन:, सम्भावयामि, सम्मर्द:, सम्मोह:, सम्मोहनम्, सयौवना:, सरति, सरत्नम्, सरयू:, सरय्वा:, सरसाम्, सर्ग:, सर्वाङ्गीणम्, सर्वाणि, सर्वात्मना, सर्वावस्थासु, सर्वासु, सलक्ष्मणम्, सलयै:, सवयस्य:, सविनयम्, सव्याजम्, सशिष्य:, ससागराम्, ससाध्वसम्, ससैन्य:, सस्त्रीका:, सस्मार, सस्यम्, सम्यानाम्, सहचरीम्, सहस्रपत्राभरणा, सहस्रश:, सहाय:, सहायताम्, सहायम्, सादृश्यम्, साधयितुम्, साधु:, साधो:, साध्यम्, साध्वी, सानुमत:, सान्द्रकुतूहलानाम्, सान्ध्यम्, साभिलाषम्, सार:, सारङ्गाक्ष्या, सारङ्गेण, सारथिना, सावरज:, सिक्तम्, सिद्धय:, सिद्धये, सिद्धा:, सिद्धिमन्त:, सिद्ध्यन्ति, सिद्धयै, सीताया:, सीमान्तराणि, सुखा:, सुगन्धि, सुतनु:, सुतम्, सुतस्य, सुन्दरीणाम्, सुप्त:, सुप्ताम्, सुभग:, सुभगम्, सुभ्रु, सुरबन्दीनाम्, सुरभि:, सुरभि, सुरभे:, सुरान्, सुलभम्, सुलभा, सुहृज्जने, सुहृद्, सुहृदाम्, सूक्ष्म:, सूचित:, सूच्यते, सूनृतया, सूनो:, सूनौ, सूर्य:, सृजसि, सेनापते:, सेवते, सेवाम्, सेवावसरम्, सेव्य:, सेव्यताम्, सेव्यते, सेहे, सैकतम्, सैन्यै:, सोच्छ्वासम्, सोत्सुकम्, सोपचारम्, सोम:, सौमित्रि:, स्तनांशुकम्, स्तानाभ्याम्, स्तनौ, स्त्री, स्त्रीषु, स्थलीम्, स्थाणु:, स्थाणुम्, स्थापय, स्थापयित्वा, स्थापित:, स्थापिता, स्थावरजङ्गमानाम्, स्थिते, स्थितौ, स्थीयताम्, स्नेह:, स्नेहस्य, स्नेहेन, स्पर्श:, स्पृशति, स्पृशन्, स्पृष्ट:, स्पृहणीयशोभम्, स्फुटफेनराजि:, स्फुरता, स्फुरत्प्रभामण्डलम्, स्म, स्मरन्, स्मरम्, स्मरसि, स्मरिष्यति, स्मृत:, स्मृति:, स्मेरमुख:, स्यु:, स्रजम्, स्रस्तम्, स्रोतोवहा, स्वजन:, स्वदेहम्, स्वदेहात्, स्वप्ने, स्वप्नेषु, स्वर्गाभिष्यन्दवमनम्, स्वल्पम्, स्वसारम्, स्वान्, स्विन्नाङ्गुलि:, स्वे, स्वेषाम्, हंस, हंहो, हत:, हतस्य, हन्तुम्, हन्मि, हरम्, हरिचन्दनेन, हरिण्य:, हरिताम्, हरिभि:, हविषा, हसन्ती, हा, हारा:, हिंस्रै:, हिमम्, हिमवान्, हिमाद्रे:, हुतम्, हुताशन:, हुताशनस्य, हृत:, हृताम्, हृदय, हृदयनिहितै:, हृदयस्य, हेतु:, हैमवतम्, ह्रद:।	

The list of the words is now grouped again on the basis of 'Item-Frequency-Count'.

Grouping Based on Frequency-Count

Items	*No. of words*	*Frequency count of each word*	*Items*	*No. of words*	*Frequency count of each word*
1. Forty-six items	1	794		1	90
	1	654		1	89
	1	641		1	86
	1	612		1	85
	1	543		1	80
	1	431		1	75
	1	410		1	73
	1	300		1	70
	1	182		1	69
	1	176		1	65
	1	170		1	64
	1	155		1	63
	1	144		1	59
	1	138		1	57
	1	134		1	56
	1	121		1	55
	1	120		1	52
	1	112		1	51
	1	109		1	47
	1	101		1	41
	1	100		1	40
	1	96		1	39
	1	92		1	32
2. Nine items	2	223		2	60
	2	178		2	53
	2	105		2	48
	2	102		2	45
	2	78			
3. Twelve items	3	66		3	38
	3	58		3	37
	3	54		3	36
	3	50		3	33

(Contd....

JODHPUR

Items	*No. of words*	*Frequency count of each word*	*Items*	*No. of words*	*Frequency count of each word*
	3	46		3	25
	3	42		3	23
4. Four items	4	34		4	24
	4	29		4	22
5. Four items	5	43		5	27
	5	35		5	26
6. One item	6	31	7. One item	7	28
8. Two items	8	30		8	20
9. One item	9	21	10. One item	10	18
11. One item	12	19	12. One item	17	14
13. One item	18	16	14. One item	21	15
15. One item	23	17	16. One item	26	13
17. One item	27	13	18. One item	29	11
19. One item	32	12	20. One item	42	10
21. One item	56	9	22. One item	73	8
23. One item	134	6	24. One item	138	7
25. One item	227	5	26. One item	373	4
27. One item	727	3	28. One item	1995	2
Total		**4126**			**9732**

It may be concluded that this study does not only provide patterns for similar works, but data given here may be used directly for further work according to the ingenuity of the reader.

From the point of view of statistical standards alone, the above figures present a clear picture of the expanse of Kālidāsian language and the richness of his vocabulary.

Accompanied with the expanding nature of forms is the expanding nature of the meaning they convey. Each single form gives out a definite meaning, distinct from that of the other forms. The total number of forms thus gives us the total number of subtle semantic shades.

The semantic shades that each form throws are primarily on the simple plane of what is called the 'primary meaning' or अभिधा. An expert writer like Kālidāsa twists each word to give out secondary meaning or लक्षणा, or suggestive meaning or व्यंजना and we have so many other semantic shades also.

3.2.2. First five most frequent words

इव (f. 794), अपि (f. 654), च (f. 641), न (f. 612) and इति (f. 543) in Kālidāsian works are among the first five most frequent words. These are the important key-words that Kālidāsa uses at an unusual frequency ranging from 794 to 543. These words are typical but most beloved words of Kālidāsa. Morphologically these words fall under the sub-group of particles. Thus Kālidāsa excels in his love for particles.

As is well known, the term, 'particle' has been applied in very different ways by various grammarians, and a satisfactory definition has, as far as the ancient Indo-European languages are concerned, not yet been given. In Sanskrit 'the indeclinable words are less distinctly divided into parts of speech' than other classes of words : there are often, no hard and fast lines drawn, to identify adverbs, particles, prepositions. The same part of speech may fulfil more than one function.

The meaning of the common particle इव seems to be quite simple. However, the problems connected with its etymology and semasiology are rather complicated. The particle approves this general statement on Kālidāsa that he is a master-mind in the use of simile.

In regard to Sanskrit element इव it may, generally speaking, be said that many authors of grammar and dictionaries limited themselves to a mere arrangement of the main facts; i.e. what they call the 'meanings' or uses of the word, without entering into a discussion of the interrelations between these meanings and in all probability overlooking the fact that a variety of the so-called different senses of a word in Kālidāsa's language is nothing else but a translational difficulty in disguise.

The particle अपि has many meanings in Kālidāsa. Some of these meanings may be listed here :

(1) "on the other hand"; c.f. न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् (Mal. 1.2) 'every old poem is not good because it is old; nor (न चापि) is every new poem to be condemned because it is new'.

(2) 'only but'; c.f. एकेनापि सन्धिना (Shak. 5.61) 'only with this one understanding that.'

(3) "some etc." c.f. काप्यभिख्या तयोरासीत् (Raghu 1.46) 'some beauty was in them'.

(4) 'expression of doubt' (अपि शंकायाम्)।

(5) 'combined with नाम अपि occurs in sentences expressing 'a wish, hope, probability, supposition, etc. : अपि नाम शकुन्तला स्यात् (Shak. 1.19) 'Can she be'.

(6) 'used concessively' in many cases.

(7) 'used generally as an emphasizing particle, sometimes before and sometimes after the word it belongs to. The emphasized word may be a noun, a pronoun, an adjective, an adverb or a verb'.

(8) 'अपि is sometimes equivalent to च' e.g. तव न जाने हृदयम् मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रावपि (Shak. 3.14).

(9) The particle is rather often used in the beginning of a sentence introducing question : अपि शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् (Shak. 2.16). 'Are you interested in seeing Shakuntala?' अपि तपो वर्धते (ibid., 1.22). 'Does austerity prosper?' Here it can be recognised by a special intonation.

Some more shades in the meaning of अपि may be found in the following examples :

(क) शठ इति मयि तावदस्तु ते
परिचयवत्यवधीरणा प्रिये।
चरणपतितया न चण्डि
तां विसृजसि मेखलाऽपि याचिता।। (Mal. 3)

(ख) मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किम्पुनर्दूरसंस्थे।। (Megh.)

(ग) अन्तः शुद्धस्त्वमसि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः (Megh.)

(घ) छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् (Megh.)

(ङ) प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि (Raghu, 1.24)

(च) न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किम्पुनर्यस्तथोच्चैः। (Megh.)

(छ) अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः (Kum)

(ज) अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे (Kum)

(झ) अपि सुखं सख्याः (Mal. 3)

(ञ) जाते। अपि लघुसन्तापानि तेऽङ्गानि (Shak. 3)

(ट) न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः (Megh.)

(ठ) भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सत्वरं विप्रबुद्धा (Megh.)

(ड) भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती (Megh.)

च (641 times used) is an exact equivalent of our modern 'and', and it should be regarded as a conjunction in the traditional sense of the term. Here are some of the examples of च which show its polysemic nature :

(क) अयमेकपदे तथा वियोगः
प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्-
भवितव्यं न निरातपत्वरम्यैः।। (Vik.)

(ख) मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।। (Megh.)
(ग) तामायुष्मन् मम च वचनादात्मना चोपकर्तुम्
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः। (Megh.)
(घ) तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी–
मव्यापन्नमविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्। (Megh.)
(ङ) विषादलुप्तप्रतिपत्तिविस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत्।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छया गता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी।। (Raghu., 3.40)
(च) अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि।
वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च।। (Mal., 3.22)
(छ) अनुचितनूपुरविरहं नार्हति तपनीयपीठकालम्बि।
चरणं रुजा परीत कलभाषिणि! मां च पीडयितुम्।। (Mal., 4.3)

The negative particle न has been used 612 times. It has about thirty shades of *different meanings.* The न न variation of the particle sometimes makes an affirmative sense.

इति is known as a particle which denotes the end of a context or sentence. Apart from its function as a pause, it has other senses also. इति in Kālidāsa has twenty-one polysemic load. Some of the examples of इति are as follows :

(क) पुराणमित्येव न साधु सर्वम् (Mal., 1.3)
(ख) उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा (Kum., 1.26)
(ग) शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ
बाहू तदीयाविति मे वितर्कः (Kum., 1.4)
(घ) दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुक्षीरनिधाविव (Raghu., 1.12)

Although it is not possible to trace the historical development of the use of these particles in detail the fundamental unity of its so called senses is in, and through a large variety or contextual uses, clearly perceptible.

3.2.3. Test of Randomness for the word-length in mora and sentence-length

Sanskrit is a complex system with phonological, morphological and syntactical structures. In it, phonemes are its atomic units, and syllables are its molecular units while alphabets are the symbolic units. One may say that the Sanskrit vocabulary or the words of the different lengths in syllables or letters is the inventory of the language. The study of the distribution of phonemes, that of the structure of words in syllables or in letters, and that of the structure of sentences in words (or in syllables) are known as phonology, morphology and syntax of the language respectively. Each language has its phonology and morphology while writer has his/her own syntax. Writers, in general, take their

choiceable words of different structure from the inventory at first, then arrange them in sentences and finally combine all the sentences of different lengths in words to create their literature. Because there is neither a standard method for the arrangement of words of different length in sentences (or in the whole text) nor a method for the arrangement of a number of words in sentences (or in sentences of the whole text), the line of thought regarding the pattern (or the occurrences) of the word-length series has been started with the application of the statistical methods. It may be assumed (or a hypothesis may be considered) that in a text/in the literature of language, the occurrence of word-length series as well as that of sentence-length series is random one. Herden (1962 : 25) writes "My contention is that the linear-sequences of linguistic forms in written text for speech are random series with respect to certain quantitative characteristics and any sampling procedure by disconnected linguistic units or by continuous pieces of text, or by pages or by chapter etc., will give a random sample of such a quantitative characteristics provided only that the sampling method is in no way connected with the characteristics, that is, provided that it does not consist in a direct or indirect selection of categories of just the characteristic we are sampling for." Hence it is felt justified in persuing the problem with statistical analysis based on the relationship between the successive values and the test of randomness of the said series.

The study of the measure of relationship between successive values of word-length in syllables ordered in space was first initiated by me (Allahabad, 1980). My contribution was based on seven texts of Kālidāsa with presumably of complete counts. My findings showed that the auto-correlation coefficient of first order between lengths of consecutive words in syllables. My findings show that the auto-correlation ranges from 0.010 to 0.162 with mean 0.045. I also considered the higher order auto-correlation coefficients, r_2, r_3 and r_4 for three texts of Sanskrit dramas.

The above study of auto-correlation coefficients enables one to appreciate the randomness of the series of word-length in phonemic syllables of Sanskrit literature surveyed; while to discard the notion of randomness as regards the occurrence of the sentence length in words of the said literature. On the whole, one should not reach any firm conclusion about the coefficients (r_1) etc.

The text-study does not show that there is sufficient ground to conclude that some or all the literary works covered here have significant pattern of occurrences of word-lengths either in the sample or within the sentence. In other words, the arrangement in use of words of different syllabic length in Kālidāsa is elastic in nature while that of sentences of different lengths in words is plastic in nature. This is perhaps because of the fact that sentence length in a more genre-characteristic of the author than a language characteristic of Sanskrit.

3.2.4. Distribution of length

In this paragraph the statistical distributional patterns of the different characteristics of Kālidāsa's language such as word-length in mora and sentence-length in words have been summarized. This study reveals that the distribution of word-length in phonemic-syllables of Sanskrit follows more or less the law of Pearsonian system of curves while the distribution of sentence-length in words of the same text-literature follows lognormal distribution. It further reveals for the fitting of word-length distribution of Sanskrit Pearsonian system of curves is more close than Poisson fit and lognormal fit which were advocated by Fucks (1955) and Williams (1970) for European and other non-Indian languages.

3.2.5. Information-theoretic study

Herden (1956 : 66) writes "this branch of statistical linguistics of linguistic knowledge, inaugurated by De Saussure and Countenary, and developed by the Russian Trubetskoy and Jakobson, under the name of phonology, that the important thing about language is not the way it sounds, but how it manages to convey information. A great step forward in the study of this property of language was the advent of the statistical theory of information through which statistical methods which so far had at the best been appreciated as only an auxiliary tool of linguistic research were seen to go to the very heart of the problems of structural linguistics."

Shannon (1948) pioneered the methodology of the information theory and used it to draw certain conclusions about written English. His theory is based on the theory of discrete communication on a noiseless channel and its application on language is based on the assumption that language is a system for the communication of thought by means of symbols or codes as word-morphemes, phonemes etc. Based on this concept Shannon defined the amount of information given by the occurrence of an event X with a probability as

$$1(x) = — \log p_x$$

This amount of information $1(x)_m$ is itself a random variable and we can speak of the entropy (i.e. the average amount of information conveyed by the observation :

$$H_1 = \Sigma_x P_x (— \log P_x) = — \Sigma P_x \log P_x$$

By convention, the base of the logarithm occurring above is taken as 2, so that the amount of information conveyed by the occurrence of one of two equally likely outcomes will be unity. This is defined a one 'bit' of information.

The notion of 'information' here deals with the permutations of language units providing meaningful communication and not with (by) the ideas and the feelings conveyed as is the case in literary sense.

Shannon repeatedly insisted that his theory allowed us to measure the quantity of information, that is, a function of the rarity of certain symbols, and not to measure information in the ordinary sense of word. But others have been less cautious, and the notion has been extended in the attempt to measure linguistic meaning, and even the circulation of information in society as a function of freedom, democracy and the like.

In this regard, Herden (1966 : 266) explains entropy with these lines : "As a statistical term it is quantitative concept. As such it is a measure of the case with which guesses can be made of missing part of a message. It is based not only upon word-structure, but also upon frequency of such structures."

With the appearance of the classical paper of claude E. Shannon (1948) many eminent scholars of science and linguistics stepped into the arena and made number of contributions explaining the structural character of language and writer.

In this section, an attempt has been made to estimate the entropy of Kālidāsa's language with respect to the syllabic structure (of words) and word structure (of sentences) in the Sanskrit language. An examination of the data (vide Part-II) reveals that the entropy per syllable of Sanskrit language (Meghadūta) is 2.05 bits. The conclusive data as a whole the entropy per syllable for Sanskrit language of Kālidāsa works out to be 2.05 bits.

Comparing the values by Herden (1966 : 288) of *entropies per syllable* for English (0.76-1.56), German (1.65) and Russian (2.07-2.11) with the entropy for Sanskrit (2.03-2.05), one may conclude that the structural linguistics of Sanskrit language with respect to the language-unit as syllable occupies the place near Russian language.

3.2.6. Word-Count Mathematics

The term 'word-count' means the determination of the number of occurrences of the particular word by actual count used in a running text. The mathematical consideration of such material is, generally, performed by grouping of words according to their frequencies and the different words grouped in the above manner (vide. 3.4.) give the probability density of the distribution. A work in this field was carried out by me (1980) under the head "Vocabulary Measures" and put forward same mathematical relations and principles of least effort under linguistic phenomena based on word-count.

The objective of this section is mainly to illustrate the various aspects of word-count analysis. This study reveals that Kālidāsa is highly rich in vocabulary treasure. Moreover, the author in his writing used 79 percent words which occurred only once, 11 percent words twice, 4 percent words three times and the rest 6 percent words got repeated more than thrice. There is only one word really outstanding in frequency of occurrence and that is, the commonly frequent "*Iva*" occurs 794 times. The other adverbs "*api*",

"*cha*", '*na*' and '*Iti*' occur 654, 641, 612 and 543 times respectively. These are taken as the constants describing the vocabulary characteristics of the author, Mahākavi Kālidāsa.

3.2.7. Conclusion

The findings reported in the previous sections reveal a major phenomenon in the history of Sanskrit language in the shape of its poetry and drama. The phenomenon of structure change in the history of literature is explained by the (i) trend in word-length, (ii) trend in the proportion of parts of speech groups, (iii) trend in the proportion of sentence-length, (iv) trend in the entropy per syllable present in the different genre. This type of trend places Kālidāsa in the Gupta-age, as is evident from such types of trends in the inscriptional literature.

3.3. Pragmatics

Pragmatics is that portion of semiotics which deals with the origin, uses and effects of signs within the behaviour in which they occur.

It is an ambitious attempt to advance a theory of the pragmatic interpretation of utterances, drawing together on speech acts, formal semantics, and discourse analysis of the works of Kālidāsa. The analyses are based on the data of Kālidāsa, the attention given the role of social context in utterance interpretation makes the chapter worth the attention of sociolinguists.

This chapter consists of nine sections, as forms of address, abusive words, the art of naming, paralanguage, kinship, folk-etymology and semantic change. The theoretical of much of the work is that of text grammar and involves a modular or componential view of linguistic cognition in which a text grammar interacts with contexts in a principled way.

In a way it is the interrelationship between language and society of fundamentally different sort. There are two basic kinds of socio-linguistic relationships that we explore here. The first of these concerns the relationship between language and society in the use of specific linguistic structures to achieve specified pragmatic-ends. It has been called by Hymes "the ethnography of speaking" (sections 3-5). The other relationship between a closed set of lexical items in Sanskrit and the cultural categories of the ancient people using that language is to be referred as "ethnographic semantics" (sections 3.5.1).

The term "pragmatics" is here used to refer to the study of the utilization of formal linguistic device to achieve describable consequences of the literary semantics of Kālidāsa. It subsumes a wealth of phenomena such as the use of fictive kinship terminology, circumlocution and euphemism, tabu, naming and various orders of poetic device. It also encroaches upon the stylistic manipulation of registers of language for particular purposes, virtually a level of linguistic structure can be involved in the pragmatic use of language.

3.3.1.Proto-Feudal Society

By what name we call the social formation in Kālidāsa? It is quite clear that it could not be slavery : it was Śudra labour, not slave labour, that was utilised for production. Was it feudalism? It is true that there were feudatories under the Guptas with different titles and ranks. But they did not enjoy absolute ownership of land, most of the cultivated land being owned by peasant proprietors. Was it capitalism, then? It is an absurd proposition on the face of it : the means of production, distribution and exchange did not grow to such a degree as to engender capital; nor was Śudra labour free to choose its own profession. We can call it *protofeudalism*. Its main characteristics were similar to those of feudalism; they developed into feudalism in course of time.

Being a citizen of the protofeudalism, Kālidāsa was liberal in his views on social matters. But at the same time he was not carried away by radical views. He was a conservative-liberal and wanted to retain what is useful in old institutions and adopt what was good in innovations (Māla. 1.2.). Caste system during his period lost its old significance. He does not appear to have approved intercaste marriages (Dushyant's misgivings as to whether Shakuntalā was a Brāhman or Kshatriya girl in the Shākuntala), though for inter-caste-dining he had no objection (the Vidushaka, a Brāhmana used to take food in the kitchen of the King). He was in favour of the four castes discharging their duties, but he was not against a Shūdra adopting the life of an ascetic.[1] The Brāhmanas no doubt occupied a predominant position, enjoying mostly the patronage of kings and the charity of the public. Many among them were engaged in study and teaching. The Kings constantly sought their help in carrying on the administration.

The Kshatriyas continued to be the ruling caste. Latitude was shown to Kshatriyas marrying women of other castes. The Vaisyas were essentially traders with high degree of organisation. The Śudras who formed the bulk of the populations were mainly tillers of the land. The maiden-slaves were appointed in the palace. The group, on the other hand, was free to follow any tradition of cultural values without seeking to interfere with other groups though extending material co-operation to them. If these principles were logically followed, Kālidāsa had a universal society which was stable and harmonious without being static and uniform. The disinterested by concentrated performance of duty ensured material progress, while the aspiration for the higher led to spiritual elevation. Such a society was stable without being past-oriented and progressive without being future-oriented.

The position of women is often considered as a test by which the civilisation of a country or age may be judged. The test is extraordinarily difficult to apply, more particularly to the protofeudal ages, because of the difficulty of determining what in any age constitutes the position of women. The position of Kālidāsa's women is one thing in theory,[2] another in legal position[3], yet another in everyday life. In the Kālidāsa's time, as now, the various manifestations of women's position reacted on one another but did not exactly coincide, the true position of women was a blend of all the three.

The fact which governed her position was not her personality but her sex, and by her sex she was inferior to men. We know that the ethical and social attitude to marriage

---

1. तस्मै द्विजतरतपस्विसुतं स्खलद्भि:। Raghu. IX.76
2. गृहिणी सचिव: सखी मिथ: प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
   करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।। Raghu. VIII, 61
3. अर्थो हि कन्या परकीय एव. Shākuntala.

was not much relieved by the specifically the feudal concept of marriage. In this way both Shāstra and aristocracy combined to establish the doctrine of woman's subjection, a doctrine which was apt to be linked with the notion of her essential inferiority, nothing matters that Kālidāsa presents the concept of "Ardhanārīshwara".

The idea of court-love cloud, however, go further than this. Its characteristic manifestation was not a general reverence for womanhood of Mālavikā or Urvashī or Shakuntalā and so on, but a wholly original concept of love which was to inspire much of the finest literature of Kālidāsa.

Courtly love as understood in this society of Kālidāsa had certain clearly marked insignia. In the first place it was held to be impossible between husband and wife. 'Marriage is no excuse for not loving' is the first of the rules of Kālidāsa's love. It was based on the conviction that affection binding married persons—though real and valuable—had nothing common with the sentiment of love unless they were separated (Meghadūta). Love was often sought outside marriage. Conditions which governed feudal marriages are sufficient to explain the dogma which sounds so perverse to modern ears. It was the essence of courtly love that should be a thing freely sought and freely given; it could not be found in the marriage of feudalism (Rāma and Sītā), which was so often a parental arrangement, binding children in the interest of land. Fief marry but men and women love.

This particular conception of love had another characteristic. If the lady stood in a position of superiority towards her lover as uncontested as the position of inferiority in which a wife stood towards husband. Love was, as it were, feudalised; the lover served his lady as humbly as the vassal served his Lord.[1] He had to keep her identity secret from the world, concealing it under some fictitious name when he praised her in song.[2] He must not only bear himself with the utmost humility towards her, showing infinite patience in the trials to which her caprices and disdains must submit him, but must strive unceasingly to make himself worthy of her. For it was an axim of the theory that every admirable quality had its root in love.

The idea that only by love can man become virtuous or noble informs all the poetry of the troubadours. But moral excellence was not the only virtue grounded in love; love was also the foundation of literary perfection. The lover must sing as he sighs, and love and poetry become almost interchangeable terms as in Meghadūta also.

A close association of social virtues with love, and the high position given to a woman as their inspiration, are fully reflected both in the conception and in the practice of dramas of Kālidāsa. Love was often platonic in the accepted sense of the term, and in

---

1. अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः। Kum. 5.86
2. Māl. 3.72.

fact had much in common with the true platonic conception of love, in that it made love a source of infinite spiritual possibilities. This conception of platonic love is best exhibited in his lyrics.

It is obvious that a theory which regarded the worship of the lady as next to that of God and conceived her as the mainspring of brave deeds, a creature half male and half woman, must have done something to counteract the prevalent doctrine of women's inferiority. The process of placing women on a pedestal had begun, and whatever we may think of the ultimate value of such an elevation, it was at least better than plunging them, as the early Fathers were inclined to do, in the bottomless pit.

Such, then, were the contradictory ideas about women formulated during Kālidāsa's time and handed on as legacy to future generations. On the one hand stood subjection, on the other worship; both played their part in placing women in the position they occupied in Kālidāsa's age, and in dictating or modifying the conditions of their existence in the subsequent ages. Yet we should be wrong to consider either of these notions as the primary force in determining what the average Kālidāsa, man thought about woman. A social position is never solely created by the retical notions, it was more to the inescapable pressure of facts, the give and take of daily life. And the social position which these facts created in Kālidāsa-society was neither one of superiority nor of inferiority, but one of rough and ready equality. For in daily life man could not do without woman; he relied on her for the comfort of his home, indeed something like cameraderie is to be found in the writings of Kālidāsa about women.

3.3.2.Forms of address

Social factors such as age, sex, social stratification affect and differentiate linguistic behaviour of the characters of Kālidāsa. The study of role-relationships and their verbal associates has paid special attention to forms of address. Two aspects are subject to detailed investigation : the use of the familiar and poetic forms of addresses.

Indian writers of Sanskrit grammars have grossly neglected the socio-linguistic dimension of the forms of address in Sanskrit. An attempt will now be made to investigate various social and contextual constraints determining the variant uses of the addresses in Kālidāsa.

In the beginning of the dramas of Kālidāsa, one meets the सूत्रधार, नटी and पारिपार्श्विक. The सूत्रधार addresses his assistant as मारिष while the latter calls him भाव. It is quite in keeping with the convention of address as presented by Bharata (Nātyashāstra 5.156). Bharata advises that individuals of equal status should call one another वयस्य (5.136). He further maintains that the Vidūshaka should also be addressed as वयस्य by kings (19.10). We see in the dramas of Kālidāsa that the king दुष्यन्त, पुरुरवा and अग्निमित्र address their

respective Vidūshakas in the prescribed way. Kālidāsa's female character चित्रलेखा also calls the King as वयस्य. This is somewhat deviation from the Nātyashāstra. Kālidāsa also makes दुष्यन्त call his Vidūshaka by his name and this takes the advantage of the option (of Nātyashāstra).

Among female characters of equal status the mode of address is हला. The characters of lower order should be addressed हंजे by female characters of the high rank. Such references to addressing females are not wanting in the plays of Kālidāsa. The birds are addressed as हेले-हेले; while the animals are addressed as हंहो.

According to Bharata, a charioteer should always call the rider आयुष्मन्. In अभिज्ञानशाकुन्तल, दुष्यन्त is always addressed in the same way.

Bharata lays down that the king should be called भर्ता and देव by his subjects. But, as an exception, ascetics are allowed to call him राजन्. Kālidāsa makes use of the same in the drama.

Besides Bharata adds that the ascetics of high rank should be called भगवान्. In अभिज्ञानशाकुन्तल, दुष्यन्त calls मरीचि भगवान् when he visits his hermitage.

On the basis of the data presented in the next paragraphs we can make the following generalizations about the forms of address in Kālidāsa.

The use of the terms of address is correlated with the social attitudes and status. Lack of switching in the speech of the lower class people, when they are addressing people of the upper class shows that their (lower class people) relationship with the addressee is static. But the addresser from the upper class can switch to other forms of addresses which shows that if he desires, he can have a dynamic relationship with the one from the lower class.

Then the use of these terms is correlated with familiar relationships. Change, renewal and adjustment of relationships are most frequent in the lover-beloved relationship in the society, which are signalled by frequent switching in the use of the pronominals.

A classified alphabetical list of the forms of address in Kālidāsa is presented below in the following order : (1) serial no. (2) term of address (3) source book (4) addresser-addressee (5) frequency count (6) reference.

3.3.3. Abusive Words

Kālidāsa has used many phrases which are outside their normal semantic range (with insulting connotations). One third of these abusive terms is associated with the विदूषक (Joker). Joker in Kālidāsa's dramas appears to be a privileged person who can say certain things in a certain way which confers immunity. He is by no means any thing like

a taboo-breaker whose polluting act is a real offence to society. He is not exposed to danger. He has a firm hold on his own position in the structure and the disruptive comments which he makes upon it, are in a sense the comments of the social group upon itself. He merely expresses consensus. Safe within the permitted range of attack, he lightens for every one the oppressiveness of social reality, demonstrates its arbitrariness by making light formality in general, and expresses the creative possibility of the situation.

Here is a list of some abusive words of Kālidāsa.

अनात्मज्ञ (कंचुकी–चेटी) 'not knowing self, not knowing her own position that she is a maid-servant and she should obey the king' Shak.

अनार्य (शकुन्तला–दुष्यन्त) 'not honourable, inferior, doing work unbecoming on Arya' 'आर्याचारविवर्जित-' Shak.

अविनीत (तपस्विनी–बालक सर्वदमन) 'Wanting good manners, having rude behavior' Shak.

असम्बद्धप्रलापिनी (शकुन्तला–प्रियंवदा) 'unconnected talking, uttering unrelated speech' Shak.

आः पुरोभागिनि (शार्ङ्गरव–शकुन्तला) 'पुरोभागे दोषदर्शिनि (राघवभट्ट) हे दोषमात्रदर्शिनि गुणविमुखि स्वातन्त्र्यं स्वेच्छाचारम् अवलम्बसे किमिति काकुः। पुनः पुनर्दोषमेव त्वं भजसे। पूर्वं बन्धुजनमनावेद्य इव गता इत्येको दोषः अधुना च स्त्री भूत्वा कामाचारं प्रवर्तसे इति द्वितीयः'. In the search after दोष and गुण in the world, we meet with दोष almost at every step. So few are the instances of गुण, that these are found. Thus दोष is पूर्व and गुण is पर. It means *'thou naughty girl.'* It first means पुरोभागः यस्य. One who takes the first share is foremost in sharing, hence, secondarily quarrelsome, naughty, or one who places oneself in the foremost rank, or attaches importance to oneself. This can only be done by finding fault with others hence, *fault-finding*'.

कामतन्त्रसचिवः (इरावती–विदूषक) 'secretary of the sex-technology' Mal. 4.33.

कामुक (अङ्गनाः–अग्निवर्ण) 'lustful, voluptuous' Raghu. 19.33

कितव (यक्षिणी–यक्ष, शकुन्तला–दुष्यन्त) 'a cheat, rogue' कितवेन धूर्तेन–राघवः Megh, Shak.

कुणपाशन (दुष्यन्त–मातलि) 'eating dead bodies' कुणपं शवं अश्नाति भक्षयति यस्तत् सम्बुद्धौ। राक्षसः। 'अमेध्यःकुणपाशी च' मनु 12.71. Shak.

कुम्भील(र)क (रक्षक–धीवर) 'a thief' Shak. Vikarm, Māl. 'a robber, one who breaks into a house, an alligator, one who drives away an elephant'.

गण्डभेदक (रक्षिणौ–धीवर) 'robber'

ग्रन्थिभेदक (रक्षिणौ–धीवर) 'one who breaks or undoes a knot (for the purpose of stealing money)' Shak.

चोर (पुरूरवा—हंस) 'a thief'

जाल्म (पुरूरवा—केशी) 'a wretch' Vikram. 'जाल्मो बर्बर:, जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी'

तिरस्करिणीगर्वित (राजा—मातलि) 'proud of a magical veil rendering the wearer invisible' Shak.

दास्या: पुत्र: (विदूषक—आखेटक) 'the son of a female slave, a low wretch, a miscreant', 'It does not mean that his mother was actually slave, but used merely as an abuse' Shak.

दुरात्मन् (पुरूरवा—राक्षस) 'ill soul' Vikram.

दुर्जात (मालविका—बकुलावलिका) 'badly born, miserable wretched, 'दुर्जातं व्यसने क्लीबे'। Mal.

दुर्विनीते (शकुन्तला—मधुकर) 'badly educated, ill conducted, undisciplined, mean, wicked, *obstinate, restive*' *Shak.*

दुष्ट (शकुन्तला—मधुकर) 'naughty' Shak.

दुष्टचेटिका (विदूषक—चेटी) 'bad female servant' Vikram.

धृष्ट: (राजा—मधुकर) 'bold, daring, impudent' Shak.

निर्घृण (शकुन्तला—दुष्यन्त) 'pitiless, heartless, because he has been yet blind to her anguish' Shak.

पाटच्चर (रक्षक—धीवर) 'a thief, a robber' Shak.

ब्रह्मबन्धु ((चेटी—विदूषक) (निपुणिका—विदूषक)) 'nominal Brahman, an unworthy Brahman, a Brahman who omits his Sandhya—devotion' Mal. Vikram.

मन्द (विदूषक—आत्मगत) 'silly, foolish, stupid' Mal.

मन्दभागिनी (परिव्राजिका—आत्मगत) 'of ill luck' Mal.

मन्दभाग्या (मालविका—आत्मगतं) 'unlucky' Mal.

महाब्राह्मण ((गणदास—विदूषक) (दुष्यन्त—विदूषक) (शार्ङ्गरव—पुरोहित))

'a great Brahman, a priest who officiates at a Shraddha or solemn ceremony in honour of deceased ancestors. The word महत् when prefixed to such words as ब्राह्मण, वैद्य etc. implies निन्दा or censore, i.e. absence of the real qualities. It is a slightly taunting word too. It is a term sufficiently flattering to the simple minded विदूषक, who is unable to see irony in it' Mal. Shak.

मूढ (पुरूरवा—विदूषक) 'stupid, foolish' Vikram. Mal.

मूर्ख (पुरूरवा–विदूषक) 'foolish' Vik.

मृत्पिण्डबुद्धि (विदूषक–आत्मगत) 'a person who thinks to officiate solemn-ceremony in honour of deceased ancestors' Shak.

विहगाधम (राजा–गिद्ध) 'a bad bird' Vik.

वैधेय: (सेनापति–विदूषक) 'a fool, a block head, idiot, one who has yet to learn what the shāstrās say' Shak., Vik.

शठ (इरावती–अग्निमित्र) 'wicked, false lover, one who pretends affection for one female while his heart is fixed on another' Mal.

हताश: (निपुणिका–विदूषक) 'whose hopes are destroyed, desperate, helpless' Mal.

हताशा (निपुणिका–इरावती) 'desperate' Mal.

3.3.4.The Art of Naming

In ancient years students of Kālidāsa have noticed many examples of suggestive naming. Scholarly comments run all the ways from Ānandvardhan's brief generalization to Kshemendra's lengthy theory on Kālidāsa's presentation or the popular etymology of the names. The attention given to the 'etymologies presented by Kālidāsa' arouses careful readers to become increasingly aware that Kālidāsa is naming artistic in his writings, Let us examine the extent to which he carried symbolic naming and the way this device functions in his works.

There are many examples of suggestive naming in Kālidāsa. He matched names to characters.

From the descriptions of the names several concepts emerge which are useful in analyzing the meaning of the names used in the works of Kālidāsa. The most important concept that Kālidāsa chose names, in some cases, because they were amusing लातव्य in some cases because they had meaning in terms of character—चित्रलेखा, मालविका, कौमुदिका, समाहितिका, जयसेना, तरलिका, मदनिका, माधविका, चतुरिका, सानुमती, सर्वदमन, धनमित्र, इयामल, सूचक, वातायन etc.; in some cases because they had none—सहजन्या, वाहतक, यज्ञसेन, भद्रसेन, माटव्य, सोमरात, हारीत, जानुक, and in other cases because he felt attracted to the name for no discrete reason. Consequently, not all the names in his works will have meaning and certainly some will have some private association. They will remain secret but availability for interpretation.

From the above discussion, it is plain that Kālidāsa considered as an important part of his writing and was aware that in theory at least, the suggestive name could contribute meaning without destroying realism. Though most of the names for which any significance can be found are taken from ordinary words chosen for their suggestive powers. Some

can be grouped together because they have a common source of meaning. For example, many names come from Rāmāyaṇa, Mahābhārata and Purāṇic literature; others come from history and myth. But the particular group, however, is made up of names that do not lend themselves to any neat category but run the whole gamut of Kālidāsa's image making powers. Of this latter group, some are easy to detect, other are more subtle and can be convincingly discussed only in terms of their use within a particular drama.

In drawing names from the world of nature Kālidāsa could expect the association raised in the minds of readers to be fairly uniform. For a nice, fresh, innocent but rather common variety of Indian girl, he chose बकुलावलिका. Like the field-flower she has grown up uncultivated but quite lovely and natural. Another young girl निपुणिका carries an image of cleverness. The distinction Kālidāsa makes between the two is important. In the same way the distinction between two innocent pupils—गालव and पल्लव is also very fascinating.

Somewhat unflattering images are suggested by the characterization of various birds. हंसपदिका and शकुन्तला are the beloveds of दुष्यन्त with a changed story. परभृतिका and मधुकरिका are the maidens. The names suggest that these are sensitive young women who rise above conventional society.

A second source of suggestive naming is history and myth. The names of several characters have already received the attention of the historians—अग्निमित्र, पुष्यमित्र, वसुमित्र, यज्ञसेन, माधवसेन, आयुष, भरत, पुरूरवा, दुष्यन्त, इरावती, प्रियम्वदा, अनसूया, गौतमी, शकुन्तला, उर्वशी, रम्भा, and मेनका. The inspiration for heroines comes from myth rather than history.

Other mythological names are of little assistance in unlocking meaning, the parallels being very general at best.

The third group of purposeful names is made up mainly of connotative words, althouth the meanings of many of these are highly conjectural—वसुलक्ष्मी, and वसुमती etc.

Other names, though less glaringly suggestive than those listed above, can be seen to function purposefully. Kālidāsa employs names in a variety of ways to add to the humour. Often they are a means by which he sharpens his readers awareness of social class or profession—सुव्रता, सूचक, माणवक, गणदास, घनमित्र and लातव्य etc. are the names depicting social status.

The question why Kālidāsa used symbolic and suggestive names so extensively does not level itself to an easy answer. Partly because their function does not always seem to be the same. Frequently they are so more than an expression of humorous word-play and are bestowed on such minor character as to seem hardly worth the effort. At other times, however, the names are so closely related to theme and imagery that all the three seem to rise from the same impulse.

3.3.5.Non-verbal Communication among the Characters of Kālidāsa

The characters of Kālidāsa speak with their vocal organs, but they converse with their entire bodies; conversation consists of more than a simple interchange of spoken words. The term 'non-verbal communication', as it is currently employed, is most frequently used to refer to all of the ways in which communication is effected between characters when in each other's presence, by means other than words. It refers to communicational functioning of bodily activity, gesture, facial expression and orientation, posture and spacing, touch and smell, and of those aspects of utterance that can be considered apart from the referential content of what is said. Studies of non-verbal communication of Kālidāsa are usually concerned with the part these aspects of behaviour play in establishing and maintaining interaction and interprersonal relations between the characters. Anyone with a professional interest in dramatic language is likely, sooner or later, to have to take an interest in non-verbal communication too.

Dramas were written by Kālidāsa in the specific intention of staging them.[1] The author himself was giving stage direction in his works to guide actors in the action of particular scenes. We find 1156 such stage directions in the works of Kālidāsa; 507 in Shākuntala, 332 in Vikramōrvashīya and 327 in Mālavikāgnimitra. Some of them are already found on dramaturgy, while others indicate the deep understanding and insight of the art of acting of Kālidāsa.

There are two types of languages in the dramas. One is 'sarvashrāvya' and the other is 'ashrāvya' or 'ātmagata'. 'Ātmagata' are such utterances during which characters on the stage are supposed to act as if they are not hearing there, though they are heard by the whole of the audience. There is one more interesting type which is called 'niyatashrāvya' heard by a limited set of characters in the stage, while others present at the same time and spot have to pretend as if they have not heard. 'Niyatashrāvya' is of two types : (1) *apavārita* and (2) *janāntika*. 'Ākāshabhāshita' and 'Karṇe' are other well known stage directions.

The gestural expressions of 'giving skin' and 'getting skin' are very common in the dramas. These gestures of giving and getting skin may be considered as kinemes. They derive their meaning from the analysis of the entire range of components involved in a communicative act—sender, receiver, channel, code,, setting etc. The *kinemes* of giving and getting skin can be combined with facial expressions (such as 'smita', 'vismaya', 'āvega', 'asūya', 'vriḍā' and 'harsha' etc.) to produce *kinemorphs*. The variations within each of the kinemes represent subtle, individual *allokines* of giving skin.

---

1. आपरितोषाद् विदुषाम् etc. Shak.

Here we may analyse the regular kinemes of giving and getting skin. The salutation to the sages is treated as imparting great benefit (Shāk. v.) Shākuntā with her child postrates (Shāk. VII) herself before the sacred feet of the divine parents. These gestures are tools used by individuals for their own specific needs, and there are as many varieties and styles of doing these simple acts as there are individual personalities. Shākuntala (5) illustrates the palm-to-palm kineme of giving cup his hand slightly or hold it straight out. Thus we can consider four major kinemes of giving and getting skin in Kālidāsa : (1) greeting skin, (2) parting skin, (3) complementary skin, and (4) agreement skin. In addition four major means of execution may be considered : (a) on the sly, (b) emphatic, (c) superlative, and (d) regular.

Standing stances are also communicative in the Sanskrit dramas. Vikrama. (1) illustrates the use of the lowered-shoulder kineme which is common in the stances and walks of most males. Māla. (4) illustrates the use of shoulder kineme in dancing.

There are several ways a female may indicate to a man that she is interested in him by the way he walks. One basic kind of Jaunt consisting of a back-and forth hip-swinging movement is also found. What is unique in the characters is the overall rhythm of the walk, as well as the forward-and-backward motion of the shoulders which creates movement in the breast area. This kind of walk, which involves movements of many parts of the body is referred to as ''shaking it up''.

Shāk. (3) is illustrative of another use of gestures in the Sanskrit dramas. This particular interaction occurred spontaneously in a social situation involving the introduction of two people.

The oriental handshake or greeting can be divided into three components in a given sequence. They are :

1. grasping each other's hands, interpreted as meaning *strength*;

2. mutual grasping of hands, meaning *solidarity*;

3. placing hands on shoulders with as light amount of pressure, indicating *comradeship*.

Other aspects of nonverbal communication are hair and clothing. The hairstyle is a symbol of pride in self and heritage. Just as clothes and hair consciously affirm oriental people's strength and unity of purpose for the achievement of control of their lives and destinies, so do the selected kinesic forms of nonverbal communication depicted here act on a deeper level of awareness.

Dependent audible elements which are extremely varied, might all be put together under another popular term, tones of voice. They are produced by variations from the sociolinguistic norm in features of voice dynamics—laughter, yawning, distance, anger, fear, pleasure and shyness etc.

A cursory reading of the Sanskrit dramas of Kālidāsa shows that if we were to rely exclusively on what words those characters say, a good part of the total message of Kālidāsa would be simply known. One can conclude from the aforegoing the creation, transmission, and perception of the people in the literary world of Kālidāsa is a process based on the author's own exclusive circumstance in the real world, at one end, and the individual reader's own exclusive circumstance, also in the real world, at the other; each of them occurring in a specific spatial and temporal situation.

From the discussion of how nonverbal communication in literature reveals the semiotic process which in turn shows the author-character-reader relationship, and of how the character's repertoires affect the literary text itself, we could conclude that the use of those repertoires is a necessary inherent to Kālidāsa.

3.3.6.Kinship

The words revealing the kinship usage in the works of Kālidāsa, show two types of arrangements of the term, one for the members of the family by birth and the other for the members of the family by marriage. In each set, there are distinct terms for three generations of the "ego".

The words for the ego's generations are : bhrātṛ (i.e., brother) and bhaginī (i.e., the sister). The word 'bhrātṛ' is used in Vedic hymns, but 'bhaginī' is not found in the Vedic text. For brother, Kālidāsa has used three words—'bhrātṛ', 'agraja' and 'anuja', Bhrātṛ denotes the meaning of the 'brother'. It can be used for elder brother as well as for the younger brother also, while 'agraja' is used for the elder brother and 'anuja' is used for the younger one specifically. One more term can be seen that is 'saudarya', but it is not so common as 'bhrātṛ'.

'Bhaginī' (sister) is also used for both the elder as well as younger sister. To denote the meaning of younger sister the adjective 'kanista' is used.

The words for the ego's parents' generation are : 'pitṛ', 'tāta' for father and 'mātṛ', 'ambā' for mother. The dual form of the 'pitṛ' means 'the parents' (i.e., mother and father both); while the plural form of 'pitṛ' means 'the dead ancestors', especially those who are supposed to receive food offered by them.

The terms for the younger generation of the ego are 'sūnu', 'putra', 'vatsa', 'suta' for son; and 'duhitṛ', 'kanyā', 'putrī', 'tanujā', 'sutā', 'vatsā' for daughter. The terms 'putra' and 'vatsa' are also used for any boy or younger one i.e., any elderly person may call his younger associate by the term 'vatsa' or 'putra', besides his own son; viz., Mālatī calls Dushyanta by the term 'vatsa'.

The son of the son is called 'pautra'. Rarely the term 'dauhitra' is used for the daughter's son.

Ego's female offspring is known by the terms 'duhitṛ', 'kanyā', 'putrī', 'tanujā', 'suta' etc., 'vatsā' is common term of address for any girl. 'Kanyā' specially denotes the meaning of a 'virgin girl'.

Ego's kin by marriage are known as 'pati' or 'bhartā' (i.e., husband) and 'patnī' and 'bhāryā' (i.e., wife). There are various terms for both, which Kālidāsa has used. The mode of address by a wife for husband is 'āryaputra' (the son of the honoured one). The husband is always so addressed by the wife. While using this orthodox kinship term for husband, Kālidāsa has also marshalled many poetic and aesthetic terms like 'priya', 'ananga', 'ratipanḍita', 'saumya', 'mādhava', 'kusumāyudha' and 'smara' etc.

Before going into deep into the matter related to kinship usage, it is desirable to present the chart, that will help to elaborate the hypothesis.
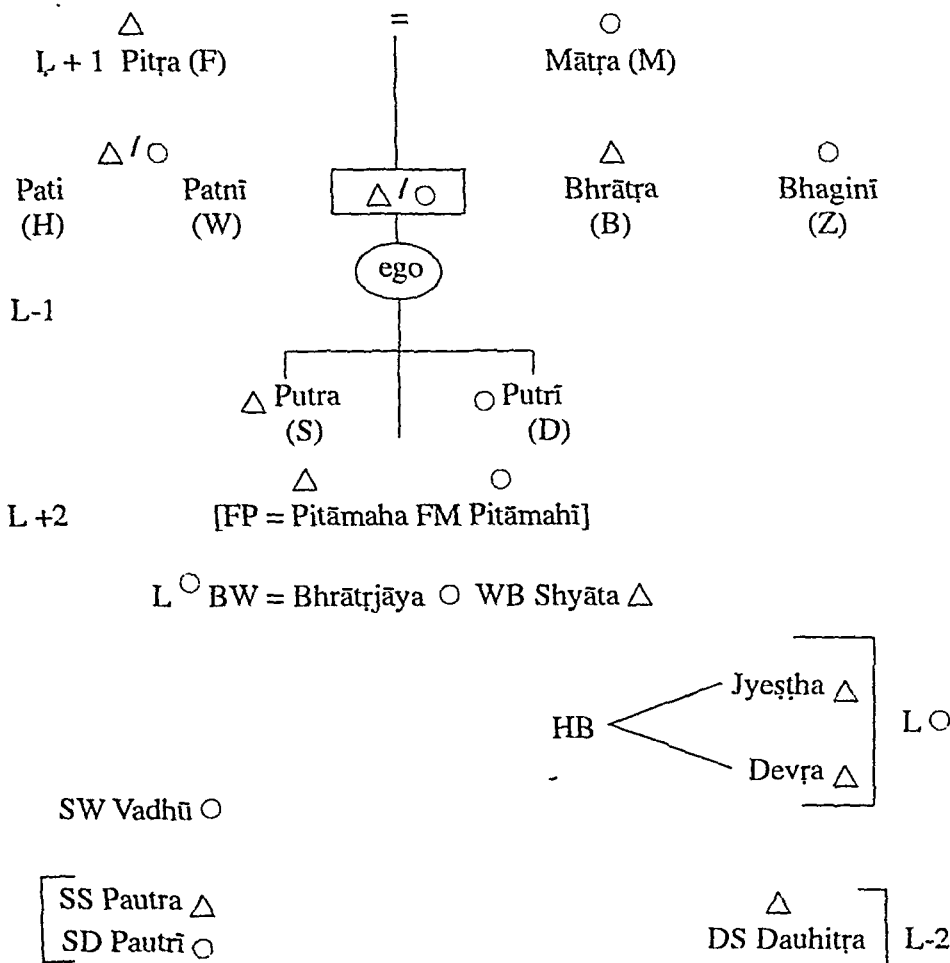
The whole concept of kinship and family was social and legal in Kālidāsa. Instead of starting the description of a family from 'father and mother', it would be better to start from the 'husband-wife' relationship as for as data in Kālidāsa are concerned. A girl becomes a wife of a person by a public ritual known as 'vivāha'.

The word 'gṛhapatnī' needs some clarification. 'Gṛhapatnī' was considered to be the elder-son's wife, and also the chief amongst the other wives, as our ancient Indian society was a polygamous. Naturally, 'duhitṛ' (daughters) were blessed to obtain the respected seat of 'gṛhapatnī', as stated in Ṛgveda also. Shakuntalā was blessed by Kaṇva for the same fate.

If we analyse the dramas of Kālidāsa we find that love-marriage (gandharva vivāha) was prevalent in his time which was the arranged marriage between the lovers without any ritual. None of the relative's or public consent is involved, though it is apparent that the norms of the society never approved such type of marriage, that is why Kālidāsa had always punished his characters for observing the free mentality about their affairs by means of creating curse-technique.

To conclude, we may say that 'patnī', 'bhāryā' of 'dārā' is the nearest associate of ego.

Kin of the wife by marriage is known by the term 'pati' or 'bhartṛ' in Sanskrit literature. He is the centre of the family as well as of kinship organization. In other words, we can say the ego is the head of the family of his generation. Obviously, the elder generation's head would be the father of the ego. Apparently, he has parents, grand parents, wife, brothers, sisters, aunts and uncles, cousins and children. This hierarchy can be easily assessed through an illustrated chart as follows :
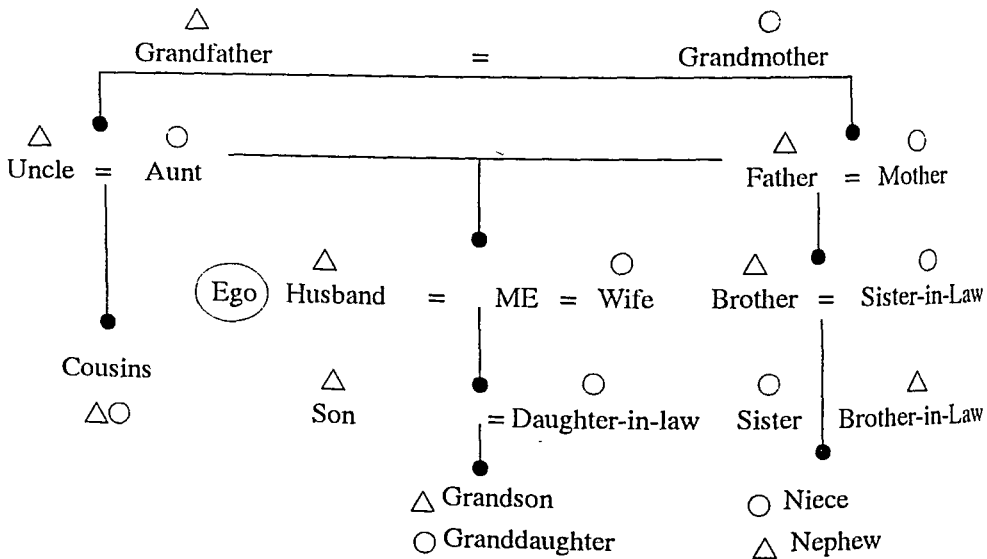
In Sanskrit literature as well as in Kālidāsa, we can observe the same hierarchy of a patriarchal family.

Ego's wife's brother (Shyālaka) was supposed to be an eminent person in the king's court. In Shākuntala also 'Shyālaka' played an important role in capturing the fisherman along with Dushyanta's ring.

The kinship in our ancient Indian society and culture can be classified in an orderly manner keeping the levels of relation in view. To have a rational approach, they can be classified as first order, second order and third order relations.

First order relations are those relations which exist in the basic unit of a family. In other words, they are direct relations, and may be consanguries or Affines—e.g., Father-son, Brother-sister, Husband-wife.

Second order relations are such relations where a person is essentially involved in between to establish relation such as Father's sister, Mother's father, Brother's wife etc.

Third order relations are relatively distant relations—in comparison to first and second order relations, where two persons are essentially needed to establish the relation—for instance, Father's brother's son, Brother's wife's father, Mother's brother's wife etc.

In nutshell we can say that the first strata or order of relation is direct relation which does not need any link, second order needs one link and third order needs two links. The following tables present the whole kinship organization which was existing in ancient Indian society.

Table No.1 **First Order Relations**

L+1	Pitṛ	(F)	Matṛ (M)
LO	Pati	(H)	Patnī (W)
	Bhṛātṛ	(B)	Bhaginī (Z)
L—1	Putra	(S)	Putri (D)

Table No. 2 **Second Order Relations**

L+2	Pitāmaha	(F)	Mātāmaha (FM)
	Pitṛvya	(FB)	Mātula (MB)
			Matṛ svasa (MZ)
	WF		
	svasura		
	HF		
	WM		
	svaśrū		
	HM		
LO	Bhrātṛjāya (BW)		Shyāla (WB)
			Shyalika (WZ)
L—1	Vadhū (SW)		
L—2	Pautra (SS)		Pautrī (SD)

Table No. 3 **Third Order Relations**

L+3 Prapitāmaha (FFF)
Pramātāmaha(FFM)

The strata of kinship organization kept the society intact through ages. Still these strata are prevailing in the society. Thus, the kinship controls rules and regulations regarding marriage character and religion.

To conclude, the kinship system can by treated as a 'proto' system, and the basic meaning of the kinship organization is 'father', (i.e. father is prototype) and the other meanings are derived from this by applying any of the three equivalence rules :

A—a man's sister is equivalent to his mother.

B—sibling of the same sex are equivalent to each other.

C—half-sibling are equivalent to full siblings. This can be well understood by a table.

This discovery opens the possibility that if we compare the prototype meanings of kinship terminology from different languages we shall find that there are relatively few variations on a few very general patterns, though we may expect difference in the rules of derivation. The difference in those rules cannot be dismissed as unimportant, of course, because they can have dramatic and far reaching consequences, but at least we seem to have restricted the kinds of differences between kinship terminologies in different languages and no longer see them as *evidence for extreme relativity.*

3.3.7.Folk-etymology

It is interesting to note that numerous instances of folk-etymology (लोक निरुक्ति) are found in Sanskrit literature beginning from the Vedic time down to the end of classical period. These instances are sometimes recorded by Sanskrit grammarians under the heading पृषोदरादि. Some of the commentators of Sanskrit lexicography have tried to explain them not directly by applying the rules of Sanskrit grammars, but by turning and twisting the words according to their desires.

The word 'etymology' (Skt. निरुक्ति) means 'the true account and analysis of a word.' It comes from the Greek word 'etumos' which means 'true' and 'logos' which means 'word'. Therefore by joining the two words, it means 'that part of philology which explains the origin and derivation of a word, with a view to ascertain their radical or primary significance.'

Folk-etymology or False-etymology is the replacement of an unknown word by a more familiar one. "It is the result of popular instinct," says Graff (Language and Languages) "for associating together words which resemble each other in sound and perhaps in meaning although there is no historical relationship between them."

Knowledge of lexicons and right use of words is essential for equipment of a poet according to all Sanskrit rhetoricians. Right knowledge of their origin; and the science of etymology is one which deals with the origin of words in a way. Naturally poets must have turned to the NIRUKTA to complete their poetic equipment. It will be interesting to observe how poets turned the science of NIRUKTA to their poetic use.

In Kālidāsian literature we often meet etymological explanation of words, which are mostly meaningless, viewed from the standpoint of modern scientific etymological analysis of Indo-Aryan comparative philology. Most of them are more or less a kind of wort-spiel, which connect a given word arbitrarily with a similar verb-root which has originally no connection with it. But this approach to the word had a ritual, rather than a linguistic significance, because the standpoint of Kālidāsa is completely the object which the word indicates; and thus the analysis of a word means nothing to him but that of the object. The full understanding of the word by means of an etymological device was believed by him to lead to the full insight into the object which the word indicated. The name and its object, that is the name-possessor, are magically and ritually connected, with each other, and Kālidāsa was not amusing himself but serious in analysing the word, seeing this attempt as a way to approach the essence of the thing. As for example, Kālidāsa suggests the following explanation of the name of उमा and अपर्णा in his Kumārasambhava :

तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना
बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव।
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा
पश्चादुमाख्या सुमुखी जगाम।। (1.26)

i.e., "The body of her relatives called her, to whom her relatives were so dear पार्वती, a name *derived from* the family of her father. Subsequently, when her mother dissuaded her from her resolve to practice penance by saying उ मा (oh! no) the lovely faced girl was thence forward known by the name of उमा."

स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां
वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः।।

i.e. "To subsist on leaves of trees that drop withered of their own accord is the utmost height that penance can reach; she, however, left off even that; this is the reason why people versed in ancient lore call that sweet-tongued girl अपर्णा".

In Kālidāsian age the Brahmanical tradition still preserves and we find a number of etymological analysis of personal names often they are accompanied by legendary stories which recount the origin of those names and the history of how they became so named.

At any rate it should be here noted that the etymological study reveals to us the historical background of the word most scientifically, the folk-etymological explanations found in the works of Kālidāsa sometimes enable us to discern what sort of concrete ideas the poet had about the given concept, the names of which he attempted to analyse by bio-etymological device.

To prepare an exhaustive list of these folk-etymological explanations found in Kālidāsa requires vast time and space, so we limit our attention only to some broad classification of Kālidāsa offers false-etymologies on the following words : अगस्त्य, अहीनगुः, इन्दुमती, ककुत्स्थ, कौसल्य, क्षेमधन्वा, गोप्रतरकल्प, तपनः, तमसा, दशरथ, ध्रुवसन्धि, नन्दिनी, परन्तप, प्रतीप, मनु रघु, राजा, राम, लोकालोक, विराध, विश्वसह, शत्रुघ्न, शूर्पणखा, सुदक्षिणा, सुदर्शन, हरिणी, हेमाङ्गद, उन्नाभ, दिलीप, दूषण, नभ, निषध, पारियात्र, पुण्डरीक, मेघनाद, हिरण्यनाभ, नल, पुष्य, अज, कुशलव, व्युषिताश्व, देवानीक, नर्मदा, मधुरा, वज्र, शिलः, सुतीक्ष्ण, सुमित्रा, पारिजात, पुष्पक, वसिष्ठ, भरषि, कवि, क्षत्र, चन्द्र, दुर्गा, पादप, पिता, रवि, विष्णु, सारस, सुपर्ण, (रघुवंश), गन्धमादन, पार्वती, मैना, सती, उच्चैःश्रवा, तारक, अपर्णा, उमा, गौरीशिखर, त्रिविक्रम, पत्नी, हार (कुमारसम्भव), प्रियंवदा, भरत, सर्वदमन, परभृतिका, मधुकरिका, सखी, (शाकुन्तल), ध्रुवसिद्धि, धारिणी, बकुलावलिका (मालविकाग्निमित्र), आयु, उर्वशी, सङ्गमनीय (विक्रमोर्वशीय), अलका, आम्रकूट, गन्धवती, गम्भीरा, रामगिरि, and विशाला (मेघदूत).

Now from all the material given above it will become clear that the bulk of Kālidāsa's etymologies is to be found in the Raghuvaṁsha, while the Kumārasaṁbhava comes next.

In Shākuntala we come across only sex etymologies. The Meghadūta also contains six. Mālavikāgnimitra and Vikramōrvashīya share equal, while Ṛtusaṁhār contains no etymology.

It seems that Kālidāsa uses bio-etymologies to pay significant compliment to his heroes and heroines. In the Conclusion it must be said that Kālidāsa never uses etymologies for their own sake nor in order to show off his scholarship. After all Kālidāsa wrote poetry and not a treatise on the science of etymology.

3.3.8.Semantic Change

Language, like anything else that depends upon human beings, changes considerably with the passage of time. One result of this is that when we read literature of several hundred years ago we are likely to be misled by words that have changed their meanings since the book was written; and sometimes much more recent writing contains a few words to which this has happened. Indeed, changes in the meaning, specially the associations of words are sometimes so rapid that they contribute difficulties of understanding between two generations.

This is one reason why the classical Sanskrit literature, especially the works of Kālidāsa, often have to be printed with explanatory notes; unfortunately the explanatory notes often look very uninteresting and arouse suspicions that the book is going to be dull.

A person who is able to read classical Sanskrit is not likely to be misled by these historical changes, since the language is so unlike modern Sanskrit that he knows he has no look in the dictionary very frequently. A person reading Kālidāsa's works often misunderstands because he is not looking for changes in meaning. The misleading word is the one that looks the same as the one we are used to and that, in the context, could reasonably mean what we at first sight suppose.

A comparative study, of pre-Kālidāsian words and Kālidāsian words or Kālidāsian and Hindi vocabularies reveals a number of interesting facts as regards words and their meanings. On account of changed conditions the meaning has displaced, or extended; or specialized.

(a) *Displacement of meaning*

1. अकाल The word अकाल in CDK means 'wrong, inauspicious or unreasonable time, not proper time'. In Hindi अकाल means 'femine'.
2. अगार In CDK the word अंगार is used in the sense of 'charcoal.' In Hindi this word is used in the sense of 'burning charcoal'.

3. अनुशासन means 'advice, persuasion, instruction, laying down rules, or percepts'. In Hindi this word is used in the sense of 'discipline'.

4. अवकाश means 'occasion' opportunity; for example, ताते चापद्वितीये वहति रणधुरां को भयस्यावकाशः (Veṇīsaṁhāra 3.5). It also means 'place, space, room' e.g., अवकाशो विविक्तोऽयं समागमे (Rāmāyaṇa). It is also used in the sense of 'admission, access, entrance', as छाया शुद्धे तु दर्पणतले शुद्धावकाशा (Shak. 7.32). In Hindi this is used in the sense of 'spare time, holiday, vacation, leave, retirement'.

5. आयु: In CDK the word आयु means 'life, duration of life' e.g., दीर्घायुर्भव. In Hindi it is used in the sense of 'age'.

6. आलोक The word आलोक means दृष्टि in Sanskrit dictionaries, while CDK records it in the meaning of जयशब्दः Mallinātha also supports this : आलोको जयशब्दः स्यात् इति विश्वः। In this sense this word is used in Raghuvaṁsha (2.9).

   विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य
   पार्श्वद्रुमाः पाशभृतासमस्य।
   उदीरयामासुरिवोन्मदाना-
   मालोकशब्दं वयसां विरावैः।।

   Some time Kālidāsa uses this word in the sense of light which is being sustained in Hindi :

   मेघालोके भवति सुखिनो
   ऽप्यन्यथावृत्तिचेतः। (Megha. 1.3)

7. औष्म, औष्म is used in the sense of सन्ताप or उष्ण in pre-CDK. Kālidāsa used it in the sense of grief :

   पूर्वराजवियोगौष्मं
   कृत्स्नस्य जगतो हृतम्। (Raghu. 17.33)

8. कठिन The word कठिन is used in the sense of hard, e.g.,

   कठिनविषमामेकवेणीं सारयन्तीम् (Megh. 92)

   This word also means hard hearted, cruel, restless; e.g.,

   न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः (Kum.)

   In Hindi this word is used in the sense of 'difficulty'.

9. कुलिश In Amarakosha कुलिश means शतकोटि, while Kālidāsa used it in the sense of कोटिः

   तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं (Megh.)

10. क्रिया In pre-CDK क्रिया means creation or work. CDK defines it as साहसिक सृष्टि, e.g.,

    क्रियामिमां कालिदासस्य (Vik. 1.2)

11. चूर्ण In CDK चूर्ण means 'dust or powder of any thing', e.g., भवति विफलप्रेरणाचूर्णमुष्टिः (Megh. 68). The tadbhava form चूरा is used in Hindi in this very sense. The word चूर्ण means 'a saltish preparation which is considered conducive of digestion.'
12. तस्कर In CDK means 'a thief or robber in general sense'. In Hindi the sense of this word has been narrowed and it is now used for 'a smuggler' only.
13. दुर्दिन is मेघाच्छन्नदिन (cloudy day) in pre-CDK, but in CDK it is धारासम्पातवर्षण (raining cats and dogs). In Hindi it is used in the sense of 'hard days'.
14. पराग is पुष्परज in Sanskrit dictionaries, but in CDK it is धूलि (dust). In Hindi again it has retained the old meaning.

    प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः
    परागस्तदनन्तरम् (Raghu. 4.30)

15. परामर्श In CDK the word is used in the sense of (a) seizing (b) bending (c) violence (d) hindrance, e.g., तपः परामर्शविवृद्धमन्योः (Kum.), (e) recollection. In Hindi this word used in the sense of 'consultation'.
16. प्रचार means 'going forth, walking about, wandering'. It also means 'appearance, coming in the manifestation, currency, prevalence'. It is used also in the sense of 'conduct, behaviour, custom, usage'. This very sense has developed in Hindi as 'propaganda' convassing etc.
17. प्रस्ताव means 'beginning, commencement, introduction'. The same sense is still presented in the word प्रस्तावना which is equally used in CDK as well as in Hindi. It also means 'mention, allusion, reference', e.g., नाममात्रप्रस्तावः (Shak. 7.) It also means 'an occasion, opportunity, fit or proper time', e.g., त्वरा प्रस्तावोऽयं न खलु परिहासस्य. Moreover, it is used in the sense of 'the occasion of discourse, subject, topic'. In Hindi this word is used in two different senses : (1) proposal and (2) essay.
18. बर्ह In Sanskrit dictionaries this word is found in the sense of 'peacock's tail' (मयूरपिच्छ), but Kālidāsa uses it in the sense of कुसुमकिसलयः

    विलासिनीविभ्रमदन्तपत्र–
    मापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः। (Raghu. 6.74)

19. श्रेणी The meanings of this word in CDK are 'a line, series, group, flock, multitude'. In Hindi this word is used in the sense of 'a class of students'.

(b) *Extension of meaning*

20. अवतार means 'appearance of any deity upon earth, descent' in Sanskrit dictionaries, while Kālidāsa used it in the sense of 'appearance of any thing', e.g.,

    धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् (Raghu. 10.84)

In Hindi it retains pre-Kālidāsian meaning.

21. अवधि is 'time' for Kālidāsa, but it is 'period' in other Skt. writers and Hindi :

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्ग–
पुराणसीधुं नवपाटलं च।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषाः
सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः।।

22. ओषधि The word ओषधि in CDK generally means 'a herb, a plant, a medical plant or drug.' In Hindi the word ओषधि is used in a wider sense. It includes not only the herbs or medical plants, but all sorts of medicines.

23. आरोप In Kālidāsa the word आरोप means 'attributing the nature and properties of one thing to another, arising.' It also means super-imposition. In Hindi the word आरोप means 'a charge against any person, blame'.

24. उदास means 'one who sits with his mouth raised up; hence, 'indifferent, apathetic, unconcerned to the world'. It also means 'a stoic philosopher'. In Hindi this word is used in the degenerated sense 'worried'.

25. उद्योग means 'effort, exertion, work, duty, diligence, etc. In Hindi this word has come to mean 'industry, branch of manufacture'.

26. कीर्त्तन In CDK means 'telling, repeating, narrating etc. The word is derived from the root कीर्त्तन् which means 'to recite, repeat, mention etc'. In Hindi this word means 'a peculiar way of reciting the sacred names of God or gods'.

27. ग्लानि In CDK means 'exhaustion, langour, fatigue'; e.g., अङ्गग्लानिं सुरतजनिताम् (Megh.). It also means 'decay'. In Hindi this word has come to mean 'disgust, aversion, contempt'.

28. समाधि In CDK means (a) composing (b) attention (c) completion (d) concentration of thoughts (e) eighth and last stage of yoga : यदा फलं पूर्वतपः समाधिना (Kum. 5.18) (f) rule : सा भूधराणामधिपेन तस्यां

समाधिमत्यामुदपादि भव्या (Kum. 1.22)

In Hindi the yogic meaning is prevalent.

(c) *Specialization of meaning*

29. अन्तर is used in CDK in many senses. First, it means 'related, intimate, dear', e.g. अयमन्यतरो मे, secondly, it means 'exterior, situated outside'. Thirdly, it is used in the sense of 'difference', e.g., तव च मम च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरम् (Mal.). Fourthly, it is used in the sense of 'another, other'. In Hindi the word is used in the sense of difference.

30. अपवाद In CDK means 'censuring, reproach, blame', e.g., लोकापवादो बलवान् मतो मे (Raghu. 16.40). It is also used, though very rarely, in the sense of 'an exception'. In Hindi the latter sense has been prominent while the former has been abandoned.

31. अभियोग In CDK means 'devotion, energetic effort, exertion', e.g., सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः। It is also used in the sense of 'devotion to learn some thing', e.g., कस्यां कलयामभियोगो भवत्याः. It also means 'learned scholarship'. It is also, though rarely, used in the sense of 'a charge, accusation'. This way sense has become prominent in Hindi abandoning all the other altogether.
32. आतङ्क has three senses (1) disease, sickness of the body (2) pain, affliction (of the mind), anguish, agony, and (3) fear, apprehension, fright, terror. In Hindi the first two senses are no longer in use while the third one only survives.
33. आदर्श means 'a mirror, a looking glass'. It also means 'the original manuscript from which a copy is taken, model; e.g., आदर्शः शिक्षितानाम्. In Hindi this word is used in the sense of 'model'.
34. आशा The word आशा in CDK means 'hope, expectation, prospect'. It is also used in the sense of 'false hope or expectation'. Moreover, it means *space, region, quarter* of the compass, direction. In Hindi this word is used only in the sense of 'hope. expectation, prospect'.
35. कवि The word कवि in CDK means 'a wiseman, a thinker, a sage'. The word also means 'a poet' e.g., मन्दः कवियशः प्रार्थी (Raghu. 1.3). In Hindi the former sense has altogether gone, while the latter only has been retained.
36. कुशेशय means 'lotus' in pre-CDK, while it means 'red lotus' in Kālidāsa :

    सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम् (Amarakosha)
    कुशेशयाताम्रतलेन कश्चि-
    त्करेणरेखाध्वजलांछनेन (Raghu. 6.18)

37. कौतुक The word generally means 'festival' in Sanskrit dictionaries. Kālidāsa uses it in the sense of 'marriage-festival' :

    कन्यकातनयकौतुकक्रियाम् (Raghu. 11.53)

    In another context Kālidāsa uses it in the sense of हस्तसूत्र.
38. घृणा The word घृणा in Kālidāsa means 'compassion, pity, tenderness'. This word is also used in the sense of 'disgust; aversion, contempt'. In Hindi only the last sense has been retained.
39. क्षण The word क्षण in CDK means 'an instant, moment'. It also means 'leisure' अहमपि क्षणलब्धः स्वगेहं गच्छामि (Mal. 1). In Hindi only the first sense has been retained.
40. प्रजा: The word प्रजा in Kālidāsa means 'procreation, generation, propagation, birth production'. It is also used in the sense of 'offspring, progeny, issue, children, brood (of animals), e.g., प्रजार्थव्रतकर्षिताङ्गः (Raghu. 2.73). It also means 'subject, people,

mankind', e.g., ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः (Raghu). In the last two examples the word has been used in both the senses. In Hindi only the latter sense has been retained.

41. प्रतिष्ठा: The word प्रतिष्ठा is used in a large number of senses in Kālidāsa. One sense is resting, remaining, situation, position,' e.g., अपौरुषेय प्रतिष्ठाम् (Mal. 1). The other sense is 'a house, residence, home, habitation (Raghu. 6.21). Another sense is fixity, stability, strength, permanence. 'It is also used in the sense of 'basis, side, foundation, as in ग्रहप्रतिष्ठा. The other sense attached to this word is installation, inauguration.' It also means 'a support' moreover, it means 'fame, renown, glory', e.g., मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः The last sense only survives in Hindi while all others have been abandoned.

42. प्रमाण in Kālidāsa means 'a measure', in general. It also means 'testimony, evidence, proof'. In Hindi only the last meaning has been retained, while all the others have been abandoned.

43. प्रसङ्ग in Kālidāsa means 'attachment, devotion', e.g., स्वरूपयोग्येसुरतप्रसङ्गे (Kum. 1.19). It also means 'union, intercourse, association, connection,' e.g., गणिकाप्रसङ्गात्. This very sense has been developed in the meaning of 'context' in Hindi.

44. प्रसन्न In CDK means 'pure, clear, bright, transparent.' It also means 'pleased, delightful, propitiated, soothed?' e.g., गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने (Megh.). Here the word has been used in both the senses. The word also means 'true, correct,' e.g., प्रसन्नस्ते तर्कः (Mal. 1). It is also used in the sense of 'kind, kindly, disposed, gracious, propitious, plain, open, easily, intelligible'. But in Hindi this word is used in the sense of 'pleased, delighted'.

45. बल in Kālidāsa means 'strength, power, might, vigour'. It is also used in the sense of 'an army, host, forces, troops'. In Hindi the word बल is used in the sense of 'strength, power, vigour, might'.

46. भाव in Kālidāsa means 'being, existence'. It also means 'state, condition, e.g., लताभावेन परिणमितमस्या रूपम् (Vik. 4).

    It is also used, though very rarely, in the sense of 'idea, thought, opinion, feelings, sentiment,' e.g., एको भावः etc. in Hindi this is used in the last sense.

47. महाजन In CDK means 'a multitude of men, public'. It also means the populace, mob', e.g., महाजनो स्मेरमुखो भविष्यन्ति (Kum. 5.7). It is also used in the sense of 'great man'. It is also used, though very rarely, in the sense of 'the chief of a trade'. This very sense has developed in Hindi in the sense of 'a particular caste of traders in India i.e., Bania'.

48. रुचि In CDK means 'light, lustre, splendour, lightness'. It also means 'ray of light'. Moreover, it means 'appearance colours, beauty'. It is also used in the sense of 'taste, relish, zest, hunger, desire'. Moreover, it is also used in the sense of liking, taste?' e.g., भिन्नरुचिर्लोक:

    Only this last sense has become prominent in Hindi.

49. लांछन In CDK means 'a sign, mark, token'. It also means 'a name, an appellation'. It is also used in the sense of 'a mark of ignomy'. This very sense has developed in Hindi in the sense of blame.

Words of Kālidāsa,—then, change in the course of history, which is why his works often need un-inviting little footnotes. Geography as well as history plays its part in limiting the meaning of the words of Kālidāsa; as soon as we try to work with two or more languages semantic problems are multiplied dramatically.

Conclusion

From the above description, Kālidāsa's literature can be analysed from two points of view defined by its ontological character. First the author has a reality and he tries to represent an important message of this in the literary texts. The question of how the text information resembles something different, which the text intends to be the representation of—can be called *mimetic* relation. The other possible view is the reader's, with the questions of what the reference of the text to the reader's reality construction, or what type of words can be inferred from the given text for an interpreter. This reference to a world over an interpreter may be called analogical relation. Now the reference mechanism of the works of Kālidāsa may be understood by the following figure :
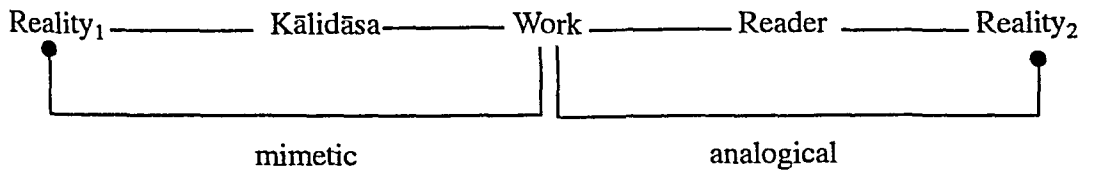
Differences between method and style are especially evident when Kālidāsa decides in advance to base his narration on a contrast between the basic tone of the narration and the events and characters described, as in many of the dramatic works. There are other forms of narrative and dramatic actions which display the same differences (Mālavikā. 1). But what we have already noted is enough to show that there is no justification for subordinating method to style or for seeing in style the more mirror-image of method.

The most usual explanation is that in his style, Kālidāsa's artistic personality is expressed, along with his overall view of life. It is, of course, true his personality coming out in different ways in his lyrics, epics, and dramas, is especially evident in his style. But a creative personality such as that of Kālidāsa may turn to any number of means of embodying his views of life in artistic images. Thus in Kālidāsa we often find several different styles. After the change in his views, Kālidāsa wrote almost simultaneously the matchless lyric Meghadūta. Still he does not understand how to bring love under control and turn into a nobler passion. This knowledge makes Kālidāsa realize that the mission of the life is the service to humanity. He poetises this truth in the Shākuntala. These two styles are as different from each other as both are from Kumārasaṁbhava and Raghuvaṁsha. Kālidāsa had three stories to tell and all the stories were written in different styles.

And if we compare his three dramas written for popular audience, we see that in his dramas too, Kālidāsa wrote in different styles. Whatever the period and whatever the work, of course, Kālidāsa is still Kālidāsa, and while his style changes from work to work, he had series of stories written in a single style. Fundamentally Kālidāsa was a romantic poet, but he gave romantic expression of Meghadūta to the theme of social inequality in Mālavikā and to heroic poetry in Raghuvaṁsha. With his realism came a new style, characterised by a combination of social protest, satire and the identification of his lyrical self with the fate of his people. And his dramas have a special place in his work, because of the unique way in which they depict the situations that have a decisive influence on the formation of the ancient man.

The change to a new style is often the result of the writer's artistic evolution and changes in his view of life and artistic method. Along with artist's outlook, the subject itself has an important part to play in the formation of his style and the conflicts that are the moving force behind the work. The specific nature of the problems and questions with which the artist is dealing have an undeniable effect upon the means which he chooses of depicting and expressing them through imagery and style.

In 'Ṛtusaṁhāra' the new subject and new material were 'neutral', until they had gripped the creative imagination of the author in 'Meghadūta'. Once he had entered the sphere of his artistic thinking (through Meghadūta) he had a real effect upon the process

of creation. As he studied his raw material from the nature, the writer was obliged to find an adequate means of expressing it in art.

This does not, of course, mean that the appearance of a new raw material in the author's life would call forth the emergence of a new style. Because of differences in the material, the same object affects the author in different ways.

Of even more importance than the raw material of life in the formation of his style is the inner orientation towards the reader which is there, consciously (in dramas) or unconsciously (in lyrics), throughout the process of creation. For the talented artist like Kālidāsa, having his reader in mind does not mean limits imposed upon what he conceives and searches for in his work, but an awareness of the effectiveness at which he aims at. The spiritual contact with his reader is not only the overall aim of Kālidāsa's writings, but also the stimulus to write which has a great effect on the structure of works and their style. Kālidāsa's desire to express the ideas and images that mean much to him is inseparable from his desire to convince the reader of their significance for life and art and to capture the mind of the reader with the structure of his narrative, his lyrical expression and the way he develops the dramatic conflict. His literature has become art because it has the strength to act upon the aesthetic perceptions of the reader. His style is truly all-embracing which enables it to influence very different readers.

As we come to look at poetic language of Kālidāsa, we must first of all note its significance not only as an element of the basis of his literature but also a stylistic phenomenon. As a stylistic phenomenon poetic language of Kālidāsa fulfils a complex role, creating the intonational pattern outside of which not one of the components of style could exist. At one and the same time the poetic language of Kālidāsa is the means of depicting character and as such it is itself to subject to the overall tone and the system of undertones. This inner relationship between the separate word or the verbal texture of each episode of the works of Kālidāsa is the hidden reality in his linguistic style.

The intonational representative and expressive function of the poetic language of Kālidāsa when at one with its communicative qualities gives us a complex and multivalent relationship between the word or the verbal texture of his work and its system of images or structure. On the basis of this emerges the disclosure of the semantic palette of the word, the richness of semantic nuances, changes and contrasts upon which scholars of literary styles are right to lay so much emphasis. It is often remarked that the word lives and plays its part in a particular context or environment. Thus the independence of his poetic language and intonation affects not only the vocabulary, but also the choice of syntactic constructions and the profound relationship between them.

And in the discovery of what old and new in reality, Kālidāsa has at his disposal all the resources of Vedic language, whom I have called 'superstratum', as also all the richness

of his native language 'Prakrit'. His language is like and ocean with a multitude of hidden currents flowing in and out of one another, and, to a certain extent contradictory to one another which makes for a vocabulary with a variety of stylistic colouring bearing different relations to the literary norm.

The very nature of Kālidāsa's individual vision of the world, along with the dominant note in his style, dictates his choice of those language forms which will give vivid expression to his artistic concepts. Not only, of course, does he choose his forms but also carries out the complex and deliberate task of organising them. It is because the languages of Kālidāsa are a unified whole and its separate components each of their own task, great or small, to perform that there is no justification on the basis of 'key-words'.

3.4.1.Superstratum

The forms of the Vedic language which affect the speech of Kālidāsa, remind us that Kālidāsa's language is not absolutely pure, (in the sense of being free from Vedic elements); no matter what purists may say. Vedic superstratum in Kālidāsa may be broadly classified into four heads : Lexical, Semantic, Morphological and Phonological.

In the first instance we have following words taken *verbatim* by the poet from the Vedic texts : रोदसी, सूनृत, अद्धा etc.

It is Kālidāsa in whom we first come across the word रोदसी in the sense of heaven and earth. In the very benedictory verse of Vikramōrvashīya the poet says about Shiva :

वेदान्तेषु यमाहुः एकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी।

Another word used freely by Kālidāsa is सूनृत and it is used in feminine as an epithet of speech : भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतं आतिथेयम् (Shākuntala); सूनुः सूनृतवाक्—(Raghu. 1.93) etc. This is also a Vedicism.

The third word used by Kālidāsa is अद्धा meaning 'truly', (see Raghu. XIII.65). Though the word is noted in the Amarakosha, it is very rare in classical Sanskrit. Monier Williams thinks it to be a Vedic word.

In some instances semantic changes may also be established. Thus the poet says of Sita in the Raghuvaṁsha (XIV. 13) : स्वश्रुजनानुष्ठितचारुवेषम् कर्णिरथस्थं रघुवीरपत्नीम्. Mallinātha takes the word कर्णिरथ occurring here to mean 'a small lady's vehicle' (स्त्रीयोग्योऽल्परथः), but dictionaries do not say of स्त्रीयोग्यत्व. These analyses cannot give satisfactory meaning, unless we know its Vedic derivation कनि, used in the sense of कन्या; like जनि in the sense of जाया. This word कनि compounds with रथ्थ to become कर्णिरथ meaning 'a lady's vehicle'.

The instances we have been discussing are all in the realm of lexicology and semasiology. Other alleged instances of superstratum influence involve morphology, as when extension of the verb form आस in place of बभूव. e.g., शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्यउत्पाद्य

इवास यत्ना: (Kumar. 1.35)..आस is an irregular formation from √अस् 'to be' and it can best be explained in the light of Vedic superstratum.

Reference may be made of the word समा used generally in the plural number meaning 'years'. Though used in classical Sanskrit also, it is more frequent in the Vedas. But in Kālidāsa (Raghu. VIII. 24, 92, XIX.4 etc.) we find frequent use of this word.

As regards words formed after Vedic models; we have plenty of uses in Kālidāsa We would like to mention first of all the use of perfect participles. कानच् and क्वसु are saffires used in the Vedas in place of perfect tense. In classical Sanskrit their use is restricted to a few roots and accordingly we get a limited number of forms. It is curious to note that Kālidāsa uses the perfect participle forms as freely and frequently as any classical word. Thus, he not only uses those permissible in classical Sanskrit, e.g., निषेदुषीम्, आसेदुषीम्, उपेयुष:, उपेयिवान्, निषेदुषी निषेदुषा, अनूचान: etc. (Raghu. II, 6, VI. 53, 73; XI. 22; XII. 1; XV. 83; XIX. 18; Kumar. VI. 15 etc.), but also takes the license of using क्वसु with the other roots like पत्, गम्, स्था etc. (see Raghu. V. 61, XI. 65, 91; Kumar. VI. 64). No other Sanskrit poet than Kālidāsa has used this suffix क्वसु so copiously.

Another peculiarity of the morphological operation noticed in Kālidāsa is violation of Pāṇinian rule of अनुप्रयोग; e.g.,

तं पातयाम प्रथमं आस पपात पश्चात् (Raghu. IX.61)=पातयामास
प्रभ्रंशयं यो नहुषं चकार (Raghu. XIII.36)=प्रभ्रंशयाञ्चकार

and following Vedic one.

It appears in all probability that Kālidāsa followed Vedic pattern in uses of some prefixes. In classical Sanskrit the prefix is immediately followed by the root. No deviation is allowed. But in the Vedas the prefix can follow the verb or can be separated by intervention of any other word or words. Kālidāsa follows the Vedic path.

Vedic substratum is most frequently invoked to explain development in Kālidāsa's phonology. Kālidāsa often shortens vowel for metrical necessity which was originally a Vedic phenomena. Thus we get दूति and दूती in a number of places (Raghu. XVIII. 53, XIX. 18; Vikram. IV. 25; Kumar. IV. 16 etc.).

The influence of a substratum becomes perfectly plausible when we find the word त्रियम्बक in place of त्र्यम्बक in Kumārasaṁbhava.

We can therefore easily postulate that Vedic language enjoyed social prestige in the days of Kālidāsa, though it was on the road to extinction. In this connection, it is rewarding to examine the superstratum in Valmiki and later classical writers; then only we can postulate any definite theory.

3.4.2.Prākrita words

The Prākrita words (total number 4040) of Kālidāsa can be divided into three divisions : तत्सम, तद्भव, देशी in the traditional way. The last category consists of words not traceable to Sanskrit. An alphabetical list of these words is presented in the III volumes of my Dictionary with notes. The term '*desi*' means belonging to the country i.e., provincial or perhaps aboriginal. It is the usual practice of the commentators to designate by this name all the words which they are unable to derive satisfactorily from Sanskrit and considered to have had their origin in the country or of non-Aryan origin. But in reality most of these words can be traced back to Sanskrit with slight phonetic changes such as उल्लाम् which is from आर्द्र. But Ranganātha, the commentator of विक्रमोर्वशीय had stated that it is a *desi* word. Some words like मश्चली and अय्युअ are not included in the list of *desi* words given by Hemachandra and Trivikram. All the *desi* words may be compared *with the list of the words* given in *Desināmamala*, Pailalacchināmamala and Prākritaśabdā-nuśāsana. Some of these *desi* words like अम्म and चिल्ल etc. are of Dravidian origin. It is interesting to note that most of these *desi* words are retained in New Indo-Aryan languages with certain phonetic changes. Let us take some discussions on the use of Vedic language and Prakrit language in the works of Kālidāsa.

There is no doubt that female characters are realised through their own Prakrit forms; their choice and deliberate use help to convey what is unique about them as a particular artistic generalisation. Kālidāsa does not, however, create a series of separate characters but a work of unity, in which are revealed not only the consistent ideas underlying it but also the consistency of his poetic language and however specific the language forms used to denote one character or another, we can never say that the languages of the works of Kālidāsa divide into separate units; it is one and indivisible.

Kālidāsa's choice of Vedic and Prakrit forms and the way in which he organises them are aimed at expressing what is characteristic, fresh or unexpected in the things, feelings and events depicted by him. The distinguishing feature of the Vedic or Prakrit form in the literary usage is that it prompts us to a multitude of thoughts, ideas and explanations.

The potential of the word of depiction in Kālidāsa is at its widest in lyrical which expresses feelings and thoughts. Often the poet feels no need for anything to be depicted openly in order to realise his concept and consequently there is nothing described straight forwardly in his poems. The criteria by which the exactitude and expressiveness of a word are measured are different for the different types of literary style. Here, some of the major points have been analysed.

3.4.3. The Suggestive Power

Indian literary criticism has always emphasised the suggestive power of Kālidāsa's language, its power to evoke the aesthetic experience called 'Rasa' in the reader or spectator. Thus, Kālidāsa's language is unequalled in its sources of suggestion and is an excellent example of ध्वनि. A quotation from Kālidāsa here would not be inappropriate : it would reveal the suggestiveness :

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै–
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।। (Shak.)

The technical perfection of Kālidāsa's verse is something which never ceases to excite the wonder of the reader. Kālidāsa had paid attention not only to parts, but also to the whole, rather a rare thing in Indian poets who generally get lost in details and forget the beauty of the work as a whole. Each verse of Kālidāsa is a product of careful craftmanship. Every epithet is significant. Every verse gives a closure visual picture of what is described. There is no mixture of metaphors. What there is a figure of speech, there is complete symmetry between उपमान and उपमेय. The sounds of each word in a verse are so appropriate that there is a very pleasing flow when one recites the verse.

Kālidāsa tastes poetry as he tastes, for example, a glass of प्रयाणक or शर्बत. He has nothing to do with the character, biography, personal likings and dislikings, peculiar habits or hobbies or range of reading. No Sanskrit critic has ever tried to investigate whether Kālidāsa was polygamous or Bhavabhūti was frustrated in his personal life, or whether there is any historical background behind Raghu's conquest in Kālidāsa's great epic. Nor was a critic only a technician to analyse the lines and words of each stanza to squeeze out all the possible meanings by applying the pinciples of figures of speech (as this critic claims to do). They rather declared that excellent poetry is possible even without any use of figures of speech, the only source of poetic excellence being a type of suggestive meaning (व्यंजना), other factors enhance its beauty (Sāhityadarpana, chapter 1).

Sanskrit critics were to a great extent free from bias because their method was mostly theoretical, that is they referred to individual poets only as examples in analyzing their theories. But this does not mean that they were incapable of criticism of individual poets or this method was unknown to them. Commentators on different works of poets were exercising this method partly because they were not writing directly on authors but they were believing that the picture of an individual poet will automatically emerge out of the analyses of his different works. Though Mallinātha did not write a critical book on Kālidāsa, his commentaries on the works of this poet sufficiently make us aware of Kālidāsa's poetic value.

3.4.4. Word-Order

In Sanskrit, as is known to the students of the language, words can be arranged in any order without incurring any grammatical or semantic lapses. It does not mean that their arrangement involves no artistic acumanship. Kālidāsa being a born artist was fully aware of this fact. He adheres to the stylistic principles as far as the arrangement of words in his works is concerned. Let us cite an example to illustrate this point : The effect of गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः (Shak. 1.32) artistically weighs much more the line शरीरं पुरः गच्छति धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः in which noun and not the verb has been placed first. This is so because in writer's mind what is of paramount significance is the movement of the body and not the body itself. This is missed lamentably when verb is not given the initial position in the poetic utterance under reference.

We may conclude this extremely sketchy discussion, that hardly touches upon all important questions of word order and leaves even many of the discussed problems open, that even in Kālidāsian Sanskrit with so-called free word order, word order is far from being free. This is a fact that can be brought to fore only by means of a more subtle analysis than has not been undertaken so far.

3.4.5. Choice of Metres

The precept that sound 'should echo to the sense' is nowhere better illustrated in Sanskrit literature than in the works of Kālidāsa. A glance at the metres used by the poet is sufficient to prove this. The use of metres like मन्दाक्रान्ता (The whole of Meghadūta is in this metre), हरिणी, वंशस्थविल to portray the sentiment of pathos; of स्रग्धरा and शार्दूलविक्रीडित to clothe more or less serious thoughts; of मालिनी and वसन्ततिलका to describe spontaneous feelings, and of आर्या (which is apparently Kālidāsa's favourite metre in dramas) to enunciate simple home-truths would corroborate the truth of the above remark. (R.D. Karmarkar, 1971. 135).

उपजाति seems to be Kālidāsa's favourite metre. In a total of 2894 verses in seven works of the poet not less than 856 are in this metre. Kālidāsa considered इन्द्रवज्रा and उपेन्द्रवज्रा as varieties of उपजाति which yields a total of 16 varieties including these two pure metres. If he did not consider these two metres as forms of उपजाति, he would have used only 14 varieties of the mixed metre. (S.B. Rao, Kālidāsa-Samīkshā, 82).

We also notice certain metres being employed usually for certain kind of descriptions. For example, वियोगिनी is used for depicting the bewailing of Rati in the fourth canto of Kumārasaṁbhava and of Aja in the eighth canto of Raghuvaṁsha. The meter in Kumārasaṁbhava VIII and in Raghuvaṁsha XIX is रथोद्धता where the subject-matter is dalliance.

It can be concluded that bonds of metre do not chain the poetry of Kālidāsa; on the other hand they beautified and are beautified by it. क्षेमेन्द्र is right in his statement that even incompetent metres are made competent by a master poet as the undisciplined are disciplined by a powerful leader. (S.T. III. 10 see V.A. Śarma)

3.4.6.Un-Pāṇinian Usage : Deviation

Kālidāsa shows his knowledge of grammar by using many complex grammatical constructions in his works. In the light of this it should be quite interesting to note the ungrammatical formations that occur in his works. The commentators explain these by saying that there are आर्ष प्रयोग. The sages and seers are not bound, as ordinary people are, to observe strictly and with meticulous care of the rules of grammar—निरङ्कुशा: कवय: (see M.P. Dwivedi, कालिदास की निरंकुशता).

There are a number of such forms in Kālidāsian works as are not sanctioned by Pāṇini's grammar. Are these to be considered as correct? This is a big question that poses itself to all connoisseurs of old literature. All along the tradition it has been believed that a word may be correct if it has been used by master writers of authorities of language even though it may not be sanctioned by grammer. व्यवहार or usage by eminent writers has been assigned a place even above grammar. This view, however, runs counter to the theory of those who solely rely on Pāṇini to decide about the correctness or otherwise of a word (Satya Vrat : The Rāmāyaṇa—a linguistic study. 1964-1973).

Tarapada Chowdhury (Linguistic Abberrations in Kālidāsa's writings, 1-40, 1951) and V. Subba Rao (The un-Pāṇinian usage of Kālidāsa, 34-53, कालिदाससमीक्षा, Tirupati, 1962) have analysed in detail the un-Pāṇinian usages of Kālidāsa. Prior to these studies, commentaries and दुर्घटवृत्ति (1172 A.D.) dealt with the un-Pāṇinian usages. About one hundred such un-Pāṇinian usages are found in the works of Kālidāsa. We propose to list all such forms as are recorded in दुर्घटवृत्ति (ed. by Ganapatishastri, Madras). The numbers in brackets refer to the page numbers of दुर्घटवृत्ति.

अनाराध्य Raghu. 1.77 (78)
अपर्णामिति Kum. 5.28 (46)
अवमन्य Kum. 5.33 (113)
आक्रमयामास Kum. 6.52 (29)
आस Kum. 1.35 (56)
आह Raghu. 3.25 (68)
उच्चैस्तराम् Kum. 7.68 (100)
उत्तरेण Megh. (49)

भवितव्यप्रियसंगमम् Kum. 4.44 (79)
भूषणभूष्यभावः Kum. 1.42 (43)
मन्द मन्दम् Megh. (134)
महाँ ह्नि Raghu. 2.56 (138)
रञ्जनात् Raghu 4.12 (113)
वंशे Megh. (27)
वरम् Megh. (73)
वाम् Raghu. 15.69 (135)
वाहयेत् Megh. (61)
विगाह्य Kum. 1.1 (79)
विनिन्युः Raghu. 3.29 (18)
विश्रामः Raghu. 1.54 (127)
विषवृक्षः Kum. (46)
वीज्यते Kum. 2.42 (57)
वैदेहिबन्धोः Raghu. 14.33 (109)
शरीरार्धहराम् Kum. 1.50 (37)
शशिना सह Kum. 4.33 (49)
शार्वरस्य Kum. 8.58 (89)
शिञ्जत् Megh. (14)
शेषम् Kum. 2.44 (71)
सख्याः Megh. (106)
सम्मार्जदक्षा Kum. (128)
सस्रे Raghu. (21)
सहचरीम् Raghu. 9.57 (65)
सितेतरस्य Kum. 1.38 (34)
सुदती Kum. 1.53 (102)
सुभ्रु Kum. 5.43 (23)
सौहदः Kum. 8.1 (127)
स्मितस्य Kum. (46)
स्यात् Kum. 1.48 (77)
स्वयंग्राह Kum. 3.7 (73)
स्वायम्भुवम् Kum. 2.1 (117)

Narayana Bhatta (1618 A.D.) in his अपाणिनीयप्रमाणता (ed. by Pandit Raman Namatiri, Trivendrum, 1942) also deals with some of the un-Pāṇinian usages. He concludes the book in the following passage :

पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिसूत्रं
केऽप्याहुः तल्लघिष्ठं न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्।
बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात् पाणिनेः प्राक्कथं वा
पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः।।

3.4.7.Iteratives

Reduplication of words is one of the expressive devices in Kālidāsian language to convey repeated, intense or continuous action. We can distinguish three types of reduplication in Kālidāsa :

(a) Complete reduplication formed by complete repetition of the first word.

(b) Partial reduplication formed by a part of the word only repeated.

(c) Reduplicatives in which the second word is a debased form or an echo of the first word. (see Chatterji Comm. Vol. of Bharatiya Sahitya, an article on 'iterative Compounds of Kālidāsa, by the present author).

The following is a fairly complete list of iteratives in Kālidāsa. They have been presented here according to parts of speech.

Substantivized iteratives

अर्घ्यमर्घ्यम्, अहन्यहनि, कष्टं-कष्टम्, काले-काले, गृहे-गृहे, दिने-दिने, दिवसे-दिवसे, देशे-देशे, दिशि-दिशि, धनुर्धनुः, निशि-निशि, पदे-पदे, पर्वते-पर्वते, भट्टिनि-भट्टिनि।

Pronominal iteratives

एष-एषः, कः-कः, तं-तम्, तांस्तान्, तैस्तैः, तेषु-तेषु, यं-यम्, येन-येन, सः सः, स्वेषु-स्वेषु।

Adjectival iteratives

अल्पाल्प, चकितचकितम्, क्षामक्षाम, दुखदुःखेन, नवोनवः, मन्दं-मन्दम्, मन्दमन्दातपम्।

Verbal iteratives

जयतु-जयतु, तिष्ठ-तिष्ठ, त्वरस्व-त्वरस्व, पश्य-पश्य, परित्रायतां-परित्रायताम्, पूरय,-पूरय, संहर-संहर, समाश्वसितु-समाश्वसितु, समाश्वसिहि-समाश्वसिहि।

Participal iteratives

खिन्नः-खिन्नः, न भेतव्यं-न भेतव्यम, स्थित्वा-स्थित्वा, स्रस्तं-स्रस्तम्।

Indeclinable iteratives

आश्चर्य-आश्चर्यम्, अविहा-अविहा, अलमलम्, इतः-इतः, ईषदीषद्, तत्र-तत्र, ततस्ततः क्व-क्व, न-न, न...न, पुनः-पुनः, भूयोभूयः, न खलु-न खलु, मा-मैवम्, साधु-साधु, यतो-यतः, हन्त-हन्त, हा, धिक्-हा, धिक्, हेले-हेले, रे-रे।

3.4.8.Redundant words

The amount of information which is communicated by Kālidāsa over and above the required minimum is redundancy. The language of Kālidāsa utilises redundancy, since

much more information is given in normal circumstances than is really necessary to guarantee comprehension. Here are some of the examples of lexical redundancy :

1. गर्भोदराणाम् (गर्भ or उदर)
2. अभ्रघनात् (अभ्र or घन)
3. नाममुद्रा (नाम)
4. अश्वसादिन् (अश्व)
5. अधरोष्ठे (ओष्ठ)
6. कृत्रिमपुत्रक (कृत्रिम)
7. समवस्था (सम्)
8. धनुर्ज्याः (धनुः)
9. कामिजनसार्थः (जन)
10. गीतार्थभावमाकर्ण्य (अर्थम्)
11. कौतुकहस्तसूत्र (हस्तसूत्र)
12. विस्रगन्धी (गन्धी)
13. तालद्रुमवनम् (द्रुम)
14. शिखण्डिबर्ह (बर्ह)
15. जघनकाञ्ची (जघन)

In the above examples, the words in brackets are superfluous items.

3.4.9.Synonyms

The relationship between name and sense may be of a simple type like one name and one sense. Or, it may be a complex type where more than one name or more than one sense are involved, and in such cases the problem of multiple meaning arises. Multiplicity in form and meaning is common phenomena in the language of Kālidāsa. It arises broadly when : (a) several names are attached to one sense and (b) conversely several senses to one name. A situation of the former type is called synonymy and of the latter type polysemy, which we have already discussed.

Words of different phonemic shapes but of identical or closely similar meanings are called synonyms. They may be interchangeable in any context. Synonymy also is not a phenomenon amenable to a systematic description. It is said that complete synonymy is a rare occurrence and a luxury which language can ill-afford. There are usually minor differences in meaning, usage or feeling—tone between any two synonymic words. It is essential that synonymous words must belong to the same grammatical case.

Some linguists and literary critics think that style is primarily a matter of choice of synonyms and Kālidāsa is expert in choosing the appropriate symbolisation of the

experience he wishes to convey among a number of words whose meaning is roughly, but only roughly, the same. The choice of कुमार for स्कन्द, for example, or अटवी for अरण्यम् or विपिनम् would for these linguists and literary critics be a matter of style.

3.4.10. Polysemy

Polysemy is a normal feature in the semantics of Kālidāsian language. All the 'Key words' in addition to their primary meanings acquire one or several additional meanings in different contexts and retain at the same time their previous meanings.

CDK stands testimony to this striking phenomena of words. For example, take the word इति which connotes twenty-one different meanings (see 4.2).

Whatever may be the causes or conditions resulting in the multiplicity of meanings of a word, the fact remains that it is a source of ambiguity in Kālidāsian language. This ambiguity of meaning which results from polysemy is removed by contextual situation which alone determines the true import of the word. Grammarians and linguists have generally discussed this problem of ambiguity in relation to polysemy in the language system. Bhartṛhari states that context-grammar is most important factor which enables a language to tolerate polysemy without giving rising to ambiguity.

3.4.11. Imagery

Imagery plays an important part in the *semantic structure* of the language of Kālidāsa. It makes the poem autonomous and keeps it growing. On this stage, his language becomes more than mere expression and feeling.

It is by his choice and use of images that Kālidāsa is the most remarkable of all the poets of all times. Every word in him as a picture. The unparralled wealth of his imagery shows itself in that royal use of metaphor which is the most distinguishing quality of his style. Kālidāsa's metaphors stem from the poet's strong and constant impulse to create life or to transfer life from his own *spiset.* His sense-perceptions are the most potent means by which he articulates his spiritual intuitions. The image he creates gives quality and atmosphere and conveys emotion in a way no precise description, however clear and accurate, can possibly do. The fulness of his soul overflows to account for rationally and logically. They stir us because they make our sorrows and desires quiver beneath the music words and the panoply of colours; their sophistry notwithstanding, they touch and awaken something in us which we call spiritual at the sorts of our being.

Kālidāsa's great novelty lies in the advance that he makes from the purely decorative to the functional image, there is a complete change in the destination of the image. In his poetry, thought and emotion express themselves in terms of images, in a simultaneous mental operation. In fact, he was thinking in images, in order to arouse the emotion more

directly in the course of unfolding and development of the idea. His images came with great spontaneity under the stress of heightened emotion. The great bulk of metaphors and similies are derived from direct observation of the things in nature and in life. The most are largely imaginative and fanciful, by far the greater number being personifications, chiefly of states, qualities and emotions. The Meghadūta is one of the samples of Kālidāsa's poetic art because we find in it that intimate fusion of human emotion and poetic vision, the superb balance of poetic imagery and the ecstasy of passion which is personal and yet the most universal. His imagery animates the world of the senses apprehended through it and admits infinite variety in quality, intensity, discretion and symbolic function. It seems that in Meghadūta Kālidāsa blossoms forth in all the plentitude of his nature (quoted from Roychoudhuri, IL, XIX.2.).

3.4.12. Idioms

It is generally agreed that the study of idiomaticity in classical languages, specially in Kālidāsian language, is one of the most neglected and under-explored aspects of linguistics. The term idiom has, nevertheless, been around since antiquity and used in a variety of senses, with some more frequently and consistently used than others. Sweet (1889 : 139) observes that "the meaning of each idiom is an isolated fact which cannot be inferred from the meaning of the words of which the idiom is made up."

The idiomatic usage of a linguistic form is one of the most productive forces of motivation in language. If a word or word-combination with conventional meaning is used to suggest a characteristic meaning other than its normal one, we have the idiomatic usage of the expression. Here we impart a special meaning to a familiar word or phrase unpredictable in terms of its structure.

The primary focus of research in the case of Sanskrit idioms is semantic, secondarily lexicographical, and only thirdly syntactical.

The idiom structure of Kālidāsian language can be stated under two broad categories :

(i) Phrasal Compound idioms.

(ii) Verb idioms.

Phrasal Compound Idioms

The present classification of phrasal compounds may be re-classified under the following three headings :

(a) *Compounds with Noun plus Adjective*

आस्थापराङ्मुखः (Raghu. 10.43)

जन्मभीरुः (Raghu. 18.33)

प्रणयमन्थरः (Raghu. 19.21)
विकल्पपराङ्मुखः (Raghu. 17.49)
विचारमूढः (Raghu. 2.47)
श्रवणकटु Raghu. 6.85)

(b) *Compounds with adjective plus noun or adjective plus adjective*

अतिशिथिलसौहार्द Shak. 6
अनन्यदृष्टिः Kum. 5.20
अन्यसंक्रान्तहृदयः Shak. 6
अविरलवाष्पजलाकुलनयनः Vik. 4
आप्तवाक् Raghu. 13.60
आर्द्रमनः Vik. 4
आर्द्रान्तरात्मा Megh. 2.35
आबद्धदृष्टिः Raghu. 1.40
आवेशितचित्त Raghu. 10.27
ऋजुप्रणामक्रिया Raghu. 6.25
कण्ठवर्तिभिः प्राणैः Raghu. 12.54
कातराक्षी Raghu. 2.52
क्लान्तमनः Shak. 5
गलितवयसाम् Raghu. 3.70
तनुवाग्विभव Raghu. 1.9
दत्तहस्त Raghu. 13.69
दूनमानस Vik. 4
दूयमानं हृदयम् Shak. 5
निम्ननाभि Megh. 2.22
पराङ्मुखी प्रवृत्ति Kum. 3.28
परुषाक्षर Raghu. 9.8
पश्चिमे वयसि Raghu. 19.1
प्रणयमृदुलान्यक्षराणि Mal. 3
प्रीतिविशदैः नेत्रैः Raghu. 17.35
बद्धदृष्टि Shak. 1
बद्धवैर Shak. 2
भग्नकामा Raghu. 5.7
भग्नमनोरथा Kum. 5.1
भग्नव्रतः Raghu. 17.42
भिन्नहृदयः Raghu. 14.24
मदिरेक्षण Shak. 1.25

मदिरेक्षणा Shak. 3
मदिराक्षी Vik. 4
मदिरायतनयना Shak. 3.4
मुक्तकण्ठ Raghu. 14.68
मोघदृष्टि Shak. 6
रजस्वला दिशः Raghu. 11.60
लघुहस्ततया Raghu. 9.63
वामलोचना Raghu. 19.13
वीतचिन्तः Shak. 4
शून्यहृदय Vik. 1
सन्दिग्धबुद्धि Shak. 5
सूचिभेद्यैस्तमोभिः Megh. 1.41
स्निग्धदृष्टि Shak. 3

(c) *Compounds with noun plus noun*

अभयाञ्जलिः Raghu. 11.74
आलोकपथ Raghu. 15.78
आशाबन्धः Megha. 1.10; Shak. 4
आश्रमपीडा Shak. 1
कटाक्ष Kum. 3.5
कण्ठपाश Kum. 1.41
कुलतन्तुम् Raghu. 18.36
केशपाश Raghu. 9.67
क्षत्रियकालरात्रि Raghu. 6.42
गण्डभेदकः Shak. 6
गृहिणीनेत्राः Kum. 6.85
ग्रीष्ममुख Raghu. 16.54
चकितहरिणीप्रेक्षणा Megh. 2.22
चाटुकार Kum. 8.25
चातकव्रत Vik. 2
छायापथ Raghu. 13.2
ज्योतिष्पथ Raghu. 13.68
ज्ञानपण्यम् Mal. 1
तरङ्गहस्त Raghu. 13.63
धैर्यच्युति Kum. 3.10
दर्शनपथ Mal. 1; Vik. 2
दीपदृष्टि Raghu. 19.42

वाष्पवृष्टि Raghu. 16.44
विरहसमुद्र Vik. 4
विलोचनजल Raghu. 19.56
विषवृक्ष Kum. 2.55
विषादशल्य Shak. 7
शरीरबन्ध Raghu. 13.58
शरीरयष्टि Raghu. 6.65
शोकतम Raghu. 10.2
शोकानल Vik. 4
शोणितमद्यकुल्या Raghu. 7.49
शृंगारदीक्षागुरु: Ṛtu. 6.36
श्रोत्रपेयम् Megh. 1.13
सिद्धिपथ Mal. 1
सुनीतिपादप Mal. 1
सुरतप्रदीप Kum. 1.10
हविर्भुजम् Raghu. 1.56
हस्तनिक्षेप Vik. 5
हस्तावलेप Megh. 1.14
हृदयचोर: Vik. 3
हैयंगवीन Raghu. 1.45

Verb Idioms

Verb idioms may be analysed under the following three categories : (I) The human body (II) Life and (III) Emotions.

(I) The Human Body

The Eye etc.

लोचनाभ्यां पिबति Raghu. 2.19; लोचनै: पीयमान: Megh. 1.16; नेत्रै: पपु: Raghu. 2.73; दृष्टि: पिबति Raghu. 13.30; कटाक्ष: पतति Vik. 4; चक्षुंषि पतन्ति Shak. 6; नेत्रव्रजा: निपेतु: Raghu. 6.7.
चक्षु: ददाति Shak. 1.6; दृष्टिं दाति Mal. 1.2
चक्षुषा पश्यति Raghu. 8.78; चक्षुषा पश्यन् Kum. 5.32
विलोचनानि व्यापारयामास Kum. 3.67
लोचने अभिभीत Kum. 5.15
लोचनै: वंचित: Megh. 1.29
लोलापाङ्गै: रमते Megh. 1.29
चक्षु: प्रविशति Raghu. 6.12

(II) **Life**

अम्भ: क्रोशति Raghu. 16.13
आश्रमधर्म: उपरुध्यते Vik. 5
उडुपेन सागरं तरति Raghu. 1.2
उपवनं तपोवनं कृतम् Shak. 2
उष्णोदकेन नवमालिका सिंचति Shak. 3
कृतं निर्मक्षिकम् Shak. 6
क्रीतस्तपोभि: Kum. 5.86
गृध्रबलिर्भवति Shak. 6
छाया न मुञ्चति Raghu. 2.6
छायेव अनुगच्छति Raghu. 2.6
जलं याचते Vik. 2.22
तटाघातं अभ्यसति Kum. 2.50
तिलोदकं सिंचति Shak. 3
त्रिशंकुरिव तिष्ठति Shak. 2
देहि मे विवरम् Shak. 5
द्यौरपि दुग्धा Raghu. 5.33
निरभ्रे विद्युत्सम्पात: Vik. 5
निर्मक्षिकं कृतम् Shak. 2
मदीयमस्त्रं श्वौ द्रक्षयति Shak. 6
मधुर्जजम्भे Kum. 3.24
यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्त: Shak. 6
वाहयते राजपथ: शिवाभि: Raghu. 16.12
शूलादवतार्य. हस्तिकन्धे प्रतिष्ठापित: Shak. 6
सत्वैरभिभूयन्ते गृहा: Shak. 6
सूर्य उपरुरोध Raghu. 7.39
सेविता: चन्द्रपादा: Vik. 3
अक्ष्णो: प्रभातमासीत् Shak. 2
पथि नयनयो: तिष्ठति Mal. 4
उपस्थितं नयनमधु Mal. 1
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनै: Megh. 2.12
नयनं ताम्यति Vik. 3
दृष्टिं विलोपयति Shak. 6
दृष्टि: स्खलति Shak. 6
दृष्टिं निवर्तयामास Raghu. 2.28
सज्जति दृष्टि: Mal. 2
वाष्पं विसृजति Shak. 4

अश्रूणि मुंचति Shak. 4
वामेतरं नयनं विस्फुरति Shak. 5
अपाङ्गो मे वामः स्फुरति Mal. 1
दक्षिणेतरं नयनं स्फुरति Mal. 5
दीर्घनिद्रां प्रवेशितः Raghu. 12.81
निद्रा नयनाभिमुखी बभूव Raghu. 5.64

The Body

शरीरमस्ति मे Mal. 2
शरीरभूता मे शकुन्तला Shak. 6
कथीकृतं वपुः Kum. 4.13

Body-parts

अङ्गं ग्लपयति Kum. 5.29

The Hand

हस्ते समर्पयति Shak. 4
हस्ते न्यासीकृतः Vik. 4
हस्तं प्रापयति Mal. 5
हस्तं लम्बयेत् Raghu. 6.75
हस्तगामिनीमकरोत् Raghu. 8.1
हस्ताभ्याशमुपगच्छति Shak. 5
हस्तपादं प्रसरति Shak. 2.4

The Foot

चरणौ न प्रसरतः Mal. 3
चरणौ समस्पृशत् Raghu. 11.89
पादयोः पतति Shak. 4
पदं करोति Shak. 4
पदमर्पयति Raghu. 9.74

अंजलि

अंजलिं बबन्ध Raghu. 16.5

The Ear

कर्णं ददाति Shak. 5
कर्णौ पिधाय Shak. 5
कर्णपथं न आयाति Shak. 6

The Lip

अधरं दर्शयति Shak. 7

The Back

आर्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः Shak. 1

The Mouth

मुखं पपौ Kum. 8.80
मुखे पतति Shak. 2

The Soul

पात्रीकृतात्मा Raghu. 18.30
अन्तरात्मा प्रसीदति Shak. 7

The Life

जीवितं धारयति Shak. 4
प्राणान् धारयति Raghu. 14.42

धी

धियां पथि वर्तते Kum. 6.22

धीरता

धृतिरस्तमिता Raghu. 8.66

The Youth

यौवनं सन्नद्धम् Shak. 1.20

The Heart

वेपते हृदयम् Shak. 3; Mal. 4.5; Vik. 2
आश्वस्तं मे हृदयम् Mal. 5
प्रसीदति मे हृदयम् Mal. 5
प्रेषितं हृदयम् Vik. 2
चोरितं हृदयम् Vik. 3.17
कातरं मे हृदयम् Mal. 3
शङ्कितं मे हृदयम् Mal. 3
हृदयमाचष्टे Mal. 4
हृदयं विदद्रे Raghu. 14.33
हृदयं विश्वसिति Mal. 3
हृदयं भित्वा Vik. 1
हृदयं निवर्तयति Vik. 3
हृदयं संस्पृशति Shak. 4
हृदयानि हरति Ṛtu. 6.24
हृदये करोति Mal. 1

हृदये वसति Kum. 4.9
हृदयशल्य Vik. 1.5

The Mind

प्रोत्कण्ठयति मनः Ṛtu. 3.5
स्निह् यति मनः Shak. 7
प्रकुर्वते मनः Ṛtu. 1.6
दुःखायते मनः Mal. 5
तृप्तं मनः Raghu. 5.11
उद्व्यसितं मनः Kum. 6.14
मनश्चलयति Ṛtu. 3.10
मनो न दूयते Kum. 5.48
मनः द्वैधीभवति Shak. 2.17
मनः करोति Shak. 2
मनस्तु मे संशयमेव गाहते Kum. 5.46
मनांसि मदयति Mal.
मनसि वर्तते Mal. 2
चित्तं हरति Ṛtu. 4.9
चित्तं रमयति Ṛtu. 5.3
चित्तं क्रियते Ṛtu. 1.5
चित्तं विदारयति Ṛtu. 3.6
चेतसा स्मरति Shak. 5
चेतः धावति Shak. 1.32
चेतः दुनोति Kum. 3.28
चेतः व्यथितम् Ṛtu. 6.20
उत्सुकयति चेतः Mal. 5
हरन्ति चेतः Ṛtu. 2.20
प्रहितेन चेतसा Kum. 5.42

3.4.13. Scientific and Technical Words

Kālidāsa's choice of words is the most important single factor in determining the effectiveness of his writing. Some critics have gone so far as to maintain that effective style is simply the right word in the right place, and they are supported by evidence found in the works of Kālidāsa. The cloud messenger of the Meghadūta of Kālidāsa reveals how carefully he considered each word—writing first one, then another—before finally deciding which was the most likely to convey precisely the effect he intended. The style

of Kālidāsa reflects in almost every sentence the search for the *mot Juste,* that one word that can suggest a precise shade of meaning.

Every word of Kālidāsa has its use, and every word has its history. Words of Kālidāsa can be studied from several point of view. We are concerned here with the scientific and technical words of Kālidāsa.

The details mentioned in any description or statement seem extremely natural, though on closer examination one feels that their choice has been influenced by tradition in convention. When he describes the marriage of Shiva and Parvati, the details mentioned may all be found in the Grihyasutras. Certain words are used which reveal his close acquaintance with grammar. Other could have been brought in only by one who knows his Koshas very well. Where he describes the behaviour of kings and ministers, one feels certain that he is thinking of the teachings of Arthashastra. The teachings of Dharmashastra seem to form the background of all his works, whether epic or dramatic. Sometimes the allusions to the systems of philosophy are so specific that only one who had an intimate knowledge of then could have made them. In the VIIth canto of Kumārasaṁbhava, he seems to be perfectly at home with the *Kāmashāstra*. In other words, if one scratches Kālidāsa, one finds scientific and technical knowledge everywhere. But his greatness lies in this that he knew how to hide all this with his poetic genius. It is the poetic beauty of his works which strikes the reader first, the presence of shastra at every step reveals itself only on reflection. Ānanadvardhana tells us in *Dhvanyāloka* that gifted poet can hide his deficiency in culture by the brilliance of his poetic genius and quotes Kālidāsa as an example. To me it seems that what Kālidāsa's genius hides is not any deficiency of culture but an abundance of it which in the case of a lesser poet may have managed to smother the poetic quality of his words but which is kept in the background by Kālidāsa's genius. Thus Kālidāsa has introduced learning into poetry.

3.4.14. Conclusion

According to Indian critics Kālidāsa was the greatest exponent of the Vaidarbhi style which possessed ten qualities (अर्थव्यक्ति, प्रसाद, श्लेष, माधुर्य, सुकुमारता, समता, ओजस्, उदारता, क्रान्ति and समाधि). His works contain simple words that can be easily found in ordinary lexicons. There are simple compounds, the metres and grammatical constructions are plain. His sentences are pithy and iconic, but full of meaning. His occasional violations of the rules of Pāṇini are to be taken as deviant method of style. "He is just praised for his happy choice of subjects, his complete attainment of his poetical intentions, for the beauty

of his representations, the tenderness of his feeling and the richness of his imagination" (Dr. Bhau Daji's essay on Kālidāsa). Dr. Keith (CSL 46-48) states, "The Kāvya style unquestionably attains in Kālidāsa its highest pitch, for in his hands the sentiment predominates, which serve to enhance it instead of overwhelming it. Sentiment with him is the soul of the poetry, and fond as he is of the beauty due to the use of figures, he refrains from sacrificing his main purpose in the search for effect. An essential feature of the Vaidarbhi style is the use of pleasing sounds; so that his employment of harsh combinations is censured by Mammaṭa. In the use of Arthālaṅkāras, Kālidāsa is particularly happy and is cited repeatedly as a model by the writers on poetics. His forte is declared to lie in similies, and the praise is well deserved...".

3.5. The Evolution of Literature : Kālidāsa and His Readers

The evolution of literature cannot be divorced from the movement of time and the two processes interweave on several different planes. Any age of history with the antagonistic elements that co-exist within it will give rise to dissimilar or even totally different literary phenomena. They are the children of their age and reflect this in different ways including that of flatly refusing to depict what is typical of the period. One of the important characteristics of great work of art or literature is that not only do they contain the features of the time which produced them, but they also have a vital effect upon the generations that are to follow.

It is impossible to grasp the nature and the hidden structure of a work of literature without investigating its social origins and its background, and it is because of this that literary criticism lays such stress upon the study of the *work's historical genesis*.

Kālidāsa lived in the time of the famous Gupta kings, a period between 320 and 455 which is generally regarded as India's golden age. In the times of the above mentioned Chandragupta-II—perhaps also in Kālidāsa's time—a Chinese Buddhist, Fa Hien, lived for about ten years in the kingdom of the Guptas and left an enthusiastic description of conditions there.

The Gupta Kings ruled over a mighty kingdom which included almost all of northern India, the broad Ganges basin between the Himalayas and the mountains of Deccan, the northern area of which belongs to the West-East Narbadā line. In the mountain Jungles farther south lived mainly tribes of hunters, gatherers and primitive planters still living under practically Stone age conditions (Mālavikā was carried off by such robber members of Bastar tribes). In the river valleys and scattered cultivated areas in Southern India, however, there were already artisans working in iron, and there were kingdoms (such as Nala dynasty of Bastar) which could look back on centuries of history. The earliest Aryan settlers of the Ṛgveda soon spread themselves from their north-western home eastward, and mixed racially with the Dravidian and Austro-Asiatic inhabitants of central India, evolving new forms of religion and language.

It seems that from the fourth century onwards feudal ownership of land began to develop. But alongside this, marked elements of old system remained for a long time. Kālidāsa's works confirm this general picture of indigenous and foreign currents.

His poetry is for all times and for all spaces beyond the limit of the individual, time and space, revealing the universal truth for common goodwill.

The history of Kālidāsa's literature shows clearly that different ages see with different eyes both the works of Kālidāsa as a whole, and his books taken separately. How different

the evaluation of Kālidāsa have been over the centuries? During the classical period, Kālidāsa was very much liked in India, his lyrics admitted to display all but his dramas did not demonstrate that much fame.

Kālidāsa was discovered in central India in 473 A.D. by Mandasor inscription. Later on he was discovered for the Persians in 531. The Panchatantra translated into Pahelvi for Khusru Anushirvan of Persia (531-579) quotes (1.51) a verse from the Kumārasaṁbhava (11.55), which places Kālidāsa long before 500 A.D. as the Panchatantra must have taken some time to become famous to be translated into a foreign country and the Kumārasaṁbhava, too, must require some time to be quoted as a classical work in Panchatantra.

Sanskrit poets and critics were ecstatic in their appreciation of Kālidāsa, seeing his work as a model of the extremely bright and daring art, bursting through all the canons and fossilised scholastic rules. He became something of a rallying point for Sanskrit poets in their struggle with classicism and its dogma. This did not, however, prevent Ānandavardhana, Vāgbhaṭa, Kṣhemendra, Amritānanda, Viśwanātha, and Paṇḍitarāja Jagannātha from being extremely critical in their attitude to Kālidāsa.

The works of this immortal poet and playright won countrywise fame from sixth century to present time. The matchless qualities of his works have been lavishly praised by the poets of seventh century. Dandin (600) compliments Kālidāsa on polishing the Vaidarbha style of composition :

लिप्ता मधुद्रवेणासन्यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भ कालिदासेन शोधितम्।।

(Avanti-Sundarī-Kathā, Introductory Verse, 15)

Bāṇa (608-648) speaks of him in the following words—"who will not delight at the sight of Kālidāsa's fine saying like honey-laden shoots, so fresh and sweet" :

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते।।

(Harshacharita, Introductory Verse, 16)

The work of this poet was also an inspiring example not only for poets and critics, but also for many realist writers. We have only to recall Ravikīrti (634 A.D.) and the extent to which Kālidāsa influenced the formation of inscriptions. Ravikīrti imitated Kālidāsa in the freedom and breadth of his character delineation and the simple spontaneous depiction of his types :

येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स जयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।।

(Aihole Inscription of Pulakeshina II)

But even in the 8th century when the fame of Kālidāsa as one of the greatest artist of all time was universal and secure,[1] there were voices of doubt.

Thus, Kālidāsa's work was received in a complex and contradictory way. In its evaluation, there was no unanimity with its different layers of society, and although his work won recognition and glory very quickly, its true significance remained in a way hidden.

The interest in Kālidāsa expressed in different periods varied greatly. Periods of great enthusiasm for his work alternated with an occasional marked cooling-off by reformists or purists. In spite of this, however, for almost the fifteen centuries Kālidāsa was the centre of an ideological and aesthetic tug-of-war. To the majority of men and women even today, their own essential preoccupations with love, nature, death, and survival with the earth, the stras, the timeless Absolute, in no way differ from Kālidāsa's own; and Kālidāsa may still command a willing response from sensitive hearts as he did from the post generations in India—Kālidāsa is indisputably the greatest master-mind in Sanskrit poetry. His genius has been recognized in India from very early times.

साकूतमधुरकोकिलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीला कालिदासोक्तिः।

(गोवर्धनाचार्यः, आर्यासप्तशती 5 : 86)

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय।।

(जयदेवः, प्रसन्नराघव 1:22)

भासो रामिलसोमिलो वररुचिः श्रीसाहसांकः कविः
मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः।
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते।।

(राजशेखरः, शार्ङ्गधरपद्धति 188)

माघश्चोरो मयूरो मुरारिपुरपरो सारविद्मः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्याह्वयो भोजराजः।
श्रीदण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति।।

(विश्वगुणादर्शचम्पू 549)

---

1. (a) Kshīraswamin, a commentator on the 'Amarakōsha', has quoted from Kālidāsa.
   (b) In Gauḍavaho, a Prakrit poem of the 8th century, Kālidāsa is referred to as Raghukāra.
   (c) Kumārilabhaṭṭa, the famous Mimaṅsa author of Tāntravārtika has quoted Kālidāsa in his work.

कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः।।

(मल्लिनाथ)

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठिति कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।।

(unknown)

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

(unknown)

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्रापि च शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्।।

(unknown)

कालिदासकविता नवं वयो माहिषं दधिसशर्करं पयः।
शारदेन्दुरबला च कोमला स्वर्गसौख्यमुपभुञ्जते नराः।।

(unknown)

कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम्।।

(unknown)

कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधति।।

(unknown)

वयमपि कवयः कवयः कवयोऽपि कालिदासाद्याः।
हषदो भवन्ति हषदश्चिन्तामणयोऽपिहा दृषदः।।

(unknown)

Vallabhadeva (10th century) was the first not only to discover the power and enormous significance of the poet's artistic generalisations, but also to outline the principles of a historical approach to his work. The critic wrote commentaries on the Raghu; Kumāra, and Megha : Following Vallabha hundreds of critics such as Sthiradeva (11th century), Dakshiṇamūrti (13th century), Pūrṇasaraswati (14th century), Mallinātha (14th century), Parameshwara (15th century), Sanātana Goswāmi (15th century), Charitavardhana (15th century), Lakshmi Niwās (16th century), Bharatamallika (17th century), Mahima Simha Gaṇi (17th century), Sumati-Vijaya (17th century), Vijaya Sūri (17th century), and Kalyāṇamalla (18th century) are the noted critics and commentators of Kālidāsa. Thus, the work of Kālidāsa has come into contact with the most diverse expressions of Sanskrit

literature and culture, each time showing itself to be an inexhaustible source of strength. Its influence has been enormous both in time and space.

One of the greatest events of world-wide importance of the eighteenth century was the access of European scholars to Sanskrit Literature. Abraham Roger translated Bhartṛhari's *Shataka* into Dutch as early as 1651. Warren Hastings employed a number of Brāhmans to prepare a digest of Hindu Law and got it translated into English in 1776. Sir William Jones, a cultured man and representative of the enlightened bourgeoisie, took over the post of Judge in the Supreme Court of Bengal in 1783. In 1789, just at the outbreak of French Revolution, Sir William published Kālidāsa's drama 'Shakuntalā' in an English prose translation. He also brought out for the first time a printed edition of the Ṛtusaṁhāra in 1792. Thus, he demonstrated to an astonished Europe that old India has known the drama, the stage play. He called Kālidāsa the Indian Shakespeare—a somewhat lame comparison, nevertheless.

But in 1791, as the Jacobins—the revolutionary democrats—began to extend the revolution against the big land-owners and the big bourgeoisie in France, George *Forster*, the Mainz Jacobin, produced his German prose translation of Jone's English version of 'Shakuntalā' He sent a copy to Goethe, the renowned German poet, which impressed him to such an extent that he composed a verse in German to extol this wonderful drama. Goethe's epigram may be translated (Walter Ruben : 1957.1) as follows : If in one word of blooms of early and fruits of riper years, of excitement and enchantment I should tell, of fulfilment of content, of Heaven and Earth; Then will I but say Shakuntalā and have said all.

Goethe had the lines printed in the 'Deutsche Monatsschrift' (German Monthly Journal) as early as 1791, and in the following year Herder of Germany and Nicholai Karamazina of Russia set them at the head before the western world.

Herder, the celebrated German poet (Maxmuller, HSL p. 3) observes again in 1798 : "since Sakontala is unfortunately still the only example of India's perfected culture, one lingers with pleasure over it. We must have more Sakontala in the near future, for they are the finest contributions to the cultural history of the peoples."

Only five years later, in 1803, Herder published Forster's translation of the drama again and added a short dedication in which he gave renewed expression to his admiration for Kālidāsa. Friedrich Schlegel came to know Forster's first edition at the Leipzig Fair as sōon as it appeared, and he wrote to his brother about this remarkable work. He went later to Paris to learn Sanskrit and thereafter introduced the study of Indology into Germany.

These few facts indicate how right Goethe was when he wrote later : "Recalling the enthusiasm with which we Germans welcomed this translation of Sakontala we can

contribute the pleasure it gave us to the prose in which it came to us" (quoted from Ruben, *ibid.*).

Forster's work had a very considerable influence on the middle-class society of Europe. It stimulated the western scholars to discover the literary heritage of India. Reviewing Sanskrit poetry in general for the *Quarterly Review* of 1831 (Maxmuller, *ibid.*) Dean Milman admits that "however encumbered with monstrous and extravagant fiction, and a wild and incoherent mythology, it not only excites our interest, but even to European ears may be found to abound in passages rarely perhaps of striking grandeur or energy, but often of the most exquisite delicacy, of the softest tenderness, of infinite variety and gracefulness of fancy, and what may not least surprise our readers, of the purest simplicity." This was at a time when Oriental poetry was prescribed in the mass as offering little more than a confusion of florid diction, and turgid and fantastic poetic conceits.

Lenza translated the 'Vikramōrvashīya' in Russian in 1833, Bohtling edited 'Shakuntalā' in Russian in 1842, and Friedrich Bollenzcna brought out 'Vikramōrvashīyam' again in 1846 with Russian translation. Friedrich Rueckert translated the 'Shakuntalā' again in 1855—this time direct from the Sanskrit—but his version was only published in 1867, after his death.

The publication of Heinrich Heine's posthumous work in 1869 brought to light that Heine had noticed something very important about 'Shakuntalā'. In the chapter entitled "Thoughts and Ideas" he wrote : Goethe made use of Sakontala at the beginning of Faust," here he means that Goethe conceived the idea of the "Vorspiel auf dem Theater" in the Faust from the prologue to 'Shakuntalā.' In Shakuntalā an actor appears first on the stage and speaks a prayer to Shiva, for Indian drama is deeply rooted in the religious ceremony which used to fill several hours of day and night. Then the stage director comes on, calls the leading actress and informs her that Kālidāsa's drama 'Shakuntalā' is to be performed before a cultured audience, so that the actors must do their utmost.

Goethe's prologue takes the following course : the director comes out on the stage with the theatre poet and the comedian and asks both for their help. He is embarrassed, for his public is frighteningly well read. The poet refuses at first to hear anything of the people and thinks only of posterity. The comedian will hear nothing of posterity and want only to amuse contemporaries. The director wants to produce an impressive spectacle : "Plunge into the fullness of life," the comedian advised the poet, "everybody lives it, but few knew it. And whenever you seize upon it, it is interesting".

The poet speaks of "the urge towards-truth and the joy of deceiving." The three thus discourse on the deepest problems of art in Witty dialogue, quite unlike Kālidāsa, who has only followed the old Indian custom in composing a short prologue which

introduces the audience to the poet and the title of the play, since there were no theatre programmes. He takes this opportunity to flatter his audience, which was not composed of a crowd of people looking for entertainment, night after night, in professional theatres, as they were accustomed to do in Goethe's Weimar, but of a small group of gentlemen, nobles and Brahmans, higher officials, perhaps a few wealthy merchants, who gathered on some festive occasion in a comparatively small theatre or hall at the King's court to be entertained. The mass of the people did not even understand the language of the play— Sanskrit. Thus the two prologues are very different, indicating two different kinds of society, each with different expectations of the theatre. But we have to thank the Indian poet for inspiring Goethe to this gem of his art.

Goethe also became acquainted with Kālidāsa's lyric poem 'Meghadūta' from H.H. Wilson's translation into English. In 1811 Wilson was appointed first secretary to the newly founded Asiatic Society in Bengal, and in 1813 he published his first work in Calcutta, the text and translation of the "Cloud Messenger." Goethe wrote one of his 'tame epigrams' on this :

> What more pleasant could man wish?
> Sakontala Nala, these must one Kiss;
> And Megha-Duta, the cloud messenger,
> Who would not send him to a soul sister?
>
> (Ruben, *ibid.*, 4)

In his "Notes to the West-East Divan" he owns that "The first meeting with a work such as this is always an event in our lives." (Winternitz, 1920). But he also criticised Wilson's translation as too smooth and praised "unseen Kosegarten," who had translated a few verses from the original for him, "which assuredly gave quite a different impression" (Ruben, *ibid.*, 4). But in 1826 Wilhelm Von Humboldt praised this poem of old India for its wonderful description of the beginning of the rainy season, when the first clouds come up from the south. Von Humboldt pays his tribute to the great poet as follows : "Kālidāsa, the celebrated author of the Shakuntalā, is a masterly describer of the influence which nature exercises upon the minds of lovers. Tenderness in the expression of feeling and richness of creative fancy have assigned to him his lofty place among the poets of all nations." (Dr. Bhau Daji, the Literary Remains, Calcutta 1887, p. 1).

After C. Schetz published the first prose translation of the Meghadūta in 1859 in Bielefeld, a number of others followed, some of them in verse (the translation of H. von Glasenapp).

In 1827 Wilson's English translation of Kālidāsa's drama "Urvashī won by Valour" and a short summary of his third drama "Mālavikā and Agnimitra" became known in Europe. "Mālavikā and Agnimitra" was first available to educated Germans through A.

Weber's excellent German translation in 1856. Since Wilson's time scholars had doubted the genuineness of this drama and had neglected it until this great Berlin Indologist placed it in its proper light. No less a man than Lion Feuchtwanger prepared it for the German stage in 1917 under the title of "The King and the Dancer".

The Urvashī play had been published as early as 1814 by Bollensen in a German translation. Rueckert had only included a few translated verses from Kālidāsa's epic poem 'Raghuvaṁsha'. A free metric translation of this work into German by A.F. Von Schack appeared in 1890 and in prose by O. Walter in 1914.

Kālidāsa's seventh work "the Kumārasaṁbhava" was translated by Griffith into English in 1879.

Thus, it took over a hundred years for all seven of Kālidāsa's works which have survived to reach the western world.

At the beginning of the 20th century two sharply contrasting attitudes to Kālidāsa came into conflict. One of them was expressed in the declaration made by British authors : "Let us Kick Kālidāsa off the ship of the present." The founder of a new type of literature Rabindranath Tagore, proceeding from a completely different understanding of the development of culture, saw Kālidāsa as "the beginning of all beginnings". Tagore stressed the idea of continuity in the historical movement of culture and the large part to be played by Indian traditions like those of Kālidāsa in formation and development of literature. Tagore not only propogated Kālidāsa's works and expounded their meaning and philosophy, but also wrote a poem in Bengali in praise of the immortal poet-dramatist. An English rendering (N.N. Gupta, the Modern Review, 1932 : 622-23) of the last stanza of the poem is reproduced below :

Did you not have joy and sorrow,
Hope and dispair, even like ourselves,
O immortal poet? Were not there always?
The intrigues of a royal court, the stabbing in the back ?
Did you never suffer humiliation,
Affront, distrust, injustice,
Want, hard and pitiless? Did you never pass
A sleepless night of poignant agony?
Yet above them all, unconcerned pure,
Has flowered your poem—a lotus of beauty
Opening to the sun of Joy. Nowhere
Does it shows any sign of sorrow, affliction, evil times.
Churning the sea of life you drank the poison,
The Nectar that arose you gave away.

After the independence, social transformation and the development of a multilingual Indian culture made Kālidāsa the favourite poet of all the peoples in the land. There is no doubt, however, that the socio-aesthetic function of his work is now different from what it was at various periods and for various sectors of society throughout the last fifteen centuries.

3.5.1.Changing fortune of the work of Kālidāsa

This holds just as true for the changing fortune of the work of Kālidāsa. Important here are not the changes in the way his work was seen but the quality of these changes and the extent of the difference between one view and another.

Noteworthy in this respect are the opinions expressed about the work of Kālidāsa by Monier Williams—"Shakuntala combines the majesty of Homer with the tenderness of virgil, the luxuriance of Ovid and the depth of Shakespeare. And yet it is simple and contains enough to suggest the old Athenian boast of beauty without extravagance" (Levi, 1890). Thus, he places Kālidāsa side by side with the renowned scholars of the world. It would be hard to find anyone nowadays who would agree with this evaluation of Williams. We can not equate Homer with Virgil or Ovid with Shakespeare, or Shakespeare with Kālidāsa. But the heart of the matter is not only in the difference between our attitude to Kālidāsa and that expressed by Williams but in the reasons why in the 19th century Kālidāsa was valued so highly and why our attitude to him is different.

Such differences in evaluation are worthy of note, but they are not the only noteworthy things to be met as we study Kālidāsa. What is Kālidāsa's place when compared with other established World authors? Since the (1789) days of William Jones, Kālidāsa has been repeatedly described as the Shakespeare of India. Time has shown that William Jones and his followers were wrong both to praise Shakespeare so highly and to see Kālidāsa's work as something to be compared. The impact of Shakespeare's works has gradually weakened, while Kālidāsa's fame has grown and spread throughout the world. Today we cannot think a better comparison for this study of Kālidāsa than the following Judgement of Christian Lassen (Bhau Daji, *ibid.*) : "Kālidāsa may be considered as the brightest star in the firmament of Indian artificial poetry. He deserves praise on account of the mastery with which he weilded the language, and the fine sentiment with which he imparts to it a simpler or more artificial form according to the subjects of which he treats without falling into the later hair-splitting and overstepping of the boundaries of good taste : an account of the multifarious of his creations, his ingenious invention and happy choice of subjects; on account of complete fulfilment of his poetical intentions; and on account of the beauty of his representations, the tenderness of his feeling and the richness of his imagination."

But here too, we are interested not simply in critic's 'mistakes' but in what makes him evaluate a work in the way he does. We should take into consideration the fact that William Jones was far from alone in his great respect for the Sanskrit writer. Sylvain Levi, A.W. Ryder, and Monier Williams were among the many who greeted the works of Kālidāsa with enthusiasm in 19th century. Years later Sylvain Levi (1890 : 4) was to put the following in his "Le theatre Indien" : "The supernatural element which pervades the story threatens to enfeeble the play of human passions and diminish the interest."

At various times and for various reasons there have been all kinds of abberrations : a special áttitude to Kālidāsa, unjustified praise of admittedly talented ones and the success of works that are artistically weak. In the 10th century in India, for instance Karṇapūra was very popular. *Jayadeva* valued his work much higher than those of Bhāsa and Kālidāsa. The widespread popularity, too, of such untalented writers as Rāmila, Sōmila and Menṭha among their contemporaries in Rājashekhara's time is too well known as a phenomenon to merit more than passing reference. In the same way we can recall many instances of Kālidāsa gaining recognition in the third order.

We must not let this lead us, however, to the conclusion that Kālidāsa's contemporaries or successors are usually wrong in their evaluations of his works. This conclusion is disapproved in the first place by the fact that between the inner energy of a work of Kālidāsa and the aesthetic needs of the time when it appears there is a profound and vital connection. In his works Kālidāsa addresses not abstract readers but people belonging to the Gupta society in which he lives, and he himself is under the irresistible influence of thoughts, feelings and aspirations of his time. This explains the immediate reaction to the works of Kālidāsa by his successors, such as Vāgbhaṭa, Viśwanātha and Paṇḍitarāja Jagannātha etc. It is a different matter that the aesthetic requirements and the taste of one stage or another in the development of Indian society differ both in their social nature and in their level of sophistication. This, of course, leaves its stamp on the way in which a work of Kālidāsa was received. And we must also take into account the complexity of the relationship between the artistic discovery of Kālidāsa and the way it is 'mastered' by the reader, viewer or listener, between the character of his artistic generalisation and its social and psychological projection.

The way in which the major works of Kālidāsa became part of the culture of the subsequent ages is no less diverse and contradictory a phenomenon. The fate and the socio-aesthetic function of his works often do not correspond to his original intentions and even contradict them completely. It would be of interest to the literary historian to understand clearly just what is in Kālidāsa that is ahead of him, and what in him belongs to a future, which, if he could foresee it, he would have dissociated himself at once. The

very idea of 'future' is something broad and undefined. And that is why the destiny of the work of Kālidāsa is so complex and interesting.

There is no doubt that the creative life of Kālidāsa is unique, but it appears that there are certain rules here which cover all cases, rules which have yet to be disclosed by research. "Time sifts literature". This bears directly to Kālidāsa. Not everything that he has written stands the test of time. It is sometimes said that a true work of art is unexhaustible. This is only true in the sense that the significance of its artistic generalisations is not confined to some specific period; however, the fact that works recognised by many generations as classics cease to exert any aesthetic influence shows that their creative potential has gone out. Naturally, not all their elements cease to function at the same time. A work of art is like a complex system which consists of different layers, fixed in a dynamic relationship. It can preserve its aesthetic integrity even when some of its elements become aesthetically neutral, as can be seen in the fate of the works of Kālidāsa. In Raghuvaṁsha (IX), for instance, much space is devoted to discussion of the future of the caste-system, where he favours the four castes discharging their respective duties, but a Shūdra not allowed to adopt an ascetic life.[1] This is a matter of great concern for Kālidāsa. He attempts to revive the caste-system on a new basis. It is natural that contemporary reader should find little of interest in this theme, but because he is bound up in the heroes, their sufferings and their dramas, these scenes whose aesthetic tension is 'weaker' or which have become emotionally neutral, do not detract from general impression left by the epic or from its impact.

In this case what we are faced with is not the damping down of the work's creative potential but seeing it from a new angle. Even when we meet this aesthetic 'neutralisation' we should use caution before speaking of the exhaustion of its inner energy and of the final test of time. The different evaluations of Kālidāsa by different ages and his different evaluations in different countries or even in different provinces of our country are not simply a result of some inner quality which he possesses. These differences are a result of the interaction of his poetic content with the demands and requirements of different readers.

3.5.2.Socio-aesthetic function

Relationship between Kālidāsa and his readers

Every reader perceives the works of Kālidāsa in his own particular way, and yet definite groups of readers (Indologists) have something in common in their approach to

---

1. तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिः (Raghu., IX : 76).

these works. Shakuntalā created in a particular period and under particular circumstances, bear the stamp of the Gupta age which gave her birth. But she contains human qualities which belong equally to completely different stages in the development of Indian society and is, therefore, constantly renewed and revitalised. When she enters the life of a different age she is invested with new meanings, and it is this meaning which makes for the multivalence by which she is distinguished.

As we study the active life of the works of Kālidāsa we are bound to take into account all the different ways in which they might be interpreted. Studies containing an account of the changing fortunes of various words have been with us for quite long time; they became markedly more obscene at the beginning of 12th century. A descriptive note on such tabu words is presented here.

Sixteen years ago, when, I was teaching Kumārasaṁbhava in B.A. (final), at Govt. College Seoni, I avoided to explain certain words of Kālidāsa before the students in the class-room. One day a student of South India rose up from his seat and asked the meanings of those words. It turned out that the avoided words were those which bore some phonetic similarity to the 'four-letter' words of Hindi; but they were not pejorative in Telugu. This is why the South Indian student emphasized to know their meanings.

These words are still avoided even though it is doubtful that a Hindi-speaking person not knowing Sanskrit (Kālidāsian language) would, when overhearing Sanskrit utterances delivered at a normal rate of speed for that language, be likely to catch these words and attach any special significance to them. For one thing, not understanding the language, he would be unlikely to concentrate sufficiently to notice the rather rare sequences of sounds which might cause him to think he was hearing Hindi obscene words.

How then did the Kālidāsian taboo develop? It may be suggested that it arose as a direct result of bilingualism among the Sanskritists. The more Indian languages they knew and used, the more conscious they would be of the phonetic similarity between certain Sanskrit (Kālidāsian) syllables and the taboo words of other Indian languages. Thus, the avoidance of some of the Kālidāsian words grew as bilingualism increased among the Sanskritists studying Kālidāsa and as they came more and more to think in terms of the modern Indian's taboos.

This tendency of avoiding some of the Sanskrit words of Kālidāsa is not a new phenomena. It prevailed in the 14th century also. We may very much establish on the authority of Viśwanātha that Kālidāsian words, such as लिङ्ग, चूत, विष्टित and वमन were thought to be vulgar in his time hence avoided : चूतविष्टितवमनशब्दा अश्लीलाः (साहित्यदर्पण, p. 473).

वाग्भट in his काव्यानुशासन (p. 28) quotes the following lines of Kālidāsa stating that the word मध्यमणि is vulgar :

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं...
तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः।
अत्र मध्यमणिशब्देनाश्लीलं व्यंज्यते।

अलंकारसंग्रह of *Amritānanda* (ed. Krishnamacharya, Madras, 1949) censures the use of the word कटि also : कटिशब्दोऽत्र गुह्यांङ्गवाचकत्वेन गर्हते।

The syntactic and semantic vulgarity of Kālidāsa has been the subject of discussion since Ānandavardhana, when he categorically remarked in his ध्वन्यालोक।

"तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये
यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिका-
भिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत्पित्रोः
सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्।
तथैवोत्तमदेवतादिविषयम्"।

Kṣhemendra is also critical. He quotes the following verse of Kālidāsa and comments on it in the following manner :

ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरिः।

× × ×

"अत्राम्बिकासम्भोगवर्णने पामरनारीसमुचित-
निर्लज्जसज्जनस्वराजिविराजितोरुमूलहृत-
विलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्-
गुरोर्यदुक्तं तेनानौचित्यमेव परं प्रबन्धार्थः
पुष्णाति"।

Panḍitarāja Jagannātha also accuses Kālidāsa on his description of dalliance of Shiva-Parvati.

Among the words (of Kālidāsa) pointed out as being avoidable among the different mother-tongue-speakers of India are the following :

1. अण्ड (ज) (= अण्डकोश = testicles)
   निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं
   मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारकम्। (Kum. 3.42)
2. अर्थी (Hindi=corpse)
   गुर्वर्थमर्थी श्रुतपादृश्वा
   रघोः सकाशादनवाप्य कामम् (Raghu. 5.24)
3. इन्द्रिय (Hindi=penis)
   तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थान् (Raghu. 14.25)

4. उद्गार (MIA=vomitting) Kum. 1.33.
5. उपस्थित (MIA=penis) Raghu. 8.76
6. कर्बुर (Hindi बुर=vagina)
   भस्मकपोतकर्बुरम् Kum. 4.27
7. क्लिन्न (रक्तासक्त)
8. गण्ड (anus) Megh.
9. घर्षित (बलात्कार=rape)
10. चूत (Hindi=vagina)
    चूतप्रवालोष्ठम् (Kum. 3.30)
    चूतम् (Kum. 3.30)
    चूतयष्टि: (Kum. 6.2)
    चूतांकुरास्वादकषायकण्ठ: (Kum. 3.32)
    चूते (Kum. 1.27)
    चूतप्रसवम् (Shak. 6.40.3)
    चूतकुसुमम् (Raghu. 19.43)
11. चोद (Hindi = to capulate)
    चोदयामास (Raghu. 4.24)
12. जीमूत (Hindi मूत=urine)
    जीमूतेन (Megh. 1.4)
13. पाद (Hindi=अपानवायु)
    पादान् (Raghu. 1.57)
14. पित्त (Telugu= अपानवायु)
    विदूषक—भवति त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमन-
    समर्थ भवति (Vik. 2.189)
15. पेलव (Awadhi, Bagheli=to capulate)
    पेलवपुष्पपत्रिण: (Kum. 4.29)
16. बाल (Bengali=hair of private parts)
    बालकुन्दानुविद्धम् (Megh 2.2)
17. यंत्रित (OIA=सम्भोगबद्ध)
18. वराङ्गनां (OIA-Vagina) (Ṛtu. 2.5.4)
19. वर्चस् (OIA=Semen)
20. वान्त (Bagheli=Vomiting; Telugu=vomiting)
    वान्तवृष्टि: (Megh.)

21. विष्ठा (OIA=latrine)
    नाभिप्रविष्टाभरण (Kum. 7.60)
22. शष्प (Telugu=hairs of *private parts*) शष्पश्यामान् (*Megh.*)
23. सम्भोग (sexual union)
    सम्भोगान्ते (Megh.)
24. स्खलित (वीर्यक्षरण)
    संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं
    दर्शितावर्तनाभेः (Megh.)
25. सुभग (OIA=vagina) Megh.
26. लिङ्ग (Hindi, Telugu etc.=penis)
    यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ (Raghu. 8.16)

Mono-syllabic taboo words in Kālidāsa are very rare. Hence the words given here contain more than one syllable.

Now it is apparent that non-Hindi speakers studying Kālidāsa tend to avoid certain words of their own language which bear a phonetic resemblance to Hindi obscene words. Here again they avoid the words only when Hindi-speakers are about, but the reason for the avoidance appears to stem from their own uncertainty about the propriety of using the words because of their knowledge of Hindi. Thus, the tradition of avoidance is a continuous one. The students of Kālidāsa teach each succeeding group of new students about the taboo, and on this way the avoidance is kept alive from year to year and ages to ages.

Thus, the relationship between the words and culture of Kālidāsa can be aproached on the aesthetic ground. What we have dealt with is primarily the way in which the classical notions were rejected in the course of time, and the direct effect of the words upon today's reader. It is obvious that socio-aesthetic function of the literature of Kālidāsa is becoming distinct and separate in our age.

3.5.3.Kālidāsa and His Contemporary

Throughout the period of 1500 years the Indian people have not changed much in contrast to the living conditions in which they exist. The moral principles of Kālidāsa remain unchanged and so does the moral values of the masses. And this is the reason for our strong links with Kālidāsa, the surprising similarity of contemporaneity with the age of antiquity. This can also be illustrated with some of the sayings of Kālidāsa that we can see the direct relationship between the world of Kālidāsa and our own. The essence of

such opinion is that we find ideas in the works of Kālidāsa that are close to some present-day philosophical trend. This is why we see a true connection between the classic and the present day.

All that is best of Kālidāsa is widely recognised and appreciated throughout our society. Dissatisfaction among the readers arises when Kālidāsa does not engage with important problems in the life of society, the development of the individual and his inner world. We could name not a single literary work which was enormously popular for such a long period of 1500 years. There is something very extraordinary in Kālidāsa, who paced with the development of reader's need.

Epilogue

Kālidāsa and the Continuity of History

Kālidāsa wrote greatly under the influence of the feudalism that was developing in India in the middle and in the second half of the 4th century, while at the same time his work was in itself one of the essential moving forces of this feudal mentality. He was instrumental in forming the ethical consciousness, helping to the struggle against social evil. This effect was in no way diminished by the writer's own political outlook (Raghu. 4.83; 8.4). Kālidāsa was an aristocrat by breeding and a moderate by conviction and that with his sensitive and loving heart he sympathised with and even served the cause of feudality.

Kālidāsa's world of poetic images and their objective meaning is, as we have already noted, infinitely broader and more diverse than the political convictions to which he subscribed.

Kālidāsa was a writer of social and psychological dynamism. The main criteria by which Kālidāsa judged the individual's aspirations were his attitude to the interests of society, his devotion to 'Dharma', his spiritual honesty and part played by man in eradication of jealousy, hatred, wickedness, and evil. He inherited and openly subscribed to the 'dharma' that constitutes the human personality. Kālidāsa's heroes and heroines are deliberately selected to represent the godly specimens of humanity so that they might serve as models of conduct. They accept life with all its sufferings keeping the goal of final emancipation in view. Thus he was interested first of all in the inner make-up of the individual and the relationship between his character and the influence on it of the world around him, like the policemen in Shakuntalā, he leaves us in no doubt about the empire of evil in the material world.

Kālidāsa became a mature artist and true master of his craft at the end of 4th century A.D., when he completed Shākuntala, where evil appears throughout the work, and he depicts sharp conflicts within the life of society.

Keith (The Sanskrit Drama, p. 160) once wrote that there are no great crimes in the work of Kālidāsa, nor will you find there any scene of tragedy. This is also not true. Kālidāsa truly representing the Indian epic tradition has not forgotten to emphasize this, and his heroines Urvaśī and Shakuntalā suffered because of pervasive fate in spite of their innocence. The theme of fate and its vicissitudes interested Kālidāsa even when he left the field of historical events and depicted everyday life instead.

Indian literary critics have done almost no work on the connection between Kālidāsa and Indian literature, a subject that would be of a great and topical interest. Among the authors who have been fruitfully influenced by Kālidāsa we would cite hundreds of examples (see chapter 5). The part played by Kālidāsa's tradition and those of other great

Indian writers in the development of Indian literature is an important subject which has yet to be finally exhausted.

Kālidāsa was the first important Indian author to be widely acclaimed abroad. His works were the first to give foreign readers a broad picture of Indian culture and to bring Sanskrit letters to the forefront of world literature. Kālidāsa's world fame was based first and foremost on what was inherent in his artistic personality, and on originality to his artistic generalisations.

It often happens that a work which throws light upon some deep and complex human problems becomes particularly belovėd of young people without losing its attraction for the adult reader as well. Something similar seems to have happened with the work of Kālidāsa, for it becomes increasingly popular with the young people. This is to a great degree because Kālidāsa wrote so vividly and inspiredly about young people and their desire to find their true calling in life. Older and younger readers, of course, see Kālidāsa's work in somewhat different ways, and different things in it which attract them. From this view we can conclude that different generations are influenced differently by a work of art not only in succeeding periods of time, but also when these generations co-exist in one and the same time.

There is nothing to surprise us in the fact that this is so even when we hark back to A.W. Ryder's ideas of Kālidāsa as "No other poet in any land has sung of happy love between Man and Woman as Kālidāsa sang". Of itself, artistic perfection and the writer's craftmanship which have affected other writers so profoundly could never be an obstacle to the special interest shown in Kālidāsa's work by young people.

Kālidāsa's outstanding works map out the continuity of history, a happy fate which they share with the greatest works of other distinguished writers.

Kālidāsa and the Experience of Love

Meghadūta is among Kālidāsa's highest achievements. Like Ṛtusaṁhāra, it is quiet, lucid, conventional, and yet deeply personal, an expression of doctrines not merely known, but lived and felt. The more intimately one becomes acquainted with the poem, however, the more puzzling it becomes : and as the climax of the Alkā, a vision of soul's entrance into heaven, it is remarkably untriumphant, unapocalyptic, unvisionary. It discloses the peculiar nature of an extremely compact symbolic narrative that although unusual, is both consistent and satisfyingly complete. Kālidāsa's most admirable qualities as a poet are frequently attributed to the tension in his verse between the public and the private, the universal and the individual, between an inherited system of doctrines and the souls private responses to experience that one affirms its individuality and the universality. Aesthetically, it is also a fitting conclusion to the drama of spiritual anguish, anger, pathos,

joy, and despair that has been recorded in the Meghadūta. Its simplicity of idiom declares its sublime resolution of worldly vicissitudes into the transcendent, wordless peace of love's realm.

Women in Kālidāsa's Plays

Kālidāsa's plays show the diversity of the mind of the 4th century man whose understanding of the human condition is extended beyond his own sex and beyond his own time. Because he is genius, because he could hear the words of women and transform them into language on the stage, because he did not filter these words through the screen of contemporary male prejudices, he was able to present vibrant, alive women. Shakuntalā's uniqueness lies in its portrait of a young girl who remains strong during her swift growth to womanhood. It is not proper to regard women in Kālidāsa's plays as less than whole, less than characters whose dramatic stature must be examined from their own vantage point and in their own right.

The Privileged Playgoers of Kālidāsa

Assumptions about the nature of Kālidāsa's audience go hand in hand with ideas about the quality, scope, and even meaning of his dramas. When Kālidāsa was viewed as unpolished genius in British period, his audience were equally primitive in their responses. After independence Kālidāsa thrives in the same milieu as any living great dramatist of India, even then the matter of Kālidāsa's audience is a problem in economics, demographics, and social practices.

Part-IV
Kālidāsa in Legends

4.1. महाकविः श्रीकालिदासः*

शृङ्गारं पद्मया यः प्रथयति करुणं दैत्यपुत्रेण हास्यं
वक्राकारेण वीरं रिपुवधविधिना सिंहवेषेण रौद्रम्।
बीभत्सं रक्तजर्या (?) शममपि मनसा भीतिमप्यट्टहासैः
स्तम्भोत्पत्त्याद्भुतं नः स नवरसमयः श्रीनृसिंहः पुनातु।।

उपन्यासप्रारम्भः।

सहृदयाः! विदितमेवेदं भवतां यदाधुनिकैरुपदिश्यन्ते बहुविधाः पन्थानो विद्याध्यापनविषये। अवश्यपठितव्यविद्यानिर्णये च महान्खलु विवादः। श्रेष्ठानां पुरातनीनां भाषाणामवश्यपठितव्यतां प्रति सुमहत्तरः खलु विवादः समुपलभ्यते लोके। केचितु हूणविद्वांसः प्रकृतानुपयुक्तपुरातनभाषाध्ययनमनवश्यं पश्यन्ति। भारतीयानां तु संस्कृतं ह्यादिभवा भाषा। यदियं साधारणेष्वालापेषु हिन्दुजनैर्नोपयुज्यते तदेनामलौकिकीं व्याहरन्ति। मन्दादरः खलु भवति संस्कृतभाषायामद्य हिन्दुजनः। अभिनवागतवधूविलोभितमनाः प्राकृतजन इव जननीं हिन्दुजनोऽपि हूणभाषाध्ययनलोलुपः सम्प्रति न गणयति संस्कृतभाषाम्। पुरा खलु भूसुराः सर्वेऽपि वृद्धपरम्परया निखिलशास्त्राण्युपलभ्य बहुश्रुताः परिचयमत्र बहुशो विदधिरे। यतः संस्कृत-भाषाज्ञानमेव जीवनोपायस्तेषां समजायत। किन्त्वद्य वृत्तयो बहुधा प्रवृत्ता येन विरलमजनि स्वभाषाध्ययनम्। कादाचित्कानि खलु संस्कृतभाषाप्रशंसनानि कस्यचिदपि साधोर्मुखाच्छ्रूयन्ते तानि खल्वरण्यरुदितानि भवन्ति।

संस्कृतं ह्यनेकभाषाणामाधारभूता भाषा। तर्कमीमांसादिमतविषयेष्वनयैव भाषया व्यवहारः साम्प्रतमपि वर्तते। व्याकरणं च सम्पूर्णं पदकोशोऽस्याः। ग्रन्थाश्च बहवो विद्यन्ते न्यायादिशास्त्रेषु काव्येषु च। ते खलु साधुत्तमाः। परम-महनीयसम्पदस्ते ग्रन्था बह्वीरप्यापदो विदेशीयैस्तुरुष्कादिभिरुत्पादितास्सन्तीर्य मुद्रणयन्त्राभावेऽपि परम्परयाप्यचिरादागताः करतलमस्माकम्। अहो प्रभावः पूर्वेषां यदविनश्वरपरिपालिता एते। इत ऊर्ध्वं न कदाचिदपि विनश्येयुरिति निश्चयेन वक्तुं शक्यम्। हिन्दुदेशे तु बहोः कालादेकत्र लीनं संस्कृताभिधं ज्योतिः समस्तशब्दब्रह्ममूलभूतमिति मत्वाऽऽहत्य परिशीलनेन यूरोपीयैर्विस्तरं महान्तमापादितमतीव तद्देशेषु रोचते।

एषा खलु भाषा हिन्दु (धात्र?) जनानामवरेष्वपि पर्वसु नियतमध्यापयितव्या। अभिरुचिश्च तन्मनसि कथमपि समुत्पादयितव्या। विद्याग्रहणं हि न केवलं स्वोदरपूरणाय किन्तु स्वदेशोपकारकशिल्पपरिज्ञानाय। अतः सर्वैरपि भाषेयमध्ययितव्या।

संस्कृतज्ञानं हि हिन्दुदेशीयस्य शिथिलयति नितरामन्यभाषावगमनप्रयासम्। इयं मद्भाषेति वक्तुं नैकस्यामपि भाषायामयमाप्नोति कौशलम्। अत एव नैव शक्नोति लब्धुं वाक्स्वातन्त्र्यम्। अतः प्रामिडादिभाषाग्रहणे उपकार-कत्वात्संस्कृतमेव सर्वथा तेन पठितव्यम्। किं च गृह्येषु कर्मसु संस्कृतज्ञानमावश्यकं हिन्दुदेशीयस्य ब्राह्मणस्य। प्रतिदिनं क्रियमाणं हि सन्ध्यावन्दनादिकं कर्म तद्भाषायामेव विद्यते। ततो मताभिमानिभिर्नितरामवगन्तव्येयं भाषा।

विविधाः खलु शैशवादारभ्य कृताः संस्काराः संस्कृतभाषयैव विहिताः। एतेऽपि यदि न परित्याज्याः सम्यगर्थावगमनेन कर्तव्याः। अस्माकं मुख्यतमं विवाहादिकं कर्म तद्भाषयैव विधीयते। सर्वमपि संस्कृतभाषया कुर्वस्तदर्थमज्ञात्वा मूक इव जनो न याति परिहास्यतामित्याश्चर्यम्।

एवमादिभिः कारणैः संस्कृतज्ञानमावश्यकमतस्तल्लाभाय ग्रन्था बहवः पठितव्याः। तत्र कालिदासकृता एव श्लाघ्यतमाः। तत्पठनाय प्रयतन्तां सहृदयाः।

---

* विषयमेतमधिकृत्यास्मद्विरचितोऽपि विद्यतेऽन्यः प्रबन्धः। स च प्रकाशितेऽस्मिन्प्रकाशयिष्यतेऽस्माभिः। (सहकारिसम्पादकः)
संस्कृतचन्द्रिका (कोल्हापुर) खण्ड 7, संख्या 5–9, 11–12, जुलाई 1899—मार्च 1900 पर्यन्तम्।

अत: परं कोयं कालिदास: कवि: के च ग्रन्थास्तत्प्रणीता इति विचारयाम:।

सहृदया:! कवीनामग्रेसरोऽयं कालिदासनामा महाकविराबालस्थविरमस्मिन्देशे विदितवैभवो युरोपादिदेश-विस्तीर्णयश:पटलो भवद्भिरपि सम्यग्विदितगुणगणोऽपि मया समुपश्लोकित: साम्प्रतमानन्दमनवधिमुत्पादयेद्वश्चेतसीति समुपन्यस्यते तद्गतमधिकृत्य वृत्तान्तजालम्। लोके हि विचित्रं महतां चरितं समुल्लासयति विबुधमनांसि। यथोच्यते कविवरेण भट्टबाणेन।

साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं धर्तुं विहायसा गन्तुम्।
न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं हि महात्मनां श्रोतुम्।। इति।

तत्र प्रथमं महानुभावस्य कविपुङ्गवस्यास्य चरितमुपवर्ण्यते। पुरा खलु मालवदेशमध्युवास कश्चिद्ब्राह्मणयुवा। अविज्ञातलोकतन्त्रो गोरक्षणेन कलयामास लोकयात्राम्। तस्मिन्देशे काचिद्विद्वत्तमा कन्या विवाहार्थं पित्रा समानीतान्पात्रीभूतान्द्विजान्वादविचारेण पराजिग्ये। एवमागत्यागत्य तस्या: सकाशाद्विचारे पराजयभीत्या प्रतिनिवृत्तेषु वरेषु तदुत्तरं पराजयभीत्येतरे वरा यदा नैवागन्तुमैच्छंस्तदा तत्पित्रा विचाराभावेनैवागतमात्राय कन्या देयेति प्रतिज्ञाते पूर्वपूर्ववरानयने निष्फलप्रयत्नतया जातेर्ष्या दूता: पुनर्वरानयनार्थं चोदिता: स्वावलम्बिनीं शाखां छिन्दन्तमेनं युवानमपश्यन्। दृष्ट्वा चैष एवाल्पबुद्धिस्तस्या: पण्डितंमन्याया अनुरूपो वर इति निश्चित्य बलादेनं भीत्या सङ्कुचितशरीरं तत्सकाशमानिन्यु:। अनयोश्च निर्वृत्ते पाणिग्रह एनमरसिकमत्तकुलशिखामणिं ज्ञात्वा सा विदुषी तं रहस्याहूय गच्छ वनमनतिदूरस्थं यत्र खलु कालीदेव्या: कश्चनालयो विद्यते। तत्र देवीमाराध्य विद्यामवाप्य पुनरागच्छेति गृहान्निष्कासयामास। स विप्रो मनसि खेदं वहन्यथोक्तं काननमेत्य कायक्लेशादिभि: कथमपि देवीमाराधयामास। देवी च दीनदयालुस्तमेकस्मिन्नहनि प्रणतमुत्थाप्य भो भूसुर अद्य प्रसन्नाहं सर्वाऽपि विद्या ते स्फुरतु गच्छ यथेष्टमित्यभिधायान्तर्बभूव। सोऽपि सन्तुष्ट: प्राप्तसकलसारस्वतविभव: पुरं गत्वा पाणिगृहीत्या भवनद्वारि तिष्टन् अनावृतकपाटं द्वारं देहि इत्युक्तवान्। सा तु तच्छ्रुत्वा स्वपतिरित्यवधार्य अस्ति कश्चिद्वाग्विशेष इति तमुच्चै: पृष्टवती। सोऽपि तथेत्युक्त्वा गृहान्त: प्रविश्य तत्रैव **अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मेत्यारभ्य** कुमारसम्भवं महाकाव्यं **कश्चित्कान्तेत्यादिना** मेघदूतं **वागर्थाविवसंपृक्ता-वित्यादिना** रघुवंशमहाकाव्यं च प्रणिनाय। पश्चात्तत्प्रणीतान्ग्रन्थान्विलोकयन्त: पौरा: परमं विस्मयापन्नास्तद्वृत्तान्तमखिलं ज्ञात्वा कालिदास इति नाम्ना तत: प्रभृति तमाजुहुवु:। महादेव्या: काल्या: प्रसादाल्लब्धविद्यत्वात्कालिदास इति नाम। संज्ञात्वादेव रित्यनुशासनात्पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वमुपपद्यते। अत: परमेवोज्जयिनीं गत्वा श्रीविक्रमार्कसभामलंचकार। तत्र विविधै: कविवरै: पूजितो राज्ञा बहुमतश्च चिरमुवासेत्यैतिह्यम्।

एष खलु वृत्तान्तो न विश्वसनीय:। कालिदास इत्यस्य कवेर्नाम। अस्याद्भुततमां कवितां वाग्विलासं च दृष्ट्वा विस्मितैस्तदनन्तरं समागतैर्जनैरुपनिबद्धेयं विचित्रा कथेत्याशयोऽस्माकम्। सर्वथाऽयं कविवरो मेधावी रामायणादि-पूर्वग्रन्थपठनेनैव संस्कृतभाषाकौशलमवापेति न लेशतोऽपि सन्देह:।

अत: परमस्य कवे: कालनिर्णय: कर्तव्य:। इदमपि न निश्चयेन वक्तुं शक्यम्। एतै: कारणैरयं विक्रमादित्यकाले न्यवसदिति केचिन्मन्यन्ते।

* ज्योतिर्विदाभरणाख्ये स्वीयग्रन्थे स कविरेवमुक्तवान्—

मत्तोऽधुना कृतिरियं सति मालवेन्द्रे
श्री विक्रमार्कनृपराजवरे समासीत्। इति।

---

* ऐतिह्यमिदमयं च कालनिर्णय: सुप्रसिद्धतमै: पण्डितप्रवरै: श्रीतारानाथतर्कवाचस्पतिपूज्यपादै: स्वप्रणीताया मालविकाग्निमित्र-व्याख्याया भूमिकायां हृदयङ्गमतयोपनिबद्ध इति स० सम्पादक:।

एते च श्लोकास्तन्मतमेव द्रढयन्ति

धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।
यद्राजधान्युज्जयिनी महापुरी सदा महाकालमहेशयोगिनी।।
शङ्क्वादिपण्डितवराः कवयस्त्वनेके ज्योतिर्विदः समभवंश्च वराहपूर्वाः।
श्रीविक्रमस्य बुधसंसदि प्राज्यबुद्धे स्तैरप्यहं नयसखः किल कालिदासः।।
काव्यत्रयं सुमतिकृद्रघुवंशपूर्व जातं यतो ननु कियच्छ्रुतिकर्मवादः।
ज्योतिर्विदाभरणकालविधानशास्त्रं श्रीकालिदासकवितो हि ततो बभूव।।
वर्षे सिन्धुरदर्शनाम्बरगुणैर्याते कलौ संमिते
मासे माधवसंज्ञकेऽत्र विहितो ग्रन्थक्रियोपक्रमः।। इति।।

एतैर्ज्योतिर्विदाभरणं कालनिर्णयशास्त्रं तेनैव महाकविना प्र णीतं तदपि विक्रमादित्यकाल एवेति वक्तुं शक्यम्। किं च अष्टषष्ट्युत्तरत्रिसहस्रसंख्यके कलेरद्बवृन्दे याते तद्ग्रन्थकरणं सुव्यक्तम्। तेन इतः पूर्वं ह्यधिकनवशतोत्तरैक-सहस्रपरिमिताद्वर्षगणात् पूर्वं ज्योतिर्विदाभरणं ततः पूर्वं च रघुवंशादिकमभूदिति प्रतिभाति। एतत्सन्दर्भैर्यद्यपि दृश्यकाव्यकरणं न प्रतीयते तथापि दृश्यकाव्यानां ज्योतिर्विदाभरणग्रन्थात्पश्चात्काले विहिततया न तत्र समुल्लेखः। किन्तु तत्तद्ग्रन्थे प्रस्तावनायां सुव्यक्तमेव तत्प्रणीतत्वम्। एवं च क्रिस्तजन्मतः प्राक् प्रथमशतके तत्कालमुद्घोषयन्ति खलु ते विद्वांसः।

अपि तु वक्ष्यमाणैः कारणैः क्रिस्तजननात्पूर्वं कालिदासो न बभूवेति शक्यं निरूपयितुम्।*

रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्येति विक्रमशब्देन शकाब्दोत्पादकः श्रीविक्रमार्कनृपतिरेवोच्यत इति कथं निर्णेतुं शक्यते। अनेके खलु नृपतयो धारयन्ति विक्रमनाम। सर वुइलियम् हंटरोऽपि अयमन्यतम उपाधिः अर्थः खल्वस्य विक्रमआदित्यः पराक्रमे सहस्रदीधितिसम इति। अतश्च हिन्दुदेशीयैर्विजयिभिर्नृपतिभिरयमसकृद्धार्यत इति मन्यते। किं च विद्यते परम्परागता काचिद्वार्ता यथा मालवभूपतिर्भोजराज एव विक्रमस्तस्यैव सभायां नवरत्नान्यभवन्निति। अयं भोजः क्रिस्तीयैकादशशतक आसीदिति प्रतीयते केनचिच्छिल्ललेखेन। केचिदत्र तन्नाटके राजसेवकत्वेन यवनिकाप्रसङ्गात् तस्यानतिप्राचीनतां दर्शयन्ति। तत्र विद्यमाना प्राकृतभाषाऽपि तमेवार्थं द्रढयति। कविकालनिर्णयादिषु प्रसिद्धो बीवरनामा कश्चिद्विद्वान् कालिदासस्य क्रिस्तीयचतुर्थशतकमेव काल इति स्वीकरोति। इग्लिङ् नामा कश्चिदपरो विद्वान्पञ्चाशदधिकपञ्चशततमे वत्सरे तस्य जीवनकालमुद्घोषयति। अत एव बहुभिर्बहुधा चिन्तितवात्तस्य महात्मनः कालनिर्णयोऽत्यसुकरः संवृत्तः। किन्तु तन्नाटकादिग्रन्थपरिशीलनपरैरस्य वाक्पाटवं रचनावैदग्ध्यं वृत्तिसौष्ठवमर्थगौरवं चालोक्य भट्टबाणभवभूतिभट्टनारायणराजशेखरादितः प्रसिद्धात्कविवर्गात्प्रागेव तस्य काल इति स्पष्टमुदीर्यते निःशङ्कमुपपाद्यते च।

परन्तु तद्ग्रन्थाः समालोच्यन्ते

साम्प्रतं कालिदासकृतिरिति व्यवहृता ग्रन्थास्त्वेते—

रघुवंशं कुमारसम्भवं मेघदूतमभिज्ञानशाकुन्तलं विक्रमोर्वशीयं मालविकाग्निमित्रं स्मृतिचन्द्रिका ज्योतिर्विदाभरणं नलोदयमृतुसंहारं श्रुतबोधं कविकण्ठपाशं श्यामलादण्डकं वृत्तरत्नावली नलहरिश्चन्द्रीयं चेति। एतन्मध्ये रघुवंशं कुमारसंभवं मेघदूतमिति काव्यत्रयं शाकुन्तलं मालविकाग्निमित्रं विक्रमोर्वशीयमिति नाटकत्रयं च तेनैव महाकविना प्रणीतमिति अनितरसाधारणेन सर्वत्रैकयैव रीत्योपलभ्यमानेन वाङ्माधुर्येण रीतिविशेषेण च स्पष्टतरमवगम्यते। इतरे खलु ग्रन्था न तेन प्रणीता इत्यर्थमाधुर्यादिगुणाभावेन तत्पठनशीलैः सुकाममवबोद्धुं शक्यम्।

* एतन्मतखण्डनं चास्मद्विरचिते प्रबन्धे प्रकाशयिष्यते। स० सम्पादकः।

तत्र प्रथमं कुमारसंभवं समालोच्यते।

एष तु कविना प्रथमे वयसि प्रणीतः प्रथमतरो ग्रन्थः। काव्यमिदंहरपार्वतीविवाहवर्णनात्मकम्। तत्रैवं विप्रतिपद्यन्ते। केचित्त्विदं सप्तदशसर्गावधि तारकासुरवधपर्यन्तं कालिदासेनैव प्रणीतमिति मन्यन्ते। अपरंत्वष्टमसर्गपर्यन्तमेव तेन कृतमिति। अत्र च परामर्श उत्तर एव ज्यायान्।[1] व्याख्यातृपुङ्गवेन मल्लीनाथेनाष्टमसर्गावध्येव व्याख्यातम्।

कौमुद्यां भट्टोजीदीक्षितेन—

शार्वरस्य तमसो निषिद्धये नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः
पुण्डरीकमुखि पूर्वदिङ्मुखं कैतकैरिव रजोभिराहतम्।।

इति कालिदास इति कालिदासकृतत्वेन प्रदर्शितम्। उणादि—वृत्तावुज्वलदत्तेन तु **रवः प्रगल्भाहतभेरिसंभवः** इति कुमारसम्भव इति उत्तरभागस्थितत्वेन कुमारसंभव इति प्रोक्तं न तु कालिदास इति।

अन्यच्च नवमसर्गप्रभृति किल काव्यं न पूर्ववत्प्रशस्ततमं कालिदासान्न्यूनेनैव च केनापि कविना कृतमिति शैलीविचारणेन सुकरमवगन्तुम्। दृश्यतां सहृदयैरयं श्लोकः पञ्चदशे सर्गे—

संग्रामं प्रलयाय सन्निपततो वेलामतिक्रामतो
वृन्दारासुरसैन्यसागरयुगस्याशेषदिग्व्यापिनः।
कालातिथ्यभुजो बभूव बहलः कोलाहलः क्रोशनः
शैलोत्तालतटीविघट्टनपटुर्ब्रह्माण्डकुक्षिम्भरिः।। इति।

एवमनेका नीरसाः श्लोका विद्यन्ते।

अस्मिन्खलु काव्ये रतिविलापः पार्वतीपरमेश्वरसंवादस्तद्विवाहवर्णनं च सहृदयहृदयेषु नितरां प्रमोदमभिवर्षन्ति।

अथ मेघदूतम् सर्गद्वयघटितमिदमतिसुन्दरम्। रसस्तु शृङ्गारः। रचना तु मन्दाक्रान्तावृत्तघटिता नितान्तमानन्दमुत्पादयति। सुस्थानकल्पितयतिविन्यासैः परस्परमैत्र्युपगतैरिववर्णैः समुपचितनिर्भररसनम्र इव मन्दं मन्दं नुदन्ति प्रत्येकं श्लोकाः।

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः।।

इति श्लोकेन काव्यगुणान्कविः स्वयमेव प्रकटयति।*

यथा मन्दं मन्दं नुदतीत्यनेन मृदुवर्णानां प्राशस्त्यं अनुकूल इत्यनेन पदानां मैत्रीभावं नदतीत्यनेन ध्वनियुक्तत्वं मधुरमित्यनेन द्राक्षापाकवत्वं सगन्ध इत्यनेनाह्लादकतां च सगन्ध इत्यनेन सकृत्पठनमात्रेण मनोमोहनत्वं नयनसुभगमित्यनेन प्रतिपाद्यस्यार्थस्य पुरोवर्तित्वम्। एतेन काव्यस्य सर्वेन्द्रियाह्लादकत्वं प्रथमं लक्षणमिति प्रकारान्तरेण प्रपञ्चयति सकौशलमेष कविप्रवरः।

रघुवंशम्—अस्मिन्खलु काव्ये भूयिष्ठानि रसवन्ति नीतिप्रतिपादकानि धर्मबोधकानि वस्तुस्वभाववर्णनानि च समाकर्षन्ति निभृततरमखिलविबुधचेतांसि। कविरप्यत्र पूर्वकृतैर्ग्रन्थैरस्तमितशब्दतृष्णोऽर्थप्राधान्यसमासक्तचित्तः करिष्यमाणस्य काव्यस्य तादृशं गौरवमुद्भावयन्नादौ मङ्गलश्लोकेन

---

1. श्रीतारानाथतर्कवाचस्पतिमिश्रास्तु नैतदनुमन्यन्ते। तदेतत्प्रपञ्चयिष्यते प्रबन्ध आस्माके। स० सम्पादकः।
* नेदं मन्यतेऽस्माभिः।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। इत्यनेन

समप्रधानेऽपि शब्दार्थेऽर्थस्य परमेश्वरदृष्टान्तवर्णनेन शब्दस्य स्त्रीदृष्टान्तवर्णनेनार्थमेव प्रधानतरं मन्यत इति सुस्पष्टं दृश्यतां विबुधैः। साकेतनगरस्य वर्णनमिन्दुमतीवियोगप्रयुक्तराजविलापवर्णनमिति नितरामास्वाद्यम्।

अतः परं शाकुन्तलादिनाटकानि समालोचयामः। शाकुन्तलं हि सर्वेषां नाटकानामुपरि वर्तत इति न वो न विदितम्।

शाकुन्तलम्—

भाषाणां संस्कृता* भाषा कथ्यते प्रथमा बुधैः।
कालिदासो महाकीर्तिस्तत्कवीनां पुरःसरः।
तत्प्रणीतेषु काव्येषु श्रेष्ठं शाकुन्तलं विदुः।।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्।
यास्यत्यद्येति तत्रापि श्लोकः सर्वमनोहरः।।

कविः शाकुन्तले प्राचीनैर्बहुधोपलक्षितानि नाटकलक्षणानि प्रायशोऽनादृत्य **यथेष्टं रसोत्पादकमेव पन्थानमाश्रयति। कथासन्दर्भश्च नितरां रमणीयः दुर्वासःशापप्रदानवृत्तान्त इन्द्रेण दुष्यन्तस्याह्वानमित्यादिसन्दर्भाः श्लाघनीयाः सर्वेषामपि हृदयमाकर्षन्ति। शेक्सपीयरवत् नीचप्रभृतिसर्वोत्कृष्टपात्रान्तं तत्तद्योग्याचारभाषाप्रकटने कौशलमधिकं दर्शयति कविः। शृङ्गाररसवर्णने खल्वप्रतिभटः कविरेषः। वीररसं तु नैवं वर्णयितुमलम्। अत्र भवभूतिर्विशिष्यते। सर्वत्र खलु कालिदासः कोकिलामञ्जुभाषणमेवाभिप्रैति। न तु शिवाघोरस्वनम्। अत एव वीररसे वर्णयितव्येऽपि।

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम्।। इति।

मृदूनेव वर्णान्प्रयुङ्क्ते। विविधमृगीकुलसङ्कुलमाश्रमपदं परमरमणीययुवतिभूयिष्ठं राजकुलं च वर्णयितुं साध्वेष एव शक्नोति महाभागः। अस्मिन्नाटके न कुत्रापि विरसो व्यर्थो वा संलापः। मितं च मधुरं भाषणम्। प्रतिपात्रमाधीयते यत्नः। सर्वत्राप्यन्यूनरसमाधुर्यमानन्दयति नायिकाशरीरमिव कथाशरीरं सहृदयचेतांसि। एष किल ग्रन्थः पुनः पुनरपि पठ्यमानः **सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः।** इत्युक्तप्रकारं नवनवः प्रतिभाति। सर्वथा जयति सर्वविषयकूलङ्कषा मतिरस्य महानुभावस्य। कथं वा शक्यते नाटकस्यास्य महिमानमपरिमेयं वर्णयितुम्। स्वयमेवासकृत्पठित्वा सहृदयाः काममवधारयेयुरिति कृतं पल्लवितेन।

मन्त्रिणा सह मन्त्रव्यापारं निश्चित्य राजा तत्तदुचितकार्येषु तदुचिताञ्जनान्नियुञ्जीत।

शाकुन्तले तु विदूषको राज्ञो वयस्यमात्मानं निर्दिशंस्तस्य मृगयालोलुपत्वं निन्दति। न सर्वथा व्यवसायमभिलष्यति। त्वरयति नगरगमनाय राजानम्। मोदकखादने निरवधिः प्रीतिरस्य विप्रस्य। सर्वमप्युपमानमभ्यवहारविषयकमेव व्याहरति यथा पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्येत्यादि। नाटके चात्रास्य माढव्य इति नाम। भयप्रकृतिरयं जनो राक्षसानां नामापि श्रोतुं नोत्सहते। राजा सर्वमपि वृत्तान्तं कथयित्वा चपलोऽयं बटुः कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेदिति **परिहासविजल्पितं**

* नैर्ङ्गरी इति मूलं परिवर्तितमस्माभिः।
** न चेदं दृष्टं शाकुन्तलं हि प्राचीननाटकलक्षणान्यनुसरति।

सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः इत्यन्ततो निजगाद। विदूषकोऽपि तं तथैव गृहीतवान् विषयम्। अत एवैष राज्ञो वयस्योऽपि न राज्ञः साहाय्यं वितनोति। किंच विदूषकोऽयं मृत्पिण्डबुद्धिरिति अनेन दण्डकाष्टेन कन्दर्पव्याधिं नाशयामीति कथनेन स्पष्टीक्रियते।

मालविकाग्निमित्रे तु विदूषकः शाकुन्तलवन्नाकृतसाहाय्यः। किन्तु प्रियतमाघटने महान्तमुद्यमं करोति। स नाटकाभिनयदर्शनच्छलेन तां दर्शयितुं कौशिक्या सह गूढं परामृश्य हरदत्तगणदासयोर्नैपुण्यविषये परस्परस्पर्धामुत्पाद्य कलहं कारयित्वा राजसमीपं तौ निर्णयार्थमानयति। किंच राज्ञः प्रार्थनां मालविकासखीं बकुलावलिकां श्रावयित्वा यथा राज्ञा सह मालविकाया मेलनं भवेत्तथोपायं चिन्तयामास। पुनरपि मालविकायां कारागृहे निक्षिप्तायां तदुद्धारायात्मनो हस्ते केतककण्टकेन च्छेदं कृत्वा सर्पदंशत्वेनापदिश्य च राज्ञो राज्ञ्याश्च समीपे विषवेगं प्रकाश्य राज्ञ्या हस्तात्सर्पविषापहारकं मणिं लब्ध्वा तां मोचयित्वा ततो निभृतं प्रमदवनं नीत्वा राज्ञासमं मालविकां मेलयति। इत्यादिभिर्नानाविधैरुपायैरिष्टार्थसिद्धिं लम्भयति। नितान्तकुशलस्तत्र विदूषकः।

विक्रमोर्वशीये तु मालविकाग्निमित्र इव न सहायो भवति। मूढमतिः सन् रहस्योद्घाटनं कुरुते। राज्ञः सेवक इव तन्नियोगं कुर्वाणो न स्वमत्या किञ्चिदपि कलयत्येषः। अत्रापि स्वस्तिवाचननिमन्त्रणादीन्परमभिलषति। एवं नाटकत्रयेऽपि भिन्नगुणो विदूषक इत्यवगन्तव्यम्।

कालिदासकृतिष्वेव विदूषकपात्रं नितरां प्रशस्यते न त्वितरासु। ये खलु पिपठिषवः कालिदासनाटकानि तत्तद्भाषणचेष्टादीन्सम्यगवधार्य मनसि विशेषांस्ते जानीयुरिति मन्ये।

ततस्तस्य कविप्रवरस्य शैलीविशेषः समुपवर्ण्यते।

सर्वत्रापि वैदर्भीमेव रीतिमाश्रयति महाकविरेषः। वैदर्भी रीतिस्तु—

बन्धपारुष्यरहिता शब्दकाठिन्यवर्जिता।
नातिदीर्घसमासा च वैदर्भी रीतिरिष्यते।।

किंच—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।।

इति दण्ड्याचार्यः

लक्ष्यमिदं दृश्यताम्—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।

द्राक्षापाको रचना या सुदृश्या। लक्षणं तु

द्राक्षापाकस्तु कथितो बहिरन्तः स्फुटद्रसः।। इति।

यथा—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।। इति।।

वृत्तिश्च कैशिकी। तल्लक्षणं तु

अत्यर्थसुकुमारार्थसन्दर्भा कैशिकी मता। इति।।

यथा—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।। इति।

किञ्च—

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः।।

इत्युक्तप्रकारं कालिदासो वश्यवागेव। न पुनर्हठादाकृष्टानां पदान् रचयिता। एवमादयो बहवो गुणा वर्तन्तेऽस्य रचनायाम्।

साधूक्तं भट्टबाणेन यथा

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते।। इति।

सर्वेष्वपि प्रायशो वृत्तेषु तस्य विद्यन्ते श्लोकाः। किन्त्वार्यारचनायां न कोऽपि प्राचीनो नवीनो वा कविः कालिदासादतिरिच्यते। न किल भवभूतिरपि तथार्या विधातुमलम्। यथा

कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्।।

उपमालङ्कारप्रयोगे च कालिदासो नितरां विशिष्यते। अत्र च बहून्युदाहरणानि। तत्र दिङ्मात्रं यथा—

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्नवेति व्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्।। इति।

सर्वथा यद्यल्लोके रमणीयं तत्तत्सर्वं कालिदासवचःस्वित्युपसंह्रियते विषयः।

कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः।। इति।

प्रोक्तं खल्वेतन्महामहोपाध्यायेन कोलाचलमल्लिनाथेन।

किं च कविरयं रामायणमसकृत्पठित्वा तद्गतं सारांशमवगम्यादिकविवद्वचलोल्लासं विहितवान् इति स्पष्टमुपलभ्यते। अयमप्यपर आदिकविरिति संमाननीयो महानुभावः समस्तैर्लोकैः।

महाकाव्यकरणेनैव यद्यपि महाकविरिति नाम सम्भवति तथाऽप्यप्राकृतगुणसम्पन्नोऽयमन्वर्थमेव धारयत्युपाधिमिमम्।

अत: परं तन्मतं निरूप्यते–

एष किल परमेश्वरभक्त: शैव इति तत्तकाव्यगतै: सम्यङ्निश्चीयते मङ्गलश्लोकै:। यथा–**जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। या सृष्टि: स्रष्टुराद्या। वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषमित्यादि।**

तस्य गुणास्तत्कृतग्रन्थेभ्य: परिज्ञायमाना इदानीं वर्ण्यन्ते–

कविरयमविकत्थनो महानुभाव:। अन्यनाटककवय इव न स्वयमेवात्मगुणाञ् श्लाघते। भवभूतिप्रभृतयस्तु कवय: प्रस्तावनायां स्वस्यैव गुणान्प्रकटीकुर्वन्ति। यथा महावीरचरिते **वश्यवाच: कवे: काव्यमिति।**

किन्तु कालिदास आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्यते स्वीयं विज्ञानम्। सन्त: परीक्ष्यान्यतरद्भजन्त इति सतामेवाशयं बहुमन्यते। परिहरति च स्वीयमहङ्कारम्–

क्व सूर्यप्रभवो वंश: क्व चाल्पविषया मति:।
मन्द: कवियश:प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। इति च।

अविकत्थनत्वमेव परमं गुणं मन्यते। वक्ति खलु रघुवंशे–

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि। इति।

सत्स्वपि बहुषु गुणेष्वविकत्थनत्वमेव वर्णयति। एवमादयो बहवो गुणा अमुष्य तत्तद्ग्रन्थेभ्य उपलभ्यन्त इत्यलं पल्लवितेन।

एतत्तत्कविसार्वभौमफणितेर्माधुर्यमन्यादृशं
सारासारविवेकशौण्डधिषणा जानन्ति न प्राकृता:।
ज्ञातुं तत्सुमनोहरं सुमनसां भूयस्तरां सौरभं
भृङ्गा एव भवन्ति काननचरा नान्ये मृगाणां गणा:।।

इति शिवम्।

मेलक्कोट्टयूर
कविभूषणश्रीरङ्गनाथाचार्यस्य।

4.2 महाकविः कालिदासः*

—अप्पाशास्त्रि राशिवडेकर

विशुद्धललिताकारा गुणालङ्कारशालिनी।
ललिता भारती यस्य स एवैकः प्रतिष्ठितः।।

अयि प्रियमहाभागाः संस्कृतचन्द्रिकासुहदः विचार्यतां तावत्किं वा निःसारतममप्येतं संसारसागरमवतीर्णस्यादिमं कर्तव्यं मनुष्यस्येति नूनमेवं विचारयन्तः प्रतिपद्येरन्भवन्तो यद्येन केनाप्युपायेनामरत्वसाधनमेवेति। दृश्यते ह्येतदर्थमेव प्रवृत्तिर्महताम्। एतदर्थमेव च क्रशयन्ति दुरुत्तराणां तपसामाचरितेन देहान्मुनयः। एतस्यैवाभिलाषेण बहुलक्लेशायाससाध्या अनुष्ठीयन्ते ज्योतिष्टोमादयो यागाः। अस्यैवाशया परित्यज्यते वैषयिकं सुखं प्रज्ञैः। एतस्यैव लिप्सया विविधहिंस्रश्वापदसमाकुलमतिभीषणं काननं समाश्रीयते। किमधिकमेतदेवाधिगन्तुमविगणितशरीरपातं प्रयतन्ते पुरुषाः। किन्तु प्रत्यूहजालजटिलान्येव भवन्ति प्रायः श्रेयांसि कर्माणि। अत एव च नैतदाश्चर्यं यत्तत्तादृशानन्तरायान्विरलतमा एवोत्तरन्ति विरला एव चामर्त्यभावं विन्दतीति। किन्तु विद्यतेऽत्रापर एव कश्चिदुपायो येनाकल्पान्तमप्यासाद्यतेऽमर्त्यत्वम्। यमेव खल्ववलम्बमाना महात्मानोऽपरित्यज्यापि सुखं वैषयिकमननुष्ठायापि विपुलपरिश्रमसाध्यान्यागादीनपरितप्यापि तपोऽनाश्रित्यापि काननममरभावमधिगच्छन्ति। स चोपायो नाम भगवत्या वाग्देवताया वशीकारः। वशीकृतवाग्देवीका हि पुरुषा न केवलं स्वयमेवासादयन्त्यमरत्वमपि तु यं यमभिलष्यन्ति तं तमपि पुरुषं तथाविधं वितन्वन्ति। प्रकृतिसहजं प्रतिभानं सुनिर्मलं विपुलतरं च श्रुतं मन्देतरश्चाभियोग इत्येतेऽभ्युपाया वाग्देव्या वशीकारस्य। विरलेष्वेव किल पुरुषसत्तमेषु प्रादुर्भवत्येतत्सम्पत्तिः। यत्र चासीदेवंविधाया उपायसामग्र्या अक्षीणत्वं तेष्वेव कविप्रवरेष्वन्यतमः प्रधानश्च महाकविस्तत्रभवान् कालिदासो नाम।

मुकुटमणिरयं भारतीयकविप्रकाण्डानामलङ्करणं भारतवर्षस्य प्रतिष्ठितस्तम्भः पूर्वपुरुषयशः पताकानाम्। एष खलु लीलालयो वाग्देवीविलासस्य निष्पत्तिस्थानमशेषरससुधानिस्यन्दानां निलयोऽलङ्कारजालस्य संस्थानधरणिर्वैदग्ध्यस्य प्रभव उदारत्वस्यालम्बनं मृदुमधुरपदमनोरमाया वैदर्भ्या आकरः पीयूषसारसरसानां काव्यरत्नानां सहस्रांशुर्दोषध्वान्तपटलस्य विहारभूमिश्च विविधगुणनिकरस्येति।

एवंविधस्य चार्यवंशपुण्यपुञ्जस्य महात्मनोऽवस्थितिसमयमवबोद्धुमवगन्तुं चास्य चारित्रं कस्य वा नोत्कण्ठते हृदयं रसिकस्य। एवं विधानां हि सुगृहीतनाम्नां चरितावबोधेन तीर्थजलप्रक्षालितमिव सुनिर्मलत्वमुपयात्यन्तः करणं मूषिकानलध्मातेव सुवर्णशलाका सुदूरं विजहाति मालिन्य बुद्धिः अनवरतजलासारसिक्तेव वीरुदुपयाति पल्लवित्वं प्रतिभा प्रावृट्पयोधरसमुदयेनेव च वैदूर्य वैदग्ध्यमङ्कुरीभवति।

न खल्वेतन्न विदितं विदुषां यद्दुरुन्नेयं एव प्रायेणावस्थितिसमयः प्राचीनानामिति। एते ह्यबहुमन्यमाना इवात्मनो गुणनिचयं नैवोल्लिखन्ति प्रायः स्वीयेषु प्रबन्धेषु तन्निर्माणावसरं विशेषतश्च काव्येषु। अत एवैतेषां तत्तत्प्रबन्धगतैर्विशेषैरेव निर्णीयते समयोऽवस्थानस्य। तन्नैतदाश्चर्य यत्प्राचीनतमो विनीतप्रवरश्च कालिदासः स्वीयेषु प्रबन्धरत्नेष्वात्मनोऽवस्थितिसमयं नालेखीत्। सन्ति पुनरेतस्यावस्थानसमयनिर्णये कियन्तिचित्साधनानि। तैश्चास्य समयं निर्णेतुमिच्छन्तो भूयांसो विद्वांसो बहुधा विप्रतिपद्यन्ते। अतो यावच्छक्यं निराकृत्य तेषां विप्रतिपत्तीः स्थिरीकर्तुमिच्छामः समयं महाकवेः कालिदासस्य।

1. तत्र केचिदर्वाचीना वैज्ञानिकप्रवरा महाकविप्रकाण्डममुं ख्रिस्तीयशकस्य सप्तमशताब्द्यामुद्भूतं प्राहुः। नैव पुनरत्र कश्चिद्धेतुर्दृष्टः। मतं त्वेतदेकान्ततोऽसमञ्जसमिति ब्रूमः। चतुस्त्रिंशदुत्तरषट्शतमिते हि ख्रिस्तीयवत्सरे श्रीरविकीर्तिना

---

* संस्कृतचन्द्रिका (कोल्हापुर), 1900 ई०

प्रणीते पुलाकेशिनाम्नि प्रबन्धे श्रीमतः कालिदासस्य प्रशंसा दृष्टा। न च भाविनः कवयो भूतेन प्रशस्यन्ते। अतः सिद्धं तत्रभवतः कविचूडामणेः श्रीकालिदासस्य सप्तमशताब्द्याः पूर्वमेव प्रादुर्भूतत्वम्।

अथ नवरत्नविचारः

2. अथोच्यते कैश्चित् अवबुध्यते किल—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायांरत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य।।

इत्यादिभिः प्राचीनैः पद्यैस्तन्मूलिकाभिश्चाप्तानां वदनेभ्यः श्रूयमाणाभिः कथाभिः श्रीमद्विक्रमार्कनृपसभायां धन्वन्तरिप्रमुखानि नवरत्नान्यासंस्तत्रैव चाभवत्कालिदासोऽपीति नवरत्नान्तर्भूतश्च श्रीमान्वराहमिहिरः ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्यां दिवं जगामेति प्रमाणान्तरैर्विशदीभवति। ततश्च तन्मित्रत्वाच्छ्रीमान्कालिदासोऽपि षष्ठशताब्द्यामेव प्रादुर्बभूवेति शक्यं विनिश्चेतुमिति। अत्रापरे प्राहुः। उपरिनिर्दिष्टे पद्य उल्लिखितानां पण्डितानां समानकालिकत्वाभावेन निर्मूल एव तावन्नवरत्न वृत्तान्तः। तथाहि। पण्डितेष्वेषु निर्दिष्टो घटखर्पर आसीन्नवेत्येवाद्यापि सन्देहः। केवलं तु घटखर्पराख्यं किञ्चन काव्यं सर्वत्रापि सुप्रचारं दृष्टम्। तच्चान्येनैव केनापि कविना प्रणीतम्। अमरसिंहस्त्वमरदेवापरनामा समभूत्। स च ख्रिस्तीयपञ्चमशताब्दीमारभ्य सप्तमशताब्द्याः पूर्वं विद्यमाने समये समुद्भूत इति प्रतीयते। सप्तमशताब्द्यां (612) हि चीनाद्भारतवर्षं पर्यटता हुएनुसंगनाम्ना बौद्धपथिकेन बुद्धगयायां प्रत्यक्षीकृतं किमपि देवतायतनं यत्किल तत्रभवता श्रीमताऽमरदेवेनैव निरमायि। किन्तु यः पञ्चमशताब्द्या आरम्भे (414) समुपागच्छद्भारतवर्षं तस्य तु फॉहेननाम्नः पान्थस्य नैतन्नयनगोचरतामापतितम्। अतोऽनुमीयते देवतायतनस्यास्य रचयिताऽमरसिंहापरनामा श्रीमानमरदेव उपरिनिर्दिष्ट एव (414-612) समये प्रादुर्बभूवेति। विक्रमपरिषदि समुल्लसता नवरत्नेष्वेवान्यतमेन श्रीमताऽमरदेवेन निर्मितमेतद्-बुद्धायतनमिति वदन्ति। वराहमिहिरस्तु ख्रिस्तीयेऽशीत्युत्तरपञ्चशततमे वत्सरे देवभूयं प्राप्तः। क्षपणकादीनां तु कवित्व एवाद्यापि बलवान्सन्देहः। एवं च नवरत्नानामेव विद्यमानत्वे सन्देहसमुल्लासाद्विक्रमसभायां तदवस्थानमित्युक्तिरप्रमाणैव। ततश्च वराहमिहिरसमानकालिकत्वमपि कविचूडामणेर्निरस्तप्रायम्। विशदीकरिष्यते चास्माभिः प्रमाणान्तरैः ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽपि प्राचीनत्वं कालिदासस्य। एवं चाश्रद्धेयतमेयं नवरत्नकथा तन्मूला च श्रीमतः कालिदासस्य ख्रिस्तीयषष्ठशतकसमुद्भूतत्ववार्तेति।

अत्र ब्रूमः। यद्यपि संमन्यामह एव वयं तत्रभवतः कालिदासस्य ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽपि प्राचीनत्वं तत एव च नांशतोऽप्यङ्गीकुर्मोऽस्य षष्ठशतकादौ समुद्भूतत्वं तथापि नवरत्नविषये तु नास्ति नो बलवान्सन्देहः। तथाहि। घटखर्परस्य तावदस्तित्व एव संशय इति यदुक्तं तन्न सहृद–यानामाह्लादाय। घटखर्परकाव्यस्य तत्कविप्रणीतत्वाभावेऽपि नीतिसारादीनां घटखर्परप्रणीतानां प्रबन्धानां विद्यमानत्वात्। उदाहृतानि च घटखर्परीयनीतिसारवचनानि श्रीभर्तृहरेः शतकत्रयस्य टिप्पन्यां श्रीमता पुरोहितगोपीनाथेन। यथा—

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च।
तक्षकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति।।
त्रिविक्रमोऽभूदपि वामनोऽ सौ स शूकरश्चैव स वै नृसिंहः।
नीचैरनीचैरतिनीचनीचैः सर्वैरुपायैः फलमेव साध्यम्।।

(घटखर्परस्य नीतिसारः)

इति। आसीच्च नीतिप्रदीपाख्यप्रबन्धस्य प्रणेता वेतालभट्टोपि। एतत्कृतानि च नीतिप्रदीपीयपद्यानि टिप्पन्यामस्यां दृश्यन्ते। तत्रेदमतिप्रसिद्धतमं **यद्दैवेन ललाटपट्टलिखितं तत्प्रोज्झितुं कः क्षम** इत्यादि। धन्वन्तरि प्रभृतिभिः प्रणीतानां तु प्रबन्धानामद्यावध्युपलम्भाभावेऽपि प्रामाणिकवचनतस्तेषां कवित्वस्वीकारे को दोष इति न जानीमः। भूयसां हि

कवीनां नाद्यापि प्रत्यक्षीभावमुपयाताः प्रबन्धाः। ह्यः पुनरदृष्टाः प्रबन्धा अद्य दर्शनविषयतामुपयान्ति येषां खल्वस्तित्व आप्तानामपि बलीयान्सन्देहः। सत्येवं प्रामाणिकैः कवित्वेन निर्दिष्टानां प्रबन्धनामनुपलम्भमात्रं हेतूकृत्य तेषां कवित्वेऽस्तित्वाभावे चाश्रद्धासमुन्मेषो न न्याय्यः। नापि धन्वन्तरिक्षपणकेत्यादि पद्यं निर्दिश्य जगतः प्रतारणायां प्राचां कमपि हेतुं पश्यामः। अत एव समभिमन्यामहे धन्वन्तरिप्रभृतीनामस्तित्वं कवित्वं च।

अमरसिंहस्त्वमरदेवापरनामैवेति यन्निर्दिष्टं तत्र न किंचित्प्रमाणं पश्यामः। न च लोकवादमात्रं प्रमाणमिति वक्तव्यं तस्य वाचनिकप्रमाणतो दुर्वलत्वेनाग्राह्यत्वात्। विद्यन्ते तु वाचनिकानि प्रमाणानि यैरमरसिंहस्यामरदेवापराख्यत्वं कल्प्यमानं बाधयितुं शक्यते। तानि चात्रयुक्तयनुगतानि निर्देष्टुमिष्यन्ते। तथाहि। आसीत्किल पुरा कश्चिदमरसिंहो नाम पण्डितप्रवरो येनैवामरकोशापराख्यं नामलिङ्गानुशासनं नामाभिधानं प्राणायि। अभिधानं चैतद्विरचयितुर्वैय्याकरणधुरीणतां विस्पष्टयति। अत्र हि विद्यमानं लिङ्गादिसंग्रहाख्यं प्रकरणं न हि विना महावैय्याकरणेन निबन्धुं शक्यम्। एवमन्तरान्तरा विद्यमानानि च क्षेपिष्टक्षो दिष्ठेत्यादीनि पद्यानि वैय्याकरणमन्तरा दुर्ग्रन्थान्येव। वैय्याकरणश्चायमरसिंहो जैन एवेत्यत्र न किंचिद्वलवत्तरं प्रमाणमुपलब्धम्। यत्तु नामलिङ्गानुशासनगतं मङ्गलं धर्मराजौ जिनयमावित्यत्र जिनशब्दस्य पूर्वनिपातः स्वर्गवर्गे च प्रथमतो जैनमतानुयायिनामेव नामनिर्देश इत्येतान्येवात्र प्रमाणानि। यस्यज्ञानदयासिन्धोरित्यत्र हि न कश्चिदपि देवो विशिष्य वर्णितः। तेनात्र जिनस्यापि वर्ण्यत्वं कल्पयितुं शक्यम्। धर्मराजौ जिनयमावित्यत्र चाभ्यर्हितं पूर्वमिति जिनशब्दस्य पूर्व प्रयोगः। न च जैनमन्तरा जिनः कस्याप्यभ्यर्हितत्वमुपयाति। सर्वज्ञः सुगतो बुद्ध इत्यादीनां स्वर्गवर्गे प्रथमतो निर्देशश्च न ह्यार्यमतानुयायिभिर्विधातुं शक्यः। प्रधानं हि प्रथमतो निर्देष्टुं युक्तम्। न चार्यमतानुयायिषु बुद्धादयः प्रधानत्वमधिगच्छेयुः। अतश्चायं नामलिङ्गानुशासनाख्यः कोशो जैनेनैवामरसिंहेन प्रणीत इति केचित्। तन्न। मङ्गलश्लोके हि यथा जिनो बुद्धो वा वर्ण्यत्वेन कल्प्यते एवं भगवान्महेश्वरो वा श्रीकृष्णो वाऽपिवर्ण्यत्वेन कल्पयितुं शक्यः। तत्र कस्याश्चिदपि देवताया विशिष्य वर्णितत्वाभावात्। दृश्यते चैषा शैली दुर्गसिंहस्य यदेष आत्मनः शास्त्रस्य बौद्धादिषु प्रचारमभिलष्यन्मङ्गलादौ नैव कांचिद्देवतां विशिष्योपवर्णयति। परन्तु यथा बौद्धैर्जैनैरार्यैश्च मङ्गलस्य स्वाभीष्टदेवतापरत्वेनैवार्थाः कल्प्येरंस्तथैव पद्यान्यारचयति। यथा—

देवदेवं प्रणम्यादौ सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम्।
कातन्त्रस्य प्रवक्ष्यामि व्याख्यानं शार्ववार्भिकम्।।

इतिसन्धिवृत्तौ। धर्मराजौ जिनयमावित्यादिकं तु प्रणेत्राबुद्धा दिष्वप्यात्मनः प्रबन्धस्य प्रचारमाशंसमानेनोपनिबद्धम्। आसीद्धि नामलिङ्गानुशासनप्रणयनसमये बौद्धादीनामेव विशेषतः प्राबल्यम्। यदित्वभिधानमेतद्बौद्धादिजातीयेनैव प्राणेष्यत तदा शाक्यस्मृत्यादय इव परिहरणीयत्वमापत्स्यत। दृश्यते च वैदिकप्रकाण्डेष्वपि सविशेषः प्रचार एतस्य। न चोत्तमत्वादेवास्य तथाविधत्वमिति प्रवक्तव्यमुत्तमानामपि जैनव्याकरणग्रन्थानां प्रचारादर्शनात्। अतो नामलिङ्गानुशासनप्रणेता वैय्याकरणपुङ्गवः श्रीमानमरसिंहो बौद्धादिभिन्न एवेति स्वीकरणीयम्। ननु भोः कोयमिति चेत्कातन्त्रव्याकरणवृत्तिकृच्छ्रीमान्दुर्गसिंहापर-नामाऽमरसिंह एवेति ब्रूमः। किमत्र* प्रमाणमिति चेत्।

दुर्गसिंहप्रचरिते नामलिङ्गानुशासने।
लभते ह्यमरोपाधिं राजेन्द्रविक्रमेण सः।।

इत्यमरकोशस्य श्रीकण्ठीयव्याख्यागतं पद्यमिति निबोध। स्पष्टं चात्र नामलिङ्गानुशासनस्य श्रीदुर्गसिंहप्रणीतत्वम्। दुर्गसिंह एव कदाचिन्नामलिङ्गानुशासनं प्रणीयात्मनो वैमात्रेयाय ज्यायसे भ्रात्रे भूपतितिलकाय सहृदयोत्तंसाय श्रीमद्विक्रमादित्याय प्रदर्शयामास। तदवलोकनेनैकान्ततः सन्तुष्टश्च श्रीविक्रमादित्यो दुर्गसिंहस्य कीर्तिममरीकर्तुं वाऽमरभावं गमिष्यन्तीं

* प्रमाणवचनानि चात्रत्यानि श्रीमज्जयचन्द्रसिद्धान्तभूषणभट्टाचार्यमहाशयप्रणीतात्काल्यापव्याकरणे दुर्गसिंह इत्यतः प्रबन्धात् उध्दृतानि।

विचिन्त्य वाऽस्यायमरसिंह इत्युपाधिं प्रायच्छत्। उपवर्णितश्चायमर्थ उपरितनस्यैव पद्यस्योत्तरार्धे श्रीकण्ठेन। किंवदन्ती चैवं प्रामाणिकवदनविहारिणी सुप्रचारा वङ्गेषु। दुर्गसिंहस्य च महावैय्याकरणत्वे तत्कृता कालापव्याकरणवृत्तिस्तदीयान्येव च।

अहंच भाष्यकारश्च कुशाग्रीयधियावुभौ।
नैव शब्दाम्बुधेः पारं किमन्ये जडबुद्धयः।।

इत्यादीनि वचनानि प्रमाणभावं भजन्ते। अत एव वैय्याकरणपरिगणनावसरे

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽपिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।।

इति कविकल्पद्रुमे बोपदेवोऽमरनाम्नैव दुर्गसिंह स्मृतवानित्याप्तप्रवराः। अयं च दुर्गसिंहापराख्योऽमरसिंहो द्विजाधिपतेः श्रीशबरस्वामिनः शूद्रायां सम्भूतःपुत्रः। शबरस्वामी च वर्णचतुष्टयसम्भूताश्चतसृर्भार्याः परिणिनाय। तत्र ब्राह्मण्यां ज्योर्विर्त्तिलको वराहमिहिरः समजायत। क्षत्रतनयायां श्रीमान्विक्रमादित्यो भर्तृहरिश्चाभूताम्। वैश्यायां हरिचन्द्रः शङ्कुश्च प्रजज्ञतुः। शूद्रायां त्वमरोनाम पुत्रः संबभूव। तदुक्तं प्राचीनैः—

ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी
राजाभर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्।
वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती
शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः।। इति।

अत्रैवं केचिदाशङ्केरन्। ननु कथं नामैष श्लोकः समवगाहतां प्रमाणसरणिम्। दृश्यते ह्येतद्विपरीत एवार्थः पतञ्जलिचरितकाव्ये प्रतिपाद्यमानः। तथाहि। आसीत्पुरा व्याकरणमहाभाष्यकारो मुनिः पतञ्जलिर्नाम। स च विरचय्य व्याकरणमहाभाष्यं शिष्यान्पाठयामास। तेषु पुनः प्रमादं कृतवन्तमेकं शिष्यं राक्षसो भवेति शशाप। ततश्चरणयोर्लुठन्तं च तं यदा पचधातोर्निष्ठायां पचितमिति रूपं प्रतिपद्य कीदृशं पचतेर्निष्ठायां रूपमिति पथिकान्पृच्छन्तं भवन्तं कोऽपि पान्थः पक्वमिति ब्रूयात्तदा विमुक्तशापो भविष्यसीति प्राह। सोऽपि तदात्व एव राक्षसभावं प्रपन्नः कस्मिंश्चन वटे निववास। पप्रच्छ च गतागतं कुर्वाणान्कीदृशं पचेर्निष्ठायां रूपमिति। एवं पृच्छन्तं चैनं कदाचित्कश्चिद्द्विजातिः पक्वमित्युत्तरयामास। ततः शापत उन्मुक्तः स पतञ्जलिशिष्यस्तं द्विजन्मानं को भवानित्यनुयुयुजे। ब्राह्मणोऽपि चन्द्रगुप्तशर्माहं महाभाष्याध्ययनायोज्जजिन्याः सकाशाद्भवन्तमनुप्राप्तोऽस्मीति जगाद। ततः सोऽपि तं भाष्यमध्यापयामास। अधीतभाष्यश्च ब्राह्मणश्चसृर्भार्या विभिन्नवर्णाः परिणिनाय। तासु च चतुरः पुत्राञ्जनयामास। तत्र कस्य किं नामेत्यभिहितं पतञ्जलिचरिते सप्तमसर्गे यथा—

यमजीजनत्प्रथमवर्णकन्यका
तनयं द्विजो वररुचिं तमाख्यया।
स्वयमाजुहाव कृतवंशजन्मनः
पदशास्त्रवार्तिककृतः पवित्रया।।
यमसूत चन्द्रमिव सिन्धुवीचिका
नृपकन्यकाऽस्य विततान नाम सः।
भुवि सोऽयमर्क इव विक्रमे भवे-
दितिविक्रमार्क इति विश्रुतं भुवि।।
वचसैव भर्तुरयमर्हति स्वयं
वसुधां नयानयविभागचञ्चुना।

इति वैश्यजातनुभवः स भट्टिरि-
त्यभिधां चकार भटिधातुवाच्यवत्।
धरणिं बिभर्ति दशभिः शिरःशतैः
प्रलये हरिष्यति च यो विषार्चिषा।
फणिनोऽस्य भर्तृहरिरित्यभिख्यया
स समाह्वयच्चवरमवर्णजासुतम्।। इति।।

एवं च ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिर इति पद्यस्य पतञ्जलिचरितस्थवृत्तविरुद्धत्वात् यमजीजनदित्यादीनामेव च ग्रन्थस्थत्वेन बलवत्त्वाद्दुर्बलस्य ब्राह्मण्यामित्यादिपद्यस्य न प्रामाण्यमिति प्राप्ते ब्रूमः। न हीतिहासविषये पतञ्जलिचरितस्य प्रामाण्यमङ्गीकर्तुं शक्यम्। तत्रत्यैर्भूयोभिः पद्यैस्तस्य तथाविधत्वाभावावगमात्। तथाहि। व्याकरणमहाभाष्यप्रणेतारं भगवन्तं पतञ्जलिमधिकृत्य

सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्तिकानि ततः
कृत्वा पतञ्जलिमुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्।।25।।

इति पञ्चमसर्गे प्रोक्तम्। एतच्च सर्वथैव पुरावृत्तविरुद्धम्। तथाहि। न किल योगसूत्रप्रणेतुर्व्याकरणमहाभाष्यप्रणेतुश्च कश्चित्सम्बन्धो दृष्टः। पाणिनिपूर्वकालिको हि योगशास्त्रप्रणेता पाणिन्युत्तरकालिकश्च महाभाष्यकृत्। पाणिनिना हि **पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः** 4।3।110 इति सूत्रे भिक्षुसूत्रप्रणेता पाराशर्यो निर्दिष्टः। पाराशर्यश्च भगवान्बादरायणाद्यपराख्यो वेदव्यासः। भिक्षुसूत्राणि च तत्प्रणीतान्यथातो **ब्रह्मजिज्ञासे**त्यादीनि वेदान्तसूत्राणि। एवं च पाणिनेरपि प्राचीनो भगवान्वेदव्यासः। सोऽपि वेदान्तदर्शने **एतेन योगः प्रत्युक्त** इति (2।1।3) सूत्रयामास। योगश्च **अथ योगानुशासनम्** इत्यादिर्भगवता पतञ्जलिना सूत्रित एव। तस्यैव षड्दर्शन्यां परिगणनात्। अन्यविचारितस्य योगदर्शनस्याप्रसिद्धत्वात्प्रसिद्धस्यैव प्रत्याख्यानयोग्यत्वाच्चेति। एवं च भगवतो वेदव्यासादपि प्राचीनस्य योगशास्त्रप्रणेतुः पाणिन्युत्तरकालिकत्वायोगाद्व्याकरणमहाभाष्यकर्तुश्च पाणिन्युत्तरकालिकत्वात्प्रबन्धद्वयस्य समानकर्तृकत्वाभावः सुस्पष्टः। ततश्च महाभाष्यकर्तुरत्यन्तं प्राचीनो योगानुशासनप्रणेतेति सिद्धम्। एतदविज्ञाय महाभाष्यकर्तुरेव योगसूत्रप्रणेतृत्वमङ्गीकुर्वाणस्य नास्त्यंशतोऽपीतिहासविषये प्रामाण्यं पतञ्जलिचरितप्रणेतुरिति सिद्धम्।

इतश्चेतिहासविषये न प्रामाणिकः पतञ्जलिचरितकारः। स हि भट्टिकविं श्रीमद्विक्रमादित्यस्यैव भ्रातरं प्राह। भट्टिस्तु

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसूनुनरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्।।

इति भट्टिकाव्यस्यान्तिमेन पद्येन नरेन्द्रभूपालपालितायामेव वलभ्यां नाम नगर्यामात्मनो निवासं ध्वनयंस्तमेव नरपालमाशिषा संयोजयति। यदि तु भट्टिर्विक्रमार्कस्य बन्धुरभविष्यत्तदा न स तं तथाविधं सार्वभौमं महीपालं विशेषतश्चात्मनो वर्णोत्तमं भ्रातरमपास्य भूपान्तरमाश्रयिष्यत्। नापि विक्रमार्कसदृशः सहृदयोत्तंसस्तस्मिन्राजन्यान्तराश्रय-प्रसङ्गमापातयिष्यत्। अतो नास्ति भट्टेर्विक्रमार्कभ्रातृत्वम्। अत एव च भट्टिं विक्रमादित्यस्य भ्रातरं प्रतिपादयतो नास्त्यंशतोऽपि प्रामाण्यमितिहासविषये पतञ्जलिचरितकारस्येति सिद्धम्।

यथा देवदेवं प्रणम्यादावित्ययमर्थद्वयविशिष्टः श्लोके एवं दुर्गसिंहस्यान्येऽपि तथाविधाः श्लोका दृश्यन्ते। यथा—

(सन्धिटीकाया) **शिवमेकमजं बुद्धमर्हन्तं तं स्वयम्भुवम्। कातन्त्रवृत्तिटीकेयं नत्वा दुर्गेण रच्यते।** इति। अत्रापि शिवबुद्धार्हदादिशब्दानां द्व्यर्थकत्वं स्पष्टम्। एवं षट्कारिकायां **भग्नं मारबलं येन निर्जितं भवपञ्जरम्।**

निर्वाणपदमारूढं तं बुद्धं प्रणमाम्यहम्। इति। एतदपि पद्यं द्व्यर्थतया योजयितुं शक्यम्। न चैतदेवास्य प्रणेतुर्वैदिकधर्मानुयायित्वाभावे प्रमाणमिति विप्रतिपत्तव्यम्। चतुष्टयवृतौ **रुद्रो विश्वेश्वरो देवो युष्माकं कुलदेवता। स एव नाथो भगवानस्माकं पापनाशन** इति भगवतो रुद्रस्यैवात्मनः कुलदेवतात्वेनाङ्गीकारात्।

न चैवं वराहमिहिरस्य ख्रिस्तीयषष्ठशतकोद्भूतत्वं विहन्येतेति वक्तव्यम्। अन्यस्यापि वराहमिहिरस्य सम्भवात्। न चायं नियमो यदेकेनैव वराहेण भवितव्यमिति। प्रमाणानुगतत्वाच्च वराहमिहिरद्वयकल्पनं न विरुद्धम्। एवं ज्योर्वित्त्वमप्यस्य न निर्मूलम्। बृहत्संहिताया एतत्प्रणीतत्वकल्पनेऽपि दोषाभावात्। अकल्पनेऽपि प्रामाणिकवचनबलात्तत्प्रणीतप्रबन्धानुपलम्भेऽपि ज्योतिर्वित्त्वस्य दुर्वारत्वात्। अनुपलब्धस्यापि प्रबन्धस्यासत्त्वकल्पनस्यान्याय्यत्वाच्चेति। तत्तच्छास्त्रे प्रबन्धविरचनाभावेऽपि तत्तेषां तत्तच्छास्त्रवित्त्वाभावस्य वक्तुमयोग्यत्वात्। न ह्ययं नियमो यत्तत्तच्छास्त्रविद्भिस्तत्र तत्र प्रबन्धाः प्रणीयन्त एवेति। दृश्यन्ते हि भूयांसः पण्डितप्रवरा ये किल प्रबन्धप्रणेतृत्वाभावेऽपि पण्डितप्रवरा इत्येवाख्यायन्ते। ततश्च दुर्निवारं ज्योतिर्वित्त्वं वराहमिहिरस्येति षष्ठशतकोद्भूताद्वराहमिहिरादुपरिनिर्दिष्टपद्यप्रतिपाद्यस्य वराहमिहिरस्य विभिन्नत्वकल्पनेपि दोषाभावः सुस्पष्टः।

वररुचिश्चात्र निर्दिष्टः प्राकृतमञ्जर्याः प्रणेतैव स्यादिति प्रतिभाति। शङ्कुस्तु श्रीविक्रमादित्यस्यैव वर्णावरो भ्रातेति निर्दिष्टमेवेद्मुपरितने पद्ये। श्रीमान्कालिदास्तु प्रसिद्धम् एव। एवं धन्वतरिक्षपणकवर्ज सर्वेषामपि नवरत्नान्तर्गतपण्डितानां सङ्गतिः सम्पन्ना। एतेषां समानकालिकत्वं तु परस्तात्प्रतिपादयिष्यामः। धन्वन्तरिक्षपणकौ तु पण्डितौ श्रीमद्विक्रमादित्य-सभामलञ्चक्राते इति प्रमाणमत्र धन्वन्तरिक्षपणकेत्यादिकं पद्यम्। बलवत्तरप्रमाणाभावाच्च तयोरस्तित्वाभावो न शक्यः सम्भावयितुम्। एवं च प्राचीनानां जगत्प्रतारणे प्रयोजनाभावात्तत्प्रबन्धेभ्यश्च नवरत्नानामस्तित्वाभ्युपगमान्नवरत्नेषु भूयसां रत्नानां तत्प्रबन्धानां च विद्यमानत्वाद्बलवत्प्रमाणान्तरमन्तरा तेषां समानकालिकत्वस्य बाधयितुमशक्यत्वात्किंवदन्ती-मात्रापेक्षया वाचनिकप्रमाणस्य *बलीयस्त्वाद्दुर्गसिंहस्यैवामरसिंहापरनामत्वाद्वाचनिकप्रमाणानुसारेण कालिदासानेकत्वस्येव वराहमिहिरद्वयस्यापि कल्पयितुं युक्तत्वाच्च सिद्धं नवरत्नानामस्तित्वम्। इतिनवरत्नविचारः।

मातृगुप्ताचार्यविचारः

3 अपरे त्वाहुः सुप्रसिद्धतमः श्रीमान्मातृगुप्ताचार्य एव कालिदासापराभिख्यः। मात्रा श्रीकाल्या गुप्तो रक्षितो दासत्वात्पालितो मातृगुप्तः कालिदास इत्यर्थः। मातृगुप्ताचार्यश्च श्रीमता प्रवरसेनाख्येन काश्मीराधिपतिनाऽऽत्मनो राज्यपदे प्रतिष्ठापितः। प्रवरसेनश्च ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्यामासीदिति पुरावृत्तप्रबन्धेभ्यो विज्ञातम्। अत एव च तस्मिन्नेवावसरे श्रीमातृगुप्ताचार्यस्याप्यवस्थानं सुस्पष्टम्। मातृगुप्ताचार्य एव च कालिदास इति ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्येवावस्थितिसमयः कालिदासस्येति। तदेतन्नांशतोऽपि युक्ततामावहति। नहि मातृगुप्तकालिदासपदयोः समानार्थकत्वे किंचित्प्रमाणं पश्यामः। नापि मातृशब्दस्य कालीपर्यायत्वं दृष्टम्। ब्राह्मी माहेश्वरी चण्डी वाराही वैष्णवी तथा। कौमारी चैव चामुण्डा चर्चिकेत्यष्ट मातरः। इत्यादिवचनेषु च काल्या अविद्यमानत्वान्न हि मातृपदेन काल्या ग्रहणं सम्भवति। नापि कोशादौ गुप्तशब्दो दासपर्यायो दृष्टः। नापि लक्षणया गुप्तशब्दस्य तथाविधत्वं स्वीकर्तुं शक्यम्। प्रयोजनमन्तरा लक्षणाया अनङ्गीकारात्। यत्रापि कोशादौ श्रीकालिदासनामानि दृश्यन्ते न किल तत्र मातृगुप्तपदम्। रघुकारः कालिदासो मेधारुद्रश्च कोटिजित्। इत्यभिधानम्। यदि तु मातृगुप्तपदस्य कालिदासवाचकत्वमभविष्यत्तदा कोशादावपि तन्निरदेक्ष्यत। नैव तु निर्दिष्टम्। अतोऽवश्यमभ्युपेतव्यं न कालिदासवचनो मातृगुप्तशब्द इति। अभिज्ञानशाकुन्तलादिव्याख्यासु च श्रीमद्राघवभट्टादयो मातृगुप्ताचार्य मातृगुप्ताचार्यनाम्नैव व्यपदिशन्ति न तु कालिदासनाम्ना। यथा शाकुन्तलव्याख्यायां नाटकलक्षणोपक्रमे (पृ० ९) तल्लक्षणमुक्तं मातृगुप्ताचार्यैः इत्यादि। किं च मातृगुप्ताचार्यः स्वप्रणीतेष्वभिनवभारतादिषु

---

* दुर्गसिंह एव नवरत्नेष्वन्यतम इति **स रत्नं नवरत्नानामिति** श्रीकण्ठीयव्याख्यानादवगतम्।

प्रबन्धेषु मातृगुप्तनाम्नैवात्मानं निर्दिशति। औचित्यविचारचर्चायां श्रीक्षेमेन्द्रोऽपि मातृगुप्तकालिदासौ पार्थक्येनैव निर्दिशति। यथा त्रयोदशकारिकाविवरणे—यथाकालिदासस्य—जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः। तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामेति। वचनौचित्यप्रत्युदाहरणे च न तु यथा मातृगुप्तस्य—नायं निशामुखसरोरुहराजहंसः कीरीकपोलतलकान्ततनुः शशाङ्कः। आभाति नाथ तदिदं भुविदुग्धसिन्धुडिण्डीरखण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम्। इति।

एवं च मातृगुप्तकालिदासयोः पर्यायत्वाभावान्मातृगुप्तस्य षष्ठशताब्दीसमुद्भूतत्वाङ्गीकारेपि नास्ति तथाविधत्वं तत्रभवतः कालिदासस्येति सिद्धम्। इति मातृगुप्ताचार्यविचारः।

दिङ्नागवृत्तान्तः

4 इतरे तु वदन्ति—

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्।।14।।

इति मेघदूते कालिदासः प्राह। तत्र च समासोक्तिमर्यादया निचुलः कालिदासस्य सुहृत्कविविशेषो दिङ्नागस्तु कालिदास्य प्रतिपक्षोऽत्यवष्टब्धो हस्तचेष्टया प्रतिवादिनां निर्भर्त्सकः कविरित्यवबुध्यते। एतदेव चैतत्पद्यव्याख्यायां मल्लिनाथेनोक्तम्। दिङ्नागस्तु कस्यापि बौद्धपण्डितस्यासङ्गनाम्नश्छात्रः। असङ्गश्च बुद्धावतारात्परं व्यतीतायां वत्सराणां नवशत्यां सम्भूत इति तिबेटीयेभ्यः पुरावृत्तेभ्यः स्फुटीभवति। किं चायं ख्रिस्तीयेऽष्टसप्तत्युत्तरपञ्चशततमे वर्षे भारतवर्षमलञ्चकारेत्यपि केचित्पुरावृत्तविदः। ततश्च ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्यामेव दिङ्नागाचार्यो बभूवेति स्पष्टतया प्रतीयते। तत्प्रतिपक्षतया च कालिदासोऽपि तस्मिन्नेवावसरे प्रादुर्बभूवेति। तदेतदप्यापाततो रमणीयम्। सम्भवति सरले प्रमाणानुगते चार्थेऽप्रमाणानुगतार्थकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। यस्मान्मेघेनोदङ्मुखेनोत्पतनीयं तस्मिन्प्रदेशे वेतसानां सरसत्वस्य कल्पनं सुयुक्ततममेव किन्तु निचुलनाम्नः कवेः कल्पने किंवा प्रमाणमिति नैव जानीमः। एवं उत्पततो मेघस्य स्थौल्यादिना दिङ्नागशुण्डासादृश्याद्दिङ्नागस्य कवेरग्रहणात्तस्यकालिदाससमानकालिकत्वे प्रमाणाभाव इत्यदि नात्र विस्मरणीयम्। कालिदाससमानकालिकत्वे श्रीमल्लीनाथोक्तिरेव प्रमाणमिति चेन्न। मल्लीनाथोक्तेः किंवदन्तीमात्रमूलत्वकल्पनस्यैवार्हत्वात्। दृश्यन्ते हि किंवदन्तीमात्रमाश्रित्य तत्तवृत्तान्तमुपनिबध्नन्तो भूयांसः प्राचीनाव्याख्याकृतः। निर्मूला अपि च भूयसीः किंवदन्त्यः सप्रचारा दृश्यन्ते। ततश्चात्र प्रमाणान्तरमन्तरा मल्लीनाथवचनस्य न शक्यं प्रामाण्यमङ्गीकर्तुम्। अत एव च नास्ति श्रीकालिदासदिङ्नागयोः समानकालिकत्वमिति। किं च बलवत्तरैः प्रमाणान्तरैः कालिदासस्य ख्रिस्तीयशकारम्भतोपि प्राचीनत्वस्यावधार्यमाणत्वाद्दिङ्नागस्य च ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्युद्भूततया नास्त्युभयोः समालनकालिकत्वम्। इति दिङ्नागविचारः।

हूणविजयविचारः

5 अन्ये तु रघुवंशे हूणविजयवर्णनमेव कालिदासस्य ख्रिस्तीयषष्ठशताब्दीसमुद्भूतत्वे प्रमाणमिति प्रवदन्ति। तथाहि। कालिदासेन रघुवंशीये चतुर्थे सर्गे षट्षष्टितमे पद्ये रघोरुत्तरदिक्प्रयाणमभिधाय सप्तषष्टितमे च सिन्धुसरिदुपकण्ठेनोदक्प्रयाणं निगद्य—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्।।

इति रघुकर्तृको हूणविजयोऽभिहितः। यदेव मूलमादाय कालिदासेन रघुवंशं निरमायि तत्र तु वाल्मीकीयरामायणे न क्वापि हूणनाम्नः श्रवणम्। अतश्चैषां हूणानां कालिदासावस्थानसमये बलीयस्त्वेनाङ्गीकारात्तद्विजयवर्णनेन नायकोत्कर्ष प्रख्यापयितुकामः श्रीमान्कालिदासो रघुवंशे हूणविजयं प्रतिपादयामास। हूणाश्च ख्रिस्तीयपञ्चमशताब्द्युत्तरमेव भारतवर्षमुपाजग्मुर्व्यजेषत च तत्रत्यान्क्षत्रियोत्तंसानिति प्रसिद्धमितिहासप्रबन्धेषु। ततश्च रघोर्हूणविजेतृत्वमुपवर्णयतः कालिदासस्य ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्यामेव प्रादुर्भाव इति प्रतीयत इति।

अत्रोच्यते। उक्तिरियमर्वाचीनानामत्यन्तमेव निःसारा। न हि षष्ठशताब्द्यामेव भारतवर्षे हूणा अविद्यन्त न पुनरन्यदेत्यत्र किंचिदपि प्रमाणं दृष्टं प्रत्युत चतुर्थशताब्द्याः पूर्वमेव ग्रथिते ललितविस्तारनाम्नि बौद्धग्रन्थे चीनहूणप्रभृतीनां नामानि निर्दिश्यन्ते। ततश्च षष्ठशताब्द्याः पूर्वमपि हूणानां विद्यमानत्वं दुर्वारम्। न च चतुर्थशताब्द्यामेव कालिदास-सम्भवोऽस्त्विति वाच्यम्। हूणानामत्यन्तप्राचीनत्वस्य पुराणेतिहासादिभिः सिद्धत्वेन रघावुपवर्णितो विजयोऽर्वाचीनानामेव हूणानामित्यत्र प्रमाणाभावात्। यत्तु हूणाः काश्मीराधिपतयो राजविशेषाः काश्मीराश्च षष्ठशताब्द्यामेव हूणायत्ततामुपजग्मुरिति तन्न विचारसहम्। रघुव्याख्याकृता हि मल्लीनाथेन हूणा जनपदाख्याः क्षत्रिया इति व्याख्यातम्। शब्दार्थनिर्णये च व्याख्यानत एव विशेषप्रतिपत्तिरिति हूणदेशाधिपतय एव हूणा न तु काश्मीराधिपतय इति सिद्धम्। युक्तं चैतत् जनपदवाचिनो हूणशब्दात्तद्राजप्रत्ययलुकि हूणदेशाधिपत्यर्थकस्य हूणशब्दस्य निष्पत्तेः शास्त्रानुगतत्वात्तदितरहूणशब्दे प्रमाणाभावाच्च। अव्युत्पन्न एव हूणशब्दोऽङ्गीकरणीय इति चेदसद्ग्रहस्तदाऽपि न हूणानां प्राचीनतमत्वव्याहतिः। हूणशब्दस्य भारतादौ विद्यमानत्वात् तथाहि महाभारत आदिपर्वणि 177 अध्याये 35-37.

असृजत्पह्लवान्पुच्छात्प्रस्त्रावाद्द्राविडान् शकान्।
योनिदेशाच्च यवनाञ् शकृतः शबरान्बहून्।।
मूत्रतश्चासृजत्कांचीञ् शरभांश्चैव पार्श्वतः।
पौण्ड्रान् किरातान्यवनान् सिंहलान्बर्बरान्खशान्।।
चिबुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान् हूणान् सकेरलान्।
ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान्बहुविधानपि।। इति।

श्रीमन्महाभागवतेऽपि किरातहूणान्ध्यवनानित्यादौ हूणशब्दो दृष्टः।

किं च हूणानां कालिदाससमकालिकत्वस्यापि तुष्यतुन्यायेनाङ्गीकारे स्वसमकालिकहूणविजयवर्णने कस्तावद्धेतुः कालिदासस्य। यदि तु हूणानां वीरप्रकाण्डतया तद्विजयेन रघोरुत्कर्षवर्णनमेवात्र निदानमिति ब्रूषे तदाऽपि न निस्तारः। विश्वामित्रसदृशानां क्षत्रियोत्तंसानां ये विजेतारस्तेषामेव हूणानां पराजय्यत्वेन ग्रहणेपि तथाविधहेतुसिद्धेः। अतो नव्यग्रहणे हेत्वभावादपि प्राचीनहूणविजय एवोपवर्णितः कालिदासेनेत्यङ्गीकरणीयम्। अपि च हूणानां प्राचीनत्वाभावे कालिदाससमकालिकत्वे च तद्विजयवर्णनं कालिदासस्यासत्काव्यप्रणेतृत्वमापादयेत्। तथा चासत्काव्यत्वाद्रघ्वादी-नामनादरापत्तिः। न च रघुवंशोदन्ते मूलभूते रामायणे रघुकर्तृकस्य हूणविजयस्यानुपनिबन्धनाद्भवन्मतेऽपि रघ्वादीनाम-सत्काव्यतापत्तिर्दुर्वारोति वक्तव्यम्। हूणानामतिप्राचीनत्वस्य भारतादिभिः संसिद्धतया रघुकालेऽपि तेषां विद्यमानत्व-संभवेनाशेषभुवनजेतुः सार्वभौमस्य रघोस्तद्विजेतृत्वसम्भवात्। संभवमात्रविषयीभूतानां चेतिवृत्तानां कविभिरुपवर्ण्यमानत्वस्य दृष्टत्वात्। कालिदाससमकाल एव विद्यमानानां तु हूणानां नास्ति रघुकाले सम्भवनीयत्वम्। नापि प्राचीनवर्णनप्रसंगे स्वसमकालिकानर्थानुपवर्णयन्ते कवयः। न हि केनापि कविशिरोमणिना नलादीनां चरितं विवर्णयिषुणाऽऽधुनिकनृप-विजयस्तत्कर्तृकत्वेनोपनिबद्धो नापि पाण्डवानां चरितमुपनिबद्धुकामेन प्रथितमपराक्रमामवरङ्गजीवा[1]दीनां विजयोभिहितः। नाप्यभिधीयते। नाप्यभिधास्यते। हूणानां प्राचीनतमत्वे तु तद्विजयो न दोषायेत्युक्तमेव प्राक्। अन्यच्च रामायणादीनीतिवृत्तमात्रावलम्बीनि काव्यानि। रघुवंशादीनि तु रसमात्रावलम्बीनि। अत एवात्र क्वचिदसतामपि भावानामुपनिबन्धः सतामप्युपनिबन्धाभावश्चेति काव्यानुशासनानुगुणा व्यवस्थेति द्रष्टव्यम्। अत एव चोदात्तराघवे

1. औरङ्गज़ेब.

वालिवधानभिधानं कुमारसंभवकिरातार्जुनीयादौ च भूरिशृङ्गारोपवर्णनं सङ्गच्छते। महाकाव्ये च नायकस्याभ्युदयो विस्तरशो वर्णनीय इति कवीनां समयः। उपवर्णयन्तश्च नायकाभ्युदयं महाकवयो यं यं भावं नायकसमये संभवनीयं पश्यन्ति तन्तमुपवर्णयन्ति। सत्यप्येवं नायकसमये सम्भवदभावा नोपनिबध्यन्तेऽर्थाः कविप्रवरैः।

एवं च हूणानां प्राचीनतमत्वस्य भारतादीतिहाससिद्धतया षष्ठशताब्दीमात्रसम्भूतत्वे प्रमाणाभावात्कविसम-कालिकानामेवार्थानामुपवर्णने काव्यस्यासत्त्वापातात्कालिदासस्य च सत्कवित्वान्नांशतोऽपि रघुवंशीयहूण-वर्णनात्कालिदासस्यार्वाचीनतापत्तिः। अत एव च न कालिदासस्य षष्ठशताब्द्यां प्रादुर्भाव इति। इति हूणविजयवर्णनविचारः।

जामित्रशब्दविचारः

6. केचित्तु कुमारसंभवेनैव कालिदासस्य कालं निर्णेतुमिच्छन्ति। तथाहि कुमारसंभवे सप्तमसर्गे प्रथमं पद्यम्—

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।
समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत्।। इति।

अत्र च विद्यमानो जामित्रशब्दो ग्रीकभाषावर्तिनो डायमेट्रन (Daymetran) शब्दस्यापभ्रंशः। यदा खल्वार्या ग्रीकेभ्यो ज्योतिःशास्त्रमधिजगिरे तदैव ग्रीकभाषातः संस्कृतभाषां प्रविष्टोऽयं शब्दः। यैः पुनरार्यपण्डितैर्ग्रीकेभ्यो ज्योतिषमधीतं तेष्वार्यभट्ट एव प्रथम इति स्वीयप्रबन्धे जामित्रशब्दमुपनिबध्नतः सुस्पष्टमेव कालिदासस्यार्यभट्टतोऽर्वाचीनत्वम्। आर्यभट्टश्च ख्रिस्तीयपञ्चमशताब्द्यामुत्पन्न इति ततोऽर्वाचीनस्यार्थादेव षष्ठशताब्द्युत्पन्नत्वं कालिदासस्येति।

स्यादेतद्यदि जामित्रशब्दो डायमेट्रन्शब्दस्याप्रभ्रंश एव स्यात्। तदा ह्यपभ्रंशत्वं शब्दानामङ्गीकरणीयं यदा स्वाभिमतभाषायां नैते व्युत्पादयितुं शक्येरन्। नैव पुनर्जामित्रशब्दस्य तथात्वं दृष्टम्। शक्यते ह्ययं संस्कृतभाषायां व्युत्पादयितुम्। प्रयुक्तश्च प्राचीनतमैर्मुनिभिः। व्युत्पत्तिस्तावज्जामिं स्त्रियं जायामिति यावत् त्रायत इति जामित्रमिति। तच्च लग्नात्सप्तमं स्थानमिति ज्यौतिषिकाणां परिभाषा। तत्रैव हि जायाविषयकं शुभाशुभं पर्यालोच्यत एतैः। जामिशब्दश्च श्रुतिष्वपि प्रयुक्तो दृष्टः। यथा ऋग्वेदे सप्तमाष्टकस्य द्वितीयेऽध्याये **स्वसारो जामयस्पतिम्।** इति। तृतीयाष्टकस्य चतुर्थेऽध्याये त्रयोविंशे वर्गे च **जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रुम्।** इति। स्मृतावपि **जामयो यानि गेहानीति** मनुः विद्यते च संस्कृतभाषायां त्रैङ् पालन इति धातुः। न चावयवयोः प्रसिद्धत्वेऽपि नावयविनः प्रसिद्धत्वमिति वक्तव्यम्। देवर्षिनारदप्रणीतायां नारदसंहितायां जामित्रशब्दस्यापि प्रयोगदर्शनात्। तत्र हि विवाहाध्याये **जामित्रशुध्येक-विंशन्महादोषविवर्जितम्।** इत्युक्तम्। न चाभिधानग्रन्थेषु जामित्रशब्दस्यानवलोकनाद्दुर्वारमर्वाचीनत्वमिति प्रवक्तव्यम्। तत्तच्छास्त्रे पारिभाषिकत्वेनाङ्गीकृतानां शब्दानां कोशादावनुपनिबन्धात्। न हि व्याकरणादावेव प्रसिद्धा गुणवृध्द्याशयप्रकृति-सत्प्रतिपक्षपक्षपरामर्शादयः शब्दाः कोशे दृष्टाः। पारिभाषिका ह्येते। ज्यौतिषग्रन्थेषु तु जागित्र शब्दः सप्तमस्थानवाचीत्युक्तम्। तथा हि जातकालङ्कारे ** **जामित्रमस्तं स्मरमदनमद्यूनकामाभिधानम्।** इतिसप्तमस्थानपर्यायेषु प्रोक्तम्। प्रयोगश्च एकैव भौमार्कनवांशके च जामित्रभावस्थबुधार्कयोर्वेत्याभरणादौ।*

---

* एवं–

चन्द्राज्जामित्रगे शुक्रे शुक्राज्जामित्रगे शनौ।
वत्सरेष्टादशे प्राप्ते विवाहं लभते नरः।। इति।।
जामित्रेमन्दभौमस्थे तदीशे मन्दभूमिजे।
वेश्या वा जारिणी वापि तस्य भार्या न संशयः।। इति।।
शुक्राज्जा मित्रगे चन्द्रे चन्द्राज्जामित्रगे बुधे
इत्यादि बृ०पा० होरायाम्.

एवं चानपभ्रष्ट एवायं जामित्रशब्द इति नैष *कालिदासस्यार्वाचीनतामापादयितुं* प्रभवतीति द्रष्टव्यम्। अथ ज्योति:शास्त्रं सर्वथा ग्रीकेभ्य एवोपात्तमार्यैरित्यभिमानस्तदा हा आर्यविद्यानां दौर्भाग्यमितिब्रूम:। श्रुतिष्वपि त्युपल ज्यौतिषिका नियमा इति। इति जामित्रशब्दविचार:।

अथग्रहणकल्पनाविचार:

7. केचित्तु रघुवंशत एव कालिदासावस्थितिसमयं निर्णेतुमभिलष्यन्त: प्राहु:। यथा—रघुवंशीयचतुर्दशसग चत्वारिंशत्तमे पद्ये **छाया हि भूमे: शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमत: प्रजाभिरिति** कालिदासेन परमार्थत एव उपावर्णि। अस्य त्ययमर्थ: हि यत: प्रजाभिर्लोकै: भूमे: पृथिव्याश्छाया अनातप: शशिनश्चन्द्रस्य मलत्वेन ग्रहणत्वेनारो शशिनि प्रतिबिम्बितां भूमेश्छायामेव लोका ग्रहणत्वेन व्यपदिशन्तीत्यर्थ:। पारमार्थिकश्चायमुपरागवृत्तान्तो न प्राचीनज्योति:शास्त्रे दृष्ट:। एष हि ग्रीकेभ्य एवार्यभट्टेनोपात्त:। आर्यभट्टात्पराचीनैरेव च भारतीयज्योतिर्विद्भि *प्रबन्धेषूपनिबद्ध:। यच्च कालिदास आत्मन: प्रबन्धेष्वर्थमिममुपनिबध्नाति तदेष आर्यभट्टादर्वाचीन इत्यत्र नास्त्यंश* सन्देह इति।

स्यादेतद्यदि पद्येऽस्मिल्लेशतोऽप्युपरागवर्णनसम्बन्ध: स्यात्। स एव तावद्गगनकुसुमायमान:। अस्य हि मल्लीनाथीयव्याख्यानुगतोऽयमर्थ: यथा निष्कलङ्केऽप्यमृतांशुबिम्बे संलग्नाया भूमिच्छायाया: कलङ्कोयमिति व दुष्परिहरं लोकमतानुरोधिभिरेवं निसर्गत एव विशुद्धाया अपि जानक्या रावणसदननिवासात्सदोषेयमित्यपवाद: सम एवास्माभिरिति। नास्ति किल पद्येऽस्मिन्नुपरागवाचक: शब्दो येन *प्रामाणिकोत्तंसमपि मल्लीनाथमविगणय्याधुनिकानु* सरणिमनुसरिष्याम:। न च पण्डित-प्रकाण्डेनापि मलशब्दस्योपरागवाचकत्वमापादयितुं शक्यम्। कोशादौ तथाविधार्थवाचकत्वाभावात्। अत्र तु पद्ये मलशब्द: कलङ्कवाच्येव। कलङ्को हि भूमिच्छायाद्यात्मकत्वेनोपवर्णनं महाकवीनां समय:। स एव चात्र पद्येऽनुसृत: श्रीमता कालिदासेन। इममेव च समयमवलम्बमानानां दृश्यन्ते पद्यानि। तथाहि कुवलयानन्देऽपह्नुतिप्रकरणे—

> **अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधे: पङ्कं परे मेनिरे**
> **सारङ्गं कतितिच्च संजगदिरे भूच्छायमैच्छन्परे।**
> **इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते**
> **तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे।।** इति।

अस्य च पद्यस्यापह्नुत्युदाहरणत्वेनापह्नुतेश्च प्रकृतिनिषेधपूर्वकाप्रकृतस्थापकत्वादङ्कपङ्कभूच्छा *प्रकृतत्वात्तात्विकत्वमेवेत्यत्र नास्ति संशयावसर:।*

तथा तत्रैव—

> **मन्थानभूमिधरमूलशिलासहस्र-**
> **सङ्घट्टनव्रणकिण: स्फुरतीन्दुमध्ये।**
> **छाया मृग: शशक इत्यतिपामरोक्ति-**
> **स्तेषां कथञ्चिदपि तत्र हि न प्रसक्ति:।।** इति।

अत्रापि चतुर्थपादगतेन हेतुना पामरोक्तित्वामारोप्य च्छायादीनपह्नुवान: कविस्तेषां तात्विकत्वमेवेति द्यो एवमार्यासप्तशत्यामकारव्रज्यायाम्—

> **अस्तु म्लानिर्लोको लाञ्छनमपदिशतु हीयतामोज:।**
> **तदपि न मुञ्चति स त्वां वसुधाछायामिव सुधांशु:।।** इति।।

अत्रापि सुस्पष्टैव भूछायायाः कलङ्कत्वोक्तिः। अन्यथा लाञ्छनापदेशस्यामोचनस्य चायोगात्। न हि ग्रहणेन न मुच्यते भगवानमृतांशुरिति।

यदि तु छाया हि भूमेरित्यत्रोपरागवर्णनमेवाभ्यलषिष्यत्कालिदासो यदि चार्यभट्टकल्पनामेवोपनिबन्धुमैहिष्यत तदा खलु छाया हि भूमेः शशिनो ग्रहत्वेनारोपितेत्येवावदिष्यत्। यच्च नैवमवादीत्तनैवमचीकमत। प्रयुज्यते च ग्रहणवाचक द्वयक्षरशब्दप्रयोगप्रसङ्गे ग्रहशब्दः कालिदासेन न तु मलशब्दः। यथा मालविकाग्निमित्रे 4 अङ्के 14 शे पद्ये—

कदा मुखं वरतनु कारणादृते
तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम्।
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला
विभावरी कथय कथं भविष्यति।। इति।

केचित्तु पद्येऽस्मिन्ग्रहशब्दः क्षितिवाचक एवेत्याहुस्तन्न प्रमाणाभावात्। उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौच पूष्णि चेत्यादिकौशादौ हि ग्रहणवाचक एव ग्रहशब्दो दृष्टः। यदि तु तिरस्कृत्य कोशादीन् क्षितिवाचकत्वमेव ग्रहशब्दस्याङ्गीक्रियते तदा यत्र यत्र ग्रहशब्दघटितेन वाक्येन ग्रहणवर्णनं तत्र तत्र क्षितिवाचकत्वमेव ग्रहशब्दस्याङ्गीकर्तव्यम्। अर्धजरतीय-न्यायानुसरणस्यान्याय्यत्वात्। ग्रहणे च क्षितेःकारणताऽऽर्यभट्टेनैव ग्रीकेभ्योऽवगतेति तु भवन्मतं विद्योतत एव। ततश्च यत्र यत्र ग्रहशब्दघटितमुपरागवर्णनं तस्य तस्य पद्यादेरार्यभट्टादर्वाचीनत्वमर्थादायातम्। तथा च भगवतो वाल्मीकेरप्यार्यभट्टादर्वाचीनतापत्तिर्दुर्वारा। तेन हि अयोध्याकाण्डे चत्वारिंशे सर्गे—

पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान्सन्नस्तदा बभौ।
परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा।। इत्युक्तम्।

प्रयुञ्जते च भूयांसः प्राचीना ज्योतिर्विद उपरागार्थे ग्रहशब्दम्। तथा हि

भत्रिपादान्तरे राहोः केतोर्वा संस्थितो रविः।
चतुष्पादान्तरे चन्द्रस्तदा सम्भाव्यते ग्रहः।।

इत्यादि ज्योतिस्तत्वादौ।

एवं च प्रमाणाभावान्न ग्रहशब्देन पृथिव्या ग्रहणम् ततश्च कदामुखमित्यादाविव छाया हि भूमेरित्यत्रापि ग्रहणार्थे सरलतया ग्रहशब्दस्य प्रयोक्तुं शक्यत्वेपि तथा प्रयोगाभावान्नास्ति छाया हीत्यादि पद्ये ग्रहणकल्पनावकाश इति सिद्धम्।

कालिदासस्तु राहुणैव शशिग्रासं सममंस्त न तूपरागे क्षितिच्छायायाश्चन्द्रबिम्बे संक्रातत्वम्। यथा रघुवंशे द्वितीयसर्गे (39) ऊनचत्वारिंशं पद्यम्—

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव।। इति।

सुरद्विषो राहोरिति मल्लीनाथः।

8. अन्ये तु संस्कृतभाषाया अभ्युदयस्य समयद्वयं परिकल्प्य द्वितीये समये श्रीमान्कालिदासः प्रादुर्बभूवेत्याहुः। तयोश्च समययोः प्रथमो वेदादि समुत्पत्तेरर्थादतीव प्राचीनः। द्वितीयस्तु ख्रिस्तीयद्वितीयशताब्द्यामेव। यदा यदा किल यस्यां यस्यां भाषायां सरसरमणीयानां नव्यकाव्यानां प्रणेतारः कविप्रवराः समुद्भवन्ति परःसहस्राश्च रसविदस्तद्भाषाभिज्ञाः प्रादुःषन्ति तदा तदा तस्या भाषाया अभ्युदय इत्यवबोध्यम्। संस्कृतभाषाया अभ्युदयस्याद्ये समये तु नास्त्येव संभवाशङ्कापि कालिदासस्य। द्वितीये तु तस्योत्पत्तेरभ्युपगमेऽर्थादेव ख्रिस्तीयद्वितीयशताब्द्यां कालिदासावस्थानं स्फुटीभवति। इति तेषां मतम्।

अत्रोच्यते। यदुच्यते श्रीमद्भिः ख्रिस्तीयद्वितीयशताब्द्यां संस्कृतभाषायाः पुनरभ्युदय इति नैतदंशतोऽपि विदुषां प्रमोदं पुष्णाति। नापि च प्रमाणानुगतम्। दृश्यन्ते हि ख्रिस्तीयद्वितीयशताब्द्याः पूर्वमपि प्रथमशताब्द्यादौ प्रादुर्भूता हृदयङ्गमनव्यकाव्यप्रणेतारः कवयः। ख्रिस्तीयप्रथमशताब्द्यामपि हि विरचयाञ्चकाराश्वघोषः काव्यं बुद्धचरितं नाम। श्रूयते च भगवता पतञ्जलिनापि मनोहरतरं प्राणायि काव्यमिति। स च पतञ्जलिः ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतः पूर्वं चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशततमेब्दे भारतवर्षं मण्डयामासेति पुरावृत्तविदः प्राहुः। अश्वघोषप्रणीते च बुद्धचरिते सन्दृश्यते भूयसां कालिदासीयवचनानां छाया ततोऽपि चाश्वघोषतः प्राचीनतमत्वं कालिदासस्यायाति। ततश्च निःसारतम एवायं सिद्धान्तो यदुच्यते ख्रिस्तीयद्वितीयशताब्द्यामेव कालिदासोत्पत्तिरिति। यथा च कालिदासीयकल्पनानामेव च्छायाऽश्वघोषेण समाहृता तथा परस्तात्स्फुटीकरिष्यामः। एतच्च ये किल विद्वांसो महाकविष्वपि परस्परच्छायोपजीवित्वमङ्गीकर्तुमिच्छन्ति तन्मतानुरोधेनोक्तम्। येषां पुनः प्रतिपलमुद्भिद्यमाननवपल्लवमनोहरा कालत्रयेऽपि म्लानिवार्ताशून्या प्रतिभावल्ली प्रतिक्षणं प्रसूते नवनवानि परिस्पन्दमानसुधारसनिरन्तराणि जन्मनः प्रभृत्येव परिपक्वानि कालान्तरेऽप्यहीनरसानि काव्यफलानि तेषां यदृच्छया क्वचित्परस्परकल्पनासंवादेऽपि नास्ति परस्परकल्पनापहाराशङ्काया अवसरः स्तोकोऽपीत्येवाभिप्रायोऽस्माकम्।

एवञ्च ख्रिस्तीयद्वितीयशताब्द्यां कालिदासोत्पत्तिरिति निर्मूलमेवेदं वचनम्। इति संस्कृतभाषाभ्युदयविचारः।

९. केचित्पुनः संशयाना इव भगवतः कालिदासस्यापि प्रतिभाविस्फूर्तौ किमपि विलक्षणमेव प्रकारान्तरमवलम्ब्य महाकवेरस्य समयं निर्णेतुमिच्छन्ति। तथाहि। आसीत्किल प्रथितमतिवैभवो बौद्धपण्डितः कोऽप्यश्वघोषो नाम। यः किल ख्रिस्तीयप्रथमशताब्द्यामलञ्चकार भूवलयम्। अस्ति चैतत्प्रणीतं काव्यं बुद्धचरितं नाम। यत्र किल विद्यमानानि भूयांसि पद्यानि कालिदासीयानां तत्तेषां पद्यानामाशयमनुहरन्तीव लक्ष्यन्ते। विभिन्न कविनिर्मितानां पद्यानां परस्परसाजात्ये शक्यत एव तन्निर्मातुः कविद्वयस्य पूर्वापरीभावः कल्पयितुम्। यो हि यस्य कवेः पद्यगतमाशयमात्मनः पद्ये ग्रथ्नाति स तस्मात्कवेरर्वाचीनो भवति। यथा कालिदासाद्भवभूतिः। यस्य चैकस्य कवेर्निर्णीतः समयः स एव प्राचीनो यस्य पुनर्न शक्यते प्रमाणान्तरेण निर्णेतुं स ततोऽर्वाचीनः। प्रकृते तु बुद्धचरितप्रणेतुरश्वघोषस्य समयः प्रमाणान्तरेण निर्णीतः। कालिदासीयेषु च पद्येषु तत्पद्यच्छायाया अवेक्ष्यमाणत्वाच्छक्यते कालिदासस्याश्वघोषतः पराचीनत्वं कल्पयितुम्। यथा च बुद्धचरितच्छायोपजीवित्वं कालिदासीयपद्यानां तथाऽत्र संक्षेपत उदाहर्तुमिच्छामः। तथाहि—

अश्वघोषस्य बुद्धचरिते—	कालिदासस्य रघुवंशे—
यथावेदनां दिवि देवसङ्घा दिव्यैर्विशेषैर्महयां च चक्रुः।	तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्। प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार। संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः।।

अत्र यथा बुद्धचरित एवमेव रघुवंशेऽप्यनुप्रयुज्यमानस्य कृञादेर्व्यवधानेन प्रयोगो द्रष्टव्यः।

क्वचित्प्रदध्यौ विललाप च क्वचित् क्वचित्प्रचस्खाल पपात च क्वचित्।	क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च।

अत्रोभयो रचनायाः क्वचित्पदघटिततया सादृश्यं सुस्पष्टम्।

तथापि पापीयसि निर्जिते गते दिशः प्रसेदुः प्रबभौ निशाकरः। दिवो निपेतुर्भुवि पुष्पवृष्ट्यो रराज योषेव विकल्मषा निशा।।	दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखा प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे। बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्।।

वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा
दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः।
सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशे
ज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः।।

कुमारसम्भवे—

वाता ववुः स्पर्शसुखाः प्रसेदु-
राशा विधूमो हुतभुग्दिदीपे।
जलान्यभूवन्विमलानि तत्रो-
त्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः।।

अत्र च मङ्गलसमुद्भवे दिक्प्रसादादीनां वर्णनस्योभयत्रापि समानत्वम्।

द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्ता-
न्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चि-
न्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम्।।

मेघदूते—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं
दुःखमेकान्तो वा।

कामेष्वनैकान्तिकता च यस्मा-
दतोपि ये तेषु न भोगसंज्ञा।
पार्श्वात्सुतो लोकहिताय जज्ञे

रघुवंशे—

एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।।
भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशान्।

अत्र सुखदुःखादीनामस्थिरत्वस्योभयत्राप्येकान्तपदघटित्वेनैव वर्णनम्। अत्यन्तार्थ एकान्तशब्दोपनिबन्धश्च तुल्यः।

सन्ध्याभ्रजालोपरिसंनिविष्टम्
कल्पेष्वनेकेष्विव भावितात्मा
दीप्त्या च धैर्येण श्रिया रराज।

सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः।
भावितात्मा भुवो भर्तुः रराज धाम्ना रघुसूनुरेव।

एषु चोदाहरणेषु सन्ध्याभ्रेत्यादिसमानशब्दोपनिबन्धः।

सहि स्वगात्रप्रभयोज्ज्वलन्त्या
दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष।

सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसाहतत्विषो
बभूवुगलेख्यसमर्पिता इव।।

सचन्दना चोत्पलपत्रगर्भा
पपातवृष्टिर्गगनादनभ्रात्।

अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः
पपातविद्याधरहस्तमुक्ता।।

अत्र दीपप्रभाया मन्दीकरणं गगनतः कुसुमवर्षश्चेत्युभयत्रापि समानार्थग्रन्थनम्।

बभूव पक्ष्मान्तरिवाञ्चिताश्रुः।
सगद्गदं बाष्पकषायकण्ठः।

उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्याम्।
चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः।

अत्रोभयत्रापि समानशब्दत्वम्।

विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थः
तीव्रैःप्रयत्नैरधिगम्य तत्वम्।
जगत्ययं मोहतमो निहन्तुं
ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः

अपरो दहने स्वकर्मणां
ववृते ज्ञानमयेन वन्हिना।
विषयेषु विनाशधर्मसु
त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत्।।

अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभूत इवार्थः प्रतिभात्युभयत्र।

रूपस्यास्यानुरूपेण **दाक्षिण्येना**नुवर्तितुम्।	तस्य **दाक्षिण्य**रूढेन नाम्नामगधवंशजा।।
विश्वाच्याऽप्सरसासार्ध रेमे **चैत्ररथे** वने।।	वृन्दावने **चैत्ररथा**दनने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः।
मेघस्तनितनिर्घोषः कुमारः प्रत्यभाषत।।	**जीमूतस्तनित**विशङ्किभिर्मयूरै रुद्ग्रीवैरनुगमितस्य पुष्करस्य।।
नावजानामि विषयान्।	**अवजानासि** मां यस्मात्।
विषयेषु प्रसक्तिर्वा	अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं
युक्तिर्वा **नात्मवत्तया**।	प्रकृतिष्वात्मजमा**त्मवत्तया**।।
विवेश**धिष्ण्यं** क्षितिपालकात्मजः।	अमी वेदीं परितः क्लृप्त**धिष्ण्याः**
अवतीर्य ततस्तुरङ्गपृष्ठात्।	तेना**वतीर्य** **तुरगा**त्प्रथितान्वयेन
वर**कालागुरुधूम**पूर्णगर्भम्।	प्रसाद**कालागुरुधूम**राजिः।
परमैरपि दिव्य**तूर्य**कल्पैः।	**तूर्य**स्वने मूर्छति मङ्गलार्थे।
स्तनविस्रस्त**सितांशुका** शयाना।	**सितांशुका** मङ्गलमात्रभूषणा।
समवेक्ष्य ततश्च ताः शयानाः।	नृपतिः प्रकृतीर**वेक्षितुम्**।
प्रतिगृह्य ततः स **भर्तुराज्ञाम्**।	**प्रतिगृह्य** वचो विससर्ज मुनिम्।।
	तथेति शेषामिव **भर्तुराज्ञाम्**।।
कनकवलयभूषित**प्रकोष्ठैः**।	नीत्वा मसान् **कनकवलय**भ्रंशरिक्त**प्रकोष्ठः**।
भार्गव**स्याश्रमपदं**।	वामन**ाश्रमपदं** ततः परं।
विप्रयोगः कथं नस्याद् भूयोपि स्वजनादिभिः।	नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहा**द्विप्रयोगोपपत्तिः**।
विपानशयनार्ह हि सौकुमार्यमिदं क्व च।	क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं।
खरदर्भाङ्कुरावती तपोवनमही क्व च।।	क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते।।
त्यज नरवर शोकमेहि धैर्य	न पृथग्जनवच्छुचो वशं
कुधृतिरिवार्हसि धीर नाश्रु मोक्तुम्।	वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि।
स्रजमिव मृदितामपास्य लक्ष्मीं	उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं
भुवि बहवो हि नृपावनान्यभीयुः।	वनं मया सार्धमपि प्रपन्नः।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः।	इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वाम्।
अपश्यतां तं वपुषा ज्वलन्तम्।	ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
पुनर्वसू योगगताविवेन्दोः।	गां गताविव दिवः पुनर्वसू।
नदीरयः कूलमिवाभिहन्ति।	जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अगस्त्यजुष्टां दिशमप्रयाताम्।	अगस्त्याचरितामाशाम्।
बुद्धः परप्रत्ययतो हि को व्रजेत्।	मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।
तं द्रष्टुं न हि पथि शेकतुर्न मोक्तुम्।	न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्
चलस्य तस्योपरि शृङ्गभूतं	पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकाय-
शान्तेन्द्रियं पश्यति बोधिसत्वम्।	मृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
पर्यङ्कमास्थाय विरोचमानं	उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशा-
शशाङ्कमुद्यन्तमिवाभ्रकूटात्।।	त्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये।।
गात्रं हि ते लोहितचन्दनार्ह	किमित्यपास्याभरणानि यौवने

काषायसंश्लेषमनर्हमेतत्।
हस्तः प्रजापालनयोग्य एष
भोक्तुं न चार्हः परदत्तमन्नम्।।
त्रिवर्गसेवां नृप यत्तु कृत्स्नतः
परो मनुष्यार्थ इतित्वमात्थ माम्।
अनर्थ इत्यात्थ ममार्थ दर्शनं
क्षयी त्रिवर्गो हि नचापि तर्पकः।।
नाश्चर्यं जीर्णवयसो यज्जग्मुः पार्थिवा वनम्।
अपत्येभ्यः श्रियं दत्वा भुक्तोच्छिष्टामिव स्त्रजम्।।
दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम्।
शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो
देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव।
न चिन्तयत्येष तमेव बाणं
किं स्यादचित्तो न शरः स एषः।।
सोऽप्राप्तकालो विवशः पपात।
मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तु
हिंस्रात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म।
नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो
महागिरिर्मेरुरिवानिलेन।।

धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका
विभावरी यद्यरुणाय कल्पते।।
पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः
समतीतं च भवच्च भाविच च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा
त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति।।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणा मिदं हि कुलव्रतम्।।
दयालुमनघं स्पृष्टं पुराणमजरं विदुः।
हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्य-
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे
व्यापारयामास विलोचनानि।।
विवशा कामवधूर्विमोहिता।
अलं महीपाल तव श्रमेण
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः
शिलोच्चये मूर्छति मारुतस्य।।

एतेषु च पद्येषु यथायथं पदादीनामाशयस्य चानुहरणं द्रष्टव्यम्।

यत्र च पद्यरचनासु कविद्वयस्य परस्पराशयानुवादकत्वं प्रतिभासते तत्र यस्य प्रमाणान्तरेण निर्णेतुं शक्यः समयस्ततोऽर्वाचीनत्वमपरस्येति सिद्धान्तः। अश्वघोषस्यैव तु निर्णीयते समयः प्रमाणैरन्यैः। अतः प्रमाणान्तरैरनिर्णीसमयः कालिदासस्ततोऽर्वाचीन इति निःसन्देहम्। ततश्च कालिदासस्य ख्रिस्तीयद्वितीयशताब्द्यां समुद्भूतत्वमबोद्धव्यम्। न चाश्वघोष एव कालिदासपद्यच्छायोपजीवीति विप्रतिपत्तव्यम्। अश्वघोषस्यैवातिप्राचीनतया परपद्यच्छायोपजीवित्वस्या-सम्भवात्। न हि प्राचीनेनात्मनः पश्चाद्भाविनां कवीनामाशयस्यानुवादो विधातुं शक्य इति। न च यादृच्छिकमेवेदमर्थ-सादृश्यमिति वक्तव्यम्। यादृच्छिकं हि सकृद्वास्याद्विस्त्रिर्वा स्यान्न तु परः शतानामर्थानां साजात्यं यादृच्छिकमिति कथंचिदपि प्रवक्तुं शक्यम्।

एवं च अनेकेषामर्थानामसकृत्सम्पद्यमानस्य सादृश्यस्य यादृच्छिकत्वेन स्वीकर्तुमयोग्यत्वात्परस्परसजातीयपद्यार्थयोः कव्योरेकस्य प्राचीनत्वसिद्धावपरस्यार्वाचीनताया अर्थादापतितत्वादश्वघोषस्यैव ख्रिस्तीयप्रथमशताब्दीसमुद्भूततया प्राचीनत्वेनार्थादेव ततोऽर्वाचीनस्य कालिदासस्य ख्रिस्तीयद्वितीयशताब्दीसमुद्भूतत्वं दुर्वारमिति पाश्चात्यपण्डितमतमात्राव-लम्बिनः केचिदर्वाचीनाः प्राहुः।

अत्र ब्रूमः। द्विविधस्तावदर्थो भवति अयोनिरन्यच्छायोनिश्चेति। कविप्रतिभामात्रमूलकोऽयोनिः यथा **सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धिनारिङ्गकम्।** इति। अत्र हि वर्ण्यमानं सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकस्य नारिङ्गकस्य च परस्परसमानत्वं नान्यपद्यच्छायामुपजीवति कविप्रतिभामूलकं खल्वेतत्। यत्र तु कव्यन्तरप्रतिपादित एवार्थः प्रकारान्तरेणोपवर्ण्यते तत्रान्यच्छायायोनित्वम्। छाया हि सादृश्यं तच्च द्वेधा शब्दमूलकमर्थमूलकं चेति। यथा—

वपुश्चैव विरूपाक्षं जन्म न ज्ञायते कदा।
यदि धनं भवेत्तस्य कथं दिगम्बरो भेवत्।।
वरेषु ये गुणाः प्रोक्ता एकोपिन शिवे स्मृतः।। इति शिवपुराणम्

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता
दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।। इति कुमारसम्भवम्।।

अत्र कालिदासीयकुमारसम्भवे शिवपुराणस्य शब्दार्थोभयमूलिकाच्छाया। द्विविधमप्येतत्सादृश्यं पारमार्थिकमाभासरूपं चेति द्वेधा। तत्र शब्दसादृश्यं प्रायशो न पारमार्थिकं भवति भवति वा कवित्वमवाप्तुकामानामभ्यस्यतामप्रौढमतीनामेव। न खलु केनापि नव्याः शब्दा विरच्यन्तेऽपि तु कोशादिषु विद्यमाना एव प्रयुज्यन्ते। तेन काव्यद्वये सदृशयोः शब्दयोर्विद्यमानत्वेऽपिच्छायायाः कल्पनं नोचितमिति ब्रूमः। निर्दिष्टपूर्वेषु च श्रीकालिदासाश्वघोषयोः पद्येषु यत्र यत्र शब्दमात्रेण सादृश्यं तत्र तत्रापि तस्य पारमार्थिकत्वाभाव उपरिनिर्दिष्टादेव हेतोर्द्रष्टव्यः। पारमार्थिकं त्वर्थसादृश्यं तेषामेव पद्येषु स्याद्ये खल्वनधिगतकविभावाः पद्यरचनामभ्यस्यन्ति। एषा हि सरणिः पद्यरचनाभ्यासस्य यत्प्रथमतः ठठंठठंठठंठठठंठठं इत्यादिवद्वृत्तानुशीलनार्थमनर्थकान्येव पदान्युपनिबध्यन्ते। अथ स्थिरीभूते वृत्ताभ्यासे यावच्छक्यं कियन्तिचिदर्थवन्ति पदान्युपनिबध्यन्ते ततः परेषां काव्येषु विद्यमान एवार्थः पदान्तरेणानूद्यते तदनु नव्या एवार्थाः कल्प्यन्ते ते च रसादिभिरास्वादनीयतां नीत्वा पद्येषु संग्रथ्यन्ते। अभ्यस्तपद्यरचनानामधिगतकवित्वानां च महात्मनां पद्यरचनास्वन्तिम एव प्रकारो द्रष्टव्यः। उक्तं हि काव्यानुशासने। **क्वचिदालेख्यप्रख्यतया क्वचित्तुल्यदेहितुल्यतयोत्तरोत्कर्षेण महाकविकाव्यानां छायोपजीवनं पादद्वयत्रत्रोपजीवनमुक्त्युपजीवनं समस्यापूरणपदपरिवृत्तिरर्थशून्याभासादयश्च शिक्षेति**। अयं च शिक्षायाः प्रकार आदिम एव वा तत्सन्निहित एव वा काव्ये स्यान तु सर्वत्र। सर्वत्रैव चेत्स्यान्न तत्प्रणेता महाकविरिति पदं विन्देत। अश्वघोषप्रणीतानां च पद्यानामर्थस्य सादृश्यं न किल कालिदासस्यैकस्मिन्नेव काव्ये दृष्टमपि तु प्रायः सर्वेष्वपि काव्येषु। सत्येवं कथं नामास्य महाकवित्वं घटतां न खलु महाकवयः परार्थचौरतामङ्गीकुर्वन्तीति। पद्यरचनां शिक्षमाणा अपि पुरुषाः सिद्धे कवित्वे नान्यदीयकाव्यार्थमपहर्तुमीहन्ते। अपहरन्तो ह्यते काव्यचौरा इतिवचनीयभाजनतां गच्छन्ति। एवं च महाकवीनां परकाव्यार्थचौर्ये प्रयोजनाभावात्कालिदासस्य च महाकवितया नाश्वघोषपद्यच्छायोपजीवित्वं कल्पयितुं युक्तम्।

अत्रैवं स्वत एवाशङ्का पुरःसरति। स्यान्महाकवीनां परार्थचौरत्वाभावः प्रत्यक्षतः पुनरत्र दृश्यमानोऽयं कथं नाम शक्यो वारयितुम्। को हि नामोपरिनिर्दिष्टान्यश्वघोषस्य कालिदासस्य च पद्यान्यवलोकमान एकस्यापरकाव्यार्थापहारकत्वं नाङ्गीकुर्यात्। तन्नूनमश्वघोषपद्यच्छायोपजीवी कालिदास इति।

अत्रोच्यते। सत्यम्। अस्ति किल श्रीकालिदासाश्वघोषयोः पद्येषु परस्परं सादृश्यं किन्तु नैतत्परार्थहरणधिया निबद्धमपि तु यदृच्छया स्वयमेव घुणाक्षरन्यायेन सम्पन्नम्। तद्यथा घुणो नाम कश्चित्कीटटो दारूल्लिखति तच्चोलिखितं कुत्रचिन्यस्ताक्षरमिव प्रतिमाति। न खलु घुणेनाभ्यस्तोक्षरविन्यासो नापि वास्य हृदयेऽक्षरविन्यासवाञ्छास्ति। सम्पद्यन्ते पुनरेतदुल्लिखिता लेखा अक्षराणीव। एवमनिच्छतश्च परार्थोपनिबन्धमनवगच्छतश्च परपद्यार्थ कवेः पद्येषु नवत्वेनोपनिबद्धोप्यर्थः परकविपद्यार्थसदृशतामुपयाति। विदितमेव चैतत्परिचितकवित्वानां विदुषाम्। अत एव भारतवर्षीयाणां कवीनां पद्येषु विद्यमाना एवार्था ईषदिव परिवृत्ताः पाश्चात्यानामपि कवीनां पद्येषु दृश्यन्ते। तथाहि–

* **किमित्यपास्याभरणानि यौवने**
धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।।

---

* चिपळूणकरस्य श्रीविष्णुशास्त्रिणो निबन्धमालाया उध्दृतानि।

वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका
विभावरी यद्यरुणाय कल्पते।।

इति कुमारसंभवे श्रीकालिदासः।

As the sweet moon on the horizon's verge,
The maid was on the eve of womanhood.

Byron—The dream.

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो
धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां
न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्।। इति।

किरातार्जुनीये भारविः।
———Loveliness

Needs not the foreign aid of ornament
But is, when unadorned, adorned the most.

Thomson—Autumn.

आमेखलं सञ्चरतां घनानां
छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते
शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः।। इति।

कुमारसम्भवे कालिदासः।

As some toll cliff that lifts its awful form
Swells from the vote and midway leaves the storm;
Though round its breast the rolling clouds are spread
Eternal sunshine settles on its head.

Goldsmith—Deserted Village.

पतितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः।।

भर्तृहरिः।

"The watched life of ours is fortune ball,
Twert wealth and poverty she bandies all.
These cast to earth upto the skies rebound;
Those tossed to heaven, come tumbling to the ground."

Pallassus.

वचनान्तराणि तु विस्तरभयान्नात्र प्रकाश्यन्ते। यदि कल्पनासादृश्यं नाम नानिच्छाकृतं कुत्रापि प्रत्यक्षीभवेदित्यभिमानस्तदा का गतिरुपरिनिर्दिष्टेषु पाश्चात्यकविवचनेषु विद्यमानस्य सादृश्यस्येति प्रतिवाद्येव तावदाचष्टाम्। वयं तु महाकवीनां यादृच्छिकमप्यर्थसादृश्यं सम्पद्यत एवेति ब्रूमः।

किं च भारतवर्षीयाणां कवीनां काव्ये वर्णनीयानां वर्णनपद्धतेः सुनियन्त्रिततयापि क्वचित्सादृश्यं घटते तथा वसन्ते जात्या विकासाभावः कोकिलरुतं च स्त्रीणां पादाघातादिभिरशोकादीनां विकासो मुखादीनां कमलादिसादृश्यमित्यादि। एतद्विरुद्धस्योपनिबन्धनं तु दोषायैवेत्याचक्षते काव्यविदः। अत एवाश्वघोषपद्येषु विद्यमाना एव कुरुबकविकासादयोऽर्थाः कालिदासीयपद्येषु विद्यमाना अपि नापहृतत्वं ध्वनयन्तीति बोद्धव्यम्। न च वैदिकेष्वेव कविषु कविसमयानुपालनं नान्येष्विति वाच्यम्। वाग्भटहेमचन्द्रादिभिर्जैनैरपि कविसमयानामङ्गीकारात्। ततश्च शब्दसादृश्ये कविसमयमूलकसादृश्ये च सुदूरं निराकृतेऽवशिष्टार्थसादृश्यस्य यादृच्छिकत्वेनाप्यङ्गीकर्तुं शक्यत्वान्नाश्वघोषपद्यार्थापहारी कालिदास इति द्रष्टव्यम्।

अपि च यानि किल काव्यान्यनवरतं पठ्यन्ते कविना तद्गताः खल्वर्थाः कदाचिद्ग्रथ्यमाने काव्ये प्रादुःषन्ति। रुचिरतराण्येव च काव्यानि पठ्यन्ते कविभिर्नैव पुनरसमीचीनानि निर्गुणप्रायाणि वा। अतो यदि कालिदासो बुद्धचरितमेवानुदिनं पठतिस्मेति प्रमाणान्तरेण साध्येत तदा स्वीकरिष्यामस्तद्गतार्थापहारत्वं कथंचित्कालिदासस्य। नैव पुनस्तथात्वे प्रमाणं दृष्टम्। तन्नोचितं बुद्धचरितार्थापहारी कालिदास इत्यभिधातुम्। न चार्थसादृश्यादेव तत्पठनादिकमनुमातव्यमिति वाच्यम्। नीरसतया दोषाकुलत्वाच्च बुद्धचरिते कवीनामादररस्यासम्भवात्। महाकवेश्च रसिकोत्तमस्य श्रीमतः कालिदासस्य नास्ति तत्रादरसम्भवः कथञ्चिदपि। किं चाश्वघोषस्तावद्बौद्धेष्वन्येषु वा न कवित्वेन प्रथितः प्रत्युतदार्शनिकत्वेनैव। कवित्वाभावाच्चायमेव कालिदासीयपद्येषु विद्यमानान्हृदयङ्गमानर्थानपाजहारेति प्रवक्तुं युक्तम्। कवित्वाभावादेव च बुद्धचरिते शय्यादीनां समीचीनत्वाभाव इतिप्रत्यक्षीक्रियतामेतत्सहृदयैः। अतः कालिदासीयसमस्यानिर्णीतत्वेऽपि नाश्वघोषतोऽर्वाचीनत्वं प्रत्युत कालिदासीयपद्यार्थापहारित्वादश्वघोषस्यैव कालिदासतोऽर्वाचीनत्वमिति सम्यगुत्पश्यामः। एवमेव चानुमन्यन्ते वैज्ञानिका अर्वाचीनाः। प्रमाणान्तरेण निर्णीतसमयस्यार्वाचीनत्वमिति तु न न्याय्यं वक्तुम्। बायरनादिभ्योपि कालिदासस्यार्वाचीनतापातात्। एवं चाश्वघोषतः प्राचीनतया कालिदासस्य ख्रिस्तीयप्रथमशताब्दीतोपि प्राचीनत्वं सुस्पष्टम्।

इति बुद्धचरितार्थापहारविचारः।

10. केचित्पुनरविभावितविशेषाः प्राचीनमात्रे सुदृढं विश्वसन्तो ज्योतिर्विदाभरणनाम्ना प्रबन्धेन श्रीमतः कालिदासस्यावस्थितिसमयं निर्णेतुमिच्छन्ति। प्राहुश्च। अस्ति किल श्रीकालिदासप्रणीतो ज्योतिर्विदाभरणसंज्ञो ज्योतिःशास्त्रग्रन्थः। तत्र च सुस्पष्टमेवोल्लिखित आत्मनोऽवस्थानावसरः श्रीकालिदासेन। अपहाय ज्योतिर्विदाभरणं कालिदाससमयनिर्णये प्रमाणान्तरान्वेषणं नाम समवधीर्य सदनवर्ति माक्षिकं तदर्थमेव दुर्गमगिरिकाननानुधावनायासः। अहो अनवलोकिताशेषप्रबन्धत्वं नव्यानां यदेते सुस्पष्टमुल्लिखितमपि समयं नावगच्छन्ति। ज्योतिर्विदाभरणं च श्रीमता कालिदासेनैव प्रणीतं तदुक्तं तत्रैव—

काव्यत्रयं सुमतिकृद्रघुवंशपूर्व
जातं यतो ननु कियच्छ्रुतिकर्मवादः।
ज्योतिर्विदाभरणकालविधानशास्त्रं
श्रीकालिदासकवितो हि ततो बभूव।।

एवं च रघुवंशादिप्रणेतुरेव ज्योतिर्विदाभरणकर्तृत्वं सुस्पष्टम्। अत्रैवं स्वत एव समुदेत्याशङ्का यदि ज्योतिर्विदाभरणं श्रीमता कालिदासेनैव ग्रथितं यदि च तेनैवोपनिबद्धमिदमुपरितनं पद्यं यदि चात्मग्रथितानां प्रबन्धानां नामान्युपनिबन्धुमभ्यलप्यदयं ततः किमिति निखिलरसिकजनप्रमोदोन्मादप्रदानगृहीतदीक्षाणां शाकुन्तलादीनामत्र नोल्लेखः इति। अत्रोच्यते। यत्खलु यतः प्राचीनं तस्यैव नाम तत्रोपनिबन्धुं शक्येत नान्यस्य। रघुवंशादिकाव्यत्रयं स्मृतिचन्द्रिकाख्यं कर्मविधानशास्त्रमेव चेत्येतावन्त एव प्रबन्धा ज्योतिर्विदाभरणतः पूर्वं प्रणीता इति तेषामेवात्र समुल्लेख इति नास्ति काचिदप्याशङ्का। ननु तथापि यस्यरचनाविशेषेण काव्यत्रयतः प्राचीनत्वमनुमीयते किमिति वा तस्यर्तुसंहारस्य नात्र निर्देश इति चेन्न यत्र हि ना[1]गमादिना सिद्धिस्तत्रैवानुमानावसरः। सति चागमे तदनुकूलतयैव वा प्रवृत्तिरनुमानस्य। प्रकृतेचोपरिनिर्दिष्टस्य पद्यरूपागमस्य

1. आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्। इति गौडपादाः।

विद्यमानतया नांशतोऽपि शक्यमृतुसंहारस्य कालिदासविरचितत्वमनुमातुम्।

ज्योतिर्विदाभरणं च यस्मिन्नवसरे प्रणीतं सोऽपि तत्रैवोल्लिखितस्तेन। यथा--

वर्षैः सिन्धुरदर्शनाम्बरगुणैर्याते कलौ सम्मिते
मासे माधवसंज्ञकेऽत्र विहितो ग्रन्थक्रियोपक्रमः।। इति।

सिन्धुरादयो ज्योतिषिकाणामङ्कसंज्ञाविशेषाः। सिन्धुरा अष्ट दर्शनानि षट् अम्बरं शून्यं गुणाश्च त्रय इति। अङ्कानां वामतो गतिरिति वामक्रमेणैषां विन्यासे 3068 संख्या निष्पद्यते एतद्वर्षसम्मिते च कलावपयाते ज्योतिर्विदाभरणस्यारम्भः। सम्प्रति च कलेर्द्व्यधिकपञ्चसहस्रवर्षाणि (5002) समतीतानि। एषु च 3068 वर्षेषु व्यवकलितेषु शिष्टानि 1934 वर्षाणि एतावानेव च ज्योतिर्विदाभरणविरचनाया आरभ्याद्यावधि व्यतिक्रान्तः कालः। ततश्च ख्रिस्तशकारम्भतः प्राचीनत्वं सूपपन्नं कालिदासस्य।

प्रकारान्तरेणाप्ययमेव समयः स्फुटीभवति। तथाहि। श्रीमद्विक्रमादित्यमहीपालस्य सभायां प्रविलसत्सु नवसु रत्नेष्वन्यतमः कविः श्रीकालिदासो नाम। तदुक्तं ज्योतिर्विदाभरणे--

धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।। इति।।

श्रीमद्विक्रमादित्यराज्यसमय एव च निर्मितं ज्योतिर्विदाभरणं कालिदासेनेत्येतदपि--

मत्तोऽधुना कृतिरियं सति मालवेन्द्रे
श्रीविक्रमार्कनृपराजवरे समासीत्।।

इत्यतो वचनात्स्फुटीभवति। श्रीविक्रमादित्यश्च ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतः पूर्वमेव भारतवर्षमलञ्चकार। तस्य हि साम्प्रतं 1957 तमः संवत्सरः। एवं विक्रमसमानकालिकतयाऽपि कालिदासस्य ख्रिस्तीयशकारम्भतः पूर्वं प्रथमशताब्द्यां विद्यमानत्वं सुस्पष्टम्।

न च वराहमिहिरसमभिव्याहाराद्वराहमिहिरस्य चात्यन्तमर्वाचीनतया कालिदासस्याप्यर्वाचीनत्वं दुर्निवारमिति वाच्यम्। बलवता वाचनिकेन प्रमाणेन श्रीकालिदासावस्थितिसमयस्य सिद्धत्वेन कालिदाससमानकालिकस्य वराहमिहिरान्तरस्यैव कल्पयितुं योग्यत्वात्।

एवं च श्रीमत्कालिदासावस्थानावसरस्यानायासमेव सिद्धत्वात्कृतं प्रमाणान्तरान्वेषणायासेनेति।

अत्र ब्रूमः। यदुच्यते श्रीमद्भिर्ज्योतिर्विदाभरणं रघुवंशादिप्रणेत्रैव श्रीमता कालिदासेन विरचितमिति किं वात्र प्रमाणमालोचितं धीमद्भिः ननु ज्योतिर्विदाभरणगतं वचनमेवेति चेद्भ्रान्ताः स्थ। आभ्यन्तरिकैर्वक्ष्यमाणैः प्रमाणैर्ज्योतिर्विदाभरणस्य रघुवंशादिकर्तृविरचितत्वाभावस्य सुस्पष्टत्वात्। तथाहि--

1. * **विषुवद्दिवस**विषये ज्योतिर्विदाभरणकारः प्राह यदा सायनः सूर्यो मेषराशिमुपयाति तदा विषुवं भवतीति। सायनत्वं चायनांशयुक्तत्वम्। अयनांश्च 444 चतुश्चत्वारिंशदुत्तरचतुःशततमे शाके नासीदेव। यच्च ज्योतिर्विदाभरणकारः प्रवदत्ययनांशसमेतत्वं भानोस्तदयमयनांशप्रवृत्त्युत्तरमेव प्रादुर्भूत इति शक्यते प्रत्येतुम्। अयनांशस्य प्रतिवत्सरमेककलाक्रमेण वर्धमानतया दुरुन्नेयत्वाद्विंत्रांशस्खलनेऽपि ग्रहगणितादौ स्थूलमानेनान्तरस्यासंलक्ष्यत्वाच्च यदा ततोऽप्यधिकस्यान्तरस्य

---

* समरात्रिन्दिवे काले विषुवद्विषुवं च तत्। इत्यमरः।

सम्भवस्तदैवायनांशकल्पनायाः प्रादुर्भाव इत्येव युक्तियुक्तमुत्पश्यामः। द्वित्रांशमयं चान्तरं सार्धशतेन शतद्वयेन वा वर्षाणां सम्पद्येत। ततश्च चतुश्चत्वारिंशदुत्तरचतुःशतवत्सरेषु शतद्वयसंकलनायां निष्पन्नेभ्यश्चतुश्चत्वारिंशदुत्तरषट्शतवर्षेभ्यः परं ततः पूर्वं वा सन्निहितेऽवसरे ज्योतिर्विदाभरणकारस्यावस्थानं स्यादिति सम्भाव्यते निश्चीयते च नासीत्ततः पूर्वमिति। विष्णुवराहमिहिरलल्लादिनाम्नामुपनिबन्धश्च प्रमाणमत्रार्थे। एतावता च ख्रिस्तीयसप्तमशताब्द्या उत्तरकालिको ज्योतिर्विदाभरणकार इति।

2. एतेनोल्लिखितैर्नक्षत्रध्रुवकैरपि शक्यते सामान्यतो ज्योतिर्विदाभरणनिर्माणावसरो निर्णेतुम्। निरयणस्पष्टा हि ज्योतिर्विदाभरणवर्तिनो ध्रुवकास्तेभ्यश्चायनांशासनयनं शक्यम्। एतदुपनिबद्धध्रुवकानुसारेणानीतश्चायनांशः सार्धैकादशांशात्मको भवति। उत्तराषाढाध्रुवकावलोकने स्पष्टीभविष्यत्येतत्। अंशश्च षष्टिकलात्मक इति कृतास्तत्कला नवत्युत्तरषट्शतमिताः सम्पद्यन्ते। यस्मिंश्च वत्सरे नासीदयनांशस्तस्मिन्नेतासु कलासु संकलितासु फलितानि चतुस्त्रिंशदुत्तरैकादशशतमितानि वर्षाणि। एतानि च ज्योतिर्विदाभरणविरचनात्पूर्वं शालिवाहनशकारम्भात्प्रभृति व्यतीतानि वर्षाणि। अयनांशो हि प्रतिवत्सरमेककलाक्रमेण वर्धत इत्युक्तमेव प्राक्। अत एव यावत्योऽयनांशस्य कलास्तावन्त्ययनांशप्रवृत्तिदिनाव्द्यतीतानि वर्षाणीति। ध्रुवकेभ्योऽयनांशानयनप्रकारश्च जटिलत्वान्नात्रोपनिबद्धो जिज्ञासुभिरसौ तत्तेभ्यः सिद्धान्तविद्भ्यः स्वयमेवावबोद्धव्य इति। अयं च कालनिर्णयो नातिसूक्ष्ममानेन।

3. यस्तु वैधृतपातविषये निर्दिष्टो नियम एतेन ततः किल सुस्पष्टं सूक्ष्मतया च निर्णीयते ज्योतिर्विदाभरणनिर्माणावसरः। तथा हि ज्योतिर्विदाभरणस्य चतुर्थाध्याये त्रिंशे पद्ये यदैन्द्रस्य तृतीयोंशो व्यत्येति तदा वैधृतपातो भवतीत्युक्तम्। तथा च यदा सूर्याचन्द्रमसोः सङ्कलना सतृतीयांशपञ्चविंशत्यात्मिका भवति तदा वैधृतपात इति पर्यवसितम्। ऐन्द्रो हि षड्विंशो योग इति। तस्मिंश्च प्रतियोगपातांशैः $13\frac{1}{3}^{o}$ गुणिते फलितम् $337\frac{7}{9}^{o}$ इति। वैधृतपातश्च नाम सायनयोः सूर्याचन्द्रमसोः 360^{0} अंशात्मकता। स च द्विगुणोयनांशः सूर्यश्चन्द्रश्चेत्येतेषामेकीभावः। किन्तु ज्योतिर्विदाभरणस्थयोपरिनिर्दिष्टया रीत्या सूर्याचन्द्रमसोः संकलना $337\frac{7}{9}$ स्वरूप सम्पन्ना। ततश्च तस्यां 360^{0} अंशेषु व्यवकलितायां यावशिष्टा संख्या सैव द्विगुणितोऽयनांश इति द्रष्टव्यम्। सा च ($360^{0} - 337\frac{7}{9} = 22\frac{1}{2}$) इति। द्विगुणश्चायमयनांश इति द्वाभ्यां भाजिते निष्पन्नं $11\frac{1}{9}$ इति अयमेव चासन्दिग्धो ज्योतिर्विदाभरणकालिकोऽयनांशः। तस्मिंश्च कलास्वरूपतामापादिते ($11\frac{1}{9} \times 60$) निष्पन्नानि ($666\frac{2}{3}$) अयनांशप्रवृत्तिवत्सरादारभ्य ज्योतिर्विदाभरणकालावधि व्यतीतानि वर्षाणि। तेषु च शून्यायनांशशक-वत्सराणां (444) संमेलने $1110\frac{2}{3}$ इति संख्या निष्पद्यते अयमेव च ज्योतिर्विदाभरणरचनायां शालिवाहनशक इति। ततश्च शालिवाहनशकस्य द्वादशशताब्द्यां ज्योतिर्विदाभरणप्रणेतुरवस्थानमिति निःसन्देहम्।

एवं बलवत्तरैः प्रमाणैर्ज्योतिर्विदाभरणप्रणेतुर्द्वादशशताब्द्यां प्रादुर्भावस्य स्पष्टतया कालिदासस्य च ततोऽतिप्राचीनत्वस्य प्रमाणान्तरैः साधितत्वान्नास्ति तत्प्रणीतत्वं ज्योतिर्विदाभरणस्य।

किं चोपरि निर्दिष्टानां द्वित्राणां ज्योतिर्विदाभरणपद्यानां रचनाप्यनुमापयति तस्य रघुवंशादिकर्तृजन्यत्वाभावम्। क्व खलु सहृदयानां हृदयान्यसङ्गीतकमेव नर्तयन्ती तत्रभवतो महाकवेर्वाणी क्वापि वाऽप्रगल्भमतिभिरपि सन्दूषणीयानि सुदूरोज्झितगुणानि कविंमन्यैरकविभिरप्यनुपनिबन्धनीयानि ज्योतिर्विदाभरणपद्यानि। क्व च मन्दःकवियशःप्रार्थीत्यादिना व्यज्यमानः कविचूडामणेर्विनयातिशयः क्वापि वा काव्यत्रयं सुमतिकृदित्यादिना ध्वन्यमान आत्मनः कृतिं प्रत्यभिमानः। क्व वा निरर्थकपदशून्यानि परिस्पन्दमानरससान्द्राणि तत्तादृशानि रघुवंशादिकाव्यगतानि पद्यानि क्वापि वा रत्नानि वै वररुचिरिति श्रीविक्रमार्कनृपराजवर इत्यादीनि निरर्थकपदजालपरिप्लुतानि वचनानि। तन्न जानीमः कथं वा संस्कृतविन्मात्रैरुपहसनीयमप्येतज्ज्योतिर्विदाभरणं कविप्रकाण्डविरचितमिति स्वीकुर्वते विद्वांस इति।

तदेवं ज्योतिर्विदाभरणस्य श्रीमत्कालिदासप्रणीतत्वाभावेन तस्य तत्कालनिर्णये नास्ति मनागप्युकारित्वं प्रामाण्यं वेति सिद्धान्तः।

ननु मास्तु तावज्ज्योतिर्विदाभरणस्य श्रीकालिदासप्रणीतत्वं तथापि श्रीकालिदासकालनिर्णये तस्य प्रामाण्य-मभ्युपगन्तव्यम्। ज्योतिर्विदाभरणप्रणेता हि कालिदासस्वरूपतामात्मनः कामयते। यश्च यस्य स्वरूपमभिलषति स तस्य स्वाभाविकेतरान्गुणान्सम्पादयति प्रयतते च स्वाभाविकान्सम्पादयितुं जानाति च समीचीनतया तदवस्थानावसरादीन् अन्यथा हि तस्य वञ्चकभावः परिस्फुटतामुपगच्छेत्। अतो ज्योतिर्विदाभरणकारेणापि कालिदासात्मकत्वमुपलब्धुकामेन पारमार्थिकं कालिदासावस्थितिसमयादिकं समवबुद्धमित्यवश्यमङ्गीकरणीयम्। अन्यथाऽऽपाततो विरोधस्य प्रत्यक्षीभावे प्रतारकतायाः प्रस्फुटतापत्त्याऽनादरापत्तेः। तदवगतवानेव कालिदासावस्थानसमयं ज्योतिर्विदाभरणकारस्तमेव चोपनिबबन्ध स्वीयप्रबन्ध इति न्याय्येवेयं कल्पनेति चेद्भवतु केषाञ्चित्सन्तोषाय तस्या अङ्गीकारः। किन्तु एकत्र प्रकटीभूत-प्रतारकत्वस्यान्यत्र विश्वासयोग्यत्वाभावात्प्रमाणान्तरमन्तराऽनिर्णीते श्रीकालिदासावसरे ज्योतिर्विदाभरणमात्रं प्रमाणीकृत्य प्रवृत्तेरन्याय्यत्वमित्यवबोद्धव्यम्।

इति ज्योतिर्विदाभरणप्रामाण्यविचारः।

11. केचित्तु शककर्तुः श्रीमतो महीपालशेखरस्य श्रीविक्रमादित्यस्यैव सभायां बभूव कविप्रवरः श्रीकालिदासः। स च महीपतिः ख्रिस्तीयसंवत्सरारम्भतः पूर्वमेव प्रादुर्बभूवेति शक्यते श्रीमतः कालिदासस्यापि ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतः प्राचीनत्वं व्यवस्थापयितुम्। इति प्राहुः।

तदपरे न मन्यन्ते। ते हि प्रवदन्ति। आसीत्किल पुरा कष्णीको नाम कोऽपि भूपालः। तमारभ्य तद्वंशे त्रिंशोयं नृपतिः श्रीविक्रमादित्यः। कष्णीकश्च ख्रिस्तीयाष्टसप्ततितमे वत्सरे भारतं वर्षमलमकार्षीत्। तदुत्तरोत्पन्नत्वाच्च नास्ति श्रीविक्रमादित्यस्य ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतः प्राचीनत्वम्। काश्मीरदेशीयस्य कस्यचनेतिहासप्रणेतुर्मतानुसारेणेदम्। हुएन्त्संग (ह्वयनसङ्ग) इत्याख्यस्तु कश्चन चीनयात्रिकः ख्रिस्तीये 580 तमे शाके श्रीशिलादित्यस्तदुत्तरमेव च श्रीविक्रमादित्यो बभूवेत्याहस्म। ततोऽपि च नास्ति ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतः प्राचीनत्वं विक्रमादित्यस्य। किं च श्रीवराहमिहिरसमकालिक एव श्रीविक्रमादित्य इति सुविपुलप्रचारोऽयं प्रवादः प्राचाम्। वराहमिहिरस्त्वाचार्यः ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्यामेव प्रादुर्भूत इत्यथदेव तत्समानकालिकस्य श्रीविक्रमादित्यस्यापि ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्यामेव प्रादुर्भूतत्वमायातम्। अपि च विक्रमादित्यस्य श्रीकालिदाससमानकालिकत्वाङ्गीकारेऽपि नैव सिध्यति प्राचीनत्वम्। कालिदासकृतानां तत्तद्वर्णनानां षष्ठशताब्दीविद्यमानवस्तु-विषयत्वस्यानुमीयमानतया ततः प्राचीनत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। अतश्च ख्रिस्तीयसंवत्सरारम्भतः सुतरामर्वाचीनः श्रीमान्विक्रमादित्य इति।

अपरे तु तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेण साधयन्तः प्राहुः। सुप्रथिता किलेयं प्रवृत्तिरितिहासनिबन्धेषु श्रीमान्विक्रमादित्यो म्लेच्छाञ्जिगायेति। समरश्चायं कोरूरनगरसमीपत एव सम्पन्नः। अस्तिचात्रार्थे प्रमाणं तदानीन्तनः शिलालेखो यतः किल संभाव्यते म्लेच्छपराजेतृत्वं विक्रमादित्यस्य। कोरूरप्रधनं च ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्यामेव सम्पन्नमिति च प्रोचुरितिहासविदः। तथा च सर्वथा ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्येव समयो धरां पालयतः श्रीमतो विक्रमादित्यस्येति संसिद्धमिति प्रभाषन्ते।

अत्रोच्यते। विक्रमादित्य इति किं तावदेक एवभूपालः स्वीक्रियते बहवो वा। नाद्यः प्रमाणाभावात्। सम्भवन्ति हि समाननामानः समानगुणाः प्रथितयशसश्च भूयांसः पुरुषाः। कति हि नाभूवन्कालिदासाभिधानाः कवयोऽत्र भारते वर्षे कति च न प्रादुःषन्ति स्म श्रीमन्तः शङ्कराचार्याः कति च नालंचक्रुर्धरातलं जयदेवा कति च नोद्बभूवुस्त्रिविक्रमाभिख्याः कवयः। भूपालेष्वपि सन्त्येव भूयसां सदृशानि नामानि। महाराष्ट्रराजवंशे हि भूयांसः शिवराजनामानः पुरुषा दृश्यन्ते। यद्यपि नैते सर्वेऽपि गुणतः समाना एव तथापि नास्त्येषां हीनत्वम्। एवं श्रीमद्विक्रमादित्यभूपाला अपि बहव एवात्र देशे प्रादुर्बभूवुरित्येव युज्यते वक्तुम्। न च विक्रमादित्य इति विक्रम आदित्य इवेत्यर्थकोऽयमुपाधिरेवेत्याशङ्कनीयम्। प्रमाणाभावात्। समुल्लिखितं हि भूयिष्ठैः प्रबन्धकारैर्विक्रमादित्य इतिपदं संज्ञात्वेनैव। नामैकदेशे नाम ग्रहणमिति न्यायमनुसरन्तः पुनः केचिद्विक्रम इत्येव पदं संज्ञात्वेन स्वीकुर्वन्ति। केचित्तु संज्ञावाचिनोऽपि पदस्योत्तरपदपरिवृत्तिसहिष्णुता-मङ्गीकुर्वाणा विक्रमार्क इत्यर्थे विक्रमादित्य इत्यपि प्रयुञ्जते। तथा च प्रयोगाः—

नो दृष्टः श्रुत एव वा क्षितिपतिः श्रीविक्रमार्कोपमः। इति।।
पायादाचन्द्रतारं जगदिदमखिलं विक्रमादित्यदेवः।। इति।।

वचनद्वयमप्येतच्छ्रीमतः प्रामाणिकोत्तंसस्य विज्ञानेश्वरस्यैव। तेन विक्रमार्कपदघटितस्यार्कपदस्यपरिवृत्तिसहिष्णुत्वं द्रष्टव्यम्।

समारूढे पूतत्रिदिववसतिं विक्रमनृपे। इति।।
युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनौ। इति च।।

एषु च वचनेषु विद्यमानानि विक्रमादिपदानि संज्ञामात्राण्येव नैव पुनरुपाधिभूतानीति जानीयुरेवेदं संस्कृताभिज्ञाः। एवं च बहव एव विक्रमार्काभिधानाः क्षितिपतयो धरामण्डलं मण्डयामासुरित्यवश्यमङ्गीकरणीयम्। एकमात्रस्य तु विक्रमार्कस्याङ्गीकारे विभिन्नेषु तत्तेष्ववसरेषु विक्रमादित्यस्यावस्थानवबोधयन्ति वचनानि व्याकुप्येयुः। सन्ति चैवंविधानि वचनानि। विज्ञानेश्वरो हि कल्याणपुर आत्मनः समानकालीनं विक्रमार्कं प्राह। यथा—

नासीदस्ति भविष्यति क्षितितले कल्याणकल्पं पुरं
नो दृष्टः श्रुत एव वा क्षितिपतिः श्रीविक्रमार्कोपमः।
विज्ञानेश्वरपण्डितो न भजते किञ्चान्यदीयोपमा-
माकल्पं स्थिरमस्तु कल्पलतिकाकल्पं तदेतत्रयम्।। इति।।

अमितगतिस्तु सुभाषितसन्दोहे मुञ्जभूपालराज्यावसरात्सहस्राब्द्याः पूर्वमेव श्रीमतो विक्रमादित्यस्यावस्थानमाह। यथा

समारूढे पूतत्रिदिववसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति च पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरणिं मुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्।। इति।।

कथासरित्सागरे त्वन्य एव विक्रमो दृष्टः। एवं चावश्यमङ्गीकरणीयं विक्रमार्काणां बहुत्वमिति।

एतेनानुयोगघटित उत्तर एव पक्षः साधीयानिति संसिद्धम्। ततश्च कष्णीकाद्युत्तरकालिकस्यापरस्यैव विक्रमार्कस्याङ्गीकारेण शकप्रवर्तयितुः श्रीविक्रमनृपस्य ख्रिस्तीयवत्सरतः प्राचीनत्वे नैव किमपि बाधकं पश्यामः। नापीतिहासप्रबन्धेषु कष्णीकाद्युत्तरकालिकस्यैव विक्रमादित्यस्य शककर्तृत्वमिति क्वाप्युल्लिखितमिति किल सम्भाव्यतेऽस्माभिः। यदि त्वदलेखिष्यत तदा नूनं निरदेक्ष्यत श्रीविक्रमार्कमर्वाचीनेऽवसर आकर्षद्भिः स्वीय प्रबन्धेषु। यच्च नैव निरदेशि तत्प्रसन्न एवास्मदीयस्तर्क इति। एवं हुएनसंगनिर्दिष्टः शिलादित्योत्तरकालिकोऽपि श्रीविक्रमादित्यो विभिन्न एव शकप्रवर्तयितुः। वराहमिहिरस्य तु श्रीविक्रमार्कसमानकालिकत्वं लोकवादमात्रावलम्बनमिति नाङ्गीक्रियते कैश्चित्। परे तु वराहमिहिरद्वयमेव स्वीकुर्वाणाः ख्रिस्तीयप्रथमशताब्द्यां षष्ठ्यशताब्द्यां च व्यवस्थापयन्ति तयोरवस्थानम्। तदेतन्नवरत्नविचारावसरे प्रपञ्चितमेवास्माभिः। कालिदासीयवर्णनानां षष्ठशताब्दीयवस्तुविषयत्वमिति तु भ्रममूलकमेव। प्रदर्शितपूर्वैः प्रमाणैः कालिदासस्य ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतः प्राचीनत्वस्य सिद्धत्वात्। तथा च श्रीमद्विक्रमार्कस्य कालिदाससमानकालिकत्वमङ्गीकुर्वद्भिरनिच्छद्भिरप्यवश्यं स्वीकरणीयं विक्रमादित्यस्य ख्रिस्तीयशकारम्भतः प्राचीनत्वमिति सिद्धम्।

एवं च नैव श्रीविक्रमार्कस्य ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽर्वाचीनत्वमापादयितुं शक्यम्।

कोरूरयुद्धविषये तु ब्रूमः। किंतावत्प्रमाणं कोरूरसन्निकटे म्लेच्छानां यः पराजेता स एव शकप्रवर्तयिता श्रीमान्विक्रमार्क इत्यत्र। ततः पूर्वेषु ताम्रपटशिलालेखादिषु विक्रमार्कनाम्नोऽवलोकनमेवेति चेत्कुत्र वाऽयं नियमो

यत्सर्वेषामपि नृपाणां शिलालेखादिभिर्भाव्यमिति। पद्धतिरेव नन्वियं प्राचीनभूपालानां शिलालेखादिनिर्माणं नामेति चेत्कुत्रवेदानीं सर्वेषामपि प्राचीननृपालानां शिलालेखा:। अद्यापि तद्‌धिगमाभाव एव तदनुपलम्भे हेतुरिति चेत्किमिति तत एव हेतोर्न साध्यते श्रीमता विक्रमादित्येन निर्मितानामपि शिलालेखानामस्तित्वम्। तदहो सर्वथा प्राचीनमतासहिष्णुत्वं च भवतो विप्रतीपदर्शित्वं च। किं च कोरूरशिलालेखे 601 तम एव श्रीविक्रमार्कशकवत्सरोऽङ्कित इति श्रूयते। यदि त्वितिहासविद: ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्यामेव कोरूरप्रधनमित्याचक्षते यदि च तत्स्मरणचिह्नभूतेऽस्मिन्शिलालेखे 601 तमो विक्रमशकाब्द उल्लिखितस्तदा किमिति वा नाङ्गीकरणीयं सरलमतिभि: ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽति प्राचीन एव श्रीमान्विक्रमादित्य इति। यत्त्वत्र केचित्समुन्नतंमन्या: प्राहु: कोरूरायोधनसमय एवावतिष्ठमानो विक्रमादित्य आत्मन: शकाब्दस्य सर्वतोऽपि प्राचीनत्वं प्रख्यापयितुकाम: स्वीयं प्रथममेव वत्सरं 601 तम इति समुदलेखीदिति। तदेदुज्जृम्भणं नाम विवेकशून्याभावस्य। अहो अलौकिकं बुद्धिवैभवमेतेषाम्। यद्भगवति यशोनिधावपि श्रीविक्रमादित्ये प्रतारकत्वमारोपयितुमहीन्ते। न चैतदंशतोऽपि सामञ्जस्यमावहति। कस्तावद्धेतुरात्मन: शकस्य प्रथममपि वत्सरं 601 तमत्वेन निर्दिशतो विक्रमादित्यस्य। प्राचीनत्वेनात्मन: प्रकाशनमेवेति चेत्किमिति वा पर:सहस्रत्वमेव नारोपितमात्मनो शकस्य प्रथमाब्द एतेन। यो हि प्राचीनत्वमेव निमित्तीकृत्यात्मन: शकारम्भसंवत्सरं परिवर्तयितुमीहेत स किल प्रतारकशिरोमणि: सुतरामेव प्राचीनत्वमारोपयेत्तस्मिन्नैव पुनर्मनागेवेति। प्रथितयशा धार्मिक धुरीणश्च श्रीमान्विक्रमादित्य: कथं वा साधुजनविनिन्दितममुं पन्थानमनुवर्तेतेति विचार्यतां तावद्धियं सूक्ष्मीकृत्य। यत्तूच्यते कथमन्यथा कुत्रापि नोपलभ्येत श्रीविक्रमार्कस्य 601 तमत: प्राचीनशकाब्दनिर्देश इति। तदपि मोहमात्रनिबन्धनमेव। विद्यन्ते हि तथाविधा: शिलालेखादयश्चेतिहासप्रमाणानि च येषु किल सुस्पष्टमुल्लिखित: श्रीमतो विक्रमार्कस्यैकाधिकषट्शततमादपि प्राचीनो वत्सर:। प्रकाशितो हि डाक्टरबुल्लर इत्याख्येन पाश्चात्यविदुषा सामान्यदुर्गवर्ती कश्चन ताम्रपटो येन शक्यते सुव्यक्तमेव श्रीविक्रमार्कस्य षष्ठशताब्दीतोऽपि प्राचीनत्वमवबोद्धुम्। व्यवस्थापितं चैवमेव पण्डितेनैतेन। द्रढयति चैतदेव मतं डाक्टरपीटरसनो (पीतरशन:) नाम पाश्चात्यदेशीय: संस्कृतपण्डितोत्तंस:। स किलात्रार्थे मन्देसरीयं किमप्यैतिहासिकं वर्णनं प्रमाणयति। तत्र हि चतुर्नवत्युत्तरचतु:शततमो (494) मालवीय: शको निर्दिष्ट:। नास्ति खल्वपरो मालवीय: शको नाम। किन्तु मालवाधिपतेस्तत्रभवतो विक्रमादित्यस्यैवायं शक इति प्रतीयते। उपरि निर्दिष्टे च शकाब्दे श्रीमान्कुमारगुप्तो नाम धरापति: क्षितिं पालयामास। प्रमाणान्तरैरपि सोऽयं शकाब्द: श्रीमतो विक्रमस्यैवेति साधितं पीतरशनमहाभागेन। फ्लीटाख्यश्चापरो यौरोपीय: पण्डित: सरणिमेनामेवानुसरन्स–प्रमाणममुमेवार्थं स्थिरीकुरुते। एवं च तेषामपि मतेन नि:शैथिल्यमेव संसिद्धं षष्ठशताब्द्या: प्राचीन: श्रीमान्विक्रमादित्य इति येषां किल वचसि श्रुतिवचन इवैकान्तत: श्रद्दधते केचिदर्वाचीना:। एवं च यथा पीतरशनाद्यधिगतै: प्रमाणै: सप्तमशताब्दीत: सुतरां प्राचीनत्वमवगम्यते श्रीविक्रमशकाब्दस्य एवं लेखान्तराद्यधिगमे ततोऽपि प्राचीनत्वं सशिर:श्लाघमेवाङ्गीक्रियेत प्रतिवदद्भि:। भवेयुश्च तथाविधा लेखा: किन्तु नाधिगम्यन्त इदानींतनैरद्याप्येत इति नैवावतैव तेषामस्तित्वाभाव: साधयितुं शक्य:। न हि मेघपटलतिरोहितमण्डलोऽपि भगवान्प्रचण्डकरो नास्तीति वक्तुं युज्येत। प्रतिहन्यते हि मानुषाणां दृष्टिरम्भोदनिवहेन नैव पुनरभावं नीयते भगवान्भानु:। एवं तत्तै: प्रतिबन्धकै: परिमेयतया च मानुषप्रयत्नानां प्रत्यक्षतामनुपगतानामपि वस्तूनां सत्युनमानाद्यवसरे नाभाव: प्रतिपादयितुं युक्त इत्यवगच्छेयुरेव सूक्ष्मधिय:। एवं च ख्रिस्तीयसप्तमशताब्द्यां शष्ठशताब्द्यामेव वा विक्रमार्कप्रादुर्भावस्तेन च प्रथमशकाब्दार्थ एकाधिकषट्शतमवत्सरनिर्देश इत्यादि वचनमेकान्तो निर्मूलं चोन्मत्तप्रलापनिर्विशेषं चेति विज्ञायतां प्रज्ञै:। हन्त भो स्वदेशाभिमानशून्यत्वं केषांचिदर्वाचीनानां भारतवर्ष एव चार्याभिजन एव च प्राप्तजन्मनां पुरुषधुर्याणां यदेते निर्विशङ्कमेवोद्घोषयन्ति प्रतारकत्वं प्रामाणिकोत्तंसानामपि प्राचीनानां भारतवर्षीयाणाम्। प्रकाशयन्ति च सुदूरमुत्सार्य विवेकं किमपि कलुषीभूताशया इव पिशाचोपहता इव ग्रहग्रस्ता इव प्रोन्मादलङ्घिता इव च भारतीयानामाप्ततमानामपि वचसामश्रद्धेयत्वं। नैव मनसि कुर्वन्ति माहात्म्यं तेषां नापि वा विचारयन्ति सत्यमात्रपथानुवर्तित्वमेतेषाम्। केवलं तु कमपि कदध्वानमनुसरन्त आमीलितलोचना इव यथेच्छं प्रलपन्तीत्यहो गरीयस्त्वं कालस्य। प्रियपाठकमहाभागा: जानीम: किल वयं नायमेवंविधायास्तर्जनाया अवसर इत्यप्रकृतगात्रानुसरणं चेदमिति किन्तु निष्कारणमेव प्राचीनेष्वारोपिता: प्रतारकत्वादयो दुर्धर्मा बलवदाक्रम्य हृदयमस्माकं

निःसारयन्ति वदनकुहरादेवंविधानि भागधेयहतकविलासजन्यानि वचनानीति किं वात्र करवाम।

विद्योतन्त एव चापराण्यपि प्रमाणानि येषु निर्दिष्टो विक्रमशकाब्दो बोधयतितमां श्रीविक्रमार्कस्य ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽपि प्राचीनत्वम्। तथाहि। राजस्थानेतिहासप्रबन्धेषु मेवाडभूपालानां चरितोपवर्णने तद्वंशीयेन नृपतिना श्रीमता विजयदेवेन पञ्चत्रिंशदुत्तरत्रिशतमिते श्रीविक्रमार्कशकाब्दे वल्लभीयो नामात्मनः शकः प्रावर्ति निरमायि च सौराष्ट्रेषु विराटाख्यं नगरमिति प्रतिपादितं प्रतिपादितं च तस्मिन्नेव कुलेऽधिगतजन्मना क्षितिपतिना श्रीकनकसेनदेवेन द्विशततमे विक्रमशकाब्दे सौराष्ट्रा आत्मसाद्व्यधीयन्तेति। एवं च द्विशततमादीनामपि विक्रमार्कशकाब्दानां तत्र तत्रोल्लेखात्सुतरां प्राचीनत्वं विक्रमार्कस्येति संसिद्धम्। किं च पाण्डवंशीया इन्द्रप्रस्थवर्तिन एव भूपालाः कालेन तुवराभिधानतां जग्मुः। तेष्वेव च विक्रमादित्योऽभूत्। अयमेवाभिनवस्य शकस्य प्रवर्तयिता। एनेनैव च परित्यज्य हास्तिनपुरमुज्जयिन्येव राजधानीभावं गमयता तत्रैव न्युष्यतेति च राजस्थानेतिहासविदः प्रवदन्ति। एवं चेतिहासप्रबन्धावलोकनेनापि श्रीमतोविक्रमादित्यस्य विद्यमानत्वं च ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽपि प्राचीनत्वं च पर्यवस्यतीति समवबोद्धयम्। इतिहासप्रबन्धाश्चैते सूक्ष्मधिषणत्वेन सुप्रथितैष्टाड्प्रभृतिभिर्यौरोपीयैरेव विद्वद्भिः प्रणीता इत्यपि नैव विस्मरणीयम्।

अथ प्रमाणान्तरेणाप्यर्थमिमं संसाध्य प्राचीनानां भारतीयविदुषां मतमुज्ज्वलीकर्तुमिच्छामः। तथाहि। दिवं गते भगवति महावीरस्वामिनि 470 वत्सरेभ्यः परं श्रीमान् विक्रमादित्यः प्रादुरभूत्। समानकालिकश्चायं श्रीसातवाहनभूपालस्येति प्रबन्धकोषे राजशेखरः प्राह। *हालः शालः सातवाहनः शातवाहनः शालिवाहनश्चेत्यमी पर्यायाः। शालिवाहनश्च ख्रिस्तीयप्रथमशताब्द्यां समुद्भूत इति सुप्रथिततमैवेयं वार्ता सर्वत्र। ततश्च ख्रिस्तीयप्रथमशताब्दवर्तित्वं श्रीमतो विक्रमादित्यस्य प्राप्तम्। एतदप्यापातत एव। वस्तुतस्तु श्रीशालिवाहनशकारम्भात्प्रागेव श्रीविक्रमादित्यो धरातलं मण्डयामासेत्युचितमभिधातुम्। शकप्रवर्तको हि तत्रभवान्विक्रमादित्यः शालिवाहनश्च। तदुक्तम्

युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनौ
धराधिनायो विजयाभिनन्दनः।
ततस्तु नागार्जुनमेदिनीविभु-
र्बलिः क्रमात्षट्शककारकाः कलौ।। इति।।

शककर्तृपदं च निरुक्तं यथा—

शकान्निहत्य यो राजा शककर्ता स कथ्यते।
व्रात्या ये क्षत्रिया भूमौ शकास्ते परिकीर्तिताः।।
शकप्रवर्तकान्भूपाञ्शककर्ता निहन्ति यः।। इति।।

शकानां निहन्ता शकप्रवर्तकनृपनिहन्ता चेति द्वेधा शककर्ता। तत्र श्रीमतो विक्रमार्कस्य शककर्तृत्वं शकाख्यव्रात्यक्षत्रियनिहनननिबन्धनम्। शककर्तृनृपनिहननमूलं तु श्रीशालिवाहनस्येत्याप्ताः। एवं च शालिवाहनतः पूर्वत्वेन पठितस्य नोचितं तत्समानकालिकत्वमभिधातुं सुतरां च न युक्तं ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽर्वाचीनत्वं गदितुम्। कलियुगारम्भतश्च यावन्तः शककर्तारस्तावतां शकवत्सरसंख्यानिर्देशोऽपि प्राचीनप्रबन्धेषूपलभ्यमान इदमेव मतं विस्पष्टयति। तथाहि।

युधिष्ठिराद्वेदयुगाम्बराग्नयः (3044)
कलम्बविश्वे (135) ऽभ्रखखाष्टभूमयः (18000)।

---

* हालः स्यात्सातवाहन इत्यभिधानचिन्तामणिः। सातवाहन एव शालिवाहन इतिवाचस्पत्यम्। हाल इत्यत्रशाल इत्यपि पाठान्तरमिति केचित्। जज्ञे शालमहीपालः प्रतिष्ठानपुरे पुरा। इति वाचस्पत्ये।

ततोऽयुतं (10000) लक्षचतुष्टयं क्रमात्
धरादृगष्टाविति शाकवत्सरा:।। इति।।

एवं च क्लेश्चतुश्चत्वारिंशदुत्तरषट्शतमितेषु व्यतीतेषु श्रीविक्रमार्कशकोपक्रम इति सिद्धम्। सम्प्रति तु व्यतिक्रान्तानि कलेर्द्वधिकपञ्चसहस्त्रवर्षाणि एतेभ्य उपरिनिर्दिष्टकलिवत्सरव्यकलनायामवशिष्टा अष्टपञ्चाशदुत्तरोनविशंतिशताब्दा:। एत एव च श्रीविक्रमार्कशकारम्भतोऽद्यावधि व्यतिगता: संवत्सरा:। ततश्च सुस्पष्टमेव ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽपि प्राचीनत्वं श्रीमतो विक्रमादित्यस्येतिं।

सुभाषितसन्दोहे चामितगतिनामा जिनपरिव्राजक: प्राह।

समारूढे पूतत्रिदिववसतिं विक्रमनृपे
सहस्त्रे वर्षाणां प्रभवति च पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरणिं मुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्।। इति।।

एतेन च श्रीमन्मुञ्जनृपावस्थानावसरे विक्रमक्षितिपते: स्वर्गारोहणमारभ्य पञ्चाशदधिकं वत्सरसहस्त्रमेवातिक्रान्तमिति बोध्यते। मुञ्जश्च ख्रिस्तीयैकादशशताब्द्यामासीदिति प्रतिपादितपूर्वमेवेदमस्माभि: सप्रमाणं श्रीधनञ्जयकवेश्चरिते तेनापि श्रीविक्रमादित्यस्य ख्रिस्तीयवत्सरारम्भतोऽपि प्राचीनत्वं सिध्यतीत्यलं बहुना।

विदितमेव चैत्पुरावृत्तविदां यद्भगवत: परमपावनस्य श्रीमतो रघुपुङ्गवस्य पुत्रप्रकाण्डेन श्रीमता लवदेवेन शरावती नामात्मनो राजधानी निरमायि। यामेव च श्रावस्तीत्यपि व्यवहरन्ति प्रज्ञा:। इयमेव च जन्मभूमिर्बुद्धदेवस्येति सुप्रथितं बोद्धप्रबन्धेषु। तत्र च ख्रिस्तीयवत्सरारम्भत: पूर्वं सप्तपञ्चाशे वत्सरे विद्यमानं कमपि बौद्धभूपालं पराजित्यात्मसाच्चकारायोध्यां तत्र भवान्विक्रमादित्य:। एतेनापि श्रीमतो विक्रमादित्यस्य ख्रिस्तीयवत्सरोपक्रमात्प्राचीनत्वमर्थादेव संसिध्यतीति द्रष्टव्यम्।

अवसरे त्वस्मिन्भारतं वर्षमलङ्कुर्वाणस्य महीपते: श्रीविक्रमादित्यस्योज्जयिनी नाम नगर्येव राजधानी बभूवेति राजस्थानेतिहासादिभिर्यद्राजधान्युज्जयिनी महापुरीत्यादिभिश्च वचनै: शक्यते निर्णेतुम्।

महाकवि: श्रीकालिदासोऽपि ख्रिस्तीयवत्सरारम्भत: प्राक्प्रथमशताब्द्यामेव धरणिमण्डलं मण्डयामासेति प्रतिपादितमेवास्माभि: सप्रमाणं प्राक्। यथा चायमुज्जयिन्यामेव न्युवासेति सिध्यति तथाऽनुपदमेव तदीयैरेव वचनै: साधयिष्याम:। एवं चैकस्मिन्नेवावसर एकत्रैव नगरे विराजमानयो: कविपुङ्गवसहृदयभूपालयो: परस्परसम्बन्धस्य नास्त्येवांशतोऽपि सम्भावनेति नैतत्कथञ्चिदपि भाषितुं शक्यम्। अत एव चालञ्चकार श्रीमतो विक्रमादित्यस्य परिषदं तत्रभवान्कालिदास इति लोकप्रवादो नैकान्ततो निरालम्ब इति सर्वमनवद्यम्।

इति श्रीविक्रमादित्यविचार:।

Bibliography

Ānandavardhan, *Dhvanyāloka*, ed. with Abhinavagupta's *Locan* by Pattabhiram Shastri, Benares, 1940.

Amarakosha, Varanasi, 1978.

Apte, R.N., *Date of Kālidāsa*, Poona, 1891.

Banerji, *Kālidāsa Kosha*, Varanasi, 1968.

Basham, A.L., *The Wonder that was India*, London, 1967.

Belvalkar, S.K. (ed.), *The Abhijñana Shākuntala*, New Delhi, 1965.

Bhāmaha, *Kāvyālankara*, Tanjore, 1927.

Dandin, *Kāvyādarsha*, Calcutta University, 1931.

De, S.K. (ed.), *The Meghadūta*, New Delhi, 1957.

Dhananjaya, *Dasharūpaka* with *Avaloka*, Bombay, 1927.

Jagannātha, Paṇḍitarāja, *Rasagangādhara*, Kāvyamala, 1939.

Kālidāsa, *Abhijñāna Shākuntalam, Kumārasambhavam, Mālavikāgnimitram, Meghadūtam, Raghuvaṁshaṁ, Vikramorvashīyam, Ṛtusamhāra.*

Keith, A.B., *A History of Sanskrit Literature*, I ed., London, 1920.

Mahimabhaṭṭa, *Vyaktiviveka*, Chowkhamba, 1936.

Mammaṭa, *Kāvyaprakāsha*, Poona, 1965.

Nerurkar, V.R. (ed.), *The Ṛtusamhāra*, Bombay, 1966.

Paniskar, W.L. (ed.), *The Raghuvaṁsha*, Bombay, 1916.

Paniskar, W.L. (ed.), *The Kumārasambhava*, Bombay, 1927.

Parab, K.P. (ed.), *The Mālavikāgnimitra*, Bombay, 1935.

Rudraṭa, *Kāvyālankāra*, Bombay, 1928.

Sharpe, A., *Kālidāsa Lexicon*, Vol. I, Pt. I-III, Brugge, 1958.

Shukla, H.L., *A Comprehensive Dictionary of Kālidāsa*, Allahabad, 1980.

Shukla, H.L., *The Literary Semantics of Kālidāsa*, Delhi, 1987.

Turner, R.L., *A Comprehensive Dictionary of the Indo-Aryan Languages*, Oxford, 1966.

Vāmana, *Kāvyālankārasūtravṛtti*, Calcutta, 1922.

Velankar, H.D. (ed.), *The Vikramorvashīya*, New Delhi, 1965.

Warder, A.K., *Indian Kavya Literature*, Delhi, 1972, 1973.

H.L. Shukla (1939-) has created, and for forty years he has dominated the field of Indology and modern linguistics. By any criterion Shukla's achievement is vast : he has published about seventy books and hundreds of articles. His mastery of a huge literature is awe-inspiring : in current affairs, in linguistics, history, archaeology, anthropology, sociology, psychology, folklorology. He doesn't believe in heroes, but it is not surprising that for many he has become one. And there can be little disagreement that he has fulfilled his expressed hope that "I've done something decent with my life."

Dr. Shukla served as Professor and Head of Department of Languages and Culture at Barkatullah University, Bhopal, Madhya Pradesh. Currently he is engaged in *Cultural Thesaurus of India.*

Rs. 2500 (Set of 2 Vols.)